अ. भा. संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य-रत्नमाला का ५३ वां रत्न

तीर्थंकर चरित्र

भाग २

लेखक—

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन
संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

प्राप्ति स्थान

१–श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षकसंघ
सैलाना (मध्य-प्रदेश)
२–" एदुन बिल्डिंग, पहली धोबीतलाव लेन बंबई ४००००२
३–" सराफा बाजार, जोधपुर (राजस्थान)

स्वल्प मूल्य १०–००

प्रथमावृत्ति १५००

वीरसम्वत् २५०२
विक्रमसम्वत् २०३२
सन् १९७६

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म. प्र)

प्रासंगिक निवेदन

प्रथम भाग के वाद अब दूसरा भाग उपस्थित है। इसमें भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी भगवान् नमिनाथ स्वामी और वाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमिजी, ऐसे तीन तीर्थंकर भगवंतों का, चक्रवर्ती महापद्म, हरिसेन और जयसेन तथा आठवें नौवें वासुदेव-वलदेव के चरित्रों का समावेश हुआ है। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के धर्म-शासन में आठवें वासुदेव-वलदेव हुए। इनका चरित्र वड़ा है। सारी रामायण इनसे सम्वन्धित है। भगवान् अरिष्ट-नेमीजी के चरित्र के साथ पाण्डवों और श्रीकृष्णवासुदेव तथा महाभारत युद्ध का सम्वन्ध है। यह चरित्र उनसे भी विशाल है। सम्यग्दर्शन वर्ष १७ अंक १२ दि. २०-६-६६ से लगा कर वर्ष २४ अंक ८ दि. २०-४-७३ तक की लेखमाला इसमें समाविष्ट है।

पहले विचार था कि भगवान् अरिष्टनेमिजी का चरित्र पृथक् तीसरे भाग में दिया जाय, परंतु भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी और भगवान् नमिनाथजी का चरित्र २४८ पृष्ट में ही पूरा हो जाने के कारण और वाइंडिंग आदि के खर्चे की वचत देख कर वर्त्तमान रूप दिया गया है। अब अंतिम—तीसरे भाग के लिए अंतिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और भगवान् पार्श्वनाथस्वामी तथा चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर प्रभु का चरित्र रहेगा।

प्रथम भाग में ही मैं वता चुका हूँ कि इसमें लिखा हुआ चरित्र सर्वथा प्रामाणिक नहीं है। इस दूसरे भाग में भी ऐसे स्थान होंगे जो आगम-विधान से भिन्नता रखते हों। यह एक अभाव की पूर्ति है। इसमें जो वात सिद्धांत से विपरीत हो, उसका सुधार हो कर शुद्ध होना आवश्यक है। यह ग्रंथ मैंने मुख्यतः त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र के आधार पर लिखा है। इसे संशोधन करने और प्रूफ देखने वाला भी दूसरा कोई नहीं मिला। इसलिये भूलें रहना स्वाभाविक ही है।

धर्मप्रचार और ज्ञान वर्धन की दृष्टि से संघ की ओर से धर्म-साहित्य का प्रकाशन होता है। यह ग्रंथ संघ द्वारा प्रकाशित संस्कृतिरक्षक साहित्य-रत्नमाला का ५३ वाँ रत्न है। धर्मप्रिय उदार महानुभावों की सहायता से स्वल्प मूल्य में सहित्य दिया जाता है। तदनुसार इस ग्रंथ का मूल्य भी लागत से कम ही रखा है। आशा है कि धर्मप्रिय पाठक अवश्य लाभान्वित होंगे।

सैलाना   रतनलाल डोशी

फाल्गुन शु. १ संवत् २०३२

दि. १-३-७६

विषयानुक्रमणिका

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी

भ. नमिनाथजी २४३

भगवान् अरिष्टनेमिजी २४९

परिशिष्ट

तीर्थंकर-चरित्र

भ० मुनिसुव्रत स्वामी

पूर्वभव

इस जम्बूद्वीप के अपर-महाविदेह स्थित 'भरत' नाम के विजय में 'चम्पा' नाम की एक विशाल नगरी थी। सूरश्रेष्ठ नामका श्रेष्ठ राजा राज्याधिपति था। वह दानवीर रणवीर, आचारवीर और धर्मवीर था। उनके श्रेष्ठ पराक्रम से प्रभावित हो कर अन्य सभी राजा उसके सामने झुकते थे। एकदा नन्दन नाम के श्रमण-श्रेष्ठ चम्पा नगरी के उद्यान में पधारे। वन्दना-नमस्कार करके धर्मोपदेश का श्रवण किया। राजा का उत्थान-काल आ गया था। वह विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया और उत्तम रीति से चारित्र का पालन कर तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर के, प्राणत नामक दसवें स्वर्ग में गया। स्वर्ग से च्यव कर वह हरिवंश में उत्पन्न हुआ।

प्रसंगोपात हरिवंश की उत्पत्ति बतलाई जाती है।

हरिवंश की उत्पत्ति

कौशाम्बी नगरी में सुमुख नाम का राजा शासन कर रहा था। वह पराक्रमी स्वरूपवान और तेजस्वी था। एक बार वसंतोत्सव मनाने के लिये वह हाथी पर सवार हो कर, नगरी के मध्य में होता हुआ उद्यान की ओर जा रहा था। मार्ग में वीरकुविंद नामक जुलाहे की पत्नी वनमाला पर राजा की दृष्टि पड़ी। वह अत्यन्त सुन्दर थी। उसका मोहक रूप देख कर राजा आसक्त हो गया। उसका मन चंचल हो गया। प्रधान-मन्त्री सुमति भी राजा के साथ था। उसने राजा का चेहरा देख कर मनोभाव जान लिया। मन्त्री ने राजा से पूछा—

"स्वामिन् ! आप किन विचारों में खो गये हैं ? आपके हृदय में कुछ उद्वेग है ? इस उल्लास एवं विनोद के अवसर पर आपके चिंतित होने का क्या कारण है ?"

"सखे ! उस रूपसुन्दरी ने मेरा मन चुरा लिया है। ऐसी अनुपम सुन्दरी मैंने अबतक नहीं देखी। जबतक यह कामिनी मुझे नहीं मिले, तबतक मेरा मन स्वस्थ नहीं रह सकता। तुम उसे अन्तःपुर में पहुँचाने का यत्न करो।"

"स्वामिन् ! मैंने उस सुन्दरी को देखा है। वह जुलाहे की पत्नी है। मैं उसे अन्तःपुर में पहुँचाने का यत्न करूँगा। आप निश्चिन्त होकर उत्सव मनावें।"

मन्त्री ने 'आत्रेयी' नाम की परिव्राजिका को बुलाई। वह बड़ी चतुर और विदुषी थी। गृहस्थों के घरों में उसकी पहुँच थी। वह सम्पन्न एवं समृद्धजनों के लिए दूती (कुटनी) का काम भी करती थी। मन्त्री ने आत्रेयी को बुला कर राजा का काम बतलाया। आत्रेयी वनमाला के पास पहुँची और कहने लगी;—

"वत्से ! मैं देखती हूँ कि तुझ पर वसंत की बहार नहीं है। तेरा चाँद-सा मुखड़ा मुरझा रहा है। बोल बिटिया ! तुझे किस बात का दुःख है ?"

"माता ! मेरे दुःख की कोई दवा नहीं हो सकती। मेरा मन बहुत पापी है। यह धरती का कीड़ा होते हुए भी आकाश के चाँद को प्राप्त करना चाहता है। 'असंभव इच्छा कभी पूरी नहीं होती, फिर भी निरंकुश मन व्यर्थ ही आशा के भँवर में पड़ा हुआ है। यह दुष्ट मन मानता ही नहीं। मैं क्या करूँ ?"

"बेटी ! तू अपने मन की बात कह। मैं तेरी इच्छा पूरी करने का जी-जान से प्रयत्न करूँगी"—आत्रेयी ने विश्वास दिलाया।

"माता ! मैं किस मुंह से मन का भेद खोलूं ? मेरी हीन-जाति और हीन-स्थिति, मेरा भेद नहीं खोलने देती । फिर भी आपकी शक्ति पर मुझे विश्वास है, इसलिए मन का भेद खोलती हूँ ।

"देवी ! इस वसंत ने मेरे मन में आग लगा दी । ज्योंही महाराजा के दर्शन हुए, त्यों ही मेरा मन निरंकुश हो गया । महाराजा ने मेरा मन हरण कर लिया । अब मैं क्या करूँ ? "

"पुत्री ! तेरा दुःख साधारण नहीं है । महाराजाधिराज से तेरा सम्बन्ध मिलाना असंभव है । फिर भी तेरा दुःख मुझ-से देखा नहीं जाता । इसलिए तेरे उपकार के लिए मैं देव की आराधना करके वशीकरणमन्त्र से राजा को वश में करूँगी । मैं जाती हूँ, साधना करके राजा का मन तेरी ओर कर दूंगी । तू मुझ पर विश्वास करके चिन्ता छोड़ दे । मैं आज रात भर साधना करके कल तुझे राजा के महल में पहुँचा दूंगी । तू तय्यार रहना ।

इस प्रकार आश्वासन दे कर आत्रेयी, मन्त्री के पास आई और स्थिति समझाई । मन्त्री ने राजा से निवेदन कर विश्वस्त बनाया । दूसरे दिन आत्रेयी ने वनमाला के पास जा कर अपनी साधना की सफलता के समाचार सुनाये और उसे साथ ले कर अन्तःपुर में पहुँचा आई । वनमाला के साथ राजा कामक्रीड़ा करने लगा ।

वीरकुविंद बुनकर ने घर आकर पत्नी को नहीं देखा, तो इधर-उधर खोजने का प्रयत्न किया । जब वह कहीं भी नहीं मिली, तो वह उद्विग्न हो उठा । उसकी दशा विक्षिप्त जैसी हो गई । वह गली-गली घुमता और वनमाला को पुकारता हुआ भटकने लगा । उसके कपड़े फट गए, बाल बढ़गए, सारा शरीर धूल से मलिन हो गया । उसकी दशा ही बिगड़ गई । उसे पागल समझ कर चिढ़ाने के लिए बालकों का झुण्ड पीछे लग गया । एकबार वह वनमाला का रटन करता हुआ और दर्शकों से घिरा हुआ राजमहल के निकट आ गया । कोलाहल सुन कर राजा और वनमाला खिड़की में आ कर देखने लगे । वीरकुविंद पर दृष्टि पड़ते ही राजा और वनमाला स्तब्ध रह गए । उन दोनों के मन में ग्लानि भर गई । वे सोचने लगे ;—

"हम कितने नीच हैं । हमनें काम के वश हो कर दुराचार किया और इस बिचारे का जीवन बरबाद कर दिया । हम कितने पापी हैं । हमारे जैसा विश्वासघाती, निर्दय, ठग और कौन होगा । धिक्कार है हमारे जीवन और पापाचरण को । और धन्य है, उन

महापुरुषों को कि जो पापकर्मों का त्याग कर के धर्म का आचरण करते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करके कामरूपी कीचड़ से पृथक् रहते हैं....... इस प्रकार पश्चाताप कर रहे थे कि आकाश से बिजली गिरी और राजा तथा वनमाला दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गए। पश्चाताप करते हुए शुभ भावों में मर कर वे दोनों हरिवर्ष क्षेत्र में युगल मनुष्य के रूप में जन्मे। माता-पिता ने पुत्र का नाम 'हरि' और पुत्री का नाम 'हरिणी' रखा। पूर्व स्नेह के कारण दोनों सुखोपभोग करने लगे।

राजा और वनमाला की मृत्यु का हाल जान कर वीरकुविंद स्वस्थ हुआ और अज्ञान तप करने लगा। बाल-तप के प्रभाव से वह प्रथम स्वर्ग में किल्विषी देव हुआ। अपने विभंगज्ञान से उसने हरि और हरिणी को देखा। उन्हें सुखोपभोग करते देख कर उसका क्रोध भड़क उठा। वह तत्काल हरिवर्ष क्षेत्र में आया और उन युगल दम्पति को नष्ट करने का विचार करने लगा। किन्तु उसे विचार हुआ कि--'इनकी आयु परिपूर्ण है। यदि यहां मरे, तो स्वर्ग में उत्पन्न हो कर सुखभोग ही करेंगे। इससे मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। मैं इन्हें दुखी देखना चाहता हूँ। इसलिये ऐसा उपाय करूँ कि ये यहाँ से मर कर नरक में उत्पन्न हो कर दुःखी बने। इस प्रकार विचार करके उस देव ने उस युगल का अपहरण किया, साथ में कल्पवृक्ष भी ले लिये और उन्हें इस भरत क्षेत्र की चम्पापुरी में लाया। उस समय वहां का इक्ष्वाकु वंश का चन्द्रकीर्ति राजा, निःसंतान मर गया था। राज्य के मन्त्रीगण, राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न पर विचार कर रहे थे। उस समय वह देव उनके सामने आकाश में प्रकट हो कर बोला;—

"प्रधानों और सामन्तों! तुम राज्याधिकारी के लिए चिन्ता कर रहे हो। मैं तुम्हारी चिन्ता दूर करने के लिए एक योग्य मनुष्य को भोगभूमि से लाया हूँ। वह 'हरि, नाम का मनुष्य तुम्हारा राजा और हरिणी रानी होगी। उनके खाने के लिए मैं कल्पवृक्ष भी लाया हूँ। यह युगल तुम्हारे यहां का अन्न नहीं खाएगा। इनके लिए इन वृक्षों के फल ही ठीक रहेंगे। इन फलों के साथ इन्हें पशु-पक्षियों का मांस भी खिलाया करना और मदिरा भी पिलाना। इससे ये संतुष्ठ रहेंगे और तुम्हारा राज्य यथेच्छ चलता रहेगा।"

युगल को मांस-भक्षी और मदिरा-पान करने वाला बना कर—उनको पतन के गर्त में गिरा कर, नरक में भेजने का देव का उद्देश्य था। इसलिए वह ऐसी व्यवस्था कर के चला गया। देव के उपरोक्त वचनों का मन्त्रियों और सामन्तों ने आदर किया। उन्होंने उन युगल को रथ में बिठा कर उपवन में से राज्यभवन में लाये और हरि का राज्या-

भिषेक किया + ।

यह हरि राजा, भगवान् शीतलनाथ स्वामी के तीर्थ में हुआ। इसने अनेक राज-कन्याओं के साथ लग्न किया। इससे उत्पन्न सन्तान 'हरिवंश' के नाम से विख्यात हुई। इस अवसर्पिणी काल की यह आश्चर्यकारी घटना है।

कालान्तर में उस राजा के हरिणी रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'पृथ्वीपति' था। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उपार्जन कर के हरि और हरिणी नरक में गये। हरि का पुत्र पृथ्वीपति राज्य का स्वामी हुआ। चिरकाल तक राज्य का संचालन कर के बाद में वह विरक्त हो गया और तप-संयम की आराधना कर के स्वर्ग में गया। पृथ्वीपति का उत्तराधिकारी महागिरि हुआ। वह भी राज्य का पालन कर प्रव्रजित हो गया और तप-संयम की आराधना कर के मोक्ष प्राप्त हुआ। इस वंश में कई राजा, त्याग-मार्ग का अनुसरण कर के मोक्ष में गए और कई स्वर्ग में गए।

तीर्थंकर का जन्म और मोक्ष

मगधदेश में राजगृही नाम का नगर था। हरिवंश में उत्पन्न सुमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह नीतिवान्, न्याय-परायण, प्रबल पराक्रमी और जिनधर्म का अनुयायी था। महारानी पद्मावती उसकी अर्द्धांगना थी। वह भी उत्तम कुलोत्पन्न, सुशील-वती, उत्तम महिलाओं के गुणों से युक्त और रूप-लावण्य से अनुपम थी। राजा-रानी का भोग जीवन सुखमय व्यतीत हो रहा था।

सुरश्रेष्ठ मुनिराज का जीव, प्राणत कल्प का अपना आयुष् पूर्ण कर के श्रावण-शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि को श्रवण-नक्षत्र के योग में महारानी पद्मावती के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-कृष्णा अष्टमी की रात को श्रवण-नक्षत्र वर्तते पुत्ररत्न का जन्म हुआ। दिशाकुमारियों ने सूति-कर्म किया। इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया और पुत्र के गर्भ में आने पर माता, मुनि के समान सुव्रतों का पालन करने में अधिक तत्पर बनी। इससे महाराजा सुमित्रदेव ने पुत्र का ना 'मुनिसुव्रत'

+ त्रि. श. श. पु. च. में लिखा है कि—'देवता ने अपनी शक्ति से उस दम्पत्ति का आयुष्य कम कर दिया।' किन्तु यह बात संगत नहीं लगती। कदाचित् आयु के उत्तरकाल में उनका साहरण हुआ होगा।

रखा। यौवनवय में प्रभावती आदि राजकन्याओं के साथ आपका विवाह हुआ। राजकुमार श्री मुनिसुव्रतजी के प्रभावती रानी से 'सुव्रत' नाम का पुत्र हुआ। साढ़े सात हजार वर्ष तक कुमार अवस्था में रहने के बाद पिताने आपको राज्याधिकार प्रदान किये। पन्द्रह हजार वर्ष तक आपने राज्य-भार वहन किया। भोगावली-कर्म का क्षय होने पर लोकान्तिक देवों ने आ कर निवेदन किया और आपने वर्षीदान देकर और राजकुमार सुव्रत को राज्याधिकार प्रदान कर, आपने फाल्गुन-शुक्ला प्रतिपदा को श्रवण-नक्षत्र में, दिन के चौथे प्रहर में, बेले के तप सहित एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। आपको तत्काल मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया। ग्यारह मास तक प्रभु छद्मस्थ रहे। फिर फाल्गुन कृष्णा १२ को श्रवण-नक्षत्र में, राजगृह के नीलगुहा उद्यान में, चम्पकवृक्ष के नीचे, शुक्लध्यान की उन्नत धारा में चारों घनघाति कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया। देवों ने समवसरण रचा। प्रभु ने धर्मदेशना दी।

भगवान् की प्रथम देशना इस प्रकार हुई; —

धर्म देशना

मार्गानुसारिता

"समुद्र में भरा हुआ खारा-पानी, मनुष्यों और पशुओं के पीने के काम में नहीं आता, किंतु उसमें रहे हुए रत्नों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जाता है। उसी प्रकार विषय-कषाय रूपी खारेपानी से लबालब भरे हुए संसार-समुद्र में भी उत्तम रत्न रूप धर्म रहा हुआ है। वह धर्म, संयम (हिंसा त्याग) सत्य-वचन, पवित्रता (अदत्त-त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता—यों दस प्रकार का है। अपने शरीर में भी इच्छा-रहित, ममत्व-वर्जित, सत्कार और अपमान करने वाले पर समान-दृष्टि, परीषह एवं उपसर्ग को सहन करने में समर्थ, मैत्रि, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना युक्त हृदय, क्षमाशील, विनयवन्त इन्द्रियों को दमन करने वाला, गुरु के अनुशासन में श्रद्धायुक्त रहने वाला और जाति-कुल आदि से सम्पन्न मनुष्य ही यति (अनगार) धर्म के योग्य होता है और सम्यक्त्व-मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यों बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म होता है।

जिनधर्म पाने की योग्यता प्रायः उन्ही में होती है, जिसकी आत्मा में कषाय की मन्दता हो गई हो और जिसका गृहस्थ जीवन भी धर्मप्राप्ति के अनुकूल हो। इस प्रकार की अनुकूलता को 'मार्गानुसारिता' कहते हैं। वह नीचे लिखे ३५ गुणों से युक्त होती है।

१ गृहस्थ को द्रव्य का उपार्जन करना पड़ता है, किन्तु वह अन्याय पूर्ण नहीं हो।

२ वह शिष्टाचार का प्रशंसक हो।

३ उसका वैवाहिक-सम्बन्ध, असमान कुलशील वालों और अभिन्न गोत्रीय से नहीं हो + कि जिससे आचार-विचार और संस्कारों की भिन्नता के कारण क्लेश होने का अवसर उपस्थित हो। (जो रूप आदि से आकर्षित और मोह के फन्दे में पड़ कर विषम संस्कार वालों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, वे थोड़े ही दिनों में उसका परिणाम भुगतने लगते हैं।)

४ पाप से डरने वाला हो। जो पाप से नहीं डरता, वह जैनत्व के योग्य ही नहीं होता।

५ देश के प्रसिद्ध आचार का पालन करने वाला हो। जो शिष्टजन मान्य एवं देश-प्रसिद्ध आचार का पालन नहीं करता, उसके साथ देशवासियों का विरोध होता है और उससे आत्मा में क्लेश हो कर शान्ति-भंग होती है।

६ अवर्णवाद नहीं बोलने वाला हो। किसी के अवर्णवाद (बुराई) निन्दा नहीं करने वाला। बुराई करने से प्रतीति नहीं रहती और अधिकारी या राजा आदि की बुराई करने से क्लेश की प्राप्ति एवं धननाश आदि का भय रहता है।

७ रहने का घर, अच्छे और सच्चरित्र पड़ोसी युक्त हो। घर में प्रवेश करने और निकलने के द्वार अधिक नहीं हो। घर में अत्यन्त अन्धेरा या अत्यन्त धूप नहीं हो। अधिक द्वार और अधिक खुला घर हो, तो घर में चोर, जार और अनजानपने में अनिच्छनीय व्यक्ति के सरलता से घुसने और निकलने की सम्भावना रहती है। गुप्त घर में हवा और प्रकाश पर्याप्त रूप से नहीं आने के कारण रोगभय रहता है।

८ सुसंगति—सदाचारी और उत्तम मनुष्यों की संगति करनी चाहिए। बुरे मनुष्यों की संगति से खुद में भी बुराइयां आने का निमित्त हो जाता है और लोगों में हलकापन दिखाई देता है।

९ माता-पिता की सेवा। माता-पिता जैसे महान् उपकारी की सेवा करने वाला। यह विनय-गुण के लक्षण हैं। जो माता-पिता की भी सेवा नहीं करता, उसमें विनय-गुण होना असंभव जैसा होता है।

+ इन पैंतीस गुणों का वर्णन इस ढंग से हुआ है कि जिससे हमारे जैसे की दृष्टि में आस्रव सेवन का उपदेश या अनुमति लगती है। इस प्रकार का विधान जिनेश्वर का नहीं होता। अतएव शंकास्पद है।

१० उपद्रव वाले स्थान का त्याग । जिस स्थान पर स्वचक्र या परचक्र का अथवा और किसी प्रकार का उपद्रव हो, उस स्थान का त्याग कर देना चाहिए, जिससे धर्म, अर्थ आदि की हानि नहीं हो ।

११ निन्दित कामों का त्याग । जो कार्य अपनी जाति और कुल में घृणित माने गये हैं, उनका त्याग कर देना चाहिए, और वैसे कार्य भी नहीं करने चाहिए, जिनका निषेध है । घृणित कार्य करने वाले के अन्य अच्छे कार्य भी उपहास का विषय बन जाते हैं ।

१२ आय के अनुसार व्यय । खर्च करते समय अपनी आय का ध्यान अवश्य रखना चाहिए । आय का ध्यान नहीं रखने से कर्जदार बनने का अवसर आ सकता है और इससे दुःख होता है ।

१३ उचित वेश-भूषा । देश, काल, जातिरिवाज तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार वेश परिधान करना चाहिए । अपनी स्थिति से अधिक मूल्यवान् वस्त्र पहिनने से कठिनाई उत्पन्न होती है और लोक-निन्दा भी । तथा सम्पन्न होने पर घटिया वस्त्र पहिनने से कृपणता कहलाती है ।

१४ बुद्धि के आठ गुण युक्त । वे आठ गुण ये हैं,—१ शुश्रूषा--शास्त्र सुनने की इच्छा २ श्रवण--शास्त्र सुनना ३ ग्रहण—शास्त्र के अर्थ को समझना ४ धारण—याद रखना ५ ऊह—उस पर विचार करना ६ अपोह—जो बातें युक्ति से विरुद्ध हो उसमें दोष होने के कारण प्रवृत्ति नहीं करना ७ अर्थविज्ञान—ऊह और अपोह द्वारा ज्ञान में हुए संदेह को दूर करना ८ तत्त्वज्ञान—निश्चय पूर्वक ज्ञान करना । ये आठ गुण धारण करने से बुद्धि निर्मल रहती है और अहितकारी प्रवृत्ति से बचाव होता है ।

१५ प्रतिदिन धर्मश्रवण । धर्म का श्रवण प्रतिदिन करते रहना चाहिए, इससे पाप से बचाव हो कर धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है और गुणों में वृद्धि होती है ।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग कर देना । अजीर्ण रहते हुए भोजन करने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना है । रोगी व्यक्ति धर्म से वंचित रहता है ।

१७ यथासमय भोजन । अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार, यथासमय, भोजन करना चाहिए । यदि पाचन-शक्ति का ध्यान नहीं रख कर स्वाद के कारण अधिक खा लिया, तो रोग की उत्पत्ति का भय है । यथासमय भोजन नहीं करने से भी गड़बड़ी हो जाती है ।

१८ अबाधित त्रिवर्ग साधन । धर्म, अर्थ और काम, ये 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं । एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचे, इस प्रकार त्रिवर्ग का साधने वाला, धर्म के योग्य हो सकता है ।

धर्म और अर्थ को छोड़ कर केवल काम का ही सेवन करने वाला, अधमदशा को प्राप्त होता है। धर्म और काम को छोड़ कर केवल अर्थ को साधने वाले लोभी का अर्थ (धन) व्यर्थ ही रहता है और अर्थ और काम को छोड़ कर केवल धर्म का ही सेवन करने वाले का गृहस्थाश्रम चलना कठिन हो जाता है। क्योंकि केवल धर्म की सर्व-साधना तो साधु ही करते हैं। तथा धर्म साधना करते पुण्योपार्जन से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

यदि कभी तीनों में से किसी एक के त्याग का प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो धर्म और अर्थ को रख कर काम का त्याग कर देना चाहिए। शेष दो में से भी कभी किसी एक को छोड़ने का प्रसंग आवे, तो अर्थ को छोड़ कर धर्म को तो सदैव स्थिर रखना चाहिए।

१९ अतिथि, साधु और दीन मनुष्यों का सत्कार। बिना बुलाये अचानक आने वाले अतिथि, साधु और दीन मनुष्यों को आहारादि का उचित रूप से दान करना। इस प्रकार दान करने की शुभ-प्रवृत्ति भी सद्गृहस्थ में होनी चाहिए।

२० दुराग्रह का त्याग। जिस व्यक्ति में अभिमान की मात्रा विशेष होती है, वही दुराग्रह करता है। दुराग्रह ऐसा दुर्गुण होता है जो सत्य से दूर रखता है। यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो चुकी हो, तो उससे पतित कर देता है। अतएव दुराग्रह का त्याग भी धर्म-प्राप्ति में अति आवश्यक है।

२१ गुणों का पक्षपाती। सद्गुणों का पक्षपाती होना भी एक गुण है। जिसमें सद्गुणों का पक्षपात नहीं होता, वह सद्गुणों का ग्राहक भी नहीं होता। गुणानुरागी ही गुणों का पक्षपाती होता है। सद्गुणों का पक्षपात करने से उनको प्रोत्साहन मिलता है और गुणों का पक्षपाती ही गुणधर हो सकता है।

२२ निषिद्ध देशकाल में नहीं जाना। जिस क्षेत्र, जिस देश और जिस स्थान पर, जिस काल में जाने की राज्यादि की मनाई हो, उस क्षेत्र और काल में नहीं जाना। इससे अप्रतीति और अनेक प्रकार के कष्ट आने की सम्भावना है।

२३ बलाबल का ज्ञान। अपने और सामने वाले के बलाबल का ज्ञान भी होना आवश्यक है। यदि पहले से शक्ति का विचार कर लिया जाय, तो भविष्य में असफल हो कर पछताने का अवसर नहीं आवे और क्लेश से बचा रहे।

२४ व्रतधारी और ज्ञानवृद्ध का पूजक। अनाचार का त्याग कर, शुद्ध आचार का पालन करने वाले व्रतधारी, ज्ञानी एवं अनुभवी का आदर-सत्कार और बहुमान करने से आत्मा में धर्म की प्रतिष्ठा सरल हो जाती है।

२५ पोष्य—पोषक। जिनका भरण-पोषण करना आवश्यक है, उनका (माता, पिता, संतान, बान्धव कुटुम्बी, और अन्य आश्रित तथा पशु आदि) पोषण यथासमय करना उनके कष्टों को दूर करना, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना और रक्षा करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

२६ दीर्घदर्शी। आगे पर होने वाले हानि-लाभ का पहले से ही विचार कर के कार्य करने वाला हो। बिना विचारे काम करने से भविष्य में विपरीत परिणाम निकलता है और दुःखी होना पड़ता है।

२७ विशेषज्ञ। वस्तु के स्वरूप और गुण-दोष का विशेषरूप से जानने वाला। जो विशेषज्ञ नहीं होता, वह धर्म के बहाने अधर्म को भी अपना लेता है और विशेषज्ञ ऐसे धोखे से बच जाता है।

२८ कृतज्ञ। किसी के द्वारा अपना हित हुआ हो, तो उसे याद रख कर उपकार मानने वाला, और समय पर उस उपकार का बदला चुकाने वाला। कृतज्ञ की आत्मा में ही विशेष गुणों की वृद्धि होती है।

२९ लोकप्रिय। विनय एवं सेवा के द्वारा जनता का प्रिय होने वाला। लोकप्रिय व्यक्ति के प्रति जनता की शुभ भावना होती है। इससे जनता की ओर से किसी प्रकार की विपरीतता उपस्थित हो कर क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती, वरन् आवश्यकता उपस्थित होने पर सहायता प्राप्त होती है।

३० लज्जावान्। लज्जा एक ऐसा गुण है, जो कई प्रकार के कुकृत्य से रोकती है। जिस व्यक्ति में लोक-लाज होती है, वह बुरे कार्यों से बचता है। यदि कभी मन में बुरे भाव उत्पन्न हो जायँ, तो लज्जा गुण, उस भावना को वहीं समाप्त कर देता है, जिससे वह भावना कार्य रूप में प्रवृत्त नहीं हो सकती।

३१ दयालु। दुखी प्राणियों के दुःख को देख कर जिसके हृदय में दया के भाव उत्पन्न होते हों और जो यथाशक्ति दुःख दूर करने का प्रयत्न करता हो। दयाभाव, मनुष्य के हृदय में धर्म की स्थापना को सरल बना देता है। दयालु हृदय में सम्यक्त्व विरति आदि गुण प्रकट होते हैं।

३२ सौम्य। शान्त स्वभाव वाला। उग्रता एवं क्रूरता से रहित। उग्रता एवं क्रूरता से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। जीवन में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए धर्म प्राप्ति के लिए सौम्यता का गुण होना आवश्यक है।

३३ परोपकार तत्पर। जिससे दूसरों का हित हो, ऐसे सेवा, सहायता, अन्न, वस्त्र,

औषधी आदि का दान करने में तत्पर रहने वाला। परोपकारी व्यक्ति का हृदय कोमल होता है, उसमें अन्य गुणों की उत्पत्ति सहज हो जाती है।

३४ छः अन्तर्शत्रुओं को हटाने वाला— काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष, ये छः अन्तरंग—भाव-शत्रु हैं। इनको हृदय में से निकालने में प्रयत्नशील रहने वाला। विवेक युक्त रह कर अयोग्य स्थल एवं अयोग्य काल में तो इन को पास ही नहीं फटकने दे, अन्यथा अशान्ति उत्पन्न हो जाती है।

३५ इन्द्रियों को वश में रखने वाला। इन्द्रियों को बिलकुल निरंकुश छोड़ देने से तो एकान्त पापमय जीवन हो जाता है। ऐसा जीव, धर्म के योग्य नहीं रहता। धर्म पाने के योग्य वही जीव होता है, जिसका इन्द्रियों पर बहुत-कुछ अधिकार होता है।

जिन मनुष्यों में इस प्रकार के सामान्य गुण होते हैं, वे गृहस्थ योग्य विशेष-धर्म (सम्यक्त्व मूल बारह व्रत) धारण करने के योग्य होते हैं। जो मनुष्य गृहवास में रह कर ही मनुष्य-जन्म को सफल करना चाहते हैं और सर्व-विरत रूप यति-धर्म धारण करने में अशक्त हैं, उन्हें श्रावक-धर्म का सदैव आचरण करना चाहिए +।

प्रभु के इन्द्र आदि १८ गणधर हुए। केवलज्ञान होने के बाद भ. मुनिसुव्रत स्वामी साढ़े ग्यार मास कम साढ़े सात हजार वर्ष तक विचर कर भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

भगवान् के ३०००० साधु, ५०००० साध्वियें, ५०० चौदह पूर्वधर, १८०० अवधिज्ञानी, १५०० मनः पर्यवज्ञानी १८०० केवलज्ञानी, २००० वैक्रिय लब्धिधारी, १२०० वादलब्धिधारी, १७२००० श्रावक और ३५०००० श्राविकाएँ हुई। निर्वाणकाल निकट होने पर भगवान् सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अन्त में ज्येष्ठकृष्णा ९ को श्रवण-नक्षत्र में मोक्ष पधारे। भगवान् की कुल आयु ३०००० वर्ष की थी।

+ इन पेंतीस गुणों का जो वर्णन किया गया है, उसमें सांसारिक सावद्य-प्रवृत्ति का निर्देश भी है। तीर्थंकर भगवंत के उपदेश में ऐसा नहीं होता। यह आचार्यश्री की ओर से ही समझना चाहिये।

चक्रवर्ती महापद्म

म. श्री मुनिसुव्रत स्वामी, तीर्थंकर नामकर्म के अनुसार विचर रहे थे, उस समय महापद्म ' नाम के नौवें चक्रवर्ती सम्राट हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह के सुकच्छ नामक विजय में 'श्रीनगर' नामका समृद्ध नगर था। 'प्रजापाल' नाम का नरेश वहां का शासक था। वे अकस्मात् आकाश से विजली पड़ती हुई देख कर विरक्त हो गये और समाधिगुप्त नामके मुनिराजश्री के पास निर्ग्रन्थ-दीक्षा ले ली। वे विशुद्ध साधना करते हुए आयु पूर्ण कर ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के इन्द्र—'अच्युतेन्द्र' हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर था। पद्मोत्तर नाम के नरेश वहाँ राज करते थे। ज्वालादेवी उनकी पटरानी थी। सिंह स्वप्न युक्त गर्भ में आये हुए पुत्र को महारानी ज्वालादेवी ने जन्म दिया। पुत्र का नाम 'विष्णुकुमार' रखा। कालान्तर में बारहवें देवलोक के इन्द्रपद से च्यव कर प्रजापाल मुनि का जीव श्रीज्वालादेवी के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। पुत्र का नाम 'महापद्म' दिया गया। विष्णुकुमार और महापद्म दोनों सहोदर भ्राता, योग्य-वय को प्राप्त होने पर सभी कलाओं में प्रवीण हुए। राजकुमार महापद्म को राजा के उत्तम लक्षणों एवं गुणों से युक्त तथा सार्वभौम सम्राट होने योग्य समझ कर पद्मोत्तर राजा ने युवराज बनाया।

नमुचि का धर्मद्वेष

उस समय उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा नाम का राजा था। उसके मन्त्री का नाम 'नमुचि' था। भ. श्रीमुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य आचार्य श्रीसुव्रत मुनि उज्जयिनी पधारे। नागरिकजनों का समूह आचार्यश्री को वन्दन करने के लिये उद्यान की ओर जा रहा था। राजा ने जनसमूह को उद्यान की ओर जाता हुआ देख कर नमुचि से पूछा,—

"इस समय लोगों का झुण्ड उद्यान की ओर क्यों जा रहा है ? इस समय न तो कोई पर्व है, न उत्सव ही, फिर सभी लोग एक ही दिशा में क्यों जा रहे हैं ?"

"नगर के बाहर कोई जैनाचार्य आये हुए हैं। उनकी वन्दना करने और उपदेश

सुनने के लिए लोग जा रहे हैं"— नमुचि ने कारण बताया।

"आचार्य पधारे हैं, तो अपन भी चलें। उनके दर्शन और उपदेश का लाभ लें"- राजा ने इच्छा व्यक्त की।

"महाराज ! क्या रखा है--उस साधु के पास ? यदि आपको धर्मोपदेश सुनना है, तो मैं यहीं सुना देता हूँ"—नमुचि ने कहा।

'नहीं, महात्माओं का दर्शन करना और अनुभवजन्य उपदेश सुनना लाभदायक होता है। इसलिए हमें वहां चलना ही चाहिए।'

"जैसी आपकी इच्छा। किंतु मेरी आप से एक विनती है कि आप वहां तटस्थ ही रहें। मैं उन्हें वाद में जीत कर निरुत्तर कर दूंगा"—मन्त्री नमुचि नें गर्वपूर्वक कहा।

राजा अपने परिवार और मन्त्री के साथ सुव्रताचार्य के पास आये। नमुचि आचार्यश्री के सामने अंटसंट बोलने लगा। आचार्यश्री मौन रहे। आचार्य श्री को मौन देख कर नमुचि जिनधर्म की विशेष निन्दा करने लगा, तब आचार्यश्री ने कहा;—

"तुम्हारी भावना ही कलुषित है। कदाचित् तुम्हारी जिव्हा पर खुजली चल रही होगी।" आचार्यश्री की बात सुन कर उनका लघु-शिष्य विनय पूर्वक कहने लगा;—

"गुरुदेव ! विद्वत्ता के घमंड में मत्त बने हुए नमुचि से आप कुछ भी नहीं कहें। आपकी कृपा से मैं इसे पराजित कर दूंगा।"

इस प्रकार गुरु से निवेदन कर के लघुशिष्य ने नमुचि से कहा;—

"आप अपना पक्ष उपस्थित करिये। मैं उसे दूषित करूँगा।"

एक छोटे साधु की बात सुन कर नमुचि क्रोधान्ध हो गया और कटुतापूर्वक कहने लगा;—

"तुम सदैव अपवित्र रहने वाले पाखंडी हो, और वैदिक-मर्यादा से बाहर हो। तुम्हें मेरे देश में रहने का अधिकार नहीं है। बस, यही मेरा पक्ष है।"

"अपवित्र कौन है, यह तुम नहीं जानते"—लघु संत कहने लगे--"वास्तव में अपवित्र वे हैं जो संभोगी हैं। भोग अपने आप में अपवित्र है। फिर भोग का सेवन किस प्रकार पवित्र हो सकता है ? जो अपवित्र हैं, वे वेद-बाह्य एवं पाखंडी हैं। वैदिक सिद्धांत है कि—१ पानी का स्थान, २ ओखली ३ चक्की ४ चूल्हा और ५ मार्जनी (बुहारी—झाडू) ये पांच गृहस्थों के पाप के स्थान हैं। जो इन पांच स्थानों की नित्य सेवा करते रहते हैं, वे अपवित्र एवं वेद-बाह्य हैं और जो संयमी महात्मा, इन पांच स्थानों से रहित हैं, वे

पवित्र हैं। वे इस दृष्टि से बाह्य नहीं है। म्लेच्छ लोगों में उत्तम ऐसे निर्दोष महात्माओं को तुम्हारे जैसे दूषित लोगों में रहना उचित नहीं है।"

इस प्रकार नमुचि को युक्तिपूर्वक उत्तर दे कर उस छोटे साधु ने पराजित कर दिया। एक छोटे से साधु द्वारा थोड़ी ही देर में पराजित हुआ नमुचि स्वस्थान आया। उसके हृदय में पराजय का डंक, शूल के समान खटक रहा था। वह आधी रात बीतने पर उठा और निशाचर के समान गुप्त रूप से उन मुनिजी को मारने के लिए उद्यान की ओर चला। किंतु उद्यान के बाहर ही देव-योग से उसके पाँव रुक गए। वह स्थंभित-सा स्थिर हो गया। वह वहाँ से डिग भी नहीं सका। प्रातःकाल होने पर उसे इस प्रकार स्तंभित देख कर लोग विस्मित हुए। नमुचि बड़ा अपमानित हुआ। उसका वहाँ रहना दुभर हो गया। वह वहाँ से निकल कर हस्तिनापुर आया। युवराज महापद्म ने उसे अपना प्रधानमन्त्री बना दिया।

महापद्म के राज्य में सिंहबल नाम का एक राजा था। वह बलवान था और उसका दुर्ग सुदृढ़ था। वह अपने दुर्ग से निकल कर आस-पास के प्रदेश में लूट मचा कर अपने दुर्ग में घुस जाता। उसको पकड़ना कठिन हो गया था। नमुचि ने दुर्ग को तोड़ कर उसे पकड़ लिया और महापद्म के सामने उपस्थित कर दिया। इस विकट कार्य की सफलता से प्रसन्न हो कर महापद्म ने नमुचि से इच्छित वस्तु माँगने का आग्रह किया। नमुचि ने कहा— "स्वामिन्! आपका अनुग्रह अभी धरोहर के रूप में रहने दीजिए, जब मुझे आवश्यकता होगी तब माँग लूँगा।"

एक बार महारानी ज्वालादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी के परस्पर धार्मिक असहिष्णुता से मनमुटाव हो गया। पद्मोत्तर ने उत्पन्न कलह का निवारण करने के लिए दोनों को शान्त रहने की आज्ञा दी। महारानी ज्वालादेवी को इसमे आघात लगा। माता को हुए दुःख से क्षुब्ध हो कर महापद्म, रात्रि के समय गुप्त रूप से राजधानी छोड़ कर निकल गया। वह वन में भटकता हुआ तपस्वी ऋषियों के आश्रम में पहुँच गया। तपस्वियों ने राजकुमार का सत्कार किया। महापद्म उस आश्रम में ही ठहर गया और शांति से रहने लगा।

चम्पा नगरी पर अन्य राजा नें चढ़ाई करदी और जीत लिया। वहाँ का राजा जन्मे ारा गया। नगर में लूट मची। राजपरिवार निकल भागा। रानी नागवती अपर्न ी मदनावली के साथ उसी आश्रम में पहुँची। राजकुमार महापद्म ने राजकुमारी मदन को देखा और मोहित हो गया। राजकुमारी भी महापद्म पर आसक्त हो गई।

राजकुमारी को मोहित देख कर उसकी माता ने कहा—"बेटी ! यह क्या ? इतनी चपलता ? भविष्यवेत्ता ने तुझे चक्रवर्ती महाराजा की रानी होने की बात कही थी, वह भूल गई ? जैसे-तैसे पर आसक्त होना राजकुमारी के लिए उचित है क्या ?"

आश्रम के आचार्य ने सोचा—युवक-युवती का साथ ही आश्रम में रहना निरापद नहीं है। उसने महापद्म से कहा;—

"वत्स ! अब तुम्हें पुरुषार्थ कर अपने भाग्य को प्रकट करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण हो।"

महापद्म ने सोचा—'रानी ने अपनी पुत्री का पति चक्रवर्ती नरेश होने का कहा, सो चक्रवर्ती तो मैं ही बनूंगा। मेरे सिवाय दूसरा कोई चक्रवर्ती नहीं होगा। इसलिए इसका पति तो मैं ही हूंगा। अब मुझे आचार्य की सलाह के अनुसार चल कर भाग्य के लिए अनुकूलता करनी चाहिए।"—यह सोच कर वह वहाँ से चल दिया और घूमता-फिरता 'सिन्धुसदन' नामक नगर में आया। उस समय उस नगर में वसंतोत्सव मनाया जा रहा था। इसलिए नगर की स्त्रियें, नगर के बाहर उद्यान में एकत्रित हो कर विविध प्रकार की क्रीड़ा करती हुई और कामदेव की आराधना करती हुई रंगराग में रत हो रही थी। अचानक गजशाला का एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और बन्धन तुड़ा कर चल दिया। वह उपद्रव मचाता हुआ, उस उत्सव स्थल में आ पहुँचा। उसे वश में करने के लिये महावतों द्वारा किये हुए सभी उपाय व्यर्थ हो गए। काल के समान उपद्रव मचाते हुए हाथी को अपनी ओर आता हुआ देख कर सभी महिलाएँ भयभीत हो कर स्तंभित हो गई। वे इतनी दिग्मूढ़ हो गई कि उनसे हिलना-चलना भी कठिन हो गया। वे जोर-जोर से चिल्लाने लगी। राजकुमार महापद्म भी उस उत्सव को देखने के लिए आ गया था। गजराज के उपद्रव से ललनाओं को मुक्त करने के लिए वह गजेन्द्र की ओर झपटा और ललकार कर उसके सामने अपना वस्त्र फेंका। हाथी ने वस्त्र को ही मनुष्य समझ कर मर्दन करने लगा। उत्सव में उपस्थित सभी नागरिक और महासेन नरेश, हाथी के उपद्रव को देख रहे थे। उन्होंने महापद्म को हाथी की ओर बढ़ते हुए देख कर रुकने का कहा। किन्तु राजकुमार महापद्म, उन्हें आश्वासन देता हुआ हाथी के निकट चला गया और मुष्टि प्रहार किया। हाथी, कुमार को पकड़ने के लिए पल्टा, इतने में महापद्म उसकी पूंछ पकड़ कर उस पर चढ़ गया और मुष्टि प्रहार करने लगा। मण्डुकासन आदि रक्षक उपायों से अपने को बचाता हुआ वह हाथी पर मुष्टि प्रहार करने लगा। कुम्भस्थल पर प्रहार, कंठ पर अंगूठे का दबाव, पीठ पर पाद प्रहार आदि विविध प्रकार के आघात से गजराज का मद

उतर गया। वह अत्यंत थक कर व्याकुल हो गया और सीधा हो कर खड़ा रह गया। महापद्म के अद्भूत पराक्रम को देख कर सभी लोग आश्चर्य करते हुए प्रशंसा करने लगे। नरेश की प्रसन्नता का पार नहीं था। उसने महापद्म का सम्मान किया और योग्य तथा उत्तम कुल-सम्पन्न समझ कर अपनी सौ कन्याओं का उसके साथ लग्न कर दिया। अब महापद्म सुखपूर्वक वहीं रहने लगा, किंतु उसके मन में आश्रमवासिनी राजकुमारी मदनावली का स्मरण रह-रह कर आता रहता था।

राजकुमार सुखशय्या में सोया हुआ था कि उसके पास एक विद्याधरी आई और उसका हरण करने लगी। महापद्म जाग गया। उसने संहरण का कारण पूछा। विद्याधरी ने कहा; —

"वैताढ्य पर्वत पर सुरोदय नगर है। इन्द्रधनु वहां का विद्याधर राजा है। उसके 'जयचन्द्रा' नामकी पुत्री है। योग्य वर नहीं मिलने के कारण जयचन्द्रा पुरुष-द्वेषिनी हो गई। मैंने भरतक्षेत्र के सभी राजाओं के चित्र ले जा कर उसे बताये, किंतु उसे एक भी पसन्द नहीं आया। परन्तु आपका चित्रपट देखते ही वह मुग्ध हो गई। आपका मिलना दुर्लभ समझ कर वह चिन्ता में जल रही है। उसकी प्रतिज्ञा है कि यदि आपका योग नहीं मिले, तो वह प्राण त्याग देगी। जयचन्द्रा की बात मैंने उसके माता-पिता से कही। उनकी आज्ञा से आपको लेने के लिए मैं यहां आई हूँ। अब आप शीघ्र चल कर उस परम सुन्दरी राजकुमारी को स्वीकार करें।"

महापद्म विद्याधरी के साथ वैताढ्य पर्वत पर आया और जयचन्द्रा का पाणिग्रहण किया। यह समाचार सुन कर जयचन्द्रा के मामा के पुत्र गंगाधर और महीधर उत्तेजित हो गए। वे दोनों जयचन्द्रा को चाहते थे। उनका महापद्म के साथ युद्ध हुआ। वे दोनों हार कर पलायन कर गए। कालान्तर में महापद्म के यहां चक्र-रत्नादि प्रकट हुए। छह: खंड की साधना की और आश्रमवासिनी राजकुमारी मदनावली का पाणिग्रहण कर सुखमय भोग-जीवन व्यतीत करने लगा।

नमुचि का उपद्रव और विष्णुकुमार का प्रकोप

अन्यदा भ. मुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य श्री सुव्रताचार्य हस्तीनापुर पधारे। राजा पद्मोत्तर और राज्यपरिवार ने उपदेश सुना और वैराग्य पा कर पद्मोत्तर नरेश प्रव्रजित

इस आपत्ति का निवारण कैसे हो ? "

"विष्णुकुमार मुनि लब्धिधर हैं। वे महाराजा महापद्म के ज्येष्ठ-बंधु हैं। यदि वे आ जायँ, तो कदाचित् यह विपत्ति टल सकती है। किंतु उनके पास वही जा सकता है जो विद्याचारण-लब्धि से युक्त हो। वे अभी मेरुपर्वत पर हैं"—एक साधु ने कहा।

'मैं आकाश-मार्ग से वहाँ जा सकता हूँ, किन्तु लौट कर आ नहीं सकता"—एक लब्धिधर मुनि ने कहा। "वत्स ! तुम विष्णुकुमार मुनि के पास जा कर सारी हकीकत कहो और उन्हें यहाँ लाओ। वे तुम्हें अपने साथ ले आवेंगे"—आचार्य ने आज्ञा दी।

वे मुनि उसी समय आकाश-मार्ग से चल कर मेरुपर्वत पर आये और विष्णुकुमार मुनि को सारी स्थिति बतलाई। विष्णुकुमार मुनि तत्काल उन मुनि को साथ ले कर हस्तिनापुर आये और अपने गुरु सुव्रताचार्य को वन्दना की। फिर वे साधुओं को साथ ले कर नमुचि के पास आये। उन्होंने नमुचि को बहुत समझाया, परंतु वह नहीं माना। उसने आवेश पूर्वक कहा; —

"—मैं तुम्हें नगर के बाहर उद्यान में भी नहीं रहने देता। तुम पाखंडियों की गंध से भी मैं घृणा करता हूँ। तुम सब यहाँ से चले जाओ।"

—"अरे, कम से कम मेरे लिए तीन चरण भूमि तो दो"—मुनिश्री ने अंतिम याचना की।

—'मैं तुम्हारे लिए तीन चरण (तीन कदम में आवे जितनी) भूमि देता हूँ। यदि इसके बाहर कोई भी रहा, तो वह मार दिया जायगा"—नमुचि ने कहा।

"तथास्तु"—कह कर विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रिय-लब्धि से अपना शरीर बढ़ाया और एक लाख योजन प्रमाण शरीर बढ़ा कर भयंकर दृश्य उपस्थित कर दिया। खेचर-गण भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे। पृथ्वी कम्पायमान हो गई। समुद्र विक्षुब्ध हो गया। ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिषी और व्यंतर देव-देवियाँ स्तब्ध एवं चकित रह गए। विष्णुकुमार ने नमुचि को पृथ्वी पर गिरा कर अपना एक पाँव समुद्र के पूर्व और एक पाँव पश्चिम किनारे पर रख कर खड़े रहे उत्पात की बात सुन कर चक्रवर्ती महाराजा महापद्म भी आये और मुनिवर की वन्दना कर अपने उपेक्षाजन्य अपराध के लिए क्षमा माँगी। नरेन्द्र, नगरजन और संघ द्वारा बारबार प्रार्थना करने पर श्री विष्णुकुमार मुनि शांत हुए। वे वैक्रिय रूप छोड़ कर मूलरूप में आये और नमुचि को छोड़ दिया। चक्रवर्ती ने नमुचि को पदभ्रष्ट कर निकाल दिया। मुनिराज ने प्रायश्चित से चारित्र की शुद्धि कर, विशुद्ध साधना से समस्त कर्मों का क्षय कर दिया और मुक्ति प्राप्त कर ली।

चक्रवर्ती महाराजा महापद्म ने भी संसार का त्याग कर दिया और दस हजार वर्ष तक चारित्र का पालन कर मोक्ष प्राप्त हुए। इनकी कुल आयु तीस हजार वर्ष की थी।

राम चरित्र

[रामचरित्र अर्थात् रामायण का प्रचलन जैन, वैदिक और बौद्ध–इन तीनों भारतीय समाज में है। भिन्न रचना एवं मान्यताओं के कारण चरित्रों में भेद भी है। बहुत-सी बातों में समानता है, सो तो होनी ही चाहिए। क्योंकि चरित्र के मुख्य पात्र और मुख्य घटना तो एक ही है।

वैदिकों में वाल्मिकी रामायण अधिक प्राचीन है, तब जैन परम्परा में '**पउम चरिय**' बहुत प्राचीन है। इसकी रचना विक्रम की छठी शताब्दी बताई जाती है। इसके सिवाय 'सियाचरियं' 'वसुदेव हिण्डी' और 'त्रिष्ठी शलाका पुरुष चरित्र' आदि कई रचनाएँ श्वेताम्बर जैन समाज में हुई। दिगम्बर जैन समाज में 'पद्मपुराण' आदि हैं।

मुख्य पात्र सम्बन्धी मत-भेद वैदिक रामायण में भी है। सीता को जनक राजा की पुत्री तो सभी मानते हैं, किन्तु अद्भुत रामायण में सीता को मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री बताया गया है। दिगम्बर जैन समाज के 'उत्तर पुराण' में भी सीता को रानी मन्दोदरी से उत्पन्न रावण की पुत्री बतलाया है। बौद्धों के 'दशरथ जातक' में सीता को राम-लक्ष्मण की 'सगी बहिन' लिखा है और राम को बुद्ध के किसी पूर्व-भव का जीव बतलाया है। यह भेद किसी श्वेताम्बर रचित रामायण में नहीं है। अन्य भी कई प्रकार की भिन्नताएँ हैं। परम्पराजन्य भेद तो सभी में है ही। आगमों में वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलदेव की नामावली में नाममात्र है और प्रश्नव्याकरण (१–४) में–'सीता के लिए युद्ध हुआ'–इस भाव को बतानेवाला मात्र 'सियाए'––ये तीन अक्षर हैं। इसके अतिरिक्त कोई उल्लेख ध्यान में नहीं है।

मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक चरित्र, अपने पूर्व-प्रसिद्ध चरित्र से प्रभावित होगा। इस प्रकार छद्मस्थ लेखकों द्वारा रचितचरित्रों को अक्षरशः प्रमाणिक नहीं माना जा सकता।

प्रत्येक ग्रंथकार ने अपनी मान्यता के अनुसार चरित्र का निर्माण किया है। हम भी त्रि. श. पु. च. के आधार पर 'राम चरित्र, अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षेप में उपस्थित करते हैं]

राक्षस वंश

भ. श्री मुनिसुव्रत स्वामी के मोक्ष गमन के बाद उनके तीर्थ में और उसी हरिवंश में पद्म (राम) नाम के बलदेव, लक्ष्मण नाम के वासुदेव और रावण नाम का प्रतिवासुदेव हुआ। उनका चरित्र इस प्रकार है।

जब भ. अजितनाथ स्वामी विचरते थे, तब इस भरत क्षेत्र के 'राक्षस द्वीप' में लंका नाम की नगरी थी। उसमें राक्षसवंशीय राजा घनवाहन राज करता था। उस भव्यात्मा नरेश ने विरक्त हो कर अपने पुत्र महाराक्षस को राज्य देकर भ. अजितनाथजी के पास निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार करली और विशुद्ध साधना करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। उसका पुत्र महाराक्षस भी कालान्तर में संयमी बन कर मोक्ष गया। इस प्रकार राक्षस द्वीप के असंख्य अधिपति हो गए।

भ. श्रेयांसनाथ स्वामी के तीर्थ में 'कीर्तिधवल' नाम का राक्षसाधिपति हुआ। उसी समय वैताढ्य पर्वत पर मेघपुर नगर में अतीन्द्र नाम का विद्याधर राजा था। उसके 'श्रीकंठ' नाम का पुत्र और 'देवी' नामकी पुत्री थी। रत्नपुर के पुष्पोत्तर नामक विद्याधर राजा ने अपने पुत्र पद्मोत्तर के लिए अतीन्द्र नरेश से राजकुमारी देवी की याचना की। किंतु उन्होंने इस याचना की उपेक्षा करके, राजकुमारी के लग्न, कीर्तिधवल नरेश से कर दिये। यह समाचार सुन कर पुष्पोत्तर नरेश कुपित हुए और अतीन्द्र नरेश तथा राजकुमार श्रीकंठ से वैर रखने लगे। एक बार राजकुमार श्रीकंठ, मेरु पर्वत से लौट कर आ रहा था कि वन-विहार करती हुई पुष्पोत्तर नरेश की पुत्री कुमारी पद्मा, राजकुमार श्रीकंठ को दिखाई दी। उसके अनुपम रूप-लावण्य को देख कर वह मोहित हो गया। राजकुमारी भी राजकुमार को देख कर मोहित एवं आसक्त हो गई। वह बार-बार राजकुमार की ओर देख कर पुलकित होने लगी। राजकुमार श्रीकंठ समझ गया कि—'यह सुन्दरी मुझ पर अनुरक्त है।' उसका अभिप्राय जान कर श्रीकंठ ने उसे ग्रहण किया और आकाश-मार्ग से चलता बना। राजकुमारी का हरण होता हुआ देख कर उसकी सखियाँ और दासियाँ चिल्लाई और कोलाहल करने लगी। कोलाहल सुन कर पुष्पोत्तर नरेश सेना ले कर श्रीकंठ का पीछा करने लगे। श्रीकंठ, पद्मा को ले कर अपने बहनोई श्री कीर्तिधवल नरेश के पास पहुँचा और पद्मा सम्बन्धी घटना सुनाई। इतने में पुष्पोत्तर राजा सैन्य सहित वहां आ गया। कीर्तिधवल नरेश ने पुष्पोत्तर नरेश के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि—'आप अकारण ही क्रुद्ध हुए और युद्ध करने को तत्पर हुए हैं। राजकुमारी श्रीकंठ के साथ अपनी इच्छा से ही आई है। श्रीकंठ ने उसका हरण नहीं किया। आप अपनी पुत्री का अभिप्राय जान लीजिए और उसकी इच्छा के अनुसार उसके लग्न श्रीकंठ के साथ कर दीजिए।"

राजकुमारी पद्मा ने भी एक दासी द्वारा पिता को ऐसा ही सन्देश भेजा। पुष्पोत्तर ने वास्तविकता समझी। उसका कोप शान्त हो गया और उसने वहीं अपनी पुत्री के श्रीकंठ के साथ लग्न करके राजधानी में लौट गया।

वानर वंश

श्रीकंठ भी स्वस्थान जाना चाहता था, किंतु कीर्तिधवल नरेश ने श्रीकंठ को रोकते हुए कहा—"तुम अभी यहीं रहो। क्योंकि वैताढ्य पर्वत पर तुम्हारे शत्रु बहुत हैं। इस राक्षस द्वीप के निकट वायव्य दिशा में तीन सौ योजन प्रमाण 'वानर द्वीप' है। इसके सिवाय अन्य वर्बरकुल, सिंहल आदि द्वीप मेरे ही हैं। वे इतने सुन्दर हैं कि जैसे स्वर्ग से उत्तर कर स्वर्गपुरी आई हो। उनमें से एक द्वीप में रह कर वहाँ का राज करो। इस प्रकार मेरे निकट ही रह जाओ। तुम्हें शत्रुओं से किसी प्रकार का भय नहीं होगा।"

कीर्तिधवल के स्नेहपूर्ण शब्द सुन कर तथा उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से श्रीकंठ भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था। अतएव श्रीकंठ, वानर द्वीप में रह गया। कीर्तिधवल नरेश ने वानर द्वीप के किष्किन्ध गिरि पर बसी हुई किष्किन्धा नगरी में उसका राज्याभिषेक कर दिया।

उस प्रदेश के वनों में बड़े-बड़े बन्दर रहते थे। वे बड़े ही सुन्दर थे। श्रीकंठ ने उन बन्दरों के लिए अमारि घोषणा करवाई। वे सभी के लिए अवध्य हो गए और राजा की रुचि के अनुसार वहां के लोग भी उन वानरों को अन्न आदि खिलाने लगे। उनकी सुन्दरता से आकर्षित हो कर विद्याधर लोग, अपने चित्रों में, लेप्यमय आलेखों में और ध्वज-छत्र आदि के चिन्हों में वानर का चित्र बनाने लगे। इस रुचि के कारण वे विद्याधर भी 'वानर' कहलाने लगे।

श्रीकंठ के, वज्रकंठ नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ। वह युद्ध-प्रिय और बलवान था। श्रीकंठ, संसार से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र वज्रकंठ को राज्य दे कर दीक्षा ले ली और चारित्र का पालन कर मुक्त हो गया। इसके बाद, वज्रकंठ आदि अनेक राजा हुए। भ. श्री मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ में 'घनोदधि' नाम का राजा हुआ। उस समय लंकापुरी में 'तडित्केश' नाम का राजा था। घनोदधि और तडित्केश में स्नेह सम्बन्ध था। एक बार राक्षसाधिपति तडित्केश, अपनी रानियों के साथ नन्दन उद्यान में गया। वहां वे क्रीड़ा कर ही रहे थे कि एक वानर, वृक्ष पर से नीचे उतरा और निकट खड़ी हुई रानी को पकड़ कर और उसके वक्ष पर अपने नाखून चुभा कर रक्त रंजित कर दिया। बन्दर के उपद्रव से रानी चिल्लाई। राजा नें तत्काल बाण मार कर बन्दर को घायल कर दिया। वह घायल बन्दर, उस स्थल से हट कर वहां पहुँचा—जहां एक तपस्वी मुनि कायुत्सर्गयुक्त ध्यान में मग्न थे। बन्दर उनके निकट जा कर गिर पड़ा। मुनिवर का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने बन्दर की अंतिम अवस्था जान कर उसकी भावना सुधारी और आर्त्त-रौद्र को दूर कर नमस्कार मन्त्र सुनाया। वानर उस शुभ अध्यवसाय में मर कर भवनपति देवों में

उदधिकुमार जाति का देव हुआ। अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव को जान कर वह तत्काल मुनि-वर की वन्दना करने आया। उसने देखा कि राजा के सुभट, वानरों का संहार कर, वानर जाति को ही निःशेष कर रहे हैं। वह क्रुद्ध हुआ और तत्काल महावानर के अनेक रूप बना कर तडित्केश के सुभटों पर बड़े-बड़े पत्थरों की वर्षा करने लगा। राजा ने विचार किया—'यह सब देव-प्रभाव है। अन्यथा वानर ऐसा नहीं कर सकते।' इस प्रकार विचार कर तडित्केश ने महावानर को प्रणाम किया, वन्दना और अर्चना की। देव प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'मैं वही वानर हूँ, जिसे आपने थोड़ी देर पहले बाण मार कर घायल किया था। मेरा शव अभी भी ऋषिश्वर के निकट पड़ा है। मैं मुनिश्वर की कृपा से देव हुआ और उनकी वन्दना करने आया था। जब मैंने देखा कि आप वानर-संहार करने लगे हैं, तभी मैंने उपद्रव किया।" इस प्रकार अपना परिचय दे कर देव चला गया। राजा, मुनिराज की वन्दना करने गया। उपदेश सुन कर वानर के प्रति अपने द्वेष का कारण पूछा। मुनिराज विशिष्ठ ज्ञानी थे। उन्होंने उपयोग लगा कर कहा—

"तुम पूर्वभव में, श्रावस्ति नगरी में 'दत्त' नाम के मन्त्री-पुत्र थे और वानर, काशी में पारधी था। तुम प्रव्रजित हो कर काशी नगरी में प्रवेश कर रहे थे, उधर से वह वन में पशुओं को मारने जा रहा था। तुम्हें सामने आते देखा और अपशकुन मान कर क्रुद्ध हो गया। उसने तुम पर प्रहार करके गिरा दिया। तुम शुभ भावों में मृत्यु पा कर महेन्द्र-कल्प नाम के चौथे स्वर्ग में देव हुए और वहाँ से च्यव कर यहाँ लंकाधिपति हुए। वह लुब्धक पारधी मर कर नरक में गया और वहाँ से आ कर वानर हुआ। पूर्व वृतांत सुन कर राजा विरक्त हो गया और अपने पुत्र सुकेश को राज्यभार और राक्षस द्वीप का अधिपत्य दे कर प्रव्रजित हो कर मोक्ष गया। घनोदधि भी किष्किंधकुमार को वानर द्वीप का अधिपत्य दे कर प्रव्रजित हो मुक्त हो गया।

वैताढ्य पर्वत पर रथनुपुर नगर में 'अशनिवेग' नाम का विद्याधर राजा राज करता था। उसके 'विजयसिंह' और 'विद्युद्वेग' नाम के दो महापराक्रमी पुत्र थे। उसी वैताढ्य पर्वत पर आदित्यपुर नगर में 'मन्दिरमाली' नाम का विद्याधर राजा था। उसके श्रीमाला नामकी पुत्री थी। उसके लग्न करने के लिए राजा ने स्वयंवर-मण्डप की रचना की। अनेक विद्याधर राजा उस आयोजन में सम्मिलित हुए। श्रीमाला मण्डप में आई और प्रत्येक राजा का परिचय पा कर आगे बढ़ती हुई किष्किन्ध नरेश के पास रुक गई और उनके गले में वरमाला डाल दी। यह देख कर विजयसिंह को असह्य क्रोध आया।

मेरे मन में इन्द्र के साथ संभोग करने की दुष्ट इच्छा चल रही है। यह बात मैं अपने मुँह से निकालूं ही कैसे ?"

राजा ने उसे समझाया—"देवी ! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह गर्भस्थ जीव का प्रभाव है और इस इच्छा की पूर्ति मैं स्वयं इन्द्र बन कर कर दूँगा।" विद्या के बल से सहस्रार स्वयं इन्द्र बन गया और रानी की इच्छा पूर्ण की। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। दोहद के अनुसार उसका नाम 'इन्द्र' रखा। यौवनवय आने पर राजा ने राज्य का भार, इन्द्र को दे दिया और स्वयं धर्म की आराधना करने लगा। इन्द्र ने सभी विद्याधर राजाओं को अधिनस्थ बना लिया और स्वयं अपने आपको शक्ति-सामर्थ्य एवं अधिकार आदि से इन्द्र ही मानने लगा। उसने देवेन्द्र की भाँति चार लोकपाल, सात सेना, सात सेनाधिपति, तीन परिषद, वज्र, आयुध, ऐरावत हाथी, रंभादि वारांगना, बृहस्पति नाम का मन्त्री और नैगमेषी नामक सेनानायक स्थापित किये। इस प्रकार वह इन्द्र के समान अखंड राज करने लगा। उसका प्रताप और अहंकार, लंकापति माली नरेश सहन नहीं कर सका। उसने इन्द्र पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में माली की मृत्यु हुई। इन्द्र ने लंका पर अधिकार करके विश्रवा के पुत्र वैश्रमण को राज्याधिकार दे दिये। माली का भाई सुमाली परिवार सहित पाताल-लंका में चला गया।

रावण कुंभकर्ण और विभीषण का जन्म

पाताल-लंका में रहते हुए सुमाली को प्रीतिमति रानी से 'रत्नश्रवा' नाम का एक पुत्र हुआ। योवन-वय में रत्नश्रवा विद्या की साधना करने के लिए कुसुमोद्यान में गया और एकान्त में स्थिर एवं अडिग रह कर जप करने लगा। उसी समय एक विद्याधर कुमारी, पिता की आज्ञा से वहां आई और कहने लगी:—मैं 'मानवसुन्दरी' नाम की महाविद्या हूँ और तेरी साधना से तुझे सिद्ध हो गई हूँ।" रत्नश्रवा ने विद्या सिद्ध हुई जान कर साधना समाप्त कर दी और देखा कि उसके सामने एक सुन्दर कुमारी खड़ी है। रत्नश्रवा ने उसका परिचय पूछा। वह बोली; —

"मैं कौतुकमंगल' नगर के 'व्योमबिन्दु' विद्याधर राजा की पुत्री हूँ। कौशिका नाम की मेरी बड़ी बहिन, यक्षपुर नरेश 'विश्रवा' की रानी है। उसके 'वैश्रमण' नाम का पुत्र है। वह इन्द्र की अधिनता में लंका नगरी में राज कर रहा है। मेरा नाम 'कैकसी' है। भविष्यवेत्ता के कहने से मेरे पिता ने मुझे तुम्हारे पास भेजी है।"

सुन्दरी कैकसी की बात सुन कर और रूप देख कर रत्नश्रवा प्रसन्न हो गया और अपने ईष्टजनों को पूछ कर कैकसी के साथ लग्न कर लिये और 'पुष्पक' नाम के विमान में बैठ कर क्रीड़ा करने के लिए चले गए। कैकसी के उदर में सिंह के स्वप्न के साथ एक जीव उत्पन्न हुआ। गर्भ के प्रभाव से कैकसी के वदन पर और वाणी में क्रूरता आ गई। उसका शरीर कोमलता छोड़ कर दृढ़ हो गया। दर्पण उपस्थित होते हुए भी वह अपना मुँह, खड्ग की दमक में देखने लगी। उसमें साहस इतना बढ़ा कि वह इन्द्र पर भी अपनी आज्ञा चलाने का विचार करने लगी। अकारण ही वह मुँह से हुँकार करने लगी। उसने गुरुजनों को प्रणाम करना भी बन्द कर दिया। शत्रुओं के मस्तक अपने चरणों में झुके—ऐसे मनोरथ करने लगी। गर्भ के प्रभाव से इस प्रकार उसने दारुण भाव धारण कर लिया। गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक महापराक्रमी पुत्र को जन्म दिया। जन्म के बाद ही पुत्र की विशेषताएँ प्रकट होने लगी। वह माता के पास शय्या में भी शांति से नहीं सोता और उछलता, हाथ-पाँव मारता हुआ चंचलता प्रकट करता था। एक बार व्यन्तर जाति के राक्षसनिकाय के इन्द्र भीम ने उसके पूर्वज राजा मेघवाहन को दिया हुआ नौ मणियों वाला प्रभावशाली हार, उस बालक के देखने में आया। उसने तत्काल उठा कर गले में पहन लिया। हार की मणियों में उसके मुँह का प्रतिबिंब पड़ने लगा और वह दस मुँह वाला दिखाई देने लगा। इससे उसका नाम "दशानन" प्रसिद्ध हो गया। उसके साहस को देख कर माता आश्चर्य करने लगी, तब रत्नश्रवा ने कहा—'मुझे चार ज्ञान के धारक मुनिराज ने कहा था कि इस हार को धारण करनेवाला अर्द्धचक्री होगा।

कालान्तर में कैकसी ने सूर्य के स्वप्न से गर्भ में आये हुए पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'भानुकर्ण' रखा गया। उसका दूसरा नाम 'कुंभकर्ण' था। इसके बाद एक पुत्री को जन्म दिया, जिसके नख, चन्द्र जैसे थे। इससे उसका नाम 'चन्द्रनखा' दिया। उसका विख्यात नाम 'सूर्पणखा' हुआ। इसके बाद एक पुत्र और हुआ जिसका नाम 'विभीषण' हुआ। तीनों भाई दिनोदिन बढ़ने लगे।

रावण की विद्या साधना

एक बार रावण अपने बन्धुओं के साथ खेल रहा था। अचानक उसने आकाश की ओर देखा। उसने देखा कि एक विमान उड़ रहा है और उसमें कोई बैठा है। उसने अपनी माता कैकसी से पूछा—'यह कौन उड़ रहा है—आकाश में?' कैकसी ने कहा;—

" यह मेरी बड़ी बहिन कौशिका का पुत्र है। इसका नाम 'वैश्रमण' है। यह समस्त विद्याधरों के अधिपति इन्द्र का सुभट है। इन्द्र ने तेरे पितामह के ज्येष्ठ बन्धु माली नरेश को मार कर राक्षस द्वीप सहित लंकापुरी इस वैश्रमण को दे दी। तभी से तेरे पिता अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने की आशा लिये हुए यहां रह रहे हैं। '

" राक्षसेन्द्र भीम ने, शत्रुओं के प्रतिकार के लिए अपने पूर्वज महाराज मेघवाहन को राक्षसी-विद्या के साथ राक्षस द्वीप, पाताल-लंका और लंकापुरी प्रदान की थी। वे लंकानगरी में राज करते थे। इस प्रकार वंश-परम्परा से चला आता हुआ राज्य, शत्रुओं ने ले लिया और तेरे पितामह, पिता और हम सब विवशतापूर्वक यहाँ रहते हैं, और अपनी राजधानी पर शत्रु राज कर रहे हैं। तेरे पिता के हृदय में यह दुःख, शूल के समान सदैव खटकता रहता है।"

" पुत्र ! मेरे मन में यह अभिलाषा है कि— कब वह शुभ दिन आवे कि मैं तुझे तेरे भाई के साथ लंका के राजसिंहासन पर बैठ कर राज करते और राज्य के इन लुटारुओं को तेरे कारागृह में वन्दी बने हुए देखूं। जिस दिन यह शुभ संयोग प्राप्त होगा, वह दिन मेरी परम प्रसन्नता का होगा और मैं अपने को पुत्रवती होने का सौभाग्य समझूंगी। बस, मैं इसी चिन्ता में जल रही हूँ।"

माता के दुःखपूर्ण वचन सुन कर क्रोधाभिभूत हुए विभीषण ने भीषण मुँह बनाते हुए कहा;—

'माता ! तुम्हें अपने पुत्रों के बल का पता नहीं है। इन आर्य दशमुखजी के सामने बिचारा इन्द्र, वैश्रमण और अन्य विद्याधर किस गिनती में हैं ? हम आज तक अनजान थे। इसलिए आपका यह दुःख अबतक चलता रहा। दशमुखजी ही क्या, ये कुंभकर्णजी भी शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट करने में समर्थ हैं। इनकी बात छोड़ दो, तो मैं भी आप सभी की आज्ञा एवं आशीर्वाद से शत्रुओं का संहार करने के लिए तत्पर हूँ।"

विभीषण की बात पूरी होते ही दशानन बोला;—

" माता ! आपका हृदय बड़ा कठोर एवं वज्रमय है। आपने इस हृदय-भेदक शल्य को हृदय में क्यों छुपाये रखा ? इन इन्द्रादि विद्याधरों से भयभीत होने की क्या आवश्यकता है ? इन्हें छिन्नभिन्न करना तो खेल-मात्र है। मैं इन्हें तृण के समान तुच्छ समझता हूँ।"

" यद्यपि मैं अपने भुजबल से ही इन शत्रुओं का संहार कर सकता हूँ, तथापि कुल-परम्परानुसार पहले मुझे विद्या की साधना करना उचित है। इसलिए मैं छोटे भाई के साथ विद्या की साधना करना चाहता हूँ। अतएव आज्ञा दीजिए।"

इस प्रकार निवेदन करके और माता-पिता की आज्ञा होते ही प्रणाम करके रावण अपने भाइयों के साथ अरण्य में गया। भयानक हिंस्र-पशुओं से व्याप्त वन में प्रवेश करके योग्य स्थान पर तीनों भाई खड़े हो गए और नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि स्थिर करके ध्यानस्थ हो गए। उन्होंने दो प्रहर के ध्यान से ही समस्त वांछित-फलदायिनी अष्टाक्षरी विद्या सिद्ध कर ली। इसके बाद षोडशाक्षर मन्त्र का दस सहस्रकोटि जाप प्रारम्भ कर दिया।

उस समय जम्बूद्वीप का अधिपति 'अनाहृत' नाम का देव, अपनी देवियों के साथ वहाँ क्रीड़ा करने आया। उसने इन तीनों साधकों को साधना करते देखा। उसने इनकी साधना में बाधक बनने के लिए अपनी देवियों को उसके निकट—अनुकूल हो कर बाधा खड़ी करने का निर्देश दे कर भेजी। किन्तु देवियाँ उनके निकट आ कर, उनका रूप देखते ही मोहित हो गई और कहने लगी; —

"अरे ओ, ध्यान में जड़ के समान स्थिर बनें हुए वीरों! तुम हमारे सामने तो देखो। हम देवियाँ तुम्हारे वश में हो चुकी हैं। अब इसके सिवाय तुम्हें और क्या चाहिए? अब किस सिद्धि के लिए तुम तपस्या कर रहे हो? छोड़ो इस साधना को और चलो हमारे साथ। हम तुमको संसार का सभी प्रकार का सुख प्रदान करेंगी। तुम हमारे साथ यथेच्छ क्रीड़ा करना।"

इस प्रकार देवियों ने आग्रह किया। किन्तु वे तीनों भाई अपनी साधना में पूर्ण रूप से अडिग रहे और वे देवियाँ निराश हो गई। तब अनाहृत देव ने स्वयं आ कर कहा; —

"हे मुग्ध पुरुषों! तुम क्यों व्यर्थ ही कष्ट उठा रहे हो? तुम्हें किसने भ्रमजाल में फँसाया? किस पाखंडी ने तुम्हें यह मिथ्या साधना बताई? क्या होगा—इस कष्ट-क्रिया से? छोड़ो इस निरर्थक काय-क्लेश को और जाओ अपनें घर। अथवा तुम्हारी इच्छा हो वह मुझ-से माँग लो। मैं साक्षात् देव तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। मैं तुम पर कृपावान हो कर तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर दूँगा।"

देव के उपरोक्त वचन भी व्यर्थ गए और वे तीनों भाई ध्यान में अटल रहे। उन्हें अपने ध्यान में स्थिर देख कर देव क्रोधित हुआ और कहने लगा; —

"अरे मूर्खों मेरे जैसा कृपालु देव, तुम्हारे सामने होते हुए भी तुम अपनी हठ नहीं छोड़ते, तो तुम्हारा पाप तुम भुगतो।"

इतना कह कर उसने अपने अनुचर व्यन्तरों को संकेत किया। व्यन्तरों ने उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। वे किलकारियें करते हुए विविध रूप बना कर उछल-कूद

मचाने, पत्थर फेंकने, पर्वतों पर के शिखर तोड़ कर उनके सामने व आस-पास गिराने लगे। कोई सर्प का रूप धारण कर उनके शरीर पर लिपटने लगा, कोई सिंह वन कर उनके निकट ही भयंकर गर्जना करने लगा। कोई रींछ, व्याघ्र, विलाव आदि भयंकर रूप धारण कर विविध प्रकार के शब्द करने लगे। किन्तु वे किंचित् भी चलायमान नहीं हुए। इसके बाद वे उनकी माता, पिता और बहिन सूर्पणखा के रूप बना कर उन्हें बन्दी रूप में उनके सामने लाये और उनसे करुण रुदन करवाने लगे। उन्होंने उनसे कहलाया कि;—

"हे पुत्र! ये दुष्ट लोग हमें पशुओं की तरह मारते हैं। तुम्हारे देखते हुए ये क्रूर लोग हमें पीट रहे हैं। हे वीरवर दसमुख! तुम चुप क्यों हो? बचाओ हमें इन दुष्टों से। शीघ्र बचाओ। ये हमें जान से मार रहे हैं। बचा, बचा, हे कुंभकर्ण! हे विभीषण! अरे, तुम हमारी रक्षा क्यों नहीं करते?"

यों विविध प्रकार से करुणापूर्ण शब्दों के साथ विलाप करते रहे, किन्तु उन तीनों साधकों में से कोई भी किंचित् भी चलायमान नहीं हुआ। तब व्यन्तरों ने उन बनावटी मां-बाप के मस्तक काट कर उनके आगे डाल दिये। इतना होते हुए भी वे ध्यान में अचल ही रहे। इसके बाद व्यन्तरों ने कुंभकर्ण और विभीषण का मस्तक, रावण के आगे डाल दिया और रावण का मस्तक विभीषण और कुंभकर्ण के आगे डाला। रावण तो अचल रहा, परन्तु विभीषण और कुंभकर्ण क्षुब्ध हो गए। रावण के प्रति अनन्य प्रीति से वे विचलित हुए। किंतु रावण तो विशेष रूप से दृढ़ हो गया। उसकी दृढ़ता देख कर आकाश में देवों ने 'साधु, साधु' कह कर हर्ष व्यक्त किया। उपद्रवी व्यन्तर भाग गये। उस समय रावण को एक हजार विद्याएँ सिद्ध हो गई। उनमें—

प्रज्ञप्ति, रोहिणी, गोरी, गान्धारी, नभःसंचारिणो, कामदायिनी, कामगामिनी, अणिमा, लघिमा, अक्षोभ्या, मनःस्तभनकारिणी, सुविधाना, तपोरूवा, दहनि, विपुलोदरी, शुभप्रद, रजोरूपा, दिनरात्रि-विधायिनी, वज्रोदरी, समाकृष्टि, अदर्शनी, अजरामरा, अनलस्तंभनी, तोयस्तंभनी, गिरिदारिणी, अवलोकिनी, वह्नि, घोरा, वीरा, भुजंगिनी, वारिणी, भुवना, अवंध्या, दारुणी, मदनाशिनी, भास्करी, रूपसम्पन्ना, रोशनी, विजया, जया, वर्द्धनी, मोचनी, वाराही, कुटिलाकृति, चित्तोद्भवकरी, शांति, कौवेरी, वशकारिणी, योगेश्वरी, बलोत्साही, चंडा, भीति, प्रघर्षिनी, दुर्निवारा, जगत्कम्पकारिणी और भानुमालिनी इत्यादि महाविद्याएँ रावण को थोड़े ही दिनों में सिद्ध हो गई।

कुंभकर्ण को—संवृद्धि, जृंभिणी, सर्वाहारिणी व्योमगामिनी और इन्द्राणी, ये पांच विद्या सिद्ध हुई।

विभीषण को—सिद्धार्था, शत्रदमनी, निर्व्याघाता और आकाशगामिनी—ये चार विद्या सिद्ध हुई।

अनाहत देव ने रावण से क्षमा याचना की और रावण के लिए स्वयंप्रभ नामके नगर की वहाँ रचना की। रावण आदि को विद्या सिद्ध होने का शुभ समाचार सुन कर, उनके माता, पिता, बहिन और अन्य स्वजन-परिजन हर्षोत्फुल्ल हो वहाँ आये। उन्होंने उनका सत्कार किया और उसी नगर में रहने लगे। इसके बाद रावण ने छः उपवास का तप कर के दिशाओं को साधने में उपयोगी ऐसे 'चन्द्रहास' नाम के श्रेष्ठ खड्ग को सिद्ध किया।

रावण का मन्दोदरी के साथ लग्न

उस समय वैताढ्य पर्वत पर सुरसंगीत नामक नगर में 'मय' नाम का राजा राज करता था। उसकी हेमवती रानी से मन्दोदरी नाम की कन्या ने जन्म लिया। यौवनवय प्राप्त होने पर राजा, योग्य वर पाने का प्रयत्न करने लगा, किंतु योग्य वर नहीं मिलने पर चिन्ता करने लगा। तब उसके मन्त्री ने कहा;—"महाराज! चिन्ता क्यों करते हैं। रत्नश्रवा का पुत्र दशानन योग्य वर है। वह महाबली तो है ही, साथ ही उसने अभी सहस्र विद्या सिद्ध कर ली है। देव भी उसे डिगाने में समर्थ नहीं हो सका। उसके समान उत्तम वर अभी तो कोई दिखाई नहीं देता। आप उसी के साथ राजकुमारी के लग्न कर दीजिए।" राजा को मन्त्री की सलाह उचित लगी। राजा, अपनी रानी, परिवार और सेना के साथ पुत्री को ले कर स्वयंप्रभ नगर आये और रावण के साथ मन्दोदरी का लग्न कर दिया।

एक बार रावण, मेघरव नाम के पर्वत पर क्रीड़ा करने गया। वहाँ के सरोवर में सामूहिकरूप से छः हजार खेचर युवती कन्याएँ स्नानोत्सव मना रही थी। उन सब ने रावण को देखा। उसके रूप-यौवन एवं बल को देख कर वे मुग्ध हो गईं। उन सुन्दरियों में, सर्वश्री और सुरसुन्दर की पुत्री पद्मावती, मनोवेगा और बुद्ध की पुत्री अशोकलता तथा कनक और संध्या की पुत्री विद्युत्प्रभा मुख्य थी। उनको तथा अन्य विख्यात कुलोत्पन्न अनुरागिनी युवतियों का रावण ने गन्धर्व विधि से वरण किया। यह देख कर उन कुमारियों के रक्षकों ने जा कर उनके माता-पिता को अवगत करते हुए कहा—"आपकी पुत्रियों के साथ लग्न कर के कोई एक पुरुष ले जा रहा है।" यह सुन कर विद्याधरों का राजा अमरसुन्दर तथा उन कुमारियों के पिता क्रोधाभिभूत हो कर रावण पर चढ़ दौड़े। इन्हें आता

हुआ देख कर उन कुमारियों ने रावण से कहा—

"स्वामिन् ! शीघ्र चलो, देर मत करो। यह अमरसुन्दर विद्याधरों का इन्द्र है और स्वयं अजेय है, फिर इनके साथ कनक, वुद्ध आदि अनेक बलवान वीर हैं। यदि ये आ पहुँचे, तो बचना कठिन होगा।"

—"सुन्दरियों ! डरो मत। तुम मेरा रण-कौशल देखो। ये सभी गीदड़ अभी भाग जाते हैं।

इतने में शत्रु-सेना आ गई। युद्ध हुआ और अन्त में रावण ने सभी को प्रस्वापन विद्या से मोहित कर के नागपाश में बाँध लिया। जब सभी कुमारियों ने पितृ-भिक्षा माँगी तब उन्हें मुक्त किया।

कुंभपुर के राजा महोदर की पुत्री तडिन्माला के साथ कुंभकर्ण के और ज्योतिषपुर के राजा वीर की पुत्री पंकजश्री के साथ बिभीषण के लग्न हुए। रावण की रानी मन्दोदरी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'इन्द्रजीत' रखा। उसके बाद दूसरा पुत्र हुआ, उसका नाम 'मेघवाहन' दिया।

रावण का दिग्विजय

लंका नगरी पर वैश्रमण का राज्य था। अपने पूर्वजों के राज्य पर से पिता को हटा कर राज्य करने वाला वैश्रमण, अब रावण आदि भ्रातृ-मण्डल को खटक रहा था। कुंभकर्ण और विभीषण लंका में उपद्रव करने लगे। उनके उपद्रव से प्रभावित हो कर वैश्रमण ने अपना दूत, सुमाली के पास भेज कर कहलाया;—

"तुम्हारे पुत्र कुंभकर्ण और विभीषण लंका में आ कर उपद्रव कर रहे हैं। इन मूर्ख बालकों को रोको। यदि तुमने इन्हें नहीं रोका, तो उन्हें और उनके साथ तुम्हें भी माली के मार्ग—मृत्यु की ओर पहुँचा दिया जायगा। ये उद्दंड छोकरे हमारी शक्ति नहीं जानते, किंतु तुम तो हमारे बल से पूर्ण परिचित हो। अतएव समझ जाओ और अपनी पाताल-लंका में चुपचाप पड़े रहो।

दूत की इस प्रकार की अपमान-कारक बात सुन कर रावण क्रोधित हो गया और कहने लगा;—

"वह वैश्रमण किस बल पर घमण्ड कर रहा है ? बिचारा खुद दूसरे के आधीन

हो कर पड़ा है और कर दे कर राज कर रहा है। उसे लज्जा आनी चाहिए। जा दूत ! तू उस धीठ को कह दे कि अब तेरा शासन लंका पर नहीं रह सकेगा।"

दूत को चलता करने के बाद रावण आदि तीनों भाई सेना ले कर लंका पर चढ़ आये। वैश्रमण भी सेना ले कर लंका के बाहर आ कर रावण से जूझने लगा। थोड़ी देर के युद्ध से ही वैश्रमण की सेना का साहस टूट गया। वह भागने लगी। वैश्रमण ने देखा— "अब विजय रावण को वरण कर रही है। ऐसी दशा में अपमानित हो कर ससार में रहने की अपेक्षा राज्य-मोह त्याग कर मोक्ष-मार्ग की ओर प्रयाण करना ही उत्तम मार्ग है। यह श्रेष्ठ मार्ग ही पराजय की लज्जा एवं अपमान से रक्षा कर के ऊच्च स्थान प्रदान करने वाला है। राज्य-लिप्सा, बिना विराग के शान्त नहीं होती और जब तक शांत नहीं होती, तब तक वैर-विरोध विग्रह एवं दुर्गति की सामग्री जुटती ही रहती है। उस समय मेरा पलड़ा भारी था, आज इनका पलड़ा भारी है। यह कर्म की उठा-पटक चलती ही रहती है। इसका छेदन करने के लिए निर्ग्रंथ मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है,"— इस प्रकार विचार कर के वैश्रमण ने शस्त्र डाल दिये और युद्धभूमि से पृथक् हो कर स्वयमेव प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वैश्रमण के प्रव्रजित होने की बात जान कर रावण ने भी शस्त्र रख दिये और तत्काल वैश्रमण मुनि के समीप आ कर नमस्कार किया और बोला;—

"हे महानुभाव ! आप मेरे ज्येष्ठ बन्धु + हैं, इसलिए अपने लघु-बन्धु का अपराध क्षमा करें। आप निश्चित हो कर लंकापुरी में राज्य करें। हम यहाँ से अन्यत्र चले जावेंगे।"

महात्मा वैश्रमणजी तो प्रव्रजित होते ही ध्यानस्थ हो गए थे। उन्होंने रावण की विनती की ओर लक्ष्य ही नहीं किया। महात्मा को निष्पृह जान कर रावण आदि उनकी क्षमा चाहते और वन्दना-नमस्कार करते हुए चल दिये और लंकापुरी पर अपना अधिकार कर के विजयोत्सव मनाने लगे। इतने में वनपालक ने उपस्थित हो कर निवेदन किया कि— "वन में एक प्रचण्ड उन्मत्त हाथी घूम रहा है। वह आपके वाहन के योग्य है। उसके विशाल दंतशूल हैं मधुपिंगल वर्ण के नेत्र हैं, शिखर के समान उन्नत कुंभस्थल है। वह अन्य हाथियों से उत्तम है।"

रावण, वनपालक की बात सुन कर तत्काल चल निकला और वन में आ कर हाथी को वश में कर लिया तथा उस पर सवार हो कर लंका में प्रवेश किया। गजराज के

+ मासी का पुत्र

उत्तम गुणों से मुग्ध हो कर रावण ने उसका नाम 'भुवनालंकार' दिया।

रावण राज्य-सभा में बैठा था। उस समय 'पवनवेग' नाम का विद्याधर उपस्थित हो कर कहने लगा;—

"देव! किष्किन्ध राजा के पुत्र सूर्यरजा और ऋक्षरजा, पाताल-लंका में से किष्किन्धा नगरी गये थे। वहां यम के समान भयंकर यमराज के साथ उनका युद्ध हुआ। चिरकाल तक युद्ध करने के पश्चात् यम राजा ने दोनों को पकड़ कर बन्दीगृह में डाल दिया और उन्हें नरक के नैरयिक के समान भयंकर दुःख दे रहा है।"

"महाराज! वे आपके अनुचर—सेवक हैं, इसलिए पापात्मा यम से आप उनकी रक्षा करें। वे आपके हैं, इसलिए उनकी पराजय, आपकी ही मानी जायगी।"

पवनवेग की बात सुन कर रावण ने तत्काल सैन्य सज कर प्रयाण करने की आज्ञा दी और स्वयं शस्त्र-सज्ज हो कर चला। किष्किन्धा नगरी के बाहर रावण ने यम का कारागृह देखा, जहाँ नरक के समान दुःख देने की कुछ व्यवस्था की गई थी। जैसे— शिलास्फालन (बन्दी को शिला पर पछाड़ कर मारना) परशुच्छेद (फरशे से काटना) आदि। यह देख कर रावण ने कारागृह के रक्षक नरकपालों को त्रासित कर भगा दिया और सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया। नरकपाल भाग कर यमराज के पास गये। यम क्रोध में भभक उठा और युद्ध करने के लिए आ डटा। दीर्घकाल तक भयंकर युद्ध हुआ। जब भीषणतम युद्ध से भी रावण का पराभव नहीं हो सका, तो यम एक भयंकर दंड उठा कर रावण पर प्रहार करने दौड़ा। रावण ने तत्काल क्षुरप्र बाण छोड़ कर उस दंड के टुकड़े कर दिए। यम ने रावण पर जोरदार बाण की वर्षा कर के उसे बाणों से ढक दिया, किन्तु रावण की युद्ध-चातुरी ने सभी बाणों को व्यर्थ कर दिया और खुद ने भयंकर बाण-वर्षा कर के यम के देह को जर्जर एवं बलहीन कर दिया। इस मार से यम की शक्ति नष्ट हो गई। वह युद्धभूमि से निकल कर विद्याधर नरेश इन्द्र के पास, रथनूपुर पहुँचा और निवेदन किया;—

"महाराज! मैं अब यम का कार्य करने के योग्य नहीं रहा। मेरी सारी शक्ति रावण ने नष्ट कर डाली। वह यम का भी यमराज निकला। अब आप यह पद किसी अन्य बलवान् को दीजिए। रावण ने किष्किन्धा के नरकागार पर हमला कर के सभी नरकपालों को भगा दिया और सभी नारकों को नरक से निकाल कर स्वतन्त्र कर दिया। रावण महाबली है, साथ ही क्षात्रव्रत का पालक है। इसी से मैं जीवित रह कर आपकी सेवा में पहुँच सका, अन्यथा मेरा प्राणान्त हो जाता।"

"स्वामिन् ! रावण ने वैश्रमण को जीत कर लंका का राज्य और पुष्पक विमान पर भी अधिकार कर लिया है और सुरसुन्दर जैसे बलवान् विद्याधर को भी जीत लिया है। उसने विजयोन्मत्त हो कर किष्किन्धा पर अधिकार कर लिया होगा। अब क्या उपाय करना, यह आप ही सोचें। मैं तो शक्तिहीन बन चुका हूँ।"

यम की दशा और रावण का पराक्रम जान कर विद्याधरपति इन्द्र कुपित हुआ। उसने सैन्य संगठित कर युद्धभूमि में जाने के लिए आज्ञा दी। किन्तु मन्त्रियों के समझाने से युद्ध स्थगित रखा और यमराज को सुरसंगीत नगर दे कर संतुष्ठ किया।

रावण ने किष्किन्धा का राज, सूर्यरजा को और ऋक्षपुर का राज्य ऋक्षरजा को दिया और स्वयं विजयोल्लासपूर्वक लंकानगरी में आया और अपने पितामह के राज्य का संचालन करने लगा।

बालि और सुग्रीव

वानराधिपति सूर्यरजा की इन्दुमालिनी रानी से बालि'' नाम का एक महा बलवान् पुत्र हुआ। वह अत्यंत पराक्रमी और उच्च शक्ति का स्वामी था। इसके बाद दूसरा पुत्र हुआ उसका नाम 'सुग्रीव' रखा गया और इसके बाद एक पुत्री हुई, जिसका नाम 'श्रीप्रभा' हुआ।

ऋक्षरजा के हरिकान्ता रानी से 'नल' और 'नील' नामके विश्व-विख्यात दो पुत्र हुए। आदित्यरजा (सूर्यरजा) अपने महाबली पुत्र बालि को राज्य दे कर प्रव्रजित हो गया और संयम-तप का विशुद्ध रीति से पालन करके मोक्ष प्राप्त हुए। बालि ने अपने ही समान सम्यग्दृष्टि, न्यायी, दयालु और पराक्रमी ऐसे अपने छोटे भाई सुग्रीव को 'युवराज' पद पर स्थापित किया।

शूर्पणखा का हरण और विवाह

एक बार मेघप्रभ विद्याधर के पुत्र 'खर' की दृष्टि में शूर्पणखा आई। वह उसे देखते ही आसक्त हो गया। शूर्पणखा भी खर पर मोहित होगई। दोनों की परम आसक्ति होने से, खर शूर्पणखा का हरण कर के पाताल-लंका में चला गया और चन्द्रोदर को हटा कर स्वयं

राजा बन गया। शूर्पणखा के हरण के समय रावण लंका में नहीं था। जब रावण आया और उसे खर द्वारा शूर्पणखा के हरण के समाचार मिले, तो वह रोष में भर गया और खर का निग्रह करने के लिए पाताल-लंका जाने लगा। किंतु महारानी मन्दोदरी ने रोका। वह बोली;—

"आर्यपुत्र ! जरा विचार कीजिए। आपकी बहिन का बलपूर्वक हरण नहीं हुआ। वह स्वयं खर पर आसक्त हुई। उसकी अनुमति से ही खर उसे ले गया है। आपको भी अपनी बहिन किसी को देनी ही थी। जब बहिन ने स्वयं अपना वर चुन लिया, तो आपको रोष करने की बात ही क्या रही ? वैसे खर भी कुलवान् विद्याधर का पुत्र है। अतएव बहिन की इच्छानुसार पति मिलने की प्रसन्नता होनी चाहिए। अब आपका कर्त्तव्य है है कि मन्त्रीगण को भेज कर दोनों के लग्न की तय्यारी करें। खर आपका विश्वसनीय सुभट होगा। अतएव आपको तो प्रसन्न ही होना चाहिए।"

महारानी मन्दोदरी की बात का कुंभकर्ण और विभीषण ने भी समर्थन किया, तब रावण नें मय और मारीच नाम के दो राक्षसों को भेज कर शूर्पणखा का खर के साथ विवाह करवा दिया। रावण की आज्ञा में रह कर, खर पाताललंका का राज करता हुआ शूर्पणखा के साथ भोगासक्त हो गया।

खर द्वारा निकाले हुए चन्द्रोदर का आयुष्य अल्प ही था। वह थोड़े ही दिनों में मर गया। उस समय उसकी रानी अनुराधा गर्भवती थी। वह भाग कर वन में चली गई। वन में उसके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'विराध' रखा। युवावस्था में वह सभी प्रकार की कलाओं में पारंगत हुआ। वह नीति आदि गुणों से युक्त था। वह पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।

बालि के साथ रावण का युद्ध

रावण अपनी राजसभा में बैठा था। वार्त्तालाप के समय किसी सामन्त ने किष्किन्धा नरेश बालि के बल, पराक्रम और अपराजेय शक्ति का वर्णन किया, जिसे सुन कर रावण आवेशित हो गया। उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और बालि के लिए सन्देश ले कर भेजा। दूत किष्किन्धा में बालि नरेश की सेवा में उपस्थित हो कर विनय पूर्वक बोला;—

"परम पराक्रमी महाराजाधिराज दशाननजी ने आपके लिए सन्देश भेजा है कि किष्किन्धा का राज्य मेरे पूर्वज महाराज कीर्तिधवलजी ने, आपके पूर्वज श्रीकंठजी की शत्रुओं से रक्षा करके, निर्वाह के लिए दिया था। वे महाराजाधिराज कीर्तिधवलजी की आज्ञा में, उनके सामन्त रह कर राज्य करते रहे। यह स्वामी-सेवक सम्बन्ध चलता रहा। इन्द्र के पराक्रम के सामने किष्किन्धराज को पराजित हो कर पलायन करना पड़ा। तुम्हारे पिता आदित्यरजा को यम ने बन्दी बना कर, नरक के समान यातना देता था, तब मैंने उन्हें कारागृह से छुड़ाया और पुनः किष्किधा का राज्य दिया। वे लंका राज्य की अधिनता में राज करते रहे। अब तुम्हें भी अपने पिता के समान हमारा अनुशासन स्वीकार कर तद्नुसार व्यवहार करना चाहिए।"

दूत की बात, बालि नरेश को रुचिकर नहीं लगी। उन्होंनें कहा;—"लंकेश और किष्किन्धेश के परस्पर स्नेह सम्बन्ध रहा है, स्वामी-सेवक सम्बन्ध नहीं। हम स्नेह-सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए तत्पर हैं। स्वामी-सेवक संबंध हमें मान्य नहीं है। यदि दशाननजी, पारस्परिक स्नेह सम्बंध रखने और बढ़ाने को तत्पर हों, तो हम भी तत्पर हैं। अन्यथा वे जैसा ठीक समझें वैसा करें।"

बालि का उत्तर सुन कर, रावण युद्ध के लिए किष्किधा पर चढ़ आया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। सैनिक, घोड़े और हाथी कटने लगे। बालि नरेश के मन में अनुकम्पा जाग्रत हुई। उन्होंने युद्ध बन्द करके रावण के पास सन्देश भेजा;—

"आप भी सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं। व्यर्थ की हिंसा से आपको भी बचना चाहिये। यदि युद्ध आवश्यक ही है, तो आपके व मेरे बीच ही युद्ध हो जाय। निर्दोष सैनिकों और हाथी-घोड़ों को मरवाने और पृथ्वी को रक्त में रंगने से क्या लाभ है?"

रावण भी सम्यग्दृष्टि श्रावक था। उसने बालि की बात मान ली। सेना में युद्ध स्थगन की आज्ञा प्रचारित हो गई। दोनों ओर की सेना आमने-सामने स्तब्ध खड़ी हो गई। दोनों वीर, युद्ध-भूमि में आमने-सामने आ कर खड़े हो गए और एक-दूसरे पर प्रहार, प्रतिकार एवं स्वरक्षण करनें लगे। रावण ने जितने भी शस्त्र चलाये, बालि ने उन सभी को व्यर्थ कर दिये। अपने अस्त्रों को व्यर्थ जाते देख कर, रावण ने सर्पास्त्र और वरुणास्त्र आदि चलाये, किंतु समर्थ बालि ने अपने गरुड़ास्त्र आदि से उन्हें भी नष्ट कर दिये। जब सभी शस्त्र-अस्त्र व्यर्थ गए, तब रावण ने चन्द्रहास नाम का भयंकर खड्ग पकड़ा और बालि पर झपटा। रावण जब प्रहार करने के लिए निकट आया, तो चतुर बालि नें अपने बायें हाथ से उसे पकड़ कर ऊँचा उठा लिया और खड्ग छिन कर रावण को

अपनी बगल में दबा लिया। इसके बाद दर्पीश्वर महावीर वालि नरेश, रावण को बगल में दबा कर दौड़ते हुए चक्कर लगाने लगे ❊। इसके बाद रावण को छोड़ दिया। वह लज्जित हो कर नीचा मुंह किये खड़ा रहा।

महानुभाव वालि नरेश को कर्म की विचित्रता एवं संसार की भयंकरता का विचार आया। वे विरक्त हो गए। उन्होंने रावण से कहा; —

"हे रावण! वीतराग-धर्म को पा कर भी तेरा राज्यलोभ नहीं मिटा। इस महत्वाकांक्षा से युद्ध में प्रवृत्त हो कर जीवों का संहार करता है। इस महापाप से तू कैसे छूटेगा? यह राज्यश्री किसी के पास स्थायी नहीं रहती। इस पर कई आते हैं और कई जाते हैं। मुझे इस पर तनिक भी रुचि नहीं रही। मैं निर्ग्रंथ-मार्ग पर चल कर मोक्ष का शाश्वत राज्य पाने जा रहा हूं। मेरा छोटा भाई सुग्रीव यहां का राज्य करेगा और वह तेरी आज्ञा में रहेगा।"

महानुभाव वालिजी ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया और आप श्रीगगनचन्द्र मुनि के पास जा कर प्रव्रजित हो गए। आप विविध प्रकार के अभिग्रह तथा तप का सेवन करते हुए पृथ्वी पर विचरने लगे। उन्हें अनेक प्रकार की लब्धियें प्राप्त हो गई। कालांतर में वे मासखमण का तप करके अष्टापद पर्वत पर कायुत्सर्ग करने लगे।

रावण का उपद्रव और बालि महर्षि की मुक्ति

सुग्रीव ने रावण के साथ अपनी बहिन श्रीप्रभा का लग्न करके स्नेह-सम्बन्ध स्थापित किया और बालि के पुत्र चन्द्ररश्मि को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया।

रावण नित्यालोक नगर की राजकुमारी से लग्न करने के लिए पुष्पक-विमान से जा रहा था। जब वह अष्टापद गिरि पर पहुँचा, तो उसका विमान अटक गया। विमान के रुकने का कारण जानने के लिए रावण ने नीचे देखा, तो उसे महामुनि बालिजी दिखाई दिये। उसकी कषाय सुलगी। वह सोचने लगा —" यह ढोंगी है। साधु हो कर भी मुझ पर वैर रखता है। उस समय इसने चालाकी से मुझे पकड़ कर बगल में

❊ आचार्यश्री हेमचन्द्रजी लिखते हैं कि वालि ने क्षणभर में चार समुद्र सहित पृथ्वी की परिक्रमा कर ली। किन्तु मानव-शरीर से (बिना वैक्रिय के) ऐसा होना संभव नहीं लगता।

दबाया था, किंतु उसके मन में भय अवश्य था, इसीलिए उसने अपने भाई को मेरे अधीन कर के खुद ने प्रव्रज्या ले ली, परंतु अब भी मेरे प्रति इसका वैरभाव है, इसीसे इसने मेरा विमान रोका। मैं इसे इसकी दुष्टता का मजा चखाता हूँ,'– इस प्रकार विचार कर दशानन, ध्यानस्थ मुनि को कूट सहित ☆ उठा कर समुद्र में फेंकने लगा। मुनिराज ने दशानन की अधमता और उससे होने वाले जीवों के संहार का विचार कर अपने पाँव का अंगुठा दबाया। उनके दबाते ही दशानन गिर पड़ा और उसका शरीर दब कर संकुचित हो गया। हाथ-पाँव आदि में गंभीर आघात लगा। वह रक्त-वमन करने लगा। उसे मृत्यु निकट दिखाई देने लगी। उसके हृदय से करुणापूर्ण चित्कार निकल गई और वह रोने लगा। उसका रोना सुन कर दया के भण्डार महर्षि ने अपना अंगुठा हटा लिया। रावण बड़ी कठिनाई से उठ कर स्वस्थ हुआ। उसके रोने के कारण उस दिन से उसका नाम "रावण" हो गया। रावण को अपनी भूल दिखाई दी। वह समझ गया कि मुनिश्वर तो क्षमा के सागर हैं। मैं स्वयं अधम हूँ। उसने ऋषिश्वर के चरणों में गिर कर वन्दना की और क्षमा याचना की। फिर वह अपने अभीष्ट की ओर चल दिया ॐ। महामुनि श्री

☆ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी लिखते हैं कि रावण अपनी सहस्र विद्या के बल से पृथ्वी फाड़ कर नीचे घुसा और अष्टापद गिरि को उठा कर समुद्र में डालने का प्रयत्न करने लगा। पर्वत उठाते ही सारा वातावरण भयानक बन गया। व्यंतर त्रस्त हो गए। समुद्र के क्षुब्ध होकर छलकने से रसातल जलपूरित होने लगा। पर्वत पर से गिरते हुए पत्थरों से हाथी भयभीत हो गए। वृक्ष टूटने लगे, इत्यादि।

ॐ आचार्यश्री हेमचन्द्रजी लिखते हैं कि रावण ने अष्टापद पर्वत पर भरत चक्रवर्ती नरेश के बनाये जिन-बिंबों की पूजा की और अपने हाथों में से नसों को निकाल कर, हाथ की ही वीणा बनाई और भक्तिपूर्वक बजाने लगा। उसकी रानियें मनोहर गान करने लगी। उस समय धरणेन्द्र भी तीर्थ की वन्दना करने वहाँ आया और रावण की अनुपम भक्ति से प्रसन्न हो कर 'अमोघविजया शक्ति' और 'रूपविकारिणी विद्या' प्रदान की।

उपरोक्त कथन में भरतेश्वर के समय के बिंबों का करोड़ों सागरोपम तक रहना बतलाया, यह सर्वथा अशक्य है। सिद्धांत में उत्कृष्ट स्थिति संख्येय काल की बतलाई है (भगवती श. ८ उ. ६) इस से अधिक कोई बिंब, मूर्ति या पत्थरादि की वस्तु नहीं रह सकती। तब करोड़ों सागरोपम तक रहना अविश्वसनीय ही है और न इस कथन में किसी आगम का आधार ही है।

हाथों में से नस निकाल कर और हाथ ही की वीणा बना कर बजाना आदि वर्णन भी समझ में नहीं आता।

बालिजी ने घाती-कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया ।

तारा के लग्न और साहसगति का प्रपंच

वैताढच पर्वत पर के ज्योतिपुर नगर में 'ज्वलनशिख' नाम का विद्याधर राजा था । उसकी श्रीमती रानी से 'तारा' नामकी पुत्री का जन्म हुआ । वह उत्कृष्ट एवं अनुपम सुन्दरी थी । उसके रूप की महिमा दूर-दूर तक पहुँच गई थी । चक्रांक नाम के विद्याधर राजा के पुत्र साहसगति ने राजकुमारी तारा को देखा । उसके रूप-यौवन पर वह मुग्ध हो गया । उसने राजा ज्वलनशिख के पास राजदूत भेज कर तारा की याचना की । उधर वानरपति राजा सुग्रीव ने भी अपना दूत भेज कर यही याचना की । ज्वलनशिख की दृष्टि में दोनों याचक जाति-सम्पन्न, रूप, पराक्रम और वैभव-सम्पन्न थे । दोनों में से किसकी मांग स्वीकार की जाय—यह प्रश्न राजा के सामने उपस्थित हुआ । उसने ज्योतिष-शास्त्री से दोनों याचक-पात्रों का भविष्य पूछा ? ज्योतिषी ने कहा—'साहसगति अल्पायु है और सुग्रीव दीर्घायु है ।' यह सुन कर ज्वलनशिख ने सुग्रीव के साथ तारा के लग्न कर दिये । निराश साहसगति मन ही मन जलने लगा । सुग्रीव और तारा के भोगफल के रूप में 'अंगद' और 'जयानंद' नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए । वे प्रतापी एवं दिग्गज हुए ।

साहसगति तारा को भूल नहीं सका । वह तारा को प्राप्त करने के उपाय खोजने लगा । उसने निश्चय किया कि चाहे बल से हो या छल से, मैं तारा को प्राप्त करके ही रहूँगा । उसने क्षुद्र हिमाचल की गुफा में रह कर रूप परावर्तनी विद्या की साधना प्रारंभ की ।

रावण का दिग्विजय

रावण ने दिग्विजय करने के लिए लंका से प्रयाण किया । अन्य-द्वीपों में रहे हुए विद्याधर राजाओं को वश में करता हुआ वह पाताल-लंका में आया । उसकी बहिन शूर्पणखा के पति 'खर' विद्याधर ने रावण को मूल्यवान् भेंट दे कर रावण का स्वामीत्व स्वीकार किया । अब रावण, महाराजा इन्द्र को जीतने के लिए आगे बढ़ा । उसके साथ खर भी अपनी सेना ले कर चला और किष्किन्धापति सुग्रीव भी साथ हो गया । विशाल

सेना के साथ रावण आगे बढ़ता रहा। मार्ग में रेवा नाम की महानदी थी। उसके आस-पास का प्रदेश बड़ा सुहावना था। वनश्री और सलीला की मनोहरता देख कर रावण प्रसन्न हुआ। उसने वहीं पड़ाव डाल दिया और जलक्रीड़ा करने लगा। वह जलक्रीड़ा कर ही रहा था कि अकस्मात् नदी का पानी बढ़ने लगा। उसमें बाढ़ आ गई और दोनों किनारे छोड़ कर बाढ़ का पानी सम-प्रदेश में प्रसर गया। सेना में हा-हाकार मच गया। किनारे के वृक्ष उखड़ कर बहने लगे। रावण असमय और अकस्मात् आई हुई बाढ़ देख कर आश्चर्य करने लगा। उसने सोचा — 'यह किसी शत्रु मनुष्य, विद्याधर अथवा असुर की कुचेष्टा है,'; —यह सोच कर वह बाहर निकला। उसने अपने सेनापतियों को इस उपद्रव का कारण पूछा। एक ने कहा —

देव ! यहाँ से थोड़ी दूर पर माहिष्मती नामकी नगरी है। एक हजार राजाओं द्वारा सेवित प्रबल पराक्रमी ऐसा सहस्रांशु महाराजा वहां का शासक है। उसने बाँध, बाँध कर रेवा के पानी को रोक लिया। जब वह अपने अन्तःपुर सहित जलक्रीड़ा महोत्सव मनाता है और उत्साहपूर्वक कराघात करता है, तो पानी उछलता है और छलक कर सेतु से बाहर निकलता है। इससे रेवा में जल-वृद्धि होती है और जब वह सेतु के द्वार खोल देता है, तो भयंकर बाढ़ आ जाती है। उसने आज सेतु का द्वार खोला है, इसीसे बाढ़ आई है। वह अपनी सेना और अन्तःपुर के साथ उत्सव मना रहा है" *।

---

* आचार्यश्री लिखते हैं कि रावण, रेवा नदी में स्नान करके किनारे आया और मणिमय पट्ट पर रत्नमय जिनबिंब रख कर पूजा करने लगा। जब वह पूजा में मग्न था तभी रेवा में बाढ़ आई और रावण की की हुई पूजा को धो कर बहा ले गई। इस पर रावण क्रुद्ध हुआ। जब उसे मालूम हुआ कि सहस्रांशु और उसकी हजार रानियों के शरीर से दूषित हुए जल से उसकी देव-पूजा दूषित हो गई, तो उसने इस महापाप का दंड देने के लिए सेना भेजी और युद्ध कराया। यह कल्पना रावण की जिनभक्ति के साथ बुद्धिहीनता, विवेक-विकलता एवं क्षुद्रता प्रकट करती है। किसी भी नदी में ऊपर कोई नहीं नहाता-धोता, मल-मूत्र नहीं करता—ऐसीधारणा रावण ने कैसे बना ली थी ? सहस्रांशु जिसमें स्नान कर रहा था, उसके कुछ दूर भैंसे-गायें आदि भी पानी पीती और मल-मूत्र त्यागती रही होगी और मत्स्य-कच्छादि तो उसमें जन्मते मल-मूत्र त्यागते, भोग करते, झूठन छोड़ते और मरते रहते हैं। उनसे पूजा दूषित नहीं हुई, किंतु राजा-रानी के नहाने से दूषित हो गई ? खुद रावण ने भी तो नदी में स्नान कर के जल को दूषित बनाया, जिससे सारी नदी का जल दूषित हुआ। इतना विचार भी रावण को नहीं हुआ। फिर इस दोष के परिहार का उपाय क्या युद्ध ही था ?

जो बाढ़ बड़े-बड़े जहाजों, पत्थरों और पेड़ों को बहा कर ले गई, वह मात्र पूजा ही ले गई, मणिपट्ट और मूर्ति नहीं ले गई, इसका क्या कारण है ?

रावण यह सुन कर क्रोधित हुआ। उसने सेना भेज कर युद्ध प्रारंभ करवाया। घमासान युद्ध हुआ। जब सहस्रांशु की सेना दबने लगी, तो वह स्वयं युद्ध में आ कर अपना पराक्रम दिखाने लगा। सहस्रांशु की मार सहन नहीं कर सकने के कारण रावण की सेना क्षति उठा कर भाग गई। अपनी सेना की पराजय देख कर रावण स्वयं समरभूमि में आया। अब दोनों महावीरों का साक्षात् युद्ध था। दोनों चिरकाल तक लड़ते रहे। रावण अपना पूरा बल लगा कर भी जब सहस्रांशु को नहीं हरा सका, तो उसने विद्या से मोहित करके उसे पकड़ लिया और बन्दी बना कर अपनी छावनी में लाया, फिर भी वह सहस्रांशु के बल एवं साहस की प्रशंसा करता रहा। रावण अपनी विजय का हर्ष मना ही रहा था कि आकाश-मार्ग से शतबाहु नामके चारण-मुनि आ कर वहाँ उपस्थित हुए। रावण ने मुनिवर को वन्दना-नमस्कार किया और विनयपूर्वक पदार्पण का कारण पूछा। मुनिराजश्री ने कहा;—

"मेरा नाम शतबाहु है। मैं माहिष्मती का राजा था। वैराग्य प्राप्त होने पर मैंने पुत्र को राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की.........

मुनिराज इतना ही कह पाए कि रावण समझ गया और तत्काल बीच ही में बोल पड़ा—"क्या महाबाहु सहस्रांशु आपके पुत्र हैं?" मुनिश्री के स्वीकार करने पर रावण ने तत्काल सहस्रांशु को बुलाया। उसने आते ही लज्जायुक्त नीचा मुँह किये मुनिवर को नमस्कार किया। रावण ने उसे सम्बोध कर कहा;—

"सहस्रांशु! तुम मुक्त हो, इतना ही नहीं, आज से तुम मेरे भाई हुए। तुम प्रसन्नतापूर्वक रहो और विशेष में भूमि का कुछ हिस्सा मुझ से भी लेकर सुखपूर्व राज करो।"

सहस्रांशु मुक्त हो गया, किन्तु उसने राज्य ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया और अपने पिता मुनिराज के पास प्रव्रजित होने की इच्छा बतलाई। उसने अपने पुत्र को राज्य का भार दिया और दीक्षा-महोत्सव होने लगा। मित्रता के कारण दीक्षोत्सव के समाचार अयोध्या नरेश 'अनरण्यजी' को पहुँचाये। समाचार सुन कर अयोध्यापति ने भी प्रव्रजित होने का संकल्प किया। उनके और सहस्रांशु के पहले ऐसा वचन हो गया था कि—'अपन दोनों साथ ही व्रत ग्रहण करेंगे।' तदनुसार अनरण्यजी ने अपने पुत्र दशरथ को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। रावण ने मुनियों को नमस्कार कर प्रस्थान किया।

नारदजी का हिंसक यज्ञ रुकवाना

रावण आगे बढ़ रहा था कि—" अन्याय, अन्याय "—इस प्रकार पुकार करते हुए नारदजी वहाँ आये और रावण से कहने लगे;—

" उस राजपुर नगर में ' मरुत ' नाम का राजा है। वह मिथ्यात्वियों से भरमाया हुआ, हिंसक-यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ में होमने के लिए बहुत-से निरपराध पशु एकत्रित किये गये हैं। मैं आकाश-मार्ग से उधर जा रहा था, तो मुझे चिल्लाते बिलबिलाते और आक्रन्द करतें हुए पशुओं का समूह दिखाई दिया। मैं नीचे उतरा। यज्ञ का आयोजन देख कर मैंने राजा से पूछा—" यह क्या हो रहा है ?"

राजा ने कहा—" यज्ञ कर रहा हूँ। ये याज्ञिक कहते हैं कि ऐसे यज्ञ से देवगण तृप्त होते हैं। इससे महान् धर्म होता है।"

मैंने कहा— " राजन् ! तुम महान् अधर्म कर रहे हो। ऐसे यज्ञ से धर्म नहीं, पाप होता है। धर्म करना हो, तो अपने आपमें हीं यज्ञ करो। अपने शरीर की वेदी बनाओ, आत्मा को यजमान करो, तपस्या रूपी अग्नि प्रज्वलित करो, ज्ञान का व्रत और कर्म की समिधा तय्यार करो। फिर सत्यरूपी स्तंभ गाड़ कर क्रोधादि कषायरूपी पशुओं को उस स्तंभ से बांध दो। यह सब सामग्री तय्यार करके ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूपी त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की स्थापना करो और उनके सामने शुभयोग से एकाग्र हो कर साधना करो। वह साधना मोक्ष-फल प्रदायक होगी। इस यज्ञ में समस्त प्राणियों की रक्षा ही दक्षिणा है। इस प्रकार का उत्तम यज्ञ ही तुम्हें करना चाहिए। क्या निरपराध पशुओं को मार कर प्राण लूटने से धर्म होता है ? और क्या देवों को रक्त और मांस जैसी घृणित वस्तु ही प्रिय है ? राजन् ! तुम भ्रम में हो। तुम्हें ऐसा घोर पाप नहीं करना चाहिए।"

मेरी उपरोक्त बात सुन कर ब्राह्मण क्रुद्ध हुए और डंडे ले कर मुझे पीटने लगे। मैं भाग कर इधर आया। आपके मिलने से मेरी रक्षा तो हो गई, किंतु आप वहाँ चल कर उन पशुओं को बचाइए।"

नारदजी की बात सुन कर रावण, यज्ञ-स्थान पर आया। राजा नें रावण का सत्कार किया और सिंहासन पर बिठाया। रावण ने मरुत राजा को समझाया कि—" जिस प्रकार अपने शरीर को शस्त्र का घाव लगे, तो दुःख होता है, उसी प्रकार पशुओं को भी दुःख होता है। दूसरे प्राणियों को दुःख देनें से मुक्ति तो नहीं मिलती, किन्तु असह्य दुःखों से भरपूर नरक मिलती है। तुम इस मिथ्यात्व को छोड़ो और वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त का कहा हुआ अहिंसा-प्रधान धर्म की आराधना करो। इसी से महाफल की प्राप्ति होगी।"

रावण की आज्ञा मान कर मरुत राजा ने वह यज्ञ बन्द कर के सभी पशुओं को मुक्त कर दिया।

पशुबलि का उद्गम

रावण ने नारदजी से पूछा;—"महात्मन्! ऐसे पशुवधात्मक यज्ञों की प्रवृत्ति कब से प्रारम्भ हुई?"

"राजन्! चेदी देश में शुक्तिमति नामक एक विख्यात नगरी है। उसके बाहर शुक्तिमति नदी बहती है। उस नगरी में अनेक सदाचारी नरेश होगए हैं। भगवान् मुनि सुव्रत स्वामी के तीर्थ में अभिचन्द्र नाम का श्रेष्ठ शासक हुआ। उनके पुत्र का नाम 'वसु' था। वह महाबुद्धिमान था और जनता में 'सत्यवादी' माना जाता था। वहाँ 'क्षीरकदम्ब' नामक उपाध्याय के विद्यालय में उपाध्याय पुत्र पर्वत, राजकुमार वसु और मैं भी विद्याध्ययन करता था। कालान्तर में रात्रि के समय हम तीनों आवास की छत पर सो रहे थे। उस समय दो चारण-मुनि आकाश-मार्ग से, इस प्रकार कहते हुए जा रहे थे;—

"ये जो तीन विद्यार्थी हैं, इनमें से एक स्वर्गगामी होगा और दो नरकगामी होंगे।"

मुनिवर की यह बात क्षीरकदम्ब उपाध्याय ने सुनी। वे चिन्ता-मग्न हो कर सोचने लगे—'मेरे पढ़ाये हुए विद्यार्थी नरक में जावेंगे?' उन्होंने परीक्षा करनी चाही और हम तीनों को आटे का बना हुआ एक-एक मुर्गा दे कर कहा—"जहाँ कोई नहीं देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान में जा कर इस मुर्गे को मार कर मेरे पास लाओ।" वसु और पर्वत तो उसी समय किसी जन-शून्य स्थान में जा कर पिष्टमय कुर्कुट को मार कर ले आये। किन्तु मैं नगर से बहुत दूर बन में जा कर विचार करने लगा—"गुरु ने इस कुर्कुट को ऐसे स्थान पर मारने की आज्ञा दी है कि जहाँ कोई देखता नहीं हो। यह जन-शून्य प्रदेश होते हुए भी यह कुर्कुट स्वयं देख रहा है। मैं भी देख रहा हूँ, नभचर पक्षी देख रहे हैं, लोकपाल देख रहे हैं और सर्वज्ञ भी देख रहे हैं। संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं कि जहां कोई भी नहीं देखता हो। गुरु की आज्ञा है कि 'जहां कोई नहीं देखता हो वहाँ मारना।' इसका फलितार्थ तो यही हुआ कि इसे मारना ही नहीं और वैसे ही ले जाना। गुरुजी स्वयं अहिंसक एवं दयालु हैं। न तो किसी को मारते हैं और न मारने की शिक्षा ही देते हैं। वे हिंसा के विरोधी हैं। कदाचित् हमारी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए उन्होंने यह

आज्ञा दी है।" इस प्रकार विचार कर उस कुर्कुट को वैसा ही ले कर मैं गुरुजी के समीप आया और उसे नहीं मारने का कारण बतलाया। मेरी बात सुन कर गुरु ने—'धन्य धन्य' शब्द से प्रसन्नता व्यक्त की और समझ लिया कि यही शिष्य स्वर्ग-गमन के योग्य है। शेष दोनों नरक में जाने योग्य हैं। उपाध्याय ने पर्वत और वसु को कहा—'पापियों! तुम स्वयं देख रहे थे, नभचर देख रहे थे और सर्वज्ञ देख रहे थे। इनके देखते हुए तुमने कुर्कुट को क्यों मारा? मेरी आज्ञा एवं अभिप्राय पर विचार क्यों नहीं किया? पापपूर्ण परिणति ने तुम्हारी मति ही दूषित कर रखी है। तुम विद्याभ्यास के योग्य नहीं हो।' इस प्रकार कह कर उनका अध्ययन बन्द कर दिया। उपाध्याय को अपने प्रिय पुत्र और राजपुत्र की पापपूर्ण परिणति और अन्धकार युक्त भविष्य जान कर खेद हुआ और यह खेद उनकी विरक्ति का निमित्त बन गया। वे संसार त्याग कर निर्ग्रंथ बन गए। उनके प्रव्रजित होते ही उनका पुत्र पर्वत उपाध्याय बन गया और छात्रों को विद्याभ्यास कराने लगा। मैं अपने स्थान पर चला गया। कुछ काल बाद अभिचन्द्र नरेश के प्रव्रजित होने पर राजकुमार वसु, शासक-पद पर प्रतिष्ठित हुआ। प्रजा में वह 'सत्यवादी नरेश' के रूप में विख्यात हुआ।

अधर सिंहासन ?

एक समय कोई शिकारी, विंध्यगिरि के निकट शिकार खेलने आया। उसने बाण छोड़ा, किंतु वह बाण मध्य में ही रुक कर गिर गया। शिकारी को आश्चर्य हुआ। उसने सोचा मेरे बाण के स्खलित होने का क्या कारण है? जब पत्थर आदि कोई रोक जैसा नहीं है, फिर बाण किस वस्तु से टकरा कर रुका? वह निकट जा कर हाथ लम्बा कर स्पर्श करता है, तो उसे आकाश के समान निर्मल स्फटिक शिला का स्पर्श हुआ। उसने सोचा—कहीं अन्यत्र चरते हुए मृग की परछाई, इस स्फटिक-शिला पर पड़ी होगी और उसी को मृग मान कर मैंने बाण मारा होगा? वह सत्यवादी राजा वसु के पास आया और एकान्त में नरेश को स्फटिक-शिला की बात बताई। राजा स्वयं वन में आया और स्फटिक शिला को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने शिकारी को बहुत-सा धन दिया और उस शिला को उठवा कर राज्य प्रासाद में लाया। फिर गुप्त रीति से राजसभा में उस शिला को वेदिका के समान स्थापित कर उस पर अपना सिंहासन रखवाया और वेदी बनाने वाले शिल्पकारों को मरवा दिया (जिससे रहस्य प्रकट नहीं हो सके)। स्फटिक

वेदिका के बीच में आ जाने से सिंहासन भूमि से ऊपर —आकाश में अधर दिखाई देने लगा। यह देख कर अबुझ लोग कहने लगे;—"राजा के सत्यवादी होने से—सत्य के प्रभाव से सिंहासन पृथ्वी से ऊपर उठ कर अधर (आकाश में) टिका है। सत्य-व्रत के प्रभाव से आकर्षित हो कर देवता, इस राजा के सिंहासन को आकाश में अधर लिये हुए हैं।" राजा अपनी मिथ्या मान-बढ़ाई में मग्न हो कर इस पाखण्ड को चलाता रहा। उसकी सत्यवादिता, देवाधिष्टित के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध होगई। अन्य राजागण उसके प्रभाव से आतंकित हो कर उसके अधीन होगए।

अर्थ का अनर्थ

नारद ने आगे कहा—एक बार मैं घूमता हुआ उपाध्याय पर्वत की पाठशाला में चला गया। वह अपने शिष्यों को ऋग्वेद की व्याख्या समझा रहा था। उसमें "**अजैर्यष्टव्यं**" शब्द का —'**भेड़ से यज्ञ करना**'—अर्थ सिखाया जाता था। यह सुन कर मैंने उससे कहा—"भाई! तुम असत्य अर्थ कर रहे हो। गुरुजी ने इस शब्द का अर्थ—"**तीन वर्ष पुराना धान्य**" किया था, जो फिर उगने की शक्ति नहीं रखता है। ऐसा धान्य—'**अज**' कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"**न जायंते इति अजः**"—जो उत्पन्न नहीं हो, वह 'अज' कहलाता है। इस प्रकार गुरुजी का बताया हुआ सत्य अर्थ तू भूल गया है क्या?"

पर्वत ने कहा—"नहीं, पिताजी ने इसका ऐसा अर्थ नहीं बताया था। उन्होंने 'अज' का अर्थ 'मेष' (मेढ़ा) ही किया था और निघंटु (कोष) में भी ऐसा ही अर्थ किया है।"

मैंने कहा—"शब्दों के अर्थों की कल्पना मुख्य और गौण—यों दो प्रकार से होती है। गुरुजी ने यहाँ गौण अर्थ बताया है. गुरु तो धर्म का ही उपदेश करते हैं। जो वचन धर्मात्मक हो, वही 'वेद' कहलाता है। इसलिए मित्र! बिना विचार किये अनर्थ कर के पाप का उपार्जन करना तेरे लिए उचित नहीं है।"

मेरी बात सुन कर पर्वत आक्षेपपूर्वक बोला;—

"नारद! गुरु ने तो अज का अर्थ 'मेढ़ा' ही बताया है। तू स्वयं अपनी इच्छा से अनर्थ कर के अधर्म कर रहा है। अब इस का निर्णय सत्यवादी राजा वसु से करवाना

चाहिए। नरेश के निर्णय से जो झूठा ठहरे, उसकी जिव्हा काट दी जाय।" इस शर्त के साथ दोनों नें राजा से निर्णय कराना स्वीकार किया।

इस विवाद एवं शर्त की वात, पर्वत की माता ने सुनी, तो वह चिंतित हो गई। उसने एकांत में पुत्र से कहा—

"पुत्र ! तेने बड़ी भारी भूल कर डाली। मैंने भी तेरे पिता के मुंह से अज शब्द का वही अर्थ सुना--जो नारद कहता है। तेनें आवेश में आ कर जिव्हा-छेद की शर्त कर के बहुत ही बुरा काम किया है।"

पर्वत ने कहा—"मां ! मैं तो वचन-बद्ध हो चुका, अब पलटने का नहीं। जो होना है वह होगा।"

पुत्र-वियोग की कल्पना से दुखित हो कर, पर्वत की माता, राजा वसु के पास गई। राजा ने गुरु-पत्नी का सत्कार किया और आने का कारण पूछा। पर्वत की माता ने पुत्र के जीवन की भिक्षा माँगी। राजा ने कहा--

"गुरुपुत्र तो मेरे लिए आदरणीय है। वह गुरु का उत्तराधिकारी होने के कारण गुरु-स्थानीय है। उसका अनिष्ट करने वाले को मैं समूल नष्ट कर दूं। कौन है वह दुरात्मा जो उपाध्याय पर्वत का अनिष्ट करना चाहता है ? बताओ मां ! मैं उसका नाम जानना चाहता हूँ ?

गुरु-पत्नी नें सारा वृत्तांत सुनाया। सुन कर वसु स्तब्ध रह गया। उसने कहा--

"माता ! पर्वत ने झूठा पक्ष लिया है। गुरु ने 'अज' का अर्थ मेढ़ा नहीं किंतु तीन वर्ष पुराना–नहीं उगने वाला--धान्य ही किया है। यदि मैं पर्वत का किया हुआ अर्थ मान्य करूँ, तो सत्य की घात होगा। गुरुवचन का लोप होगा, और अधर्म होगा। अर्थ का अनर्थ करना तो बहुत बुरा है माता ! यह मैं कैसे कर सकूंगा ? पर्वत ने ऐसा मिथ्या पक्ष क्यों लिया, और ऐसी कठोर शर्त क्यों लगाई ?"

"यदि तुम गुरु के वंश को रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते हो, तो तुम्हें इस आपत्ति-काल में थोड़ी देर के लिए सत्य के आग्रह को छोड़ना होगा। अन्यथा तुम्हारे गुरु का वंश ही डूब जायगा। तुम्हें मेरे दुःख और गुरुवंश के नष्ट होने का कुछ भी विचार नहीं है ? तुम अपनी हठ पर ही अड़े हो तो तुम जानो।" इस प्रकार कह कर वह रोष-पूर्वक जाने लगी। उसे निराश एवं रोषपूर्वक जाती हुई देख कर, राजा पसीज गया और उसने उसे बुला कर पर्वत का मान रखने का वचन दिया।

राज-सभा में सत्यासत्य का भेद करने वाले एवं माध्यस्थ गुण से सुशोभित सभ्यजन

उपस्थित थे। वे हंस के समान न्याय करने में निपुण थे। वसु नरेश स्फटिक-शिला की वेदी पर रखे सिंहासन पर आसीन थे। मैं व पर्वत, सभा में उपस्थित हुए और वाद का विषय प्रस्तुत कर निर्णय मांगा। राजाने सत्य की उपेक्षा कर के गुरु-पत्नी को दिये हुए वचन के वश हो कर कह दिया कि—"गुरु ने 'अज' का अर्थ— 'मेढ़ा' किया था।"

राजा के मुंह से ये शब्द निकलते ही, निकट रहे हुए और राजा के निर्णय की प्रतीक्षा करने वाले व्यंतर देवों ने राजा को सिंहासन से नीचे गिरा दिया और उस स्फटिकमय वेदिका के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। देवों की मार से मृत्यु पा कर वसु राजा नरक में गया। वसु का राज्याधिकार उसके पुत्र पृथुवसु ने ग्रहण किया। किंतु रुष्ट देव ने उसे भी मार डाला। इस प्रकार चित्रवसु, वासव, शुक्र, विभावसु, विश्वावसु, शूर और महाशूर, कुल आठ पुत्र राज्यासन पर बैठते ही मार डाले गये। नौवाँ पुत्र सुवसु, राज्य छोड़ कर नागपुर चला गया और बृहद्ध्वज नामक दसवाँ पुत्र मथुरा चला गया। नगरजनों ने अनर्थ के मूल ऐसे पर्वत को नगर से बाहर निकाल दिया, जिसे महाकाल असुर ने ग्रहण किया।"

महाकाल असुर का वृत्तान्त

रावण ने नारदजी से पूछा--"महाकाल असुर कौन था ?"

नारदजी ने कहा–

"चारणयुगल नाम का एक नगर है। वहां अयोधन नामक राजा राज करता था। उसकी दिति नामकी रानी से 'सुलसा' नामकी पुत्री का जन्म हुआ। वह रूप-लावण्य से युक्त थी। युवावस्था में उसे 'इच्छित वर मिले'—इस विचार से राजा ने अनेक राजाओं को एकत्रित कर स्वयंवर का आयोजन किया। आमन्त्रित राजाओं में 'सगर' नाम का राजा, सभी राजाओं से विशेष सम्पन्न था। उसकी आज्ञा से मन्दोदरी नाम की प्रतिहारिका, अयोधन राजा के अन्तःपुर में बारबार जाने लगी। एकबार वह गृहोद्यान में हो कर अन्तःपुर में जा रही थी कि उसने देखा—रानी और राजकुमारी कदलिगृह में बैठी बातें कर रही है। उसके मन में उनकी बातें सुननें की इच्छा हुई। वह चुपके से उन के पीछे लता कुंज की आड़ में छिप गई। उसने रानी के मुंह से निकले ये शब्द सुने;—

"पुत्री ! तेरे पिताश्री ने तेरे वर के लिए अनेक राजाओं को आमन्त्रित किया है। उन सब राजाओं में से अपनी पसन्द का वर चुनने का तुझे अधिकार होगा। तू किसे पसन्द करेगा—यह मैं नहीं जानती। मेरी इच्छा है कि तू मेरे भतीजे मधुपिंग का वरण

कर। तेरे पिता और मेरे पिता की वंश-वेली, भ. ऋषभदेवजी के पुत्र भरत-बाहुबलि से प्रारंभ हुई है। तू भी उसी उज्ज्वल वंश में जाय—ऐसी मेरी इच्छा है। बोल, मेरी इस इच्छा को तू पूरी करेगा ?"

राजकुमारी ने माता के वचन स्वीकार करके वचन दे दिया। यह बात पीछे खड़ी हुई मन्दोदरी ने सुन ली। वह तत्काल वहाँ से निकली और सीधी सगर नरेश के पास पहुँची और माता-पुत्री की बात बतलाई। राजा उसकी बात सुन कर चिंतित हुआ। मधुपिंग को किस प्रकार अपने मार्ग से दूर करना, इसका उपाय सोचते हुए उसने अपने पुरोहित विश्वभूति से 'राजलक्षण-संहिता' नामक काव्य-ग्रंथ शीघ्र रचने की आज्ञा दी, जिसमें इस प्रकार का निरूपण हो कि सगर, समस्त लक्षणों से युक्त और मधुपिंग राजलक्षणों से रहित माना जाय। विश्वभूति शीघ्र-कवि था। उसने तत्काल वैसी संहिता की रचना की और पुरातन ग्रंथ बताने के लिए एक पेटी में बंद करके उन राजाओं की सभा में लाया, जो स्वयंवर सभा में सम्मिलित होने आये थे। उसनें उस संहिता को खोलते हुए कहा—"यह राजलक्षण संहिता है। इसमें उन लक्षणों का वर्णन है—जो एक राजा में अवश्य होना चाहिए। जिसमें ये लक्षण नहीं हो, वह राज करने योग्य नहीं होता।"

विश्वभूति की बात सुन कर सगर राजा ने कहा—"यदि किसी राजा या युवराज में राजा के योग्य लक्षण नहीं हो, तो उसका वध कर देना चाहिए, अथवा त्याज्य समझना चाहिए।"

पुरोहित ने संहिता का वाचन प्रारंभ किया। उसमें लिखे सभी लक्षण, सगर में तो स्पष्ट दिखाई देते थे, किंतु मधुपिंग में एक भी लक्षण नहीं था। उसनें अपनी पुस्तक में वैसे एक भी लक्षण का उल्लेख नहीं किया था, जो मधुपिंग में थे। संहिता के वाचन के उपरान्त मधुपिंग ने अपने को अपमानित समझा और आवेश में सभा का त्याग कर गया। उसके हट जाने पर सुलसा ने सगर का वरण कर लिया और उसके साथ उसका लग्न हो गया।

अपमानित मधुपिंग बालतप करके असुरकुमार देवों में, साठ हजार असुरों का स्वामी 'महाकाल' नामक असुर हुआ। उसने अपने अवधि (अथवा विभंग) ज्ञान से, अपने वेरी सगर राजा के निर्देश से विश्वभूति द्वारा निर्मित षडयन्त्र पूर्ण संहिता की वास्तविकता जानी। उसके हृदय में रोष उत्पन्न हुआ। उसने सोचा—'इन सभी राजाओं को मृत्यु के घाट उतार दूँ'। वह उन राजाओं का छिद्र देखने लगा। एक बार सुक्तिमति

नगरी के पास नदी के तट पर उसनें पर्वत-विप्र को देखा। वह तत्काल ब्राह्मण का रूप बना कर उसके सामने आया और कहने लगा; —

"मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूँ। मेरा नाम शांडिल्य है। मैं और तेरे पिता, सहपाठी थे। हम दोनों उपाध्याय श्री गौतम-शर्म्मा के पास साथ ही पढ़े हैं। अभी नारद ने और नगरजनों ने तेरा अपमान किया है। यह सुन कर मुझे दुःख हुआ और इसी दुःख से पीड़ित हो कर मैं तेरे पास आया हूँ। मैं मन्त्रबल से विश्व को मोहित कर के तेरे पक्ष को सबल बनाऊँगा। तू अपने पक्ष का साहस के साथ प्रचार करता रह।"

इस प्रकार महाकाल की शक्ति से पर्वत, हिंसक अर्थ को सफल करने वाले पशु-वध रूपी यज्ञ का प्रवर्त्तन करने लगा। उसने बहुत-से लोगों को मोहित करके अधर्म में लगा दिया। लोगों में व्याधि तथा भूतप्रेतादि के रोग उत्पन्न कर के पशु-यज्ञ रूप उपाय से उपद्रवों की शांति करने लगा। इस प्रकार लोकोपकार के बहाने, हिंसक यज्ञों का प्रचार किया। सगर राजा के अंतःपुर और परिवार में भी उस महाकाल ने भयंकर रोग उत्पन्न किये। राजा भी लोकानुसरण कर के पर्वत का संमान करके यज्ञ करवाने लगा। इस प्रकार शांडिल्य रूपी असुर की सहायता से पर्वत ने हिंसक यज्ञों द्वारा रोगों के उपद्रव को दूर किया।

इसके बाद पर्वत, शाण्डिल्य के कहने से लोगों में प्रचार करने लगा कि—"सौत्रामणि-यज्ञ में विधिपूर्वक सुरापान करने से दोष नहीं लगता। गोसव नामक यज्ञ में अगम्या स्त्री के साथ गमन करना, मातृमेघ यज्ञ में मता का वध, पितृमेघ यज्ञ में पिता का वध, अन्तर्वेदी में करना चाहिए। यह सब निर्दोष है। कछुए की पीठ पर अग्नि रख कर "जुज्वकाख्याय स्वाहा"—इस प्रकार बोल कर हुत द्रव्य से हवन करना। यदि कछुआ नहीं मिले तो गंजे सिर वाला, पीतवर्ण वाला, क्रिया-रहित और कुस्थानोत्पन्न किसी शुद्ध द्विजाति के जल से पवित्र किये हुए कुर्माकार मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें आहुति देना।"

"जो हो गया है और जो होने वाला है, यह सभी पुरुष (ईश्वर) ही है। जो अमृत के स्वामी हुए हैं (मोक्ष प्राप्त हैं) और जो अन्न से निर्वाह करते हैं, वे सभी ईश्वर रूप ही हैं। इस प्रकार सभी एक पुरुष (ईश्वर) रूप ही है। इसलिए कौन किसे मारता है? मरने और मारने वाला कौन है? अतएव यज्ञ के लिए इच्छानुसार प्राणियों का वध करना और यज्ञ में यजमान को मांस-भक्षण करना चाहिये। यह देवताओं द्वारा उपदिष्ट है और मन्त्रादि से पवित्र किया हुआ है।"

इस प्रकार समझा कर सगर नरेश को अपने मत में सम्मिलित कर के उससे

कुरुक्षेत्र आदि में बहुत-से यज्ञ करवाए। इस प्रकार इस मत का प्रसार करके उसने 'राजसूय यज्ञ' भी करवाए। उस महाकाल असूर ने यज्ञ में होमे हुए उन राजा आदि को विमान पर बैठे हुए आकाश में दिखाए। इससे लोगों में विश्वास जमा और इससे पर्वत के मत की वृद्धि हुई। हिंसक यज्ञ बढ़े। सगर राजा भी अपनी रानी सहित यज्ञ में जल-मरा। उसके मरने के बाद महाकाल असुर कृतार्थ हो कर अपने स्थान चला गया।"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! इस प्रकार पापी पर्वत के द्वारा इन हिंसक यज्ञों की उत्पत्ति हुई है। आपको इनकी रोक अवश्य करनी चाहिए।"

रावण ने नारदजी की उपरोक्त बात स्वीकार की और उनका सत्कार करके उन्हें बिदा किया।

नारद की उत्पत्ति

नारदजी के चले जाने के बाद राजा मरुत ने रावण से पूछा—"स्वामिन् ! यह परोपकारी पुरुष कौन था, जिसकी कृपा से मैं पापरूपी अन्धकूप से निकला ?" मरुत को नारद की उत्पत्ति बतलाते हुए रावण कहने लगा;—

"ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था। वह घरबार छोड़ कर तापस बन गया था। तापस होने के बाद उसकी कुर्मी नाम की पत्नी गर्भवती हुई। कालान्तर में राह चलते कुछ श्रमण, उस तापस के यहाँ आ कर ठहरे। उन साधुओं में से एक ने तापस से कहा—"तुम घरबार छोड़ कर बन में आ कर तप कर रहे हो, फिर भी तुम्हारी वासना—स्त्री-सहवास चालू है, फिर घर छोड़ कर बनवास करने का क्या लाभ हुआ ? ब्रह्मरुचि, साधु की बात सुन कर विचार करने लगा। उसे उनकी बात उचित लगी और वह साधु के उपदेश से प्रतिबोध पा कर, साधु-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। उसकी पत्नी श्राविका हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर उसके पुत्र का जन्म हुआ। जन्म के समय वह बच्चा रोया नहीं, इसलिए (रुदन नहीं करने के कारण) उस बच्चे का नाम 'नारद' रखा। कालान्तर में कुर्मी कहीं बाहर गई, बाद में जृंभक देव ने नारद का हरण कर लिया। पुत्र-वियोग से दुखी हो कर कुर्मी ने, सती इन्दुमालाजी के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली। जृंभक देव नें नारद का पालन-पोषण किया और शास्त्रों का अभ्यास भी कराया। उसके बाद नारद को आकाशगामिनी विद्या भी दी। नारद, श्रावक के व्रतों का पालन करता हुआ विचरने लगा। उसने मस्तक

पर शिखा रखी और ऐसा रूप बनाया कि जिससे वह न तो गृहस्थ-दशा में और न साधु-वेश में माना जावे। वह गीत और नृत्य में रुचि रखता है और कलहप्रिय है। दो पक्षों को आपस में लड़ा कर मनोरंजन करनें में वह तत्पर रहता है। वह वाचाल भी बहुत है। दो राज्यों में संधी या विग्रह करवा देना उसके लिए खेलमात्र है। हाथ में छत्र, अक्षमाला, कमंडलु रखता और पाँवों में पादुका पहिन कर चलता है। इसका पालन देव ने किया, इसलिए यह 'देवर्षि' कहलाता है। यह ब्रह्मचारी है, किन्तु स्वेच्छाचारी है।"

मरुत ने रावण के साथ अपनी 'कनकप्रभा' नाम कीं पुत्री का लग्न किया।

सुमित्र और प्रभव

मरुत राजा की पुत्री के साथ लग्न करके रावण मथुरा आया। मथुरा नरेश हरीवाहन, अपने पुत्र मधु के साथ रावण के स्वागत के लिए आया। स्वागत-सत्कार के पश्चात् रावण ने हरिवाहन राजा से पूछा—"कुमार के हाथ में त्रिशूल क्यों है?" पिता का संकेत पा कर मधु ने कहा—

"मेरे पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र ने मुझे यह त्रिशूल दिया है। त्रिशूल प्रदान करते समय उसने मुझे पूर्व-जन्म का वृत्तांत इस प्रकार सुनाया था—

"धातकीखण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में, शतद्वार नगर के राजकुमार 'सुमित्र' और 'प्रभव' नाम के कुलपुत्र, सहपाठी थे। उन दोनों में अत्यंत गाढमैत्री सम्बन्ध था। वे सदैव साथ ही रहा करते थे। जब राजकुमार सुमित्र राजा हुआ, तो अपने मित्र प्रभव को भी उसने अपने समान ऋद्धि-सम्पन्न कर दिया। एक बार राजा सुमित्र, अश्वारूढ़ हो कर वनक्रीड़ा कर रहा था। घोड़े के निरंकुश हो जाने से मार्ग भूल कर चोरपल्ली में चला गया। पल्लीपति की युवती कुमारी वनमाला के अनुपम सौंदर्य पर मुग्ध हो कर राजा ने उसके साथ लग्न कर लिया। सुन्दरता की साकार लक्ष्मी वनमाला पर प्रभव की दृष्टि पड़ते ही वह मोहित हो गया। काम-पीड़ा से प्रभव चिन्तित रहने लगा। चिन्ता का प्रभाव शरीर पर भी पड़ा। वह दुर्बल होने लगा। अपने मित्र की दुर्बलता से राजा को खेद हुआ। उसने आग्रहपूर्वक कारण पूछा। प्रभव ने कहा;—

"मित्र! मैं क्या कहूँ? कहना तो दूर रहा, सोचने योग्य भी कारण नहीं है। जिसके विचार के पूर्व ही प्राणान्त होना श्रेयस्कर है—ऐसा अधमाधम कारण मैं तुम्हारे सामने कैसे बताऊँ?"

"दन्धु ! तुम मुझसे भी बात छुपा रहे हो, यह मैंने अब जाना। तुम्हारे मन में मेरे प्रति वंचना क्योंकर उत्पन्न हुई"—राजा ने खिन्न हो कर पूछा।

"मित्र ! वात कहने के पूर्व मरना अच्छा है, फिर भी तुम्हारे सामने छुपाना नहीं चाहता। जब से मैंने रानी वनमाला को देखा है, तभी से मेरे पापी मन में पाप उत्पन्न हुआ और उसी पाप ने मेरी यह दशा कर दी। क्या, ऐसी अधमाधम वात मेरे मुँह से निकलना उचित है"—दुःखपूर्वक प्रभव ने कहा।

"मित्र ! तुम्हारे लिए मेरा राज्य और रानी ही क्या, यह जीवन भी अर्पण है। तुम प्रसन्न होओ। रानी तुम्हारे पास आ जायगी"--इतना कह कर सुमित्र चला गया।

रात्रि के समय वनमाला प्रभव के प्रासाद में पहुँची। उसने कहा--"नरेन्द्र ने मुझे आपके पास भेजी है। अब आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ?" रानी के निर्दोष मुख और राजा की अनुपम मित्रता देख कर प्रभव की पाप-भावना लुप्त हो गई। उसनें रानी से कहा;—

"माता ! धिक्कार है मुझ पापी, नीच एवं मित्र-द्रोही अधम को। मुझे पलभर भी जीवित रहने का अधिकार नहीं। सुमित्र तो आदर्श मित्र एवं सत्वशाली है। मुझ अधम पर उसका उत्कृष्ट प्रेम है। क्योंकि संसार में कोई भी मित्र, प्राण तो दे सकता है, परन्तु प्राण-प्रिया नहीं देता। यह महान् दुष्कर कार्य सुमित्र ने किया है। माता ! अब तुम शीघ्र ही अपने भवन में जाओ। इस पापी की छाया भी तुम पर नहीं पड़नी चाहिए"—खेद पूर्वक प्रभव ने कहा।

सुमित्र, प्रच्छन्न रह कर प्रभव की वात सुन रहा था। उसे अपने मित्र के शुभ विचार सुन कर प्रसन्नता हुई। रानी को प्रणाम कर के विदा करने के बाद पश्चाताप से दग्ध प्रभव ने खड्ग निकाला और अपना मस्तक काट ही रहा था कि राजा ने प्रकट हो कर उसका हाथ पकड़ लिया और उसके मन को शान्त करने के बाद वहां से हटा। कालान्तर में सुमित्र नरेश प्रव्रजित हो कर संयम का पालन करने लगे और आयु पूर्ण कर ईशान देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर यहां तुम मधु के रूप में उत्पन्न हुए।

प्रभव का जीव भव-भ्रमण करता हुआ विश्वावसु की ज्योतिर्मती पत्नी से श्रीकुमार नाम का पुत्र हुआ। उसने उस भव में निदान युक्त तप किया और मर कर भवनपति में चमरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। मैं चमरेन्द्र अपने पूर्वभव के मित्र को देख कर स्नेहवश तुम्हारे पास आया हूँ। लो, मैं तुम्हें यह आयुध देता हूँ। यह त्रिशूल दो हजार योजन तक जा कर अपना कार्य कर के लौट आता है।

चमरेन्द्र का कहा हुआ वृत्तांत पूर्ण करते हुए राजकुमार मधु नें कहा—"महाराज !

यह त्रिशूल वही है।" राजकुमार मधु की भक्ति एवं शक्ति देख कर रावण प्रसन्न हुआ और अपनी मनोरमा नाम की पुत्री राजकुमार को ब्याह दी।

नलकूबर का पराभव

पराक्रमी नरेश इन्द्र * का लोकपाल 'नलकूबर' दुर्लंघ्यपुर में राज करता था। रावण की आज्ञा से कुंभकर्ण आदि ने सेना ले कर उस पर चढ़ाई कर दी। नलकूबर ने आशाली विद्या के प्रयोग से नगर के चारों ओर सौ योजन पर्यन्त अग्निमय कोट खड़ा कर कर दिया और उसमें ऐसे अग्निमय यन्त्रों की रचना की कि जिनमें से निकलते हुए स्फुलिंग आकाश में छा जाते हैं और ऐसा लगे कि जिससे आकाश प्रज्वलित होने वाला हो। इस अग्निमय प्रकोष्ट में अपनी सेना सहित नलकूबर, निर्भय हो कर रहता था और विभीषण पर क्रोधातुर हो रहा था। कुंभकर्ण आदि ने जब अग्नि का किला देखा, तो चकित रह गए। उनको किले पर दृष्टि जमाना भी दुभर हो गया। उन्होंने विचार किया—'यह किला दुर्लंघ्य है। हम इसे जीत नहीं सकते। वे हताश हो कर पीछे हट गए और रावण को आग के किले के कारण उत्पन्न बाधा से अवगत कराया। रावण तुरन्त वहाँ पहुँचा और स्थिति देख कर स्वयं स्तंभित रह गया। वह सेनापतियों के साथ विचार-विमर्श कर के उपाय खोजने लगा। वे इसी चिन्ता में थे कि रावण के पास एक स्त्री आई। उसने कहा—

"मैं नलकूबर की रानी उपरंभा का सन्देश लाई हूँ। वह आप पर पूर्णरूप से मुग्ध है और आपके साथ रति-क्रीड़ा करना चाहती है। यदि आप उसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे, तो वह आपको आशाली विद्या देगी, जिससे आप इस अग्निकोट को शान्त कर के नलकूबर पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। इसके सिवाय यहाँ 'सुदर्शन' नाम का एक चक्र—आयुध है, वह भी आपको प्राप्त हो जायगा।"

दूती की बात सुन कर रावण ने विभीषण की ओर देखा। विभीषण ने 'एवमस्तु' कह कर दासी को रवाना कर दी। विभीषण की स्वीकृति रावण को अरुचिकर लगी। उसने क्रोधपूर्वक कहा;—

"तुमने स्वीकार क्यों किया? अपने कुल में किसी भी पुरुष ने रणभूमि में शत्रुओं को पीठ और परस्त्री को हृदय कभी नहीं दिया। तुमने स्वीकृति दे कर अपने उज्ज्वल

* इसका वर्णन पृष्ठ २४ पर देखें।

कुल को कलंकित किया है। तुम्हारे मुंह से ऐसी अशोमनीय बात की स्वीकृति कैसे हुई ?"

"आर्य ! शुद्ध हृदय से कही गई बात से कलंक नहीं लगता। उपरंभा को आने दो। उससे विद्या प्राप्त करो और शत्रु पर विजय प्राप्त कर के उसे युक्तिपूर्वक समझा कर लौटा दो। इससे हमारा काम भी बन जायगा और नीति भी अक्षुण्ण रह जायगी"—विभीषण ने कहा।

रावण ने विभीषण की बात स्वीकार की। थोड़ी देर में उपरम्भा वहाँ आ पहुँची और रावण को आशाली विद्या दे दी, साथ ही अन्य कई अमोघ शस्त्र—जो व्यन्तर-रक्षित थे, रावण को दिये। रावण नें उस विद्या का प्रयोग कर के अग्नि-प्रकोष्ट को समाप्त कर दिया और सेना सहित नगर पर चढ़ आया। नलकूबर ने रावण की सेना का सामना किया, किन्तु विभीषण ने उसे दबोच कर बंदी बना लिया और उसका सुदर्शन चक्र भी ले लिया। नलकूबर के आधीन हो कर क्षमा याचते ही रावण ने उसे छोड़ दिया और उसका राज्य उसे लौटा दिया। रावण ने उपरम्भा से कहा—

"भद्रे ! तू कुलांगना है। तुझे अपने उच्चकुल की रीति-नीति का प्राणपण से पालन करना चाहिए। तुनें मुझे विद्यादान दिया है, इसलिए तू मेरे लिए गुरु स्थानीय है। इसके अतिरिक्त में पर-स्त्री का त्यागी हूँ। तू मेरी बहिन के समान है। अब तू अपने पति के पास जा।" इस प्रकार कह कर उसे नलकूबर को दे दी। नलकूबर ने रावण का बहुत सत्कार किया। विजयी रावण और सेना वहाँ से प्रस्थान कर गई।

इन्द्र की पराजय

नलकूबर पर विजय पा कर, रावण की सेना रथनूपुर नगर की ओर गई। रावण की शक्ति और शैन्य-बल का विचार कर के राजा सहस्रार ने (जो उस समय संसार में ही थे) अपने पुत्र इन्द्र से कहा—

"पुत्र ! तुम परम पराक्रमी हो। तुमने अपने वंश की राज्यश्री में वृद्धि की है। दूसरों का राज्य जीत कर अपने राज्य में मिलाया है। दूसरे राजाओं के प्रताप का हनन कर के अपना प्रभाव जमाया है। इस प्रकार तुम्हारे शौर्य, पराक्रम और प्रताप से हमारा वंश गोरवान्वित हुआ है। अब तुम्हें समय का विचार कर के ऐसे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जो सुखकारी हो और प्राप्त सिद्धि सुरक्षित रहे।"

"वत्स ! समय सदा एकसा नहीं रहता। संसार में कभी किसी का पुण्य-प्रताप बढ़ता रहता है, तो कभी घटता भी है। समय-समय बल-वीर्य पराक्रम और प्रभाव में अधिकता वाले मनुष्य होते रहते हैं। मैं सोचता हूँ कि अभी रावण का पुण्य-प्रताप उदय-वर्त्ती है। उसने अनेक राजा-महाराजाओं पर विजय पाई है। वह चढ़ाई कर के आ रहा है। मेरी सम्मति है कि तुम रावण का आदर-सत्कार कर के तुम्हारी रूपमती पुत्री का लग्न उसके साथ कर दो। इससे परम्परागत वैर भी नष्ट हो जायगा और अपना गौरव बना रहेगा। प्रचण्ड दावानल के सामने जाना हितकारी नहीं होता। इसलिए तुम उसका सत्कार करने की तय्यारी करो।"

पिता की बात इन्द्र को रुचिकर नहीं हुई। उसका क्रोध शान्त नहीं होकर विशेष उग्र हुआ। उसने अपने पिता से कहा;—

"पिताजी ! वध करने योग्य शत्रु रावण का मैं सत्कार करूँ और पुत्री दूँ ? आप कैसी अनहोनी बात कर रहे हैं ? वह तो हमारा परम्परा का वैरी है। आप किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करें। मैंने जिस प्रकार उसके पितामह की दुर्गति की थी, वैसी ही उसकी भी होगी।"

इन्द्र, अपने पिता की सम्मति आक्रोशपूर्वक ठुकरा रहा था कि रावण का दूत आया और कहने लगा;—

"मेरे स्वामी, महाराजाधिराज दशाननजी की प्रबल शक्ति, अपरिमित बल एवं उत्कट प्रताप से अभिभूत हो कर अन्य राजाओं ने, महाराजाधिराज का सम्मान कर के अधिनता स्वीकार कर ली। अब वे अपने दलबल सहित यहाँ आये हैं और आपके नगर के बाहर स्थित हैं। यदि आप भी उनका स्वामित्व स्वीकार कर लेंगे, तो सुरक्षित रह कर राज्य-भोग कर सकेंगे, अन्यथा आप उनके कोपानल में नष्ट हो जावेंगे। आप अपना हित सोच लें और उचित का आदर करें।"

दूत का सन्देश सुन कर इन्द्र का कोप विशेष बढ़ा। उसने दूत से कहा;—

"दूत ! दशानन का काल उसे यहाँ खींच लाया है। निर्बल और सत्वहीन राजाओं पर विजय पाने से उसका अभिमान बढ़ गया है। अब उसका घमंड उसे विनाश के निकट ले आया है। अब भी यदि उसमें विवेक है, तो मेरी भक्ति कर के अपनी रक्षा कर ले। अन्यथा मेरी शक्ति उसे यहीं नष्ट कर देगी। जा, तू अपने स्वामी से मेरा आदेश शीघ्र सुना दे।"

दूत ने इन्द्र की बात रावण को सुनाई। दोनों ओर की सेना युद्ध में संलग्न हो

गई। जन-संहार होने लगा। रावण ने सोचा—'विचारे सैनिकों को मरवाने से क्या लाभ होगा। मुझ स्वयं को इन्द्र से ही भिड़ जाना चाहिए।' उसने अपने भुवनालंकार नाम के हाथी को आगे बढ़ाया और ऐरावत हाथी पर सवार इन्द्र के समक्ष उपस्थित हुआ। दोनों गजराजों की सूंडें परस्पर गूंथ गई। विशाल दांत टकराए। जिससे उड़ती हुई चिनगारियां सब का ध्यान आकर्षित करने लगी। दाँतों में पहिनाये हुए स्वर्णभूषण टूट कर गिरने लगे और दांतों के प्रहार से गंडस्थल से रक्तधारा बहने लगी। उधर दोनों योद्धा, धनुषबाण, मुद्‌गर, शल्य आदि से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। वे एक-दूसरे के अस्त्रों को तोड़ कर अपने प्रहार को शत्रु-घातक बनाने का यत्न करने लगे। बहुत देर तक घात-प्रतिघात होते रहने के बाद रावण ने लाग देख कर, अपने हाथी पर से छलांग मारी। वह इन्द्र के हाथी पर आ गया और उसके महावत को मार कर इन्द्र को दबोच लिया। बस, इन्द्र दब गया और रावण ने उसे बांध कर वन्दी बना लिया। रावण विजयी हो गया और युद्ध रुक गया। अब रावण वैताढ्य के विद्याधरों की दोनों श्रेणियों का अधिपति हो गया था। वह विजयोल्लास में आनंदित होता हुआ, सेना सहित लंका में आया और इन्द्र को अपने कारागृह में बन्द कर दिया। जब इन्द्र के पिता सहस्रार को इन्द्र की पराजय और वन्दी होने की बात मालूम हुई, तो वह दिक्‌पालों सहित लंका में आया और रावण के समक्ष उपस्थित हो कर करबद्ध हो विनती करने लगा;—

"नरेन्द्र ! आप महाप्रतापी हैं। आप जैसे प्रबल पराक्रमी से पराजित होने में मुझे या मेरे पुत्र को किसी भी प्रकार की लज्जा नहीं है। एक योद्धा और पराक्रमी ही दूसरे योद्धा से लड़ता है। भयभीत हो कर अधीनता स्वीकार करना कायरों का काम है और साहसपूर्वक दुर्दम्य योद्धा से भिड़ जाना वीर पुरुष का ही कार्य है। विजय और पराजय होना दूसरी बात है। संसार में एक से एक बढ़ कर वीर योद्धा एवं पराक्रमी होते हैं। आप जैसे वीरवर से पराजित होने में हमें किसी प्रकार की लज्जा नहीं है। अब आप से मेरी प्रार्थना है कि आप उदारतापूर्वक मेरे पुत्र को छोड़ दें।"

"मैं इन्द्र को मुक्त कर सकता हूँ—यदि वह अपने दिक्‌पालों सहित इस नगरी की सफाई निरन्तर करने और सुगन्धित जल से छिटकाव करते रहने का आश्वासन दे। यदि वह स्वीकार करे, तो इन्द्र मुक्त हो कर अपना राज्य ग्रहण कर सकता है।"

रावण की उपरोक्त शर्त स्वीकार हुई और इन्द्र, रावण के कारागृह से मुक्त हुआ। वह मुक्त हो कर रथनूपुर आ कर रहने लगा। किन्तु पराजय का दुःख, महाशल्य के समान उसके हृदय में खटक रहा था। उसे अपना जीवन, मृत्यु से भी अधिक दुःख-दायक लग रहा था।

थोड़े दिनों बाद 'निर्वाणसंगम' नाम के ज्ञानी मुनि वहाँ पधारे। इन्द्र उनको वंदन करने गया और पूछा;—

"भगवन् ! मैं किस पाप के फलस्वरूप रावण से पराजित हुआ ?

मुनिराज बोले—"अरिंजय नगर में ज्वलनसिंह नाम का विद्याधर राजा था। उसकी अहिल्या नाम की रूपसम्पन्न पुत्री थी। उसके स्वयंवर में विद्याधरों के अनेक राजा उपस्थित हुए। उन राजाओं में चन्द्रावर्त नगर का 'आनन्दमाली' और सूर्यावर्त नगर का राजा 'तडित्प्रभः'—तू भी था। तुझे विश्वास था कि अहिल्या तुझे वरण करेगी, किन्तु उसने आनन्दमाली को वरण किया। तेने इसमें अपना अपमान माना और आनन्दमाली पर द्वेष रखने लगा। कालान्तर में आनन्दमाली ने संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की और उग्र तप करता हुआ वह मुनियों के साथ रथावर्त नाम के पर्वत पर आया और ध्यानस्थ हुआ। संयोगवश तू भी पत्नी सहित उस पर्वत पर पहुँचा। जब तेने उस मुनि को देखा, तो तेरी ईर्षा प्रकट हो गई। तेने उस ध्यानस्थ मुनि को बाँध लिया और मारने लगा। तपस्वी मुनि समभाव युक्त मार सहन करते रहे। जब उस मुनि के भाई कल्याण नाम के मुनि ने, मुनि पर प्रहार करते तुझे देखा, तो कुपित होगए और तुझ पर तेजोलेश्या फेंकने लगे, किन्तु तेरी पत्नी ने भक्ति पूर्वक प्रार्थना कर के मुनि को शान्त किया और तू बच गया। वहाँ का आयु पूर्ण कर तू भव-भ्रमण करने लगा। फिर पुण्योपार्जन से तू इन्द्र हुआ। तू इस समय जिस पराजय के दुःख को भोग रहा है, यह तेरे उस पाप का फल है, जो तेने मुनि को बाँध कर प्रहार करने से उपार्जन किया था।"

अपने पूर्व पाप का फल जान कर, इन्द्र विरक्त हुआ और प्रव्रजित हो कर उत्कृष्ट आराधना से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

रावण का भविष्य

कालान्तर में रावण, स्वर्णतुंग गिरि पर, केवलज्ञानी महर्षि अनंतवीर्यजी को वन्दन करने गया। धर्मदेशना सुनने के बाद रावण ने पूछा—"भगवन् ! मेरी मृत्यु का निमित्त क्या होगा। मैं किस के द्वारा मारा जाऊँगा ?"

भगवान् ने कहा—"रावण ! भविष्य में उत्पन्न होने वाले वासुदेव के द्वारा, पर-स्त्री के निमित्त से तू मारा जायगा।"

भगवान् से अपना भविष्य सुन कर, रावण ने प्रतिज्ञा की कि—"जो परस्त्री मुझे नहीं चाहेगी, उसके साथ मैं रमण नहीं करूँगा।"

पवनंजय के साथ अंजनी के लग्न और उपेक्षा

वैताढ्य पर्वत पर 'आदित्यपुर' नाम का नगर था। 'प्रह्लाद' नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। उसके 'केतुमती' रानी से 'पवनंजय' पुत्र का जन्म हुआ। पवनंजय बलवान् एवं साहसी था। आकाशगामिनी विद्या से वह यथेच्छ भ्रमण करता रहता था। उस समय भरत क्षेत्र में समुद्र के किनारे, महेन्द्रनगर में 'महेन्द्र' नरेश राज्य करते थे। उनकी 'हृदयसुन्दरी' रानी से 'अंजनासुन्दरी' नामक पुत्री उत्पन्न हुई। जब वह यौवनावस्था में आई, तब नरेश को वर खोजने की चिन्ता हुई। मन्त्रियों ने सैकड़ों-हजारों विद्याधर युवकों का परिचय दिया, पट-चित्र दिखाये। एक मन्त्री ने राजा हिरण्याभ के पुत्र 'विद्युत्प्रभ' और प्रह्लाद-नन्दन 'पवनंजय' का पट-चित्र बतला कर परिचय कराया। राजा को ये दोनों राजकुमार ठीक लगे। उन्होंने मन्त्री से उनकी विशेषताएँ पूछी। मन्त्री ने कहा--"दोनों राजकुमार समान कुलशील और रूपवाले हैं। किंतु विद्युत्प्रभ तो युवावस्था में प्रवेश होते ही प्रव्रजित हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेगा--ऐसा भविष्यवेत्ता ने बतलाया है और पवनंजय दीर्घायु है। इसलिये मेरा निवेदन है कि राजनन्दिनी के लिए पवनंजय उपयुक्त वर होगा।" राजा को पवनंजय सर्वथा योग्य वर प्रतीत हुआ।

राजा महेन्द्र और प्रह्लाद नरेश के मध्य सन्देशों का आदान-प्रदान हो कर संबंध हो गया और लग्न की तिथि निश्चित हो गई। राजकुमार पवनंजय के मन में अपनी भावी पत्नी को देखने की इच्छा हुई। उसके 'प्रहसित' नाम का एक मित्र था। राजकुमार ने मित्र से कहा--

"बन्धु! तुमने राजनन्दिनी अंजना को देखा है? वह कैसी है?"

--हां बन्धु! मैंने उसे देखा है। वह देवांगना के समान सर्वांग सुन्दरी है। उसका सौंदर्य देखने से ही जाना जा सकता है, वाणी द्वारा बताया नहीं जा सकता।"

--"मैं अपनी होने वाली अर्द्धांगना को लग्न के पूर्व देखना चाहता हूँ, किन्तु गुप्तरूप से। इसका उपाय शीघ्र होना चाहिए"--पवनंजय को विलम्ब सहन नहीं हो रहा था।

"कोई कठिनाई नहीं। अपन रात्रि के समय, विद्या के योग से अदृश्य रह कर उसे

देख सकेंगे"--मित्र ने उपाय बताया।

रात्रि के समय दोनों मित्र विद्या के बल से अदृश्य बन कर अंजनासुन्दरी के भवन में पहुँचे। उस समय वह अपनी सखियों के साथ बैठी थी। दोनों मित्र अदृश्य रह कर देखने लगे। अंजनासुन्दरी का अप्सरा के समान सौंदर्य देख कर पवनंजय को प्रसन्नता हुई। वह प्रच्छन्न रह कर सखियों की बातें सुनने लगा। वसंतमाला, अंजनासुन्दरी से कहने लगी;--

"सखी ! तू सद्भागनी है कि तुझे देव के समान उत्तम पति मिला है।"

"क्या धरा है पवनंजय में। वह विद्युत्प्रभ की समानता कर सकता है क्या"--मिश्रिका नाम की दूसरी सखी बोली।

"विद्युत्प्रभ तो साधु होने वाला है और उसकी आयु भी थोड़ी है। इसलिए ऐसा वर किस काम का"--वसंतमाला ने कहा।

"देव समागम तो थोड़ा भी उत्तम है। अमृत यदि थोड़ा भी मिले, तो समुद्रभर खारे पानी से तो श्रेष्ठ ही है"--मिश्रिका ने कहा।

पवनंजय मिश्रिका की कर्ण-कटु बात से क्रुद्ध हो उठा। अंजनासुन्दरी की मौन और तटस्थता से उसका आवेश विशेष भड़का•। उसने सोचा--अंजना को विद्युत्प्रभ प्रिय लगता है, इसलिए वह मेरी निन्दा सुन रही है। यदि इसके मन में मेरे लिए स्थान होता, तो यह मेरी निन्दा नहीं सुन सकती और तत्काल रोकती। क्रोधावेश में ही वह प्रकट हो गया और खड्ग निकाल कर बोला--

"जिसके मन में विद्युत्प्रभ के प्रति प्रेम है और जो उसकी प्रशंसक है, उन दोनों का, पवनंजय का यह खड्ग स्वागत करेगा।"

इस प्रकार कहता हुआ वह आगे बढ़ता ही था कि उसके मित्र प्रहसित ने हाथ पकड़ कर रोक लिया और समझाने लगा;--

"मित्र ! शांत बनो। तुम जानते हो कि स्त्री का अपराध हो, तो भी वह गाय के समान अवध्य है, फिर क्रोध क्यों करते हो ? और अंजनासुन्दरी तो सर्वथा निरपराधिनी है। वह केवल लज्जा के वश हो कर ही चुप रही होगी। उसे अपराधिनी मान लेना अन्याय है।"

• अन्य चरित्रकार लिखते हैं कि--वसंतमाला की बात सुन कर अंजनासुन्दरी ने विद्युत्प्रभ को बालब्रह्मचारी त्यागी निर्ग्रंथ एवं मुक्त होने वाला जान कर धन्यवाद देते हुए भक्ति बतलाई। वह स्वयं धर्म के रंग में रंगी हुई थी। अंजना को विद्युत्प्रभ के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त करते देख कर पवनंजय के मन में भ्रम उत्पन्न हुआ और वह क्रुद्ध हो गया।

दोनों मित्र वहाँ से लौट आये। पवनंजय को रातभर नींद नहीं आई। प्रातःकाल उसने मित्र से कहा--

"वन्धु ! जो स्त्री अपने से विरक्त हो, वह देवांगना से भी अधिक सुन्दर हो, तो किस काम की ? वह अशांति और आपत्ति का ही कारण वनती है। इसलिए मुझे ऐसी स्त्री नहीं चाहिए। तुम पिताश्री से कह कर लग्न रुकवा दो।"

"मित्र ! तुम्हारी वुद्धि में विकार आ गया है। अरे ! अपने दिये हुए वचन का भी सज्जन लोग पालन करते हैं, तव तुम्हारे पूज्य पिता के दिये हुए वचन का तुम उल्लंघन करना चाहते हो ? यह तुम्हारे जैसे सुपुत्र के लिए उचित है क्या ? गुरुजन यदि तुम्हें बेंच दे, या किसी को दे दें, तो भी सुपुत्र उसका पालन करता है, तो तुम अपने पिता का वचन कैसे तोड़ सकोगे ? तुम अंजनासुन्दरी में दोष देख रहे हो, यह तुम्हारा भ्रम है। तुम उसके शुभ आशय को समझे-विना ही दूषित मानने की भूल मत करो"-- प्रहसित ने पवनंजय को शांत करते हुए कहा।

पवनंजय को मित्र की शिक्षा से संतोष तो नहीं हुआ, किंतु उसने लग्न करना स्वीकार कर लिया। निर्धारित समय पर दोनों के लग्न हो गए।

अंजनासुन्दरी के लिए श्वशूर ने सात खण्ड का भव्य भवन दिया और सभी प्रकार के सुख-साधन प्रदान किये। किंतु पवनंजय उससे विमुख ही रहा। उसके मन में भ्रम से उत्पन्न रोश भरा हुआ था। इसलिए उसने अंजना के सामने देखा भी नहीं। पति की विमुखता के कारण अंजनासुन्दरी चिंतित रहने लगी। उसका खाना, पीना, सोना, वैठना आदि सभी क्रियाएँ उदासीनतापूर्वक होने लगी। उसके हृदय में से वार-वार निःश्वास निकलने लगा। उसकी रातें करवट वदलते एवं तड़पते हुए बीतने लगी। उसकी सखियाँ उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती हुई मीठी-मीठी बातें करती, किंतु अंजना तो प्रायः मौन ही रहती। इस प्रकार दुःख में काल निर्गमन करते २२ वर्ष वीत गए।

राक्षसराज रावण का दूत, प्रहलाद नरेश के पास, युद्ध में समिलित होने का निमन्त्रण ले कर आया। वरुण नाम का राजा, रावण की अवज्ञा करता था। वह उद्दंडतापूर्वक कहता कि--"रावण वहुत घमण्डी हो गया है। नलकूवर, सहस्रांशु, मरुत, यमराज और इन्द्र आदि अशक्त राजाओं पर विजय प्राप्त कर के उसका गर्व सीमातीत हो गया है। किंतु मेरे सामने उसका गर्व स्थिर नहीं रह सकेगा। यदि उसने लड़ने का साहस किया, तो उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो जायगा," आदि।

वरुण के अपमानजनक वचन, रावण सहन नहीं कर सका। उसने वरुण पर चढ़ाई

कर के उसके नगर को घेर लिया। वरुण भी अपने 'राजीव' और 'पुंडरीक' आदि पुत्रों और सेना को ले कर युद्ध-क्षेत्र में आया। घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध में रावण के वीर सामन्त खरदूषण को वरुण के पुत्रों ने पकड़ कर वन्दी बना लिया और अपने नगर में ले जा कर वन्दीगृह में डाल दिया। राक्षसों की सेना हताश हो कर छिन्नभिन्न होगई। वरुण इस विजय हर्षोल्लास पूर्वक उत्सव मनाने लगा। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर रावण ने अपने सभी विद्याधर राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजा। उसी युद्ध का एक निमन्त्रण प्रह्लाद नरेश के पास भी आया था। दूत का सन्देश सुन कर प्रह्लाद नरेश युद्ध की तय्यारी करने लगे। जब पवनंजय ने यह बात सुनी, तो पिता के पास आया और उनका जाना रोक कर स्वयं युद्ध में जाने को तत्पर हो गया। अंजनासुन्दरी ने पति के युद्ध में जाने और प्रयाण के मुहूर्त की बात सुनी, तो वह पति की युद्ध-यात्रा देखने और पति के दर्शन करने के लिए भवन से नीचे उतर कर एक थम्बे के सहारे खड़ी हो गई। वह बहुत दुर्बल हो गई थी। उसका मुख म्लान और देह कृश हो गई थी। जब राजकुमार पवनंजय की सवारी निकट आई और कुमार की दृष्टि अपनी त्यक्ता पत्नी पर पड़ी, तो उसके रोश में वृद्धि हुई, उनकी भृकुटी चढ़ गई। उसने कुपित हो कर मुँह मोड़ लिया। अंजना ने पति द्वारा हुई अपनी अवगणना की कड़वी घूँट पीते हुए निवेदन किया---

"स्वामी! आप युद्ध में जाने के पूर्व सब से मिले, किन्तु मेरी ओर तो देखा तक नहीं? नाथ! कम से कम रण में जाते समय एक बार भी मुझ से बोल लेते, तो मेरे मन में शांति रहती। अस्तु। आप विजयी होवें। आप यशवंत होवें और क्षेम-कुशल शीघ्र पधारें।"

पत्नी की उपरोक्त बात भी कुमार को शूल के समान खटकी। वे उस ओर से मुंह फिरा कर आगे वढ़ गए।

अंजना को इस अवगणना से बहुत निराशा हुई। वह हताश हो गई। कुमार के दुर्व्यवहार को वसंतमाला सहन नहीं कर सकी और वह उसे 'क्रूर निष्ठुर एवं कठोर हृदयी' आदि कहने लगी। अंजना ने सखी को रोकते हुए कहा---

"सखी! तू क्रुद्ध मत हो। रणभूमि में जाते हुए आर्यपुत्र के प्रति दुर्भाव नहीं लाना चाहिए। वे निर्दोष हैं। जो कुछ दोष है, मेरे अशुभ कर्मों का है।"

अंजना अपने खंड में आ कर शय्या पर पड़ गई और तड़पने लगी। उधर राज-कुमार अपने मित्र के साथ सेना की छावनी में पहुँचे। सेना का पड़ाव मानसरोवर पर हुआ। संध्या के समय सरोवर के किनारे एक चक्रवाकी की ओर युवराज का ध्यान गया।

उन्होंने देखा—वह पक्षिणी, मृणाल को ग्रहण करके भी नहीं खाती और अपने प्यारे के वियोग में तड़प रही है। चक्रवाकी की दशा पर विचार करते, पवनंजय को अपनी पत्नी की दशा का विचार आया। उसने सोचा—'चक्रवाकी अपने पति के एक रात के वियोग से ही इतनी घवड़ा गई, तो अंजना की क्या दशा होगी ? वह तो वर्षों से तड़प रही है। मैंने देखा है कि उसकी देह दुर्वल, निस्तेज और दुःखपूर्ण थी। मैंने आते समय उसकी अवगणना और अपमान किया। कदाचित् वह इस आघात को सहन नहीं कर सके और देह त्याग दे, क्योंकि अव उसे किसी प्रकार की आशा नहीं रही।"

उपरोक्त विचार आते ही राजकुमार स्वयं चिंतित हो गया। उसकी चिंता वहुत बढ़ गई। उसने तत्काल मित्र से परामर्श किया। मित्र ने कहा—

"अव तुमने सही दिशा में विचार किया है। तुम्हारे निष्ठुर व्यवहार को सहन कर वह जीवित रह सकेगी—इसमें सन्देह है। इसलिए तुम अभी जाओ और उसे आश्वस्त करके प्रातःकाल होते यहाँ आ जाओ।"

पवनंजय को अव क्षणभर का विलम्व भी असह्य हो रहा था। वह उसी समय मित्र को साथ ले कर आकाशगामिनी विद्या के वल से उड़ कर, अंजनासुन्दरी के भवन में आया और द्वार पर ठहर कर देखने लगा। उसने देखा कि—अंजना पलंग पर पड़ी हुई तड़प रही है। उसके हृदय से निश्वास निकल रहे हैं, और हाथ-पाँव पछाड़ रही है। उसकी प्रिय सखी वसंतमाला उसे धीरज वँधा रही है। अचानक अंजना की दृष्टि द्वार पर पड़ी। प्रहसित को खड़ा देख कर वह चौंकी और वोली;—

"अरे तू कौन है ? यहाँ क्यों आया ? जा भाग यहाँ से ? वसंतमाला ! निकाल इस लुच्चे को यहाँ से। अभी निकाल। इस भवन में मेरे पति के सिवाय दूसरा कोई पुरुष नहीं आ सकता। निकाल धक्का दे कर शीघ्र इस अधम को।"

"युवराज्ञी ! आपकी महापीड़ा का शमन करने के लिए युवराज पवनंजय पधारे हैं। मैं उनका अभिन्न मित्र आपको वधाई देने के लिए आया हूँ"—पवनंजय उसके पीछे खड़ा देख रहा था।

"भाई प्रहसित ! क्या मेरी दशा पर हँसने के लिए तुम यहाँ आये हो। तुम्हें तो आर्यपुत्र के साथ युद्ध में जाना था। तुम यहाँ क्यों आये ? मेरे दुर्भाग्य पर हँसने से तुम्हें क्या मिलेगा ? मैं तो अव इस शरीर को ही शीघ्र त्यागना चाहती हूँ। जाओ भाई ! युद्ध-भूमि में जा कर अपने मित्र की सहायता और रक्षा का कार्य करो। भगवन् ! तुम्हारा कल्याण हो।"

"प्रिये ! बस, बस, हो चुका। बहुत हो चुका। मेरा पाप सीमा लाँघ चुका। मेरी मूर्खता और दुष्टता चरम सीमा तक पहुँच गई। मुझे क्षमा कर दे। कल्याणी ! मुझे क्षमा कर दे"––कहता हुआ पवनंजय अंजनासुन्दरी के निकट आया और उसके चरणों में झुकने लगा। उसके हृदय में पश्चात्ताप का वेग उमड़ रहा था। अंजना इस अप्रत्यासित आनन्ददायक संयोग से अवाक् रह गई। वह तत्काल संभली और पलंग से नीचे उत्तर कर पति को प्रणाम करने के लिए झुकी। पवनंजय ने उसे अपने भुज-पाश में अवेष्ठित कर पलंग पर बिठा दिया। इस अभूतपूर्व आनन्द ने अंजनासुन्दरी के शरीर में शक्ति का संचार कर दिया। मुखचन्द्र पर आभा व्याप्त हो गई। पति-पत्नी का मधुर मिलन देख कर प्रहसित और वसंतमाला वहाँ से हट कर अन्यत्र चले गए। आमोद-प्रमोद में रात्रि शीघ्र व्यतीत हो गई। उषाकाल में पवनंजय ने कहा––"प्रिये मैं गुप्त रूप से आया हूँ और अभी गुप्त रूप से ही मुझे छावनी में पहुँचना है। तुम आनन्द में रहना। अब किसी प्रकार की चिन्ता मत करना और अपनी आरोग्यता बढ़ाना। मैं शीघ्र ही विजय लाभ कर आउँगा।"

"नाथ ! आप आनन्दपूर्वक पधारें और विजयश्री प्राप्त कर के शीघ्र लौटें। मैं ऋतु-स्नाता हूँ। कदाचित् गर्भ रह जाय, तो अन्य लोग मेरे चरित्र पर शंका करेंगे और मुझ पर कलंक लगावेंगे, तब मैं क्या उत्तर दूँगी ? अपने पारिवारिकजन और दूसरे लोग जानते हैं कि लग्न के साथ ही आपकी मुझ पर पूर्ण विरक्ति रही। आप और मैं एक क्षण के लिए भी नहीं मिल सके। ऐसी दशा में सन्देह होना स्वाभाविक है। इसलिए आप मातेश्वरी से मिल कर पधारें, तो अच्छा होगा"––अंजना ने निवेदन किया।

"नहीं, प्रिये ! उत्सव के साथ विजय प्रयाण करने के बाद मेरा गुप्तरूप से पुनरागमन, पिताजी के मन में सन्देह भर देगा और वे मुझ पर विश्वास नहीं रख सकेंगे। इसलिए मेरा प्रच्छन्न रहना ही उत्तम है। मैं वसंतमाला को समझा दूँगा और लो, यह मेरी नामांकित मुद्रिका। आवश्यकता पड़ने पर इसे दिखा देना। वैसे मैं भी शीघ्र ही लौट आउँगा।"

अंजना ने मुद्रिका लेते हुए कहा––"आर्यपुत्र ! आप अवश्य विजयी होंगे। मुझे आपकी विजय में तनिक भी सन्देह नहीं है। अपने स्वास्थ्य और शरीर की संभाल रखते रहें और अपनी दासी पर कृपा भाव रखें।"

अंजना ने अश्रुपूरित नयनों से पति को बिदा किया। पवनंजय ने वसंतमाला को समझा कर मित्र के साथ प्रयाण किया।

अंजनासुन्दरी निर्वासित

अंजनासुन्दरी गर्भवती हुई। उसके अवयवों में सौंदर्य की दमक बढ़ने लगी। अंग-प्रत्यंग विकसित एवं सुशोभित होने लगे और गर्भ के लक्षण स्पष्ट होने लगे। यह देख कर उसकी सास रानी केतुमती को सन्देह हुआ। वह अंजना की भर्त्सना करती हुई बोली;—

"पापिनी! तुने यह क्या किया? कुलटा! तुने तेरे और मेरे दोनों घरानों को कलंकित कर दिया। मेरा पुत्र तुझसे घृणा करता रहा, तब मैं उसकी घृणा का कारण भ्रममात्र मानती रही। मैं नहीं जानती थी कि तू खुद व्यभिचारिणी है। पवनंजय के युद्ध में जाने के बाद तू गर्भवती हो गई। तेरा पाप छुपा नहीं रह सका। तेरा मुँह देखने से भी पाप लगता है।"

सासु द्वारा हुए तिरस्कार एवं लगाये हुए घोर कलंक से अंजना के हृदय पर वज्रपात के समान आघात लगा। उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। उसने बिना बोले ही पवनंजय की दी हुई मुद्रिका सासु के सामने रख दी। किन्तु उससे उसका समाधान नहीं हुआ। उसने तिरस्कार पूर्वक कहा;—

"दुष्टा! तेरा पति, तेरे नाम से ही घृणा करता था। वह तेरी छाया से भी दूर रहा। इसलिए मैं तेरी किसी भी बात को नहीं मानती। कुलटा स्त्रियें अपना पाप छिपाने के लिए अनेक छल और षड्यन्त्र करती है। तेने भी कोई जाल रच कर मुद्रिका प्राप्त कर ली और सती बनने का ढोंग कर रही है। मैं तेरी चालबाजी में नहीं आ सकती। तू यहाँ से निकल जा। मैं तुझे अब यहाँ नहीं रहने दूँगी। जा, तू इसी समय तेरे बाप के यहाँ चली जा● ।"

वसंतमाला ने अंजना की निर्दोषता और पवनंजय के आगमन की साक्षी देते हुए, केतुमती को शांत करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका उलटा प्रभाव हुआ। जब विपत्ति आती है—अशुभ कर्म का उदय होता है, तो अनुकूल उपाय भी प्रतिकूलता उत्पन्न कर देते

● ग्रंथकार ने केतुमती को क्रूर एवं राक्षसी लिखा, किन्तु केतुमती का क्रुद्ध होना सकारण ही था। ऐसी स्थिति में कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति, सहन नहीं कर सकता। हम लोग अंजना को प्रारम्भ से ही निर्दोष मान कर विचार करते हैं। किन्तु केतुमती के सामने अंजना का सतीत्व सिद्ध नहीं हुआ था। वह जानती थी कि पवनंजय ने युद्ध में जाते समय तक पत्नी के सामने नहीं देखा, फिर वह उसकी निर्दोषता का विश्वास कैसे करे। उसे सन्देह होना और क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था और प्रमाण में दिखाने योग्य वस्तुओं को चोरी कर के प्राप्त करना भी असंभव नहीं है। अतएव केतुमती के इस कार्य को राक्षसीपन या क्रूरता मानना उचित नहीं लगता।

हैं। वसंतमाला की बात ने केतुमती की क्रोधरूपी आग में घृत का काम किया। उसने वसंतमाला की ताड़ना करते हुए कहा--

"कुटनी! तू ही इस पापिनी के पाप की दूतिका और संचारिका रही है। यदि तू सच्ची और सती होती, तो यह पाप चल ही नहीं सकता। तेने ही बाहर के पुरुष को लाने ले जाने का काम किया और मेरे पुत्र की आँखों में धूल डाल कर मुद्रिका चुरा लाई। चल निकल राँड, तू भी अपना काला मुँह कर यहाँ से। तेरे जैसी कुटनियाँ अच्छे उच्च घरानों की प्रतिष्ठा पर कालिमा पोत देती हैं। चल हट कलमुही"--कहते हुए जोर का धक्का दिया, जिसे घबराई हुई वसंतमाला सहन नहीं कर सकी और भूमि पर गिर पड़ी। उस पर दो चार-चार लातें जमाती हुई केतुमती वहाँ से चली गई और अपने पति प्रह्लाद नरेश से कह कर अंजना को निर्वासित करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। उसके लिए रथ आ कर खड़ा हो गया।

अंजनासुन्दरी और वसंतमाला रोती बिलखती हुई रथ में बैठ गई। रथ उन दुःखी और रोती-कलपती हुई कुलांगनाओं को ले कर चल निकला। महेन्द्रनगर के वन में ही रथ रुक गया। सन्ध्या हो चुकी थी। रथी ने विनयपूर्वक अंजना को प्रणाम किया और क्षमा याचना करते हुए उतर जाने का निवेदन किया +।

अंजना और वसंतमाला पर दुःख का असह्य भार आ पड़ा। अन्धेरा बढ़ रहा था। उल्लू बोल रहे थे। जम्बुक-लोमड़ी आदि की डरावनी चीखें सुनाई दे रही थी और सारा दृश्य ही भयावना हो गया। राजभवन में रहने वाली कोमलांगियों के जीवन में सहसा ऐसी घोर विपत्ति असह्य हो जाती है। फिर मिथ्या कलंक ले कर माता-पिता के सामने जाने से तो मृत्यु वरण करने की इच्छा उत्पन्न कर देता है। अन्धेरे में मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। किधर जावें, किससे पूछें। वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गई और चिंता करने लगी। अंजना के मन में भयानक भविष्य मण्डरा रहा था। उसने सखी से कहा--

"बहिन! माता-पिता के पास जाना भी व्यर्थ रहेगा। उनकी प्रतिष्ठा का प्रश्न उन्हें दुखी करेगा। वे भी हमें कलंकिनी मान कर आश्रय नहीं देंगे। तब वहां जा कर उनके सामने समस्या खड़ी कर के दुखी करने से क्या लाभ है? तू नगर में चली जा। तुझ पर कोई कलंक नहीं है। तुझे आश्रय मिल जायगा। मुझे अपने फूटे भाग्य के भरोसे

+ जब अंजना को पीहर पहुँचाना था, तो पिता के भवन पर जा कर ही उतारना था। नगर के बाहर उतारना और अपनी ओर से लोक-निन्दा का प्रसंग उपस्थित करना अवश्य ही बुरा है।

यहीं छोड़ दे। मैं अपना अपमानित मुँह ले कर माता-पिता के पास जाना नहीं चाहती।"

—"नहीं वहिन ! ऐसा नहीं हो सकता। मैं तुम्हें अकेली नहीं छोड़ सकती। अब तो सुख-दुःख और जीवन-मरण साथ ही होगा। दुःख की घड़ी में मैं तुम्हें अकेली छोड़ कर जाऊँ—यह कैसे हो सकता है ? मैं तुम्हारे साथ रहूँगी, तो तुम्हें भी कुछ हिम्मत दिलाती रहूँगी। अकेली का दुःख दुगुना हो जाता है। तुम घवड़ाओ मत। माता-पिता अपनी बात सुनेंगे, सोचेंगे। उन्हें अपनी बात पर विश्वास होगा। वे तुम्हारे दुःख को अपना दुःख समझेंगे और अवश्य ही आश्रय देंगे। यह दुःख थोड़े ही दिनों का है। युद्ध समाप्त होते ही सारा भ्रम दूर हो जायगा और सुख का समय आ जायगा। तुम धीरज रखो। यदि माता-पिता ने आश्रय नहीं दिया, तो फिर यह स्थिति तो है ही। अभी मन को दृढ़ बना लो और जो भी स्थिति उत्पन्न हो, उसे सहन करने का साहस करो। तुम्हें अपने लिए नहीं, तो गर्भस्थ जीव के लिए भी अपनी रक्षा करनी है। इसलिए साहस रख कर स्थिति को सहन करने को तत्पर रहो।"

अंजना को वसंतमाला का परामर्श उचित लगा। उसने इन्हीं विचारों में रात बिताई।

प्रातःकाल होने पर अंग संकोचती और अपने को वस्त्र में छुपाती हुई दोनों दुखी महिलाओं ने नगर में प्रवेश किया। उनका मन दुःख, अपमान एवं लज्जा के भार से दबा हुआ था। वे धीमी गति से राजप्रासाद के पास पहुँची। द्वारपाल ने विस्मयपूर्वक दोनों को देखा। वसंतमाला ने द्वारपाल के द्वारा महाराज से अपने आगमन और स्थिति का निवेदन करवा कर, अन्तःपुर प्रवेश की आज्ञा माँगी। द्वारपाल ने नरेश के सामने उपस्थित होकर अंजना के आगमन और वर्तमान दुरवस्था का निवेदन किया, और अन्तःपुर प्रवेश की आज्ञा माँगी। अंजना की दुर्दशा एवं कलंकित अवस्था सुन कर नरेश एकदम चिन्तामग्न हो गए। पुत्री और जामाता के अनवन की बात वे जानते थे। उन्हें भी अंजना का गर्भवती होना शंकास्पद लगा। पुत्री के मोह पर, प्रतिष्ठा के विचार ने विजय पाई। वे सँभले और सोचने लगे;—

"सुसराल से समादरयुक्त आई हुई पुत्री का मैं आदर कर सकता हूँ। उसे छाती से लगा कर रख सकता हूँ, किंतु कलंकित हो कर आई हुई पुत्री को अपनी सीमा में भी प्रवेश करने देना नहीं चाहता। वह कलंकित हो कर मेरे यहाँ कैसे आ गई ? क्या मरने के लिए उसे वहीं कोई उपाय नहीं सूझा ? या कोई दूसरा स्थान नहीं मिला .....

राजा विचार कर ही रहा था कि उसका पुत्र प्रसन्नकीर्ति कहने लगा—

"पिताजी ! इस कलंकिनी को यहाँ आना ही नहीं था। यदि वह वहीं आत्म-

घात करके मर जाती, तो यह कलंक-कथा वहीं समाप्त हो जाती और किसी को मालूम भी नहीं होता। अब इसे रख लेने से हम भी कलंकित होंगे। हमारा न्याय कलंकित होगा। जनता की नीति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए इसे तत्काल यहाँ से निकाल देना ठीक होगा। जिस प्रकार सड़े हुए अंग और सर्पदंश से विषाक्त बनी हुई अंगुली को लोग काट कर फेंक देते हैं, उसी प्रकार इन्हें इसी समय यहाँ से हटा देना चाहिए।"

राजकुमार की बात सुन कर मन्त्री बोला;--

--"पुत्रियों को सास-ससुर की ओर से कष्ट हो, तो वे पिता के पास ही आती है। ऐसी स्थिति में उनका हितचिंतक, पोषक एवं रक्षक पितृगृह ही होता है। पितृगृह के सिवाय संसार में दूसरा कोई आश्रय नहीं होता। यदि पुत्री के साथ अन्याय होता है, तो उसका न्याय, पिता या भाई ही कर सकते हैं। अबलाओं का आश्रय-स्थान श्वशुरगृह या पितृगृह होता है। इसलिए हमें राजदुहिता की बात सुन कर, न्यायदृष्टि से विचार करना चाहिए। यदि विचार करने पर वह कलंकिनी प्रमाणित हो, तो निकाल देनी चाहिए। यदि बिना विचार किये ही निकाल देंगे, तो संभव है उसके साथ अन्याय हो जाय और बाद में पश्चाताप करना पड़े। इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि जब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो जाय, उन्हें आश्रय देना ही चाहिए और गुप्तरूप से पुत्री का पालन-पोषण करना चाहिए।"

--"मन्त्री! तुमने कहा वह ठीक है। सास तो प्रायः सभी जगह कठोर होती है और क्रूर भी होती है, किंतु वधू को सच्चरित्र होना ही चाहिए। यदि पुत्री शील-वती हो, तो पिता उसकी रक्षा करने में अपनी शक्ति भी लगा देता है, किंतु चरित्रहीन पुत्री को आश्रय देने वाले पिता की प्रतिष्ठा नहीं रहती। जब सामान्य मनुष्य भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करता है, तो शासक को तो विशेष रूप से करनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि अंजना और पवनंजय के प्रारम्भ से ही मनमुटाव रहा और उसी दशा में पवनंजय रणभूमि में गया। फिर अंजना के गर्भ रहना क्या अर्थ रखता है? इसलिए तुम बिना विचार किये ही उसे यहाँ से हटा दो।"

"महाराज! न्याय कहता है कि आरोपी की बात भी सुननी. . . .

--बस बस, मन्त्री! कोई सार नहीं--इस प्रपञ्च में। मैं आज्ञा देता हूँ कि इसी समय उन्हें नगर की सीमा से बाहर निकाल दिया जाय"-- कह कर नरेश उठ गए।

द्वारपाल ने राजा की आज्ञा अंजनासुन्दरी को सुनाई। अंजना की आशंका सत्य निकली। उसे राज-भवन छोड़ कर जाना पड़ा। उन दोनों की आँखों से अश्रुधारा बह रही

थी। उनकी दयनीय दशा देख कर लोगों का हृदय भर आया। किंतु वे राजा के भय से कुछ भी सहायता नहीं कर सकते थे और न अंजना ही लोगों से सहायता लेना चाहती थी। वे दोनों सखियाँ भूखी-प्यासी, श्रांत और दुःखी थी। उनके पाँवों में छाले हो गए थे। काँटे चूभ कर रक्त निकल रहा था। किंतु वे चली ही जा रही थीं। नगर को छोड़ कर शीघ्र ही वन में पहुँचने के लिए वे चली जा रही थी। जीवन में पहली वार ही इनको भूमि पर नग्न पाँवों से चलना पड़ा था। वे गिरती-पड़ती डगमगाती वन में पहुँची। उनको आश्रय नहीं देने की राजाज्ञा नगर में ही नहीं, आसपास के अन्य ग्रामों और वसतियों में भी पहुँच गई थी। उनके लिए वन में भटकने के सिवाय और कोई स्थान ही नहीं बचा था। वे भटकती हुई क्रमशः महावन में पहुँच गई। फिर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर हृदय के आवेग को विलाप के द्वारा निकालने लगी। वह रोती हुई अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त करने लगी;—

"सासुजी ! आपका कोई दोष नहीं। आपने अपने कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए मुझे निकाला। यह उचित ही था। हे पिता ! मैं आपको बहुत प्रिय थी, किंतु आपने अपने कुल, गौरव और सदाचार की रक्षा के लिए मुझे आश्रय नहीं दिया, फिर मेरे श्वशुर पक्ष का भय भी आपके राज्य पर उपस्थित हो सकता था। हे मातेश्वरी ! आपने अपने पति का अनुसरण कर, अपने वात्सल्य का बलिदान किया, यह भी उचित ही था। हे भ्राता ! पिता का अनुसरण करना आपका कर्त्तव्य था। मैं आप किसी को दोष नहीं देती।"

"हे नाथ ! आपके दूर होते ही संसार मेरा शत्रु हो गया। पति के बिना पत्नी का जीवित रहना विडम्बना पूर्ण ही होता है। वास्तव में मैं स्वयं हतभागिनी हूँ, जो पति से बिछुड़ी और स्वजनों द्वारा अपमानित हो कर कलंक का असह्य भार ढोती हुई भी जीवित हूँ। मेरे प्राण इस भीषण दुःख में भी क्यों नहीं निकलते ?"

वसंतमाला अंजना को ढाढ़स बँधाने लगी। वे दोनों उठ कर आगे चलने लगीं। वे थक जाती, तो किसी वृक्ष के नीचे पड़ जाती। थोड़ी देर बाद फिर आगे बढ़ती। नदी-नाला और झरनों का पानी पीती, वृक्षों के फलों से पेट की ज्वाला शांत करती और रात के समय किसी वृक्ष के नीचे पड़ कर, धूल और पत्थरों तथा सूखें पौधों के तीक्ष्ण डंठलों पर शरीर को लम्बा कर लेट जाती। भयानक वनचर पशुओं की चीख, सर्प की फुंकार और सिंहगर्जनादि भीषण वातावरण में, बिना निद्रा के भयभ्रान्त स्थिति में रात बिताती थी। एक दिन चलते-चलते एक पर्वत के पास पहुँची। उनकी दृष्टि एक गुफा पर पड़ी। वे गुफा

के मुहाने पर पहुँची, तो उन्हें एक ध्यानस्थ मुनिराज दिखाई दिये। ऋषिश्वर के दर्शन से उनके मन में संतोष हुआ। महात्माजी को नमस्कार कर के वे उनके सामने बैठ गई। मुनिराज ने ध्यान पूर्ण किया। वसंतमाला ने विनयपूर्वक अंजना का परिचय दे कर उसकी विपत्ति की कहानी सुनाई और बोली;--

"महात्मन्! इसके गर्भ में कैसा जीव है? किस पाप के उदय से यह दुर्दशा हुई और भविष्य में क्या फल भोगना पड़ेगा? यदि आप ज्ञानी हैं, तो बतलाने की कृपा करें।"

हनुमान का पूर्वभव

महर्षि श्री अमितगतिजी ने अंजना के वर्त्तमान दुःख का कारण बताते हुए कहा--

"इस भरतक्षेत्र के मंदिर नगर में प्रियनन्दी नाम का एक व्यापारी रहता था। उसकी जया नामकी पत्नी से दमयंत नामका पुत्र था। वह रूप-सम्पन्न और संयमप्रिय था। एक बार वह क्रीड़ा के निमित्त उद्यान में गया। वहाँ एक मुनिराज ध्यान में मग्न थे। दमयंत ने मुनिश्वर को वन्दना की और बैठ गया। ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज ने दमयंत को धर्मोपदेश दिया। दमयंत उस उपदेश से प्रभावित हो कर, सम्यक्त्व और विविध प्रकार के व्रत ग्रहण किये और धर्म में अत्यंत रुचि रखता हुआ और सुपात्र-दानादि देता हुआ काल करके दूसरे स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। देवभव पूर्ण कर मृगांकपुर के राजा वीरचंद्र की प्रियंगुलक्ष्मी रानी के गर्भ से पुत्रपने उत्पन्न हुआ। उसका नाम सिंहचन्द्र था। वह वहाँ भी जैनधर्म प्राप्त कर यथाकाल मृत्यु पा कर देव हुआ। देवभव पूर्ण कर वैताढ्य पर्वत पर वरुण नगर के राजा सुकंठ की रानी कनकोदरी का पुत्र सिंहवाहन हुआ। चिरकाल तक राज करने के बाद श्रीविमलनाथ भगवान् के तीर्थ के श्री लक्ष्मीधर मुनि के पास सर्व-विरति स्वीकार की और तप-संयम का निष्ठापूर्वक पालन कर के लांतक देवलोक में देव हुआ और वहां का आयु पूर्ण कर वह जीव, इस अंजनासुन्दरी के गर्भ में आया है। यह जीव गुणों का भंडार, महापराक्रमी, विद्याधरों का अधिपति, चरमशरीरी और स्वच्छ हृदयी होगा।"

अंजनासुन्दरी का पूर्वभव

ऋषिश्वर ने आगे कहा--"अब अंजनासुन्दरी का पूर्वभव कहता हूँ;--

"कनकपुर नगर में कनकरथ राजा था। उसके कनकवती और लक्ष्मीवती नाम की दो रानियाँ थीं। कनकवती थी मिथ्यात्वप्रिय एवं श्री जिनधर्म की द्वेषिनी, और लक्ष्मीवती थी जिनधर्मानुरागिनी। कनकवती ने द्वेषवश एक मुनि का रजोहरण‡ चुपके से हरण कर के छुपा दिया। रजोहरण के अभाव में साधु कहीं जा नहीं सकते। उनका आहार-पानी छूट गया। अंत में कनकवती का द्वेष हटा। उसने रजोहरण दे कर क्षमा याचना की। मुनिवर के उपदेश से वह धर्मप्रिय हुई और जिनधर्म का पालन करने लगी। यथाकाल आयु पूर्ण कर, सौधर्म स्वर्ग में देवी हुई और वहाँ से च्यव कर अंजना सुन्दरी हुई। कनक सुन्दरी के रजोहरण छुपाने में सहायक बनने वाली तू यहां सखी रूप में हुई। दोनों सखियाँ उस पाप का फल भोग रही हो। अब वह अशुभ कर्म समाप्त होने वाला है। थोड़े ही समय में अंजना का मामा अकस्मात आ कर ले जाएगा और कुछ दिनों बाद पति का मिलाप भी हो जायगा। तुम जिनधर्म को ग्रहण कर के पालन करती रहोगी, तो भविष्य में ऐसी विपत्ति कभी नहीं आएगी। यह सारा दुःख, क्लेश, विपत्ति और कलंक आदि पूर्व-भव के पाप का ही फल है। धर्म का आचरण करने से जीव सुखी होता है।"

भयंकर विपत्ति

इस प्रकार भविष्य बतला कर और दोनों सखियों के मन में धर्म एवं संतोष की स्थापना कर के विद्याचारण मुनिराज उठे और **'णमो अरिहंताणं'** उच्चारण करके गरुड़ के समान आकाश में उड़ गए। मुनिराज के जाने के थोड़ी देर बाद ही एक विकराल सिंह वहाँ आया। वह मस्ती में झुम रहा था और गर्जना कर के सारे वनचर जीवों को भयभीत कर रहा था। खरगोश, श्रृगाल और हिरन ही नहीं, बड़े-बड़े गजराज भी सिंह की दहाड़ सुन कर भागे जा रहे थे। दोनों सखियाँ घबड़ाई। उनका हृदय दहल उठा और घिग्घी बंध गई। वे ऋषिवर के बताये हुए नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करने लगी।

हनुमान का जन्म

मुनिराज ने जिस गुफा में ध्यान किया था, उस गुफा का अधिपति मणिचूल नामक

‡ त्रि. श. च. में 'जिनबिंब' हरण करने का उल्लेख है।

वसंतमाला ने विवाह से लगा कर वर्त्तमान दशा तक सारी कथा कह सुनाई। अंजना की विपत्ति की बात सुन कर आगत व्यक्ति की आँखों में आँसू छलक आये। उसने कहा:—

"मैं हनूपुर का राजा प्रतिसूर्य हूँ। मनोवेगा मेरी बहिन है और तू (अंजना) मेरी भानजी है। मेरा सद्भाग्य है कि इस भयानक वन में मैं तुझे जीवित देख सका। अब तेरी विपत्ति के दिन गये। चल तू मेरे साथ।"

मामा को सामने देख कर अंजना का दुःखपूर्ण हृदय उभर आया। वह जोर-जोर से रोने लगी। प्रतिसूर्य ने अंजना को सान्त्वना दी और वसंतमाला सहित विमान में बिठा कर उड़ा।

बालक का वज्रमय शरीर

बालक अंजना की गोदी में लेटा हुआ था। उसकी दृष्टि, विमान में लटकती हुई रत्नमय झूमर पर पड़ी। रत्नों के प्रकाश से बालक आकर्षित हुआ। वह माता की गोद में से उछला और नीचे एक पर्वत पर आ गिरा। बालक के गिरते ही अंजना को भारी आघात लगा। उसका हृदय दहल गया। वह चित्कार कर रो उठी। राजा विमान स्तंभित कर नीचे उतरा और बालक को हँसता-खेलता पाया। किन्तु जिस स्थान पर बालक गिरा, वहां की एक भारी पाषाण-शिला टूट कर चूर-चूर हो गई। बालक को उठा कर राजा अंजना के पास लाया और उसकी गोदी में देते हुए बोला—

"पगली! तू रो रही है और यह एक भारी चट्टान के टुकड़े-टुकड़े कर के भी आनन्द से किलकारी कर रहा है। वास्तव में यह बालक महाबली एवं प्रबल पराक्रमी होगा।"

अंजना ने पुत्र को छाती से लगा लिया। वे सब हनुपुर आये। अंजना का हार्दिक सत्कार हुआ और बालक का धूमधाम से जन्मोत्सव मनाया गया। जन्मोत्सव हनुपुर में मनाने की स्मृति बनाई रखने के लिए बालक का नाम "हनुमान" दिया गया। शैल (पर्वत) शिला का चूर्ण कर देने के निमित्त से दूसरा नाम—"श्रीशैल" दिया गया। ज्योतिषियों ने बालक के ग्रह देख कर बताया कि यह बालक प्रबल पराक्रमी, महान् राज्याधिपति होगा और इसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाला होगा। इसका जन्म चैत्रकृष्णा अष्टमी रविवार और श्रवण-नक्षत्र का है। सूर्य ऊँच का हो कर मेष राशि में आया है।

चन्द्र मकर का हो कर मध्य भवन में, मंगल मध्य का हो कर वृषभ राशि में, वुध मध्य का मीन राशि में, गुरु ऊँच का कर्क राशि में, शुक्र और शनि उच्च के मीन राशि में है। मीन लग्न का उदय है और ब्रह्म योग है। इस प्रकार सभी प्रकार से शुभोदय के सूचक हैं।

हनुमान सुखपूर्वक वढ़ने लगा। अंजना भी मामा के यहाँ, वसंतमाला सहित सुखपूर्वक रहने लगी। किंतु सास के लगाये हुए कलंक का शूल उसके हृदय में चूभता रहता था। वह ऊपर से सव से हँसती-ब्रोलती, किन्तु मन की उदासी वनी रहती। उसके दिन वाहरी कष्ट के विना, सुखपूर्वक व्यनीत होने लगे।

पवनंजय का वन-गमन

वरुण, रावण का अनुशासन नहीं मान रहा था। उसने रावण के सेनापति खर-दूषण को बंदी वना लिया था। किन्तु पवनंजय के प्रभाव ने वरुण को सन्धी करने के लिए विवश किया। वरुण ने रावण का अनुशासन स्वीकार कर के खर-दूषण को छोड़ दिया। इससे रावण वहुत प्रसन्न हुआ। रावण संतुष्ठ हो कर लंका की ओर गया और पवनंजय अपने घर आया। राजा प्रह्लाद और प्रजा ने विजयी राजकुमार का धूमधाम से नगर-प्रवेश कराया। पवनंजय के मन में प्रिया-मिलन की आतुरता थी। उसे विश्वास था कि अंजना कहीं झरोखे में से देख रही होगी और आतुरता से मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। उसने माता-पिता को प्रणाम किया और इधर-उधर देखा, किन्तु अंजना दिखाई नहीं दी। वह तत्काल अंजना के आवास में आया, परन्तु आवास तो एकदम शून्य था। उसके हृदय में खटका हुआ। सेवकों से पूछने पर सभी उदास और मौन। अंत में एक सेविका ने अंजना के कलंकयुक्त देश-निकाले की वात बताई। सुनते ही पवनंजय दहल गया। उसके हृदय में उद्विग्नता की आग लग गई। वह विना कुछ खाये-पिये ही अपने सुसराल के लिए चल-निकला। मित्र भी साथ हो गया। 'पीहर में भी अंजना को स्थान नहीं मिला और वन में धकेल दी गई,' यह जान कर पवनंजय का हृदय शोकाकूल हो उठा। वह पत्नी की खोज करने, अटवी में चला गया। प्रहसन मित्र के समझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इधर प्रह्लाद नरेश और महेन्द्र राजा ने हजारों सेवक, अंजना की खोज करने के लिए दौड़ाये। राजा-रानी और परिवार पर चिन्ता, शोक एवं संकट छा गया। पवनंजय की माता, अपनी मूर्खता एवं क्रूरता पर पश्चाताप करती हुई भावी अनिष्ट

की आशंका से तड़प रही थी। वह सारा दोष अपना ही समझ कर बार-बार रोती और छाती पीट रही थी।

अंजना के पिता अपनी विवेक-हीनता, कुलाभिमान, अन्यायाचरण एवं क्रोधान्धता पर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे--"हा, पुत्री ! मैंने उस समय आवेश में आ कर तेरे साथ अन्याय किया। तेरी बात सुनी ही नहीं, अरे तुझे आँख से देखी भी नहीं। मैं दूसरों का न्याय करता हूँ, तब दोनों पक्षों को सुन-समझ कर शान्त भाव से निर्णय करता हूँ। किंतु मैं दुर्भागी, अपने वंश की प्रतिष्ठा के अभिमान में क्रोधान्ध हो गया और तेरी बात सुने बिना ही निकलवा दिया। अरे, मैंने अपने बुद्धिमान् मन्त्री के उचित परामर्श को भी ठुकरा दिया। हा, अब क्या करूँ ? अपने इस महापाप को कैसे धोऊँ ?"

पवनंजय का अग्नि-प्रवेश का निश्चय

पवनंजय और उसका मित्र वन में भटकते रहे, किन्तु अंजना का पता कहीं भी नही लगा, तब पवनंजय ने हताश हो कर कहा--"मित्र ! तुम घर जाओ। मैं बिना अंजना के जीवित नहीं रह सकता। मैं विरहाग्नि में जलते रहने से, अग्नि में प्रवेश कर समस्त दुःख और संताप को ही भस्म करना चाहता हूँ।"

प्रहसन ने बहुत समझाया, परन्तु पवनंजय नहीं माना। तब प्रहसन ने कहा--"मित्र ! तुम पत्नी-विरह सहन नहीं कर सकते, तो मैं भी मित्र-विरह सहन नहीं कर सकता। अतएव मैं भी तुम्हारे साथ ही अग्नि-प्रवेश करूँगा।"

पवनंजय ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में प्रहसन ने, अपने लौट आने तक जीवित रहने का वचन ले कर अंजना की खोज का परिणाम जानने के लिए राजधानी में आया।

अब तक अंजना का पता नहीं लगा था। प्रहसित द्वारा पवनंजय के अग्नि-प्रवेश की बात सुन कर प्रहलाद राजा विचलित हो गया। वह पुत्र को समझाने के लिए तत्काल रवाना हुआ। पवनंजय के पास पहुँच कर राजा ने देखा--एक ओर काष्ठ की चिता रची हुई है, पवनंजय दुर्बल शरीर, म्लान मुख, विद्रूप वर्ण, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र और चञ्चल चित्त उस चिता के चक्कर काट रहा है। राजा ने निकट पहुँचते ही--"हा. हा........... इस प्रकार शोकपूर्ण हाहाकार करते हुए पवनंजय को बाहुपास में जकड़ कर, ललाट चूमने लगा। दोनों पिता-पुत्र जोर-जोर से रुदन कर रहे थे। पिता, पुत्र को घर चलने के लिए मना रहा था, किन्तु पुत्र का एक ही उत्तर था--

"जीवन भर हृदय में वेदना की आग भरे, विक्षिप्त के समान रहने से तो मर जाना ही उत्तम है। अंतिम समय में आपकी चरण-वन्दना हो गई। आप शांति रख कर पधारें। माताजी को भी संतोष देवें। मेरी मनःस्थिति आपकी आत्मा को प्रसन्न करने योग्य नहीं रही। आप मुझे क्षमा करें।"

इतना कह कर पवनंजय ने अग्नि प्रज्वलित कर के चिता में रखी और अंतिम बार उच्चस्वर में बोला--

"हे वनदेवता ! हे सूर्यदेव ! हे दिग्पालों ! मैं विद्याधरपति प्रह्लाद नरेश एवं महारानी केतुमती का पुत्र पवनंजय हूँ। मैंने परम शीलवती सती अंजनासुन्दरी का पाणि-ग्रहण किया था। किन्तु मेरी दुर्बुद्धि के कारण मैंने विवाह के साथ ही उसका परित्याग कर दिया और उसे दुःख देता रहा। फिर मैं युद्ध में चला गया। मार्ग में देवयोग से मेरी बुद्धि ने पलटा खाया और मैं गुप्तरूप से रात्रि में आ कर प्रथमबार पत्नी से मिला। उस रात्रि को हमारा दाम्पत्य सफल हुआ। लौटते समय मैं अपने आने का प्रमाण दे कर सेना में चला गया। उस रात के मिलन से अंजना गर्भवती हुई। मेरे गुप्त आगमन के कारण, अंजना के गर्भ को दुराचार का परिणाम माना गया। वह निर्वासित हुई। पीहर में भी उसे स्थान नहीं मिला। वन में भटकती हुई वह कहाँ गई? वह जीवित है, या नहीं। मैं उसे नहीं पा सका। वह मेरे कारण ही विपत्ति के चक्कर में पड़ी। वह सर्वथा निर्दोष थी और अब भी निर्दोष ही है। मैं अपने अत्याचार से स्वयं दग्ध हूँ और चिता में जल कर अपने पाप तथा विरह-वेदना का अन्त कर रहा हूँ। अंजना सती है, विशुद्ध शीलवती है। उसके शील में किसी प्रकार का दोष नहीं है। तुम सब उसके निर्मल चरित्र की मेरी ओर से साक्षी देना।"

इस प्रकार उच्चतम शब्दों में उच्चारण कर के पवनंजय चिता में कूदने को तत्पर हुआ, उसके पिता मित्र आदि उसे पकड़ कर रोकने लगे।

सुखद मिलन

उधर अंजना की खोज करने वालों में से एक सेवक हनुपुर पहुँचा और राजा को बताया कि "अंजना के वियोग में पवनंजय, वन में भटक रहा है। यदि अंजना नहीं मिली, तो वह चिता में जल कर मर जायगा।"

उपरोक्त समाचार सुन कर अंजना का हृदय दहल गया। महाराज प्रतिसूर्य ने

उसे सान्त्वना दी और वह अंजना सहित विमान में बैठ कर पवनंजय की खोज में निकल गए। जिस समय पवनंजय चिता में कूदने के पूर्व, अंजना की निर्दोषता की उद्घोषणा कर रहा था, उसी समय प्रतिसूर्य का विमान उधर आ पहुँचा। पवनंजय के शब्द उनके कानों में पड़े। जलती हुई चिता और उसके पास पवनंजय आदि को खड़े देख कर वे नीचे उतरे। अंजना के साक्षात् उपस्थित होते ही शोक की काली घटा छिन्न-भिन्न हो कर आनन्द की महावृष्टि हो गई। महाशोक का वीभत्सतम वातावरण अचानक ही अत्यानन्द में परिवर्तित हो जाने का यह अनोखा दृश्य था। शोक के काले आसुओं से जहाँ सभी के चेहरे भीग रहे थे, वे हर्षाश्रु से धुल कर उज्ज्वल होने लगे। उस भयानक वन में आनन्दोत्सव मनने लगा। हर्षवेग कम होने पर प्रतिसूर्य ने सभी को हनुपुर चलने का आमन्त्रण दिया। सभी जन विमान में बैठ कर हनुपुर आये। उधर पवनंजय की माता और अंजना के पिता महेन्द्र नरेश भी ये शुभ समाचार सुन कर पत्नी सहित हनुपुर आ कर आनन्द सागर में निमग्न हो गए। हनुपुर नगर अचानक उत्सवमय हो गया। कई दिनों तक उत्सव चलता रहा। उत्सव पूर्ण होने पर अन्य सब अपने-अपने स्थान चले गए, किन्तु अत्याग्रह के कारण पवनंजय, पत्नी और पुत्र सहित वहीं रहा।

हनुमान की विजय

हनुमान शैशव से युवावस्था में आया। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित हुए। वह अस्त्र-शस्त्र एवं शास्त्र-विद्या में निपुण हो गया। उस समय पुनः वरुण और रावण के बीच युद्ध की तय्यारी होने लगी। पवनंजय और प्रतिसूर्य को भी युद्ध का आमन्त्रण मिला, किन्तु हनुमान ने दोनों को रोका और स्वयं एक बड़ी सेना ले कर युद्ध में गया। हनुमान का पराक्रमशील व्यक्तित्व देख कर रावण प्रभावित हुआ। उसने उसे अपने उत्संग में बिठाया। वरुण के सौ पुत्र भी बलवान् थे। युद्ध इतना गम्भीर और बराबरी का होता रहा कि जिससे रावण भी विजय में सन्देहशील बन गया। किन्तु हनुमान के पराक्रमपूर्ण रणकौशल से वरुण के सभी पुत्र घिर कर बन्दी बन गए। अपने पुत्रों को बन्दी बने देख कर वरुण ने हनुमान पर धावा किया, किंतु रावण ने उसे बीच में ही रोक लिया और बड़ी देर तक युद्ध करने के बाद, कपटचाल में फाँस कर बन्दी बना लिया। रावण की विजय हो गई। वरुण ने रावण की अधीनता एवं स्वामित्व स्वीकार कर लिया। अधिनता स्वीकार करने पर वरुण और उसके पुत्र मुक्त हो गए। वरुण ने अपनी पुत्री

सत्यवती हनुमान को ब्याह दी । राजधानी में आ कर रावण ने अपनी बहिन सूर्पणखा की पुत्री अनंगकुसुमा का हनुमान के साथ विवाह कर दिया। सुग्रीव आदि ने भी अपनी पुत्रियाँ हनुमान को दी । हनुमान विजयोत्सव मनाता और मार्ग के राजाओं से सत्कारित होता हुआ अपने स्थान पर पहुँचा । हनुपुर में विजयी हनुमान का महोत्सवपूर्वक नगर-प्रवेश हुआ । माता-पिता और मामा आदि के प्रसन्नता की सीमा नहीं रही ।

वज्रबाहु की लग्न के बाद प्रव्रज्या

मथुरा नगरी में हरिवंशोत्पन्न 'वासवकेतु' नाम का एक राजा था । 'विपुला' नामकी उसकी रानी थी । उनके 'जनक' नाम का पुत्र था । योग्य अवसर पर जनक राज्याधिपति हुआ ।

अयोध्या नगरी में, श्री ऋषभदेव भगवान् के राज्य के बाद, उस इक्ष्वाकु-वंश के अन्तर्गत रहे हुए सूर्यवंश में बहुत-से राजा हुए । उनमें से कई राज्य का त्याग कर के, तप-संयम की आराधना कर मोक्ष प्राप्त हुए और कई स्वर्ग में देव हुए । उसी वंश में वर्तमान अवसर्पिणी काल के बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामीजी के तीर्थ में 'विजय' नाम का एक राजा हुआ । उसकी 'हेमचूला' नाम की रानी थी । उसके 'वज्रबाहु' और 'पुरन्दर' नाम के दो पुत्र हुए । उस समय नागपुर में 'इभवाहन' नाम के राजा की चुड़ामणि रानी से 'मनोरमा' नाम की पुत्री हुई । जब वह यौवनावस्था को प्राप्त हुई, तब वज्रबाहु के साथ उसके लग्न हुए । लग्न कर के स्वदेश लौटते हुए वज्रबाहु और अपनी प्रिय बहिन मनोरमा को पहुँचाने के लिए, मनोरमा का भाई 'उदयसुन्दर' भी साथ आया था । साला-बहनोई मित्र के समान साथ-साथ घोड़े चलाते हुए और हँसी-विनोद करते हुए चल रहे थे । वसंतगिरि पर्वत के निकट पहुँचने पर वज्रबाहु की दृष्टि 'गुणसागर' नाम के सन्त पर पड़ी । वे मुनि, सूर्य के सामने आतापना ले रहे थे । तपस्वी सन्त पर दृष्टि पड़ते ही वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ । उसने उत्साहपूर्वक उदयसुन्दर से कहा;—

"मित्र ! उधर देखो वे महान् तपस्वी सन्त उस पर्वत पर ध्यान धर कर खड़े हैं और उस असह्य ताप को सहन कर रहे हैं । हमारे सद्भाग्य हैं कि हमें ऐसे महातपस्वी के दर्शन हुए ।"

"मित्र ! मुनिराज को देख कर आपकी प्रसन्नता वहुत बढ़ गई। आप एकटक उधर ही देख रहे हैं। इतना हर्ष तो मैंने आपके चेहरे पर कभी देखा ही नहीं। क्या, स्वयं तपस्वी बनने की इच्छा है।

"हां, मित्र ! मैं चाहता हूँ कि इन महामुनि का शिष्य हो कर मानवभव सफल कर लूं।"

"यदि आपकी इच्छा हो, तो विलम्ब किस वात का ? चलो, मैं तपस्वीराज से कह कर उनका शिष्य वनवा दूंगा आपको"——उदयसुन्दर, वज्रवाहु की वात को हँसी ही समझ रहा था। मार्ग में उनका विशेष समय वाणी-विनोद में ही जाता था। उसने हँसी-हँसी में वज्रवाहु की प्रव्रज्या में सहायक वनने का वचन दे दिया।

——"अपने वचन को निभाओ उदय ! मुझे निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या प्राप्त करने में सहायता दो। देखो, वचन दे कर पलटना मत।"

——"क्यों वातें वनाते हो। हिम्मत हो, तो बढ़ो आगे। ये रहे गुरु, हो जाओ झट से चेले। आपको रोकता कौन है ? हिम्मत तो होती नहीं, संसार के सुखों का भोग करने और राजाधिराज वनने की लालसा मन में मँडरा रही है और वातें करते हैं——महामुनि वनने की। मैं भी देखूं कि वीर युवराज श्री वज्रबाहुजी किस प्रकार साधु वनते हैं। मैं वन्दना करने को तत्पर हूँ।"

वज्रवाहु का उपादान तय्यार था। उदयसुन्दर के वचनों ने उसे उकसाया। वह सर्वत्यागी वनने को तत्पर हो गया। यह देख कर उदयसुन्दर घवड़ाया। हँसी, सत्य में प्रकट होते देख कर उसने वज्रवाहु से कहा——

"मित्र ! मैं तो वैसे ही विनोदी वातें कर रहा था। अपन हँसी-हँसी में कितनी ही वातें कहते-सुनते चले आ रहे हैं। उन सब को छोड़ कर आपने त्यागी वनने की हठ पकड़ ली। मैं अपने शब्दों के लिए क्षमा चाहता हूँ। आप इन वातों को भूल जाइए और इस रंगभरी वरात को ले कर घर चलिये। वहां आपके और मेरी वहिन के स्वागत की तय्यारियां हो रही है। आपके माता-पिता, सौभाग्यवती पुत्र-वधू——गृहलक्ष्मी के गृहप्रवेश की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं——पलक-पांवड़े विछाये हुए। उनकी आशा का घात मत करो मित्र ! पीछे रथ में आ रही मेरी वहिन की उठती हुई उमंगों को नष्ट मत करो। मेरे हँसी में कहे हुए वोलों पर मेरी वहिन का सौभाग्य मत लूटो। मुझे आप जितना चाहे दण्ड दे दें, किन्तु उस आशाभरी नवपरणिता को जीवनभर वैधव्य की ठण्डी लपटों में मत झोंको——महाभाग ! दया करो वीरवर !"

"अरे मित्र ! तुम उलटी बातें क्यों करते हो ? मैं तुम्हारी हँसी से ही त्यागी बन रहा हूँ---ऐसा मत सोचो। मैं सचमुच विरक्त हूँ। इन तपस्वी महात्मा के दर्शन करने के साथ ही मुझ में वैराग्य भावना उत्पन्न हो गई। ये महात्मा अपने मानवभव को सफल कर रहे हैं। मैं भी चाहता हूँ कि इसी समय मैं भी सर्वत्यागी बन जाउँ। मृत्यु का क्या ठिकाना ? न जाने कब आ जाय और यह मानव-भव, भोग के कीचड़ में फँसे हुए, या रोग शय्या पर तड़पते हुए, अथवा युद्ध की विभीषिका में रक्त की होली खेलते हुए समाप्त हो जाय।"

"मित्र ! सोते को साँप डस जाय, तब मेरे माता-पिता का सहारा और तुम्हारी बहिन का सौभाग्य कहाँ रह सकता है ? विवशतापूर्वक पृथक् होने के बदले स्वेच्छापूर्वक त्याग करना उत्तम है, आराधना है और महान् फलदायक है। तुम्हारी दृष्टि राग-रंजित-मोह-प्रेरित है और मैं मोह को विजय करना चाहता हूँ। यदि अभी कोई शत्रु, राज्य पर आक्रमण कर दे और मैं कामभोग में गृद्धि हो कर सामना नहीं करूँ, तो तुम स्वयं मुझे कायर, अयोग्य एवं लम्पट कहोगे। उस समय तुम अपनी बहिन के सौभाग्य की ओर नहीं देख कर, राज्य की रक्षा करने की प्रेरणा करोगे, तब मैं अपने आत्मीय शाश्वत राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ तो तुम्हें उदास होने और बाधक बनने की क्यों सूझती है ?"

"उदय मित्र ! तुम भी समझो और छोड़ो इस विषैली काम-भोग रूपी गन्दगी को। चलो मेरे साथ और आत्मानन्द की अमृतमयी सुधा का पान करो। तुम भी मृत्युंजय हो कर अमर बन जाओगे।"

उदयसुन्दर भी प्रभावित हुआ। उसकी विचारधारा पलटी। वह भी त्याग-मार्ग स्वीकार करने पर तत्पर हो गया। वज्रबाहु और उदयसुन्दर ने प्रव्रज्या धारण की। उनका अनुकरण नवपरणिता सुन्दरी मनोरमा और बरात में आये हुए अन्य पच्चीस राजकुमारों ने किया। जब ये समाचार अयोध्या पहुँचे तो वज्रबाहु के पिता विजय नरेश भी विरक्त हो गए। उन्होंने अपने छोटे पुत्र पुरन्दर को राज्याधिकार दे कर, निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण कर ली। पुरन्दर भी कालान्तर में विरक्त हो गया और अपने पुत्र कीर्तिधर को शासन सौंप कर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

रानी ने पति-तपस्वी संत को निकलवाया

कालान्तर में कीर्तिधर नरेश भी संसार से उदासीन हो कर चारित्र-धर्म को स्वीकार करने में तत्पर हुए, किंतु राज्य के मन्त्री ने रोकते हुए कहा--"आपके कोई पुत्र नहीं है।

जबतक पुत्र नहीं हो जाय, तबतक आपको गृहवास में ही रहना चाहिए। राज्य को अनाथ छोड़ने से अनर्थ होने की सम्भावना है।" मन्त्री की वात मान कर राजा रुक गया। कालान्तर में सहदेवी रानी के गर्भ से 'सुकोशल' पुत्र का जन्म हुआ। सहदेवी ने सोचा--'यदि पुत्र-जन्म की वात पति को मालूम हो जायगी, तो वे साधु वन जावेंगे।' यह सोच कर उसने पुत्र-जन्म की वात गुप्त रखी। पुत्र को गुप्त रख कर मृत-वालक जन्मने की वात प्रकट की। किन्तु राजा को किसी प्रकार सत्य-भेद मालूम हो गया। उसने वालक का राज्याभिषेक कर के प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। उग्र तप करते हुए और अनेक परीषहों को सहन करते हुए राजर्षि कीर्तिधर गुरु आज्ञा से एकाकी विहार करने लगे। विहार करते हुए वे अयोध्या नगरी में पारणा लेने के लिये आये और नगरी में भ्रमण करने लगे। मध्यान्ह का समय था। राजमाता सहदेवी झरोखे में बैठ कर नगर-चर्या देख रही थी। उसकी दृष्टि तपस्वी सन्त पर पड़ी। वह चौंकी। उसने अपने पति को पहिचान लिया। उसने सोचा--"पति मुझे छोड़ कर साधु हो गए। यदि पुत्र, पिता से मिलेगा, तो वह भी साधु हो जायगा। फिर मैं पुत्र-विहीन हो जाऊँगा और राज्य, राजा से रहित--निर्नायिक हो जायगा। इसलिए इसका यही उपाय है कि तपस्वी सन्त को इस नगर में से निकाल कर वाहर कर दिया जाय, जिससे पुत्र, पिता से मिल ही नहीं सके"--इस प्रकार विचार कर के रानी ने, अन्य वेशधारियों को प्रेरित कर के तपस्वी सन्त को नगर से वाहर निकलवा दिया। इस भवन, राज्य एवं नगर के भूतपूर्व स्वामी एवं वर्तमान महातपस्वी सन्त को नगर से वाहर निकलवाने के राजमाता के निष्ठुर प्रपञ्च को, सुकोशल नरेश की धाय-माता सहन नहीं कर सकी और जोर-जोर से रोने लगी। भवितव्यता वश उस समय नरेश उधर ही आ निकले। उन्होंने धायमाता से रोने का कारण पूछा और माता का प्रपञ्च जान कर खेदित हुए। वे उसी समय नगर के वाहर आये और महात्मा को वन्दन कर के क्षमा याचना की, तथा संसार से विरक्त हो कर प्रव्रजित होने की तय्यारी करने लगे। उस समय उसकी रानी चित्रमाला गर्भवती थी। वह मन्त्रियों के साथ आ कर कहने लगी,--"आप को निर्नायिक राज्य छोड़ कर दीक्षित होना उचित नहीं है।" राजा ने कहा--"तुम्हारे गर्भ में पुत्र है, वह राज्याधिपति होगा। उसका तुम और मन्त्री-गण सहायक वनना।" इस प्रकार सभा के समक्ष उद्घोषणा कर के सुकोशल नरेश महाव्रतधारी साधु हो गए।

सिंहनी बनी पत्नी ने तपस्वी का भक्षण किया

पुत्र-वियोग से सहदेवी को गम्भीर आघात लगा और वह अशुभ ध्यान में मर कर किसी पर्वत की गुफा में वाघिन (सिंहनी) के रूप में उत्पन्न हुई।

मुनिवर कीर्तिधरजी और सुकोशलजी, चारित्र-तप की उत्तम आराधना करते हुए विचर रहे थे। वे दमितेन्द्रिय थे और शरीर के प्रति भी उदासीन रहते थे। उन्होंने एक पर्वत की गुफा में चातुर्मास-काल, स्वाध्याय, ध्यान और तप की साधना करते हुए व्यतीत किया। कार्तिक चौमासी के वाद वे पारणे के लिए वस्ती में जाने के लिए निकले। मार्ग में वह वाघिन मिली। तपस्वियों पर दृष्टि पड़ते ही व्याघ्री के हृदय में पूर्व-भव का द्वेष जाग्रत हो गया। वह क्रुद्ध हो कर तपस्वी संतों पर झपटी। तपस्वियों ने भयंकर--देहघातक उपसर्ग उपस्थित देखा, तो वहीं स्थिर हो कर अंतिम साधना में तत्पर हो गए। व्याघ्री छलांग मार कर सुकोशल मुनि पर पड़ी और उन्हें नीचे गिरा कर अपने नाखून से उनका देह चीरने लगी और रुधिर पान करने लगी। उनका मांस नोंच-नोंच कर और हड्डियें तोड़-तोड़ कर खाने लगी। उपसर्ग की तीव्रता के साथ ही मुनिवर के ध्यान में भी तीव्रता आ गई। उपसर्ग के प्रारम्भ में युवक तपस्वी ने सोचा--"यह व्याघ्री मेरे कर्म-मल को नष्ट कर के आत्मा को पवित्र करने में सहायक वन रही है।" वे ध्यान में अधिक दृढ़ हो गए और धर्म-ध्यान की सीमा को पार कर, शुक्ल-ध्यान में प्रविष्ट हो गए। मोह-महाशत्रु को पराजित कर नष्ट करने की घड़ी आ पहुँची। वे क्षपक-श्रेणी चढ़ कर घाती-कर्मों को नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वन गए और अयोगी वन कर सिद्ध हो गए। उसी प्रकार कीर्तिधर मुनि भी सिद्ध हो गए।

मस्तक पर श्वेत बाल देख कर विरक्ति

सुकोशल नरेश की रानी चित्रमाला के पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' रखा गया, क्योंकि वह गर्भ में ही राजा हो गया था। यौवनावस्था में मृगावती नाम की एक राजकुमारी के साथ लग्न हुए। मृगावती से पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'नघुष' रखा। कालान्तर में हिरण्यगर्भ दर्पण देख रहा था कि उसे अपने मस्तक पर श्वेत वाल दिखाई दिया। उस वाल को 'मृत्यु का दूत' समझ कर वह संसार से विरक्त हो गया और युवराज नघुप को राज्यभार सौंप कर, विमलचन्द्र मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गया।

नघुष नरेश के 'सिंहिका' नाम की रानी थी भा-सम्पन्न था और अपने प्रभाव से
उत्तरापथ के राजाओं पर विजय पाने के लिए प्रयाण किया राजा हुए। इससे लोगों में परचक्र
पथ के राजाओं ने मिल कर अयोध्या पर हमला कर दिया औ भ्रम रूप ही रही। दशरथ
से घेर लिया। रानी सिंहिका ने रणचण्डी बन कर शत्रुओं से युद्ध कल्पवृक्ष की उपमा देते।
राज्य से खदेड़ कर राज्य को बचा लिया। करने लगे। योग्य

नघुष नरेश ने उत्तरापथ के राजाओं पर विजय प्राप्त की और रानी अमृतप्रभा
पर जब उन्होंने दक्षिणापथ के राजाओं की चढ़ाई और रानी की विजय के स इसके बाद
तो उनके मन में रानी के चरित्र पर सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा—"से और
शूरवीर योद्धा के लिए भी दुष्कर होता है, वह एक अबला स्त्री कैसे कर सकती नरेश
अवश्य ही रानी दुराचारिणी है।" इस प्रकार सन्देह युक्त हो कर, रानी का त्याग कर
दिया। कालान्तर में नरेश को दाहज्वर हो गया और सैकड़ों प्रकार के उपचार करने पर भी रोग शांत नहीं हुआ। दिनोदिन रोग बढ़ता ही गया। सर्वत्र निराशा व्याप्त हो गई। उस समय रानी, राजा के पास आई और हाथ में जल-पात्र ले कर बोली—"स्वामिन्! यदि मेरा चरित्र एवं मन निर्मल एवं निष्कलंक रहा हो, तो इस जल के सिंचन से आपका रोग शमन हो जायगा।" इस प्रकार कह कर उसने जल से पति के देह पर अभिषेक किया। जल के शरीर पर से वहने के साथ ही राजा का रोग भी शांत हो गया। जैसे जल के साथ ही धुल कर बह गया हो। देवों ने पुष्पवृष्टि की। राजा को रानी के सतीत्व का विश्वास हो गया। उसने रानी को सम्मानपूर्वक अपनाया। कालान्तर में नघुष नरेश के सिंहिका रानी से एक पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र का नाम 'सोदास' रखा। वय प्राप्त होने पर राजा ने सोदासकुमार को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

मनुष्य-भक्षी सोदास

सोदास राजा मांसभक्षी हो गया। अठाई-महोत्सव के महापर्व पर मन्त्रियों ने, पूर्व परम्परानुसार अमारी घोषणा की। राजा को भी आठ दिन तक निरामिषभोजी रहने का निवेदन किया। उस मांसलोलुप राजा ने मन्त्रियों के सामने तो स्वीकार किया, किन्तु उससे रहा नहीं गया। उसने रसोइये से गुप्तरूप से मांस लाने का कहा। जब रसोइये को कहीं मांस नहीं मिला, तो वह तत्काल के मरे हुए बालक का शव (जो तत्काल ही

गया और काटकूट कर राजा के लिए बना दिया।
पुत्र-वियोग से सहदेवी को ग...दिष्ट लगा। उसने रसोइये से पूछा--"इतना स्वादिष्ट
किसी पर्वत की गुफा में बाघिन ...य ने कहा--"छोटे बालक का।" राजा ने कहा--"यह
मुनिवर कीर्तिधरजी... सदैव मेरे लिए मनुष्य का मांस ही बनाना।" रसोइया, राजा
विचर रहे थे। वे दमिते...ण करने लगा और मार कर राजा को खिलाने लगा। राजा
पर्वत की गुफा में च...पा नहीं रह सका। मन्त्रियों ने उस अधम राजा को पदभ्रष्ट कर के
किया। कार्तिक...र उसके पुत्र सिंहरथ का राज्याभिषेक कर दिया।
में वह बाघि...स-भक्षण करता हुआ सोदास वन में भटकता रहा। एक बार उसे वन में एक
जाग्रत हो... दर्शन हुए। महात्मा के उपदेश से, सोदास प्रतिबोध पा कर श्रावक हो गया। कुछ
देहघ...बाद महापुर का राजा पुत्रविहिन मर गया। भाग्योदय से सोदास वहां का राजा हो
गया। उसने दूत भेज कर अपने पुत्र से अपनी आज्ञा मानने का कहलाया। सिंहरथ ने
अस्वीकार कर दिया। फिर पिता-पुत्र में युद्ध हुआ। युद्ध में सोदास की विजय हुई। किंतु
विजयी सोदास ने पुत्र को दोनों राज्यों का राज्य दे कर, निर्ग्रन्थ-धर्म स्वीकार कर लिया।

बाल नरेश दशरथजी

सिंहरथ का पुत्र ब्रह्मरथ हुआ। उसके बाद अनुक्रम से चतुर्मुख, हेमरथ, शतरथ, उदयपृथु, वारिरथ, इन्दुरथ, आदित्यरथ, मान्धाता, वीरसेन, प्रतिमन्यु, पद्मबन्धु, रविमन्यु, वसंततिलक, कुबेरदत्त, कुंथु, शरभ, द्विरद, सिंहदशन, हिरण्यकशिपु, पुञ्जस्थल, काकुस्थल और रघु आदि अनेक राजा हुए। इनमें से कुछ तो मोक्ष प्राप्त हुए और कुछ स्वर्गवासी हुए। उसके बाद अयोध्या में 'अनरण्य' नाम का राजा हुआ। उसकी 'पृथ्वीदेवी' नाम की रानी से 'अनंतरथ' और 'दशरथ'--ये दो पुत्र हुए। अनरण्य राजा के 'सहस्रकिरण' नाम का एक मित्र था। वह रावण के साथ युद्ध करते हुए, जन-विनाश देख कर विरक्त हो गया। उसने प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। मित्र के साथ अनरण्य नृप और उनके ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथ भी विरक्त हुए और एक मास के छोटे बालक दशरथ का राज्याभिषेक कर प्रव्रजित हो गए। राजर्षि अनरण्यजी मोक्ष प्राप्त हुए और अनन्तरथजी भूतल पर विचरने लगे।

दशरथ बाल्यावस्था में ही राजा हो चुका था। वय के साथ उसका पराक्रम भी

भविष्यवाणी को सरलतापूर्वक असत्य बना दूंगा। इसमें जनक और दशरथ को मार डालने से ही समस्या हल हो सकेगी। जब ये दोनों राजा नहीं रहेंगे, तो पुत्र और पुत्री होंगे ही नहीं और वैसा निमित्त बनेगा ही नहीं। उपादान रूपी मृत्यु को तो नहीं टाला जा सकता, किन्तु निमित्त को तो टाला या परिवर्तित किया जा सकता है। मैं यही करना चाहता हूँ।"

रावण ने विभीषण को आज्ञा दे दी। विभीषण सभा में से उठ कर चला गया। उस सभा में नारदजी भी उपस्थित थे। उन्होंने विभीषण की योजना सुनी। वे सभा में से निकल कर सीधे दशरथ नरेश के पास पहुँचे। नारदजी को आते देख कर दशरथ नरेश आसन छोड़ कर खड़े हुए, सामने गये, नमस्कार किया और सम्मानपूर्वक उनको उच्चासन पर बिठाये। कुशल समाचार पूछने के पश्चात् नरेश ने नारदजी से पदार्पण का प्रयोजन पूछा। उन्होंने कहा--

"राजन् ! मैं सीमन्धर स्वामी का निष्क्रमण उत्सव देखने के लिए पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में गया था। वहाँ से लौटते हुए लंका में रावण की सभा में गया। एक भविष्यवेत्ता ने रावण को बताया कि--'तुम्हारी मृत्यु जनक की पुत्री के निमित्त से दशरथ के पुत्र द्वारा होगी।' इस भविष्य कथन को सुन कर विभीषण तुम्हें और जनक को मारने को तत्पर हुआ है। वह शीघ्र ही सेना ले कर आएगा। तुम सावधान होओ। अब मैं जनक को सावधान करने के लिए मिथिला जाता हूँ।"

नारदजी चले गए। दशरथ ने मन्त्रियों से परामर्श किया और विभीषण से बचने के लिए गुप्त रूप से राजधानी छोड़ कर निकल गए। मन्त्रियों ने शत्रु को छलने के लिए दशरथ नरेश की लेप्यमय प्रतिमा बना कर राजभवन के अन्धेरे कक्ष में, शय्या में सुला दी और उन्हें असाध्य रोग के रोगी प्रसिद्ध कर दिया। वैद्यों को खरल ले कर औषधी तय्यार करने बैठा दिया। आसपास का वातावरण भी उदासीनता पूर्ण हो गया। नगर में राजा को भयंकर व्याधि की बात फैल गई। आसपास के गाँवों में भी वैसा प्रचार और उदासीनता व्याप्त हो गई। मन्त्रियों ने विश्वस्त दूत भेज कर जनक नरेश को भी वैसा उपाय करने का परामर्श दिया।

विभीषण सेना ले कर पहले दशरथ नरेश के राज्य में आया। राज्य में प्रवेश करते ही उसके जासुसों ने सूचना दी कि 'दशरथ भीषण दशा में रोगशय्या पर मूर्च्छित पड़ा है। राज्यभर में उदासीनता और भावी अनिष्ट की आशंका छा गई है।' विभीषण यह सुन कर प्रसन्न हुआ। उसने सोचा--'बिना युद्ध के ही कार्यसिद्धि हो जायगी।' वह सेना को नगर के बाहर छोड़ कर, कुछ योद्धाओं के साथ राजभवन में आया। मन्त्रियों ने

उसका अच्छा स्वागत किया और राजा की मूर्च्छितावस्था वतलाई। विभीषण ने मन्त्रियों से कहा--"हमें आपसे या दशरथजी से कोई द्वेष या वैर नहीं है। दशरथजी हमारे मित्र और साम्राज्य के निष्ठा सम्पन्न स्तंभ है। हम उनका अनिष्ट नहीं चाहते, किन्तु भविष्य-वेत्ता ने दशरथजी के पुत्र द्वारा साम्राज्याधिपति महाराजाधिराज दशाननजी का अनिष्ट होना वतलाया। सम्भव है भविष्य में कोई वैसा पुत्र जन्मे और विरुद्ध हो कर शत्रु वन बैठे, तो इस सम्भावना को समाप्त करने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। यह अच्छा हुआ कि दशरथजी मूर्च्छित हैं। ऐसी स्थिति में मारने से कुछ नहीं विगड़ेगा और आप लोग स्वाभाविक मृत्यु की वात प्रचारित कर सकेंगे।" विभीषण शयन-कक्ष में आया। वैद्य खरल में दवाई घोंट रहे थे। रानियाँ और परिवार की स्त्रियाँ उदास हो कर बैठी थी। मुख्य-मन्त्री का संकेत पा कर अन्तःपुर परिवार वहाँ से हट गया। विभीषण शय्या के निकट आया। उसने देखा---दशरथ के सारे शरीर पर रेशमी चादर ओढ़ाई हुई है, केवल मुँह ही खुला है। विभीषण ने दूर से ही देखा---दशरथ सोया हुआ है। उसके मन में विचार हुआ-'मूर्च्छित एवं निर्दोष व्यक्ति को क्यों मारूँ?" फिर दूसरा विचार हुआ-'भावी अनिष्ट को नष्ट करने के लिए तो आया ही हूँ।' उसने अन्य विचारों को छोड़ कर तलवार खींच ली और निकट आ कर गरदन पर एक हाथ मार ही दिया। गरदन कट कर अलग जा पड़ी। तलवार से गरदन काट कर विभीषण उलटे पाँव लौट गया। उधर रानियाँ चित्कार कर उठीं। विभीषण ने उन्हें समझाते हुए कहा---"तुम घवड़ाओ मत। दशरथजी का वचना अशक्य था। वे स्वर्ग सिधार गए। तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। अपने धर्म का पालन करती हुई तुम शांति से रहना।"

विभीषण उस दुःखद वातावरण से निकला और सैनिक-शिविर में आ कर प्रस्थान कर दिया। अव उसने मिथिला जाना भी उचित नहीं समझा। उसने सोचा---'जिसके पुत्र से भय था, वही मार डाला गया, तो अव पुत्री के पिता को मारने की आवश्यकता ही क्या है? पुत्री तो शत्रु को मोहित करने वाली मात्र है, मारने वाली नहीं। जव मारने वाले का बीज ही नष्ट हो गया, तो पुत्री के पिता को मारने की आवश्यकता ही क्या रही।' इस प्रकार विचार कर विभीषण राजधानी लौट आया और रावण से दशरथ को सरलतापूर्वक मारने की घटना सुना कर निश्चिंत हो गया। रावण को भी संतोष हो गया।

अयोध्या के मन्त्रियों ने दशरथ नरेश की मरणोत्तर क्रिया सम्पन्न कर दी। थोड़े दिनों की शोक-संतप्तता के वाद अयोध्या का वातावरण शान्त हो गया और सभी काम यथापूर्व चलने लगे।

दशरथजी का कैकेयी के साथ लग्न और वरदान

दशरथजी वेश-परिवर्त्तन कर विदेशों में भ्रमण कर रहे थे। मिथिलेश जनकजी भी उनके साथ हो लिए। दोनों नरेश मित्रवत् साथ रह कर एक स्थान से दूसरे स्थान, अपने को गुप्त रखते हुए भटकने लगे। वे फिरते हुए उत्तरापथ में आये। 'कौतुकमंगल' नगर के शुभमति राजा की पृथ्वीश्री रानी से उत्पन्न राजकुमारी कैकेयी के स्वयंवर का आयोजन हो रहा था। ये समाचार सुन कर दोनों राजा स्वयंवर मण्डप में गये। वहां अन्य कई राजा आये थे। ये दोनों राजा भी यथास्थान बैठ गए। कैकेयी सर्वालंकार से विभूषित एवं लक्ष्मी के समान सुसज्जित हो कर सभा में आई। उसके हाथ में एक भव्य पुष्पमाला झूल रही थी। धायमाता उसे विवाहेच्छुक नरेश का परिचय एवं विशेषता बताती और वह दासी के हाथ में रहे हुए दर्पण में उसका रूप देख कर आगे बढ़ती रही। चलते हुए वह दशरथ नरेश के पास आई। दशरथजी को देखते ही वह रोमांचित एवं मोहित हो गई और उसने अपने हाथ की माला उनके गले में पहिना कर वरण कर लिया। दशरथजी को वरण करते देख कर अन्य राजा कुपित हो गए। हरिवाहन आदि राजा कहने लगे--'इस कंगाल एवं असहाय जैसे एकाकी पर मोहित हो कर कैकेयी ने भयंकर भूल की। हम इस सुन्दरी को छिन लेंगे, तो यह हमारा क्या कर लेगा ? हम शस्त्र-सज्ज हो कर आवें और इससे इस अनमोल स्त्री-रत्न को छिन लें।' इस प्रकार सोच कर सभी राजा अपनी-अपनी छावनी में गये। एकमात्र शुभमति नरेश उनके साथी नहीं हुए। उन्होंने सोचा--'स्वयंवर में कन्या को अधिकार है कि वह चाहे जिसे वरण करे। उसे रोकने या उसके चुनाव में हस्तक्षेप करने का किसी को भी अधिकार नहीं है।' उन्होंने दशरथजी से कहा--"आप घबड़ावें नहीं, मैं अपनी सेना सहित आपका साथ दूंगा।" दशरथजी ने शुभमति नरेश का आभार मानते हुए कहा--

"महाभाग ! आपकी अकारण कृपा एवं न्यायप्रियता का मैं पूर्ण आभारी हूँ। यदि मुझे एक रथ, शस्त्र और कुशल सारथि मिल जाय, तो मैं अकेला ही इन से लोहा ले कर सभी को अपनी करणी का फल चखा सकता हूँ।"

दशरथजी की बात सुन कर कैकेयी बोली;--"मैं रथ को अच्छी तरह चला सकती हूँ।" दशरथजी शस्त्र-सज्ज हो कर रथ पर चढ़े। कैकेयी सारथि बनी। अन्य राजा भी उपस्थित हुए। लड़ाई प्रारंभ हुई। दशरथजी जम कर बाणवर्षा करने लगे और कैकेयी कुशलतापूर्वक, इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर रथ आगे बढ़ाती, मोड़ती, बगल दे कर बचाती और शत्रु सेनाध्यक्षों की ओर अभिमुख करती कि जिससे शत्रु, दशरथजी के

शीघ्रवेधी बाण की मार के अनुरूप होता और बाणवर्षा कर के रथ दूसरे शत्रु की ओर अभिमुख होता। कैकेयी के रथ चालन से दशरथजी का प्रहार अचूक रहता और उनका रक्षण भी हो जाता। थोड़ी देर के युद्ध में ही कई राजाओं के रथ टूट गये, कई घायल हो गये, और शेष भय के मारे पलायन कर गये। दशरथजी की विजय हुई। शत्रुओं की सेना और शस्त्रास्त्र दशरथजी के हाथ लगे। कैकेयी के साथ दशरथजी के लग्न हो गये। उन्होंने प्रसन्न हो कर कैकेयी से कहा--" देवी ! तुम्हारे कुशलतापूर्वक किये हुए सारथ्य ने ही मैं विजयी हुआ। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो इच्छा हो, माँगो। मैं तुम्हें दूंगा।" चतुर कैकेयी ने कहा--" स्वामी ! मैने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है, फिर भी आप प्रसन्न हैं. तो अभी अपने वचन को अपने पास ही--मेरी धरोहर के रूप में रखिये। जब मुझे आवश्यकता होगी, माँग लूंगी।"

शत्रुओं की सेना और शस्त्रास्त्र ले कर, कैकेयी रानी सहित दशरथजी राजगृह नगर पहुँचे और मगध नरेश को जीत कर उस राज्य पर अधिकार किया। वे वहीं रहने लगे। जनक नरेश मिथिला चले गये। दशरथजी ने अयोध्या से अपनी तीनों रानियों को राजगृह बुला लिया और सब के साथ सुखभोग करते हुए काल व्यतीत करने लगे।

राम-लक्ष्मण का जन्म

अन्यदा रानी कौशल्या को रात्रि के अंतिम प्रहर में चार महास्वप्न आये। यथा-हाथी, सिंह, चन्द्र और सूर्य। एक महर्द्धिक देव, ब्रह्म देवलोक से च्यव कर, रानी के गर्भ में आया। स्वप्न पाठकों ने स्वप्न का फल बतलाया--' कोई महा पराक्रमी जीव, महारानी के गर्भ में आया है। वह महाबली और ' बलदेव ' पद का धारक होगा।' गर्भकाल पूर्ण होने पर, पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। दशरथ नरेश ने हर्षातिरेक से याचकों को बहुत दान दिया। राज्यभर में उत्सव मनाया गया। पुत्र का नाम--' पद्म ' रखा गया, लोगों में वे ' राम ' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए।

कालान्तर में रानी सुमित्रा ने भी एक रात्रि में सात स्वप्न देखे। यथा--हाथी, सिंह, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, लक्ष्मी और समुद्र। उनके गर्भ में एक महर्द्धिक देव आ कर उत्पन्न हुआ। गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। अत्यधिक हर्ष और उत्साह के साथ जन्मोत्सव मनाया गया। पुत्र का नाम ' नारायण ' दिया गया, किंतु प्रसिद्धि में ' लक्ष्मण ' नाम रहा। अनुक्रम से बढ़ते हुए वे युवावस्था को प्राप्त हुए।

वे सभी विद्याओं एवं कलाओं में प्रवीण हुए। वे महापराक्रमी और अजेय योद्धा हो कर अपने बल एवं पौरुष से बड़े-बड़े वीरों को भी विस्मित करने लगे। दशरथ नरेश अपने युगल पुत्रों के अपार भुजबल एवं शस्त्रास्त्र प्रयोग की परम निपुणता से अपने को अजेय मानने लगे।

अयोध्या आगमन और भरत-शत्रुघ्न का जन्म

जब दशरथजी ने देखा कि उनके पुत्र राम और लक्ष्मण जोरावर हैं। शत्रु का दमन करने योग्य हैं। उनकी माता को आये स्वप्नों के फलस्वरूप वे दोनों भाई अपने समय के महापुरुष और परम विजेता होंगे, ऐसा उनका विश्वास था। अतएव उन्होंने अब अपना परम्परागत राज्य सम्भालना उचित समझा। वे अपने परिवार को ले कर अयोध्या आये।

कुछ काल के बाद रानी कैकेयी के पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'भरत' रखा और सुप्रभा के पुत्र हुआ उसका नाम 'शत्रुघ्न' रखा। भरत और शत्रुघ्न भी पराक्रमी वीर और समस्त कलाओं में पारंगत हुए।

सीता का वृत्तान्त

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में 'दारु' नामक ग्राम था। वहाँ वसुभूति नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके अनुकोशा नाम की पत्नी से एक पुत्र हुआ। पुत्र का नाम 'अतिभूति' था और 'सरसा' नाम की सुन्दरी उसकी पत्नी थी। सरसा पर एक 'क्यान' नाम का ब्राह्मण मोहित हो गया और उसका अपहरण कर अन्यत्र ले गया। पत्नी का अपहरण जान कर अतिभूति उसकी खोज करने के लिए निकल गया। वह विक्षिप्त के समान भटकने लगा। पुत्र के जाने पर वसुभूति और उसकी पत्नी भी पुत्र की खोज में चल निकले। भटकते-भटकते सद्भाग्य से उन्हें एक मुनिराज के दर्शन हुए। संत-समागम से उनका मोह कम हुआ और वह सुव्रती बन गया। उसकी पत्नी भी कमलश्रीजी साध्वी के पास प्रव्रजित हो गई। आयु पूर्ण होने पर वे मृत्यु पा कर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वसुभूति देवलोक से च्यव कर वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नगर के राजा का पुत्र हुआ और

योग्य अवसर पर वहां का 'चन्द्रगति' नाम का राजा हुआ। अनुक्रोशा भी प्रथम स्वर्ग से च्यव कर राजकुमारी हुई। पूर्व-भवों के सम्बन्ध इस भव में भी बन गए। वह चन्द्रगति राजा की रानी हो गई। उसका नाम 'पुष्पवती' था। वह सुशीला थी। उसका चरित्र उत्तम था।

वह सरसा (जिसका अपहरण हुआ था) भी सुयोग पा कर प्रव्रजित हुई और आयु पूर्ण कर ईशान देवलोक में देवी हुई। उसका विरही पति अतिभूति भी उसे खोजता भटकता हुआ मर कर भव-भ्रमण करते हुए कालान्तर में एक हंस के रूप में उत्पन्न हुआ। उसे बाल अवस्था में ही एक बाज-पक्षी ने झपट लिया और उड़ गया। हंसपुत्र भयभीत हो कर तड़पने लगा और बाज के पंजे से छूट कर भूमि पर, उस स्थान पर गिरा--जहां एक मुनि बैठे थे। मुनि ने देखा कि पक्षी मरणासन्न है। उन्होंने उसे नमस्कार महामन्त्र सुनाया। मुनि के शब्दों से आश्वस्त हो और सावधानी पूर्वक सुनते हुए आयु पूर्ण कर वह किन्नर जाति के व्यन्तर देवों में उत्पन्न हुआ। वहां का आयु पूर्ण कर वह विदग्ध नगर के प्रकाशसिंह नृप की प्रवरा रानी का 'कुलमण्डित पुत्र हुआ। उधर सरसा का हरण करने वाला वह कयान भोगासक्ति में ही मर कर, भवभ्रमण करता हुआ चक्रपुर नगर के धुम्रकेश पुरोहित का पिंगल नाम का पुत्र हुआ। वह विद्याचार्य के पास पढ़ने लगा। उसके साथ वहां की राजकुमारी 'अतिसुन्दरी' भी पढ़ती थी। दोनों के सम्पर्क से स्नेह सम्बन्ध हो गया और पुरोहित पिंगल, राजकुमारी को ले कर विदग्ध नगर में आया। विद्या, कला और योग्यता से रहित होने के कारण वह दरिद्र हो गया और तृण-काष्ठादि बेंच कर जीवन चलाने लगा। वहां के राजकुमार कुलमण्डित की दृष्टि अतिसुन्दरी पर पड़ी। अतिसुन्दरी को देखते ही वह आसक्त हो गया। सरसा के रूप में खोई हुई पत्नी उसे आज अतिसुन्दरी के रूप में दिखाई दी। अतिसुन्दरी भी राजकुमार पर आसक्त हो गई। उसका भी पूर्व-भव का स्नेह जाग्रत हो गया। कर्मोदय वश कुलमण्डित, कुलमर्यादा और राजसुख का त्याग कर, अतिसुन्दरी के साथ वन में चला गया और दूर देश में एक छोटे से गाँव में रहने लगा। पूर्वभव में परस्त्री का हरण करनेवाले की प्रिया का, उसके उस भव के पति द्वारा साहरण हुआ। पिंगल भी प्रिया के लुप्त हो जाने से भानभूल हो कर भटकने लगा। कालान्तर में उसे आचार्यश्री आर्यगुप्तजी का सुयोग मिला। उनके उपदेश से प्रभावित हो कर वह श्रमण हो गया और साधना करने लगा। किंतु उसके मन में से अतिसुन्दरी का स्नेह कम नहीं हुआ। रह-रह कर वह उसी का स्मरण और चिन्तन करता रहता।

भामण्डल का हरण

कुलमण्डित अपनी प्रिया के साथ पल्ली में रहता और अयोध्या नरेश श्री दशरथजी की सीमा में लूट मचा कर धन प्राप्त करने लगा। किंतु उसकी वह लूट अधिक दिन नहीं चल सकी। राज्य के सामन्त बालचन्द्र ने कुलमण्डित को अपने जाल में फाँस कर बन्दी बना लिया और कारागृह में डाल दिया। कुछ काल के बाद दशरथ नरेश ने उसे उच्च-कुल का जान कर, योग्य शिक्षा दे कर छोड़ दिया। कारागृह से छूटने के बाद वह अपने पिता का राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु इस बीच ही उसे मुनिचन्द्र स्वामी के दर्शन हुए। वह धर्मोपदेश सुन कर श्रावक हो गया और अपूरित राजेच्छा में ही मर कर मिथिलेश श्री जनकराजा की विदेहा रानी की कुक्षि से पुत्रपने उत्पन्न हुआ और वह सरसा मर कर एक पुरोहित की 'वेगवती' नाम की पुत्री हुई। इस भव में संयम पाल कर वह ब्रह्मदेवलोक में गई और वहां से च्यव कर विदेहारानी की कुक्षि में, उस कुलमण्डित के जीव के साथ ही गर्भ में आई। गर्भकाल पूर्ण होने पर विदेहारानी ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। जिस समय इनका जन्म हुआ, लगभग उसी समय वे पिंगल मुनि, मृत्यु पा कर प्रथम स्वर्ग में देव हुए और अपनी प्रिया का हरण करने वाले शत्रु को देखने लगे। पूर्वभव का संचित किया हुआ वैर जाग्रत हुआ। उस देव ने देखा कि–'मेरा शत्रु मिथिला की महारानी का पुत्र हुआ है। उसका क्रोध उदय में आया। उसने तत्काल के उत्पन्न बालक का अपहरण किया और विचार किया कि 'इसे किसी शिला पर पछाड़ कर मार दूँ,' किंतु इस विचार के साथ ही उसकी धर्म-चेतना जगी। उसने सोचा–'बाल-हत्या बहुत भंयकर पाप है। मुझे इस पाप से बचना चाहिए।' उसने बालक को उत्तम आभूषणों से विभूषित करके आकाश से नीचे उतारा और वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में आये हुए रथनूपुर नगर के नंदन उद्यान में रख दिया। आकाश से उतारते समय बालक की कुण्डल की कान्ति––किरण, नगर में दिखाई दी। चन्द्रगति नरेश ने उस कान्ति को उद्यान में उतरते देखा तो वे शीघ्र ही उद्यान में आये। उन्हें आभूषणों से सुसज्जित सुन्दर बालक देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे स्वयं पुत्र-विहीन थे। तत्काल बालक को उठा कर भवन में ले आये और रानी को दे कर, लोगों में प्रसिद्ध कर दिया कि 'गूढ़गर्भा महारानी के पुत्र का जन्म हुआ है।' जन्मोत्सव होने लगा। पुत्र के पृथ्वी पर आते समय प्रभा दिखाई दी, इसलिए पुत्र का नाम "भामण्डल" दिया। बालक सुखपूर्वक बढ़ने लगा।

मिथिला की महारानी विदेहा के साथ जन्मे हुए दोनों बालक उसके पास ही सोये थे, किंतु पलक मारते ही पुत्र लोप हुआ जान कर रानी घबड़ाई। वह रुदन करने लगी। पुत्र के अपहरण का समाचार सुन कर जनक नरेश भी स्तंभित रह गए। चारों ओर खोज

की गई, परंतु पुत्र का कहीं पता नहीं लगा। विवश हो नरेश ने पुत्री से ही संतोष किया और उसमें अनेक प्रकार के सुलक्षण तथा अनेक सद्‌गुणों के अंकुरित होने का पात्र समझ कर "सीता" नाम दिया। बालिका, रूप लावण्य युक्त बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह चन्द्रमा की प्रभा के समान कला से परिपूर्ण हुई। यौवनवय प्राप्त होने पर उसके रूप एवं सौन्दर्य में अपूर्व उभार आया। वह लक्ष्मीदेवी जैसी दिखाई देने लगी। जनक नरेश उसके योग्य वर की चिन्ता करने लगे। उन्होंने कई राजकुमारों को देखा, उन पर विचार किया, किंतु किसी एक पर भी उनकी दृष्टि नहीं जमी।

जनकजी की सहायतार्थ राम-लक्ष्मण का जाना

उस समय जनक की भूमि पर आ कर कई म्लेच्छ उपद्रव करने लगे। जनकजी ने उन म्लेच्छों का दमन करने का प्रयत्न किया, किंतु सफलता नहीं मिली। म्लेच्छों के राक्षसी उपद्रव कम नहीं हुए। अन्त में जनक नरेश ने दशरथजी से सहायता पाने के लिए दूत भेजा। दूत ने दशरथजी को नमस्कार किया और अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए कहा,--

"महाराज! मेरे स्वामी ने निवेदन किया है कि मेरे लिये आप ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं और सुख-दुःख में सहायक हैं। जब मुझ पर संकट आता है, तो मैं आप का कुलदेव की तरह स्मरण करता हूँ। मेरे राज्य की सीमा से लगता हुआ अर्ध बर्बर देश है। उसके लोग म्लेच्छ हैं। उनका आचरण अनार्य एवं अशिष्ट है। मयूरशाल नगर में आतरंग नामक अत्यंत क्रूर प्रकृति वाला म्लेच्छ राजा है। उसके हजारों पुत्र शुक, मंकन और कंबोज आदि देशों पर अधिपत्य जमा कर राज कर रहे हैं। उनकी सेना शक्तिशाली है। अब वे मेरे राज्य पर आक्रमण कर रहे हैं और प्रजा तथा सम्पत्ति का विनाश कर रहे हैं। इसलिए निवेदन है कि मेरी सहायता कर के राज्य और प्रजा की रक्षा करने की कृपा करें।' यह सन्देश ले कर मुझे आपकी सेवा में भेजा है। आप ही का हमें विश्वास है।"

दूत की बात सुन कर दशरथ नरेश ने युद्ध की तय्यारी प्रारंभ कर दी। श्रेष्ठजन, सज्जनों की रक्षा करने में सदैव तत्पर रहते हैं। युद्ध की तय्यारी देख कर राजकुमार रामचन्द्र, पिता के पास आये और नम्रतापूर्वक निवेदन किया;--

"पिता श्री! मैं अपने अनुज बन्धु के साथ युद्ध में जाऊँगा। आप हमें आज्ञा

दीजिए और विश्वास करिये कि हम शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लेंगे । आप युद्ध में पधारें और हम यहाँ रह कर आलसी बने बैठे रहें, यह अच्छी वात नहीं । आप निश्चित हो कर आज्ञा प्रदान करें ।"

बड़ी कठिनाई से दशरथजी ने पुत्रों को युद्ध में भेजना स्वीकार किया । राम और लक्ष्मण, एक विशाल सेना ले कर मिथिला गये । म्लेच्छ योद्धाओं ने इस नयी सेना और इसके वीर सेनापतियों को देख कर आक्रमण वढ़ा दिया और अस्त्र-वर्षा कर राम की सेना को आच्छादित कर दिया । इस आक्रमण से म्लेच्छ आक्रामकों को अपनी विजय का आभास हुआ और जनकजी को भी अपनी पराजय दिखाई देने लगी । प्रजा में भी निराशा फैल गई । तत्काल रामचन्द्रजी ने धनुष सँभाला, पणच पर टंकार किया और वाण-वर्षा कर वहुत-से म्लेच्छों का छेदन कर डाला । अचानक हुई इस सफल वाण-वर्षा से म्लेच्छ नरेश और उनके सेनापति चकित रह गए । उन्होंने अग्रभाग पर आ कर जोरदार अस्त्र प्रहार प्रारंभ किया, किंतु दुरापाति, दृढ़घाति और शीघ्रवेधी राघव ने अपने प्रवल प्रहार से थोड़े ही समय में शत्रुओं को परास्त कर दिया । शत्रु-सेना भाग गई ।

राम-लक्ष्मण के इस प्रभावशाली पराक्रम और विजय से जनक नरेश और समस्त प्रजा अत्यंत प्रसन्न हुई । पराजय को एकदम विजय में परिवर्तित करने वाले वीर रामचन्द्र के प्रति सव की श्रद्धा वढ़ी । जनक नरेश ने सोचा--"मुझे तो विजय भी मिली और पुत्री के लिए योग्य वर भी प्राप्त हुआ--एकपंथ दो कार्य जैसा हुआ ।"

विजयोत्सव मनाया जाने लगा । राम-लक्ष्मण का अभूत पूर्व भव्य स्वागत किया जाने लगा । जनक नरेश अपनी विजय, राज्य की स्थिरता और पुत्री के योग्य वर के मिलने से अत्यंत प्रसन्न थे । बढ़चढ़ कर उत्सव मनाया जाने लगा ।

नारद की करतूत ❀ जनक का अपहरण

जनक नरेश की पुत्री सीता, सौंदर्य का भण्डार थी । युवावस्था में उसका रूप-लावण्य एवं आभा, पूर्ण विकसित हो गई थी । उसके सौंदर्य की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल चुकी थी । नारदजी ने भी सीता की अपूर्व सुन्दरता की वात सुनी । वे पर्यटक, विनोदप्रिय, वखेड़ा खड़ा कर तमाशा देखने वाले, राज्यों को परस्पर लड़ा कर प्रसन्न होने वाले, वाग में आग और आग में वाग लगाने वाले, संधि में विग्रह और विग्रह में संधि कराने वाले थे ।

सीता के सौंदर्य की प्रशंसा सुन कर, वे उसे देखने को चल दिये और मिथिला जा पहुँचे। अन्तःपुर में वे सीता की खोज करने लगे। लंगोटीधारी, दण्ड और छत्र लिये हुए, कृशकाय नारदजी को अपनी ओर आता हुआ। देख कर सीता डरी और माता को सम्बोधन करती हुई गर्भागार में चली गई। सीता का तीव्र स्वर सुनते ही अनेक दासियाँ दौड़ी आई। द्वारपाल भी आ गए। उन्होंने विद्रूप नारद को पकड़ा और धक्का देते हुए अन्तःपुर के वाहर कर दिया।

नारदजी की सभी राज्यों में प्रतिष्ठा थी, आदर-सत्कार था। वे ब्रह्मचारी और विश्वस्त थे। अन्तःपुर में जाने की उन्हें स्वतन्त्रता थी। वे इच्छित स्थान पर विना किसी रोक के जा सकते थे। मिथिला में वे बहुत दिनों के बाद आये थे और अन्तःपुर में उनका यह आगमन, सीता और दास-दासियों के लिए प्रथम ही था। इसलिए उनका वहां तिरस्कार हुआ। नारदजी क्रुद्ध हो गए। उनका क्रोध, विना विग्रह खड़ा किये, शान्त नहीं होता था। वे नगर से चल कर वैताढ्य गिरि पर आये। उन्होंने सीता का चित्र एक वस्त्र पर बनाया और प्रवल पराक्रमी राजकुमार भामण्डल के पास आ कर उसे दिखाया। नारद को विश्वास था कि भामण्डल इस पर मोहित हो कर सीता का अपहरण करेगा। इससे मेरे अपमान का बदला चुक जायगा।

पटचित्र देखते ही भामण्डल मोहमत्त हो गया। वह पटसुन्दरी उसके मन में ऐसी बसी कि खानपान तक छूट गया और एक योगी के समान उसी के ध्यान में लीन हो गया। अचानक पुत्र की ऐसी दशा हो जाने की बात सुन कर चन्द्रगति राजा उसके पास आया और कारण पूछने लगा। भामण्डल तो नीचा मुँह किये बैठा रहा, किंतु उसके मित्रों ने कहा--यहां अभी नारदजी आये थे। उन्होंने भामण्डल को एक सुन्दरी का पट-चित्र दिया। उस चित्र को देखते ही राजकुमार की यह दशा हुई है।" राजा ने नारदजी से एकान्त में पूछा। उन्होंने कहा--"वह चित्र मिथिलेश जनक की राजकुमारी सीता का है। वह मनुष्य रूप में देवांगना है--देवांगना से भी बढ़ कर। मेरे चित्र में उसका पूरा सौंदर्य नहीं आ सका, न मैं अपनी वाणी से उसके सौंदर्य का पूरा वर्णन ही कर सकता। वह अलौकिक सौंदर्य एवं उत्तमोत्तम गुणों की स्वामिनी है। मैंने उसे भामण्डल के योग्य समझ कर उसे उसका पट-चित्र दिया है।"

नारदजी की बात सुन कर राजा ने भामण्डल को विश्वास दिलाते हुए कहा--"पुत्र! यह सीता तेरी पत्नी होगी, चिन्ता मत कर मैं यह प्रयत्न करता हूँ। चन्द्रगति ने अपने विश्वस्त विद्याधर चपलगति को जनक नरेश का अपहरण कर के लाने की आज्ञा

दी। चपलगति आकाश मार्ग से रात्रि को मिथिला पहुँचा और जनक का अपहरण कर के रथनूपुर में ले आया। चन्द्रगति राजा ने जनकजी का सत्कार कर अपने पास बिठाया और कहा--

"मित्र ! क्षमा कीजिए। मैंने अपने स्वार्थवश आपको कष्ट दिया। मैं आपकी प्रिय पुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूँ। कृपया यह सम्बन्ध स्वीकार कीजिए।"

जनकजी अपने अपहरण का कारण समझ गए। किन्तु वे इस माँग को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने विवशता बताते हुए कहा--

"महाशय ! मैं विवश हूँ। मैंने सीता का वाग्दान कर दिया है। दशरथ नरेश के सुपुत्र रामचन्द्र के साथ उसका लग्न करना निश्चित्त हो चुका है। अब मैं इससे मुकर कैसे सकता हूँ ?"

चन्द्रगति उपरोक्त उत्तर सुन कर निराश हुआ। वह समझता था कि वाग्दान होने के बाद अकारण ही मुकरना प्रतिष्ठित जनों के लिए सम्भव नहीं है। फिर क्या किया जाय ? विचार करते उसे एक उपाय सूझा। उसने कहा;--

"महानुभाव ! मैंने जिस प्रकार आपका अपहरण किया, उसी प्रकार राजदुलारी का अपहरण कर के उसके साथ अपने पुत्र का लग्न करने में भी समर्थ हूँ। किंतु मैं तो अपन-दोनों में मधुर सम्बन्ध जोड़ कर स्नेह सर्जन करना चाहता हूँ। इसलिए मैं आपसे याचना कर रहा हूँ। मैं आपकी विवशता समझता हूँ। यदि आप स्वीकार करें, तो एक उपाय है। इससे आपकी गुत्थी सुलझ सकती है।"

"बताइए, क्या उपाय है"--जनकजी ने पूछा।

"मेरे पास दुःसह तेजयुक्त 'वज्रावर्त' और 'अरुणावर्त' नाम के दो धनुष हैं। ये यक्ष-सेवित हैं। मैं इन धनुषों की, देव के समान पूजा करता हूँ। ये इतने दृढ़, भारी, तेजस्वी और प्रभाव युक्त हैं कि सामान्य योद्धा तो इन्हें देख कर ही सहम जाता है। विशेष बलवान् योद्धा इन्हें उठाने का प्रयत्न करता है, तो वह असफल होता है। इन्हें उठाने की शक्ति तो वासुदेव-बलदेव जैसे महान् वीर पुरुष में ही होती है। आप दोनों धनुष ले जाइए और इस शर्त के साथ उद्घोषणा कीजिए कि--

"जो महाबाहु वीर, इनमें से किसी एक धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा देगा, उसके साथ सीता का लग्न होगा।"

"यदि रामचन्द्र धनुष चढ़ा देगा, तो हम अपनी पराजय मान लेंगे और राम के

साथ सीता के लग्न हो जावेंगे। अन्यथा भामण्डल यह वाजी जीत कर सफल मनोरथ हो जायगा।"

जनकजी को विवश हो कर उपरोक्त वात स्वीकार करनी पड़ी। उन्हें धनुष के साथ मिथिला पहुँचा दिया गया और चन्द्रगति नरेश स्वयं पुत्र और परिवार सहित मिथिला पहुँचे तथा नगर के बाहर डेरा डाला।

जनक नरेश ने इस घटना का वर्णन महारानी विदेहा से किया, तो वह वहुत निराश हुई और रुदन करती हुई बोली;--

"मेरा भाग्य अत्यंत विपरीत है। इसने पहले तो मेरे पुत्र को जन्म लेते ही छिन लिया और अब इस प्रसन्नता के समय पुत्री को भी लूटना चाहता है। संसार में माता-पिता की इच्छानुसार पुत्री के लिए वर होता है, किंतु मैं इस अधिकार से वञ्चित हो कर दूसरों की इच्छा को मानने के लिए वाध्य की जा रही हूँ। यदि राम, धनुष नहीं चढ़ा सकेंगे और कोई दूसरा चढ़ा लेगा, तो अवश्य ही मेरी पुत्री को अनिष्ट वर की प्राप्ति होगी। हा, दैव! अव मैं क्या करूँ।"

विदेहा के रुदन और निराशाजन्य उद्‌गार से द्रवित हो जनकजी ने कहा--

"प्रिये! निराश क्यों होती हो? तुमने रामचन्द्र के वल को नहीं देखा। मैं तो अपनी आँखों से देख चुका हूँ और उसीका परिणाम वर्त्तमान स्थिति है। अन्यथा आज अपनी और इस राज्य की क्या दशा होती? दुर्दान्त शत्रु-समूह को नष्ट-भ्रष्ट करने की शक्ति, सौधर्म-ईशान इन्द्रद्वय के समान इन दो वन्धुओं में ही है। तुम निराश मत वनो और उत्साह पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करो।"

स्वयंवर का आयोजन

महारानी को समझा कर जनकजी, प्रातःकार्य से निवृत्त हुए और चारों ओर दूत भेज कर राजाओं और राजकुमारों को सीता के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए वुलाया। एक भव्य स्वयंवर मण्डप वनाया गया। आगत राजाओं और राजकुमारों के बैठने के लिए आसन लगाये गए। एक स्थान पर दोनों धनुष रख दिये गए। उनकी अर्चना की गई। राज-कुमारी सीता, लक्ष्मीदेवी के समान सर्वालङ्कारों से सुसज्जित हो कर, अपनी सखियों के साथ मण्डप में उपस्थित हुई और धनुष की अर्चना करके एक ओर खड़ी रही। सीता का सक्षात्

निरीक्षण कर के भामण्डल अत्यंत आसक्त हुआ। सीता, राम को चाहती हुई भूमि पर दृष्टि जमाए हुई थी। इतने में जनक नरेश के मन्त्री ने सभा को संबोधित करते हुए, कहा;--

"स्वयम्वर मण्डप के प्रत्याशी नरेशों और राजकुमारों! यह आयोजन जनक-राजदुलारी के लिए वर का चुनाव करने के लिए किया गया है। परन्तु यह स्वयंवर विशेष प्रकार का है। साधारण स्वयंवर में राजकुमारी की इच्छा प्रधान रहती है। वह अपनी इच्छानुसार वर चुन सकती है। किंतु इस आयोजन में वैसा नहीं है। इसमें किसी व्यक्ति की इच्छा को अवकाश नहीं, परन्तु योग्यता को स्थान मिला है। मेरे स्वामी, जनक महाराज ने एक विशेष दाँव (शर्त) रखा है--इस चुनाव में। ये जो दो धनुष रखे हैं, इनमें से किसी भी एक धनुष को उठा कर प्रत्यंचा चढ़ाने वाला ही राजकुमारी के योग्य माना जायगा। अब आप अपने सामर्थ्य का विचार कर उचित समझें वैसा करें।"

मन्त्री की उद्‌घोषणा सुन कर प्रत्याशी विचार में पड़ गए। उन्हें इस मंडप में दो ही वस्तुओं ने आकर्षित किया था--धनुषद्वय और राजकुमारी ने। अब उनकी दृष्टि राजकुमारी को छोड़ कर धनुष पर ही जम गई। वे धनुष मामूली बाँस या लकड़ी के नहीं थे। वे वज्रमय, अत्यंत दृढ़ और बहुत भारी थे। रत्न के समान ज्योतिर्मय थे। वे देव-रक्षित थे। उन पर साँप लिपटे थे। उन्हें देख कर ही कई नरेश निराश हो गए। उन्हें यह कार्य अपनी शक्ति के बाहर लगा। वे चुप ही रह गए। कुछ साहस करके उठे, धनुष को निकट से देखा, अपनी शक्ति तोली और लौट आये। कुछ ने हाथ लम्बा कर उठाने का प्रयत्न किया, किंतु उसे डिगा भी नहीं सके। उन्हें भी नीचा मुँह करके लौटना पड़ा। दशरथ-नन्दन राम-लक्ष्मण बैठे हुए यह खेल देख रहे थे। कई प्रख्यात योद्धा और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त किये हुए बलवान् नरेशों को निष्फल देख कर तो शेष प्रत्याशी उठे ही नहीं। भामण्डल का क्रम तो अंतिम था। निष्फल नरेशों और कुमारों को देख कर उसकी प्रसन्नता बढ़ रही थी। उसके मन में दृढ़ विश्वास था कि--राम-लक्ष्मण उठेंगे ही नहीं, यदि उठे भी तो इनकी दशा भी ऐसी ही होगी और बाद में मैं अपना कौशल दिखा कर सीता भी प्राप्त कर लूंगा और महावीर पद की प्रतिष्ठा भी। वह अपने लिए पूर्णरूप से विश्वस्त था। उपस्थित दर्शकों में निराशा छा गई। दर्शकों में से यह विचार व्यक्त होने लगा कि--

"राजकुमारी को निराश लौटना पड़ेगा, अथवा जनक नरेश को अपना दाँव हटा लेना पड़ेगा।" बहुत विलंब होने पर भी जब कोई नहीं उठा, तो दर्शकों में भी वीरत्व के विरुद्ध स्वर निकलने लगे और चन्द्रगति ने तो वीरों को लक्ष्य कर व्यंग-बाण छोड़ते हुए

कहा—"क्या पृथ्वी, वीर-विहीन हो गई ? इस सभा में ऐसा कोई भी योद्धा नहीं, जो इस दाँव को जीते ? युद्ध में वीरत्व दिखा कर, कायर लोगों को अस्त्रबल और सैन्यबल से मार कर जीतने वाले वे वीर अब नीचा मुँह कर के क्यों बैठे हैं ? यहाँ अपना वीरत्व क्यों नहीं दिखाते ?"

चन्द्रगति का यह वाक्प्रहार सीधा राम-लक्ष्मण पर ही था। लक्ष्मणजी इस व्यंग को सहन नहीं कर सके। वे तत्काल उठे और बोले;—

"महानुभाव ! आप बड़े हैं। आपको हम बच्चों पर वाक्-प्रहार नहीं करना चाहिए। हम अवश्य ही आपकी बात का आदर कर के इस कलंक को धो देंगे।"

इतना कह कर उन्होंने ज्येष्ठ-बन्धु से निवेदन किया;—"कृपया अब आप कष्ट कर के इस कलुष को धो दीजिए।"

यह सुनते ही रामचन्द्रजी उठे और धनुष के निकट आये। रामचन्द्रजी को साहस करते हुए देख कर चन्द्रगति आदि नरेशों ने उनका उपहास किया और निष्फल और अपमानित लौटने के क्षण की प्रतिक्षा करने लगे। जनकजी का हृदय धड़कने लगा। उनके मन में शंका उत्पन्न हुई—'कहीं रामचन्द्र भी निष्फल रहे, तो क्या होगा ?'

रामचन्द्रजी के कर-स्पर्श से ही उस पर लिपटे हुए साँप पृथक् हो गए। उन्होंने वज्रावर्त धनुष को सहज में ही उठा लिया और उस वज्रमय धनुष को, नरम बाँस को नमाने के समान झुका कर प्रत्यंचा चढ़ा दी, तथा कान तक खिंच कर ऐसी ध्वनि निकाली कि जो विजयघोष के समान गूँज उठी। तत्काल ही सीता ने आगे बढ़ कर राम के गले में वरमाला पहिना दी। चन्द्रगति और भामण्डल इस दृश्य को देख कर निराश हो गए। यह उनकी आशा एवं इच्छा के विपरीत हुआ। राम के सफल होने के बाद, उनकी आज्ञा पा कर लक्ष्मण भी उठे। उन्होंने अरुणावर्त धनुष को सहज ही में चढ़ा दिया और उसकी टंकार से ऐसी भयंकर ध्वनि निकाली कि लोगों के कानों को सहन नहीं हो सकी। उपस्थित विद्याधरों और राजाओं ने अपनी अठारह कुमारिकाएँ लक्ष्मण को दी। चन्द्रगति, भामण्डल और अन्य निराश प्रत्याशी, उदासीपूर्वक नीचा मुँह किये हुए अपने स्थान पर चले गए।

जनक नरेश का सन्देश पा कर दशरथ नरेश मिथिला पहुँचे और राम के साथ सीता का लग्न बड़ी धूमधाम और उत्साहपूर्वक हुआ। जनकजी के भाई कनकजी ने अपनी पुत्री सुभद्रा को लक्ष्मणजी के साथ ब्याही। लग्नोत्सव पूर्ण होने पर दशरथ नरेश, पुत्रों और पुत्रवधुओं सहित अयोध्या आये और अयोध्या में विवाहोत्सव मनाया जाने लगा।

दशरथ नरेश की विरक्ति

दशरथ नरेश के पास इक्षु-रस के घड़े * भेंट में प्राप्त हुए। उन्होंने वे घड़े अंतःपुर में प्रत्येक रानी के पास भेजे। महारानी के पास रस-कुंभ लाने वाला, अन्तःपुर-सेवक वृद्ध एवं जर्जर शरीर वाला था और धीरे-धीरे चल रहा था। अन्य रानियों की चपलदासियें शीघ्रतापूर्वक रस-कुंभ ले गईं। जब महारानी कौशल्या देवी ने देखा कि--'और सभी रानियों को स्वामी की ओर से रसकुंभ मिले, परंतु मैं वंचित रह गई' तो उन्हें अपना अपमान लगा। वह सोचने लगी--"स्वामी मुझ पर रुष्ट हैं, इसलिए मुझे रस-दान से वंचित रखा। सभी सौतों के सामने मुझे अपमानित किया। अब मेरा जीवित रहना ही व्यर्थ है। अपमानित हो कर जीवित रहने से तो मरना ही अच्छा है"। इस प्रकार विचार कर आतमघात के लिए फाँसी लगा कर मरने का प्रयत्न करने लगी। वह ऐसा कर ही रही थी कि नरेश वहाँ आ पहुँचे। वे महारानी की दशा देख कर चकित रह गए। उन्होंने उन्हें आश्वस्त किया, धैर्य्य दे कर अप्रसन्नता का कारण पूछा। जब रस-कुंभ से वंचित रहने के कारण अपमानित अनुभव करने की बात खुली, तो दशरथजी ने कहा--"वाह, यह कैसी बात है! मैंने सब से पहले तुम्हारे लिए ही भेजा था--कंचुकी के साथ। कहाँ रह गया वह आलसी? ठहरो, मैं उसकी खबर लेता हूँ--अभी"

वे उठने ही वाले थे कि उन्हें घड़ा उठाये हुए कंचुकी आता दिखाई दिया। वह वृद्ध, गलित-गात्र, शिथिल-अंग, धूंधली आँखें, पोपला मुँह, हाँफते-रुकते आ रहा था। राजा ने उससे पूछा--"अरे, इतनी देर क्यों कर दी तेने?" वह हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाता हुआ बोला--"स्वामिन्! विलम्ब का दोष मेरा नहीं, इस बुढ़ापे का है। यह बुढ़ापा बैरी, सेवा में बाधक बन रहा है। मैं विवश हूँ महाराज! यह दुष्ट किसी को नहीं छोड़ता चाहे राव हो या रंक। लम्बी आयु में बुढ़ापा बैरी बन ही जाता है--पालक!"

राजा विचार में पड़ गए--"क्या वृद्धावस्था अनिवार्य है? मैं भी ऐसा बूढ़ा हो जाउँगा? मेरी भी ऐसी दशा हो जायगी? और एक दिन यह काया ढल जायगी?" उनका चिन्तन चलता रहा। मन में विरक्ति बस गई। उन्होंने सोचा--"अब शेष जीवन को सुधार कर मुक्ति का मार्ग ग्रहण कर लेना ही उत्तम है।" वे उदासीनता पूर्वक रहने लगे।

---

* कविवर श्री सूर्यमुनिजी म. की रामायण के अनुसार। श्री हेमचन्द्राचार्य ने यहाँ 'चैत्योत्सव का स्नात्र-जल' बतलाया है।

भामण्डल का भ्रम मिटा

उस समय निर्ग्रंथ मुनिराज श्री सत्यभूतिजी, नगर के बाहर पधारे। वे चार ज्ञान के धारक थे। दशरथ नरेश पुत्रादि परिवार सहित मुनिवंदन करने आये और धर्मदेशना सुनने लगे।

सीता का राम के साथ विवाह होने से भामण्डल को गंभीर आघात लगा था। वह उदासीन ही रहा करता था। उसका मन कहीं नहीं लग रहा था। पुत्र की यह दशा देख कर चन्द्रगुप्त नरेश चिंतित थे। वे पुत्र और अन्य विद्याधर नरेशों के साथ अपने स्थान पर आने के लिए विमान द्वारा चले। पुत्र की उदासी मिटाने के लिए वे निकट के दर्शनीय प्राकृतिक स्थानों को देखते हुए आ रहे थे। जब वे अयोध्या के उपवन पर हो कर जाने लगे, उन्हें मनुष्यों की विशाल सभा और मुनिराज धर्मोपदेश देते हुए दिखाई दिये। उन्होंने विमान नीचे उतारा और मुनिराज की वन्दना करके देशना सुनने बैठ गए। देशना पूर्ण होने पर, भामण्डल की जिज्ञासा पूर्ण करते हुए महात्मा ने चन्द्रगति, पुष्पवती, भामण्डल और सीता के पूर्वभवों का वृत्तांत सुनाया और यह भी कहा कि सीता और भामण्डल तो इस भव के भी सगे और एक साथ जन्मे हुए भाई-बहिन हैं। भामण्डल का जन्म होते ही अपहरण हो गया था,' इत्यादि समस्त वृत्तांत सुनाया, जिसके सुनते ही भामण्डल मूर्च्छित हो कर गिर पड़ा। कुछ देर में सावचेत होने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने तत्काल सीता और रामचन्द्र को प्रणाम किया। सीता के भी हर्ष का पार नहीं रहा। उसका खोया हुआ भाई मिल गया। भामण्डल कहने लगा—"अच्छा हुआ कि मैं अज्ञान से महापाप में पड़ते हुए बच गया।" मुझे लज्जा आ रही है, अपने पापपूर्ण विचार और कृत्य पर। मैं इस पाप को धोना चाहता हूँ।" चन्द्रगति नरेश ने विद्याधरों को भेज कर मिथिला से जनक नरेश और विदेहा रानी को बुलाया। माता-पिता को अपना खोया हुआ पुत्र, एक योद्धा राजकुमार के रूप में मिला। विदेहा का पुत्र-स्नेह उमड़ा। उसके स्तनों में दूध आ गया। सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छा गया। भामण्डल ने भी अपने वास्तविक माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया। चन्द्रगति नरेश ने राज्यभार भामण्डल को दे कर आचार्य श्री सत्यभूतिजी के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और शेष सभी अपने-अपने स्थान पर गये।

दशरथजी का पूर्वभव

दशरथ नरेश ने महर्षि सत्यभूतिजी से अपना पूर्वभव पूछा। मुनिराज श्री ने कहा;—

"सोनपुर नाम के नगर में 'भावन' नामक व्यापारी रहता था। उसकी 'दीपिका' नाम की पत्नी से कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम 'उपास्तिका' था। वह साधु-साध्वियों से शत्रुता रखती थी। वहाँ से मर कर वह चिरकाल तक तिर्यञ्च आदि के दुःख सहन करती हुई परिभ्रमण करती रही। फिर वह बंगपुर के धन्य नाम के व्यापारी की सुन्दरी नामक पत्नी के गर्भ से पुत्रपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'वरुण' था। वह प्रकृति से ही उदार एवं दानशील था और साधु-साध्वियों को भक्तिपूर्वक दान दिया करता था। आयु पूर्ण कर के वह धातकीखण्ड के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलिक हुआ। फिर देव हुआ। उसके बाद पुष्कलावती विजय की पुष्कला नगरी के नन्दिघोष राजा का नन्दिवर्द्धन नामका पुत्र हुआ। पिता ने पुत्र को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और चारित्र पाल कर ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ और पुत्र अर्थात् तू श्रावक व्रत का पालन कर ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वैताढ्यगिरि की उत्तरश्रेणी के शिशिपुर नगर के विद्याधरपति रत्नमाली की विद्युल्लता रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। तेरा नाम 'सूर्यजय' था। तू महापराक्रमी था। तेरा पिता रत्नमाली, वज्रनयन नाम के विद्याधर पर विजय प्राप्त करने के लिए सिंहपुर गया। वहाँ उसने उपवन सहित नगर को जला कर भस्म करने का घोरातिघोर दुष्कर्म करना प्रारंभ किया। तेरे पिता का पूर्वभव का पुरोहित, सहस्रार देवलोक में देव हुआ था। उसने जब देखा कि रत्नमाली भयंकर पाप कर रहा है, तो वह तत्काल उसके पास आया और समझाते हुए कहा--

"रत्नमाली ! ऐसा भयंकर कृत्य मत कर। तू अन्य जीवों की और अपनी आत्मा की भी दया कर। तू पूर्वजन्म में भूरिनन्दन राजा था। तेने मांसभक्षण का त्याग किया था, किंतु बाद में उपमन्यु पुरोहित के कहने से तेने प्रतिज्ञा तोड़ दी। कालान्तर में पुरोहित को अन्य पुरुष ने मार डाला। वह हाथीपने जन्मा। उस हाथी को भूरिनन्दन राजा ने पकड़ लिया। वह हाथी, युद्ध में मारा गया और उसी राजा की गान्धारी रानी के पेट से 'अरिसूदन' नामक पुत्र हुआ। वहाँ जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त होने पर उसने प्रव्रज्या ली। वहाँ से काल कर वह सहस्रार देवलोक में देव हुआ। वह देव मैं ही हूँ। भूरिनन्दन राजा मर कर वन में अजगर हुआ। वहाँ दावानल में जल कर दूसरी नरक का नैरयिक हुआ। पूर्व के स्नेह से मैंने नरक में जा कर उसे प्रतिबोध दिया। वहाँ से निकल कर वह रत्नमाली राजा हुआ। अब तू इस महापाप से विरत हो जा। अन्यथा करोड़ों जीवों को भस्म कर के तू अपने लिये दुःख का महासमुद्र बना लेगा और करोड़ो भवों में भोगने पर भी नहीं छूटेगा।"

अपना पूर्वभव सुन कर रत्नमाली संभला और युद्ध का त्याग कर तेरे पुत्र सूर्यनन्दन को राज्य दे कर, श्री तिलकसुन्दर आचार्य के पास, तुम दोनों पिता-पुत्र ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संयम का पालन कर दोनों मुनि, आयु पूर्ण कर महाशुक्र देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर सूर्यजय का जीव तू दशरथ हुआ और रत्नमाली का जीव जनक हुआ। पुरोहित उपमन्यु भी सहस्रार से च्यव कर, जनक का छोटा भाई कनक हुआ। नन्दिवर्द्धन के भव में जो तेरा पिता नन्दिघोष था, वह ग्रैवेयक से च्यव कर मैं सत्यभूति हुआ हूँ।"

कैकयी का वर माँगना

अपना पूर्वभव सुन कर दशरथजी को संसार की विचित्रता से वैराग्य हो गया। वे निवृत्त होने का मनोरथ करते हुए स्वस्थान आये और राम का राज्याभिषेक कर के निर्ग्रंथ बनने की अपनी भावना रानियों और मन्त्रियों आदि के सामने व्यक्त की। यह सुन कर भरत ने कहा--"देव ! मैं भी आपके साथ ही प्रव्रजित होना चाहता हूँ। आप मुझे अपने साथ ही रखें।"

भरत की बात कैकयी पर बिजली गिरने के समान आघात-जनक हुई। वह शीघ्र ही सँभली और सोचने लगी--"यदि पति और पुत्र दोनों चले गये, तो मैं तो निराधार हो जाउँगी। फिर आर्यपुत्र के दिये हुए वे वचन मेरे किस काम आएँगे।" उसने अपना कर्त्तव्य स्थिर करके पति से निवेदन किया;--

"स्वामी ! आपने मुझे जो वचन दिये थे, वे यदि आपकी स्मृति में हों, तो अब पूरे कर दीजिए।"

--"हां, हां, मुझे याद है। अच्छा हुआ तुमने याद कर के माँग लिया, अन्यथा तुम्हारा ऋण मेरे सिर पर रह जाता। बोलो, क्या माँगती हो ? मेरे संयम में बाधक बनने के अतिरिक्त तुम मुझ-से जो चाहो, सो माँग सकती हो। यदि वह वस्तु मेरे पास होगी, तो अवश्य ही दे दूँगा।"

"प्रभो ! यदि आपका गृहत्याग कर साधु होना निश्चित ही है, तो राज्याभिषेक भरत का हो। आपका उत्तराधिकारी वही बने और मेरा राजमाता बनने का मनोरथ पूरा हो।"

कैकयी की मांग सुन कर दशरथजी को आघात लगा। वे विचार में पड़ गए।

रामचन्द्र का अधिकार वे भरत को कैसे दें ? राम, राज्य करने के सर्वथा योग्य है और उत्तम शासक हो सकता है । यदि मैं उसे अधिकार से वंचित रख कर भरत क। दे दूं, तो यह अन्याय होगा। मन्त्री और प्रजा क्या कहेगा ? महारानी और राम क्या सोचेंगे ? उनके हृदय पर कितना आघात लगेगा ? दशरथजी चिन्ता-सागर में डूब गए । पति को विचारमग्न देख कर कैकयी उठ कर अपने आवास में चली गई । इतने में रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी आ गए । उन्होंने पिता को प्रणाम किया । पिता को चिन्तामग्न देख कर रामचन्द्रजी बोले--

"देव ! मैं देखता हूँ कि आप कुछ चिन्तत हैं । क्या कारण है पूज्य ! मेरे रहते आप के श्रीमुख पर चिन्ता का क्या काम ? शीघ्र बताइए प्रभो !"

"मैं क्या कहूँ राम ! इस विरक्ति के समय मेरे सामने एक कठिन समस्या खड़ी हो गई । युद्ध में सहायता करने के कारण मैंने तुम्हारी विमाता रानी कैकयी को कुछ माँगने का वचन दिया था । उस समय उसने कुछ नहीं माँगा और अपना वचन धरोहर के रूप में मेरे पास रहने दिया । अब वह माँग रही है । उसकी माँग ही मेरी चिन्ता का कारण बन गई ।" दशरथजी ने उदास हो कर कहा ।

"इसमें चिन्ता की कौनसी बात है पूज्य ! माता की माँग पूरी कर के ऋण-मुक्त होना तो आवश्यक ही है । क्या माँग है उनकी, जो आपके सामने समस्या बन गई है ? कृपया शीघ्र बताइए"--रामचन्द्रजी ने आतुरता से पूछा ।

"वत्स ! उसकी माँग, मैं किस मुंह से तुम्हें सुनाऊँ ? मेरी जिव्हा सुनाने के लिए खुल नहीं रही । मैं कैसे कहूँ ?--दशरथजी निःश्वास छोड़ कर दूसरी ओर देखने लगे ।

"देव ! इस प्रकार मौन रह कर तो आप मुझे भी चिन्ता में डाल रहे हैं । आज मैं देख रहा हूँ कि आपश्री को मेरे प्रति विश्वास नहीं । इसलिए आप मुझे अपने मन का दुःख नहीं बताते । यह मेरे लिए दुर्भाग्यपूर्ण है ।"

"नहीं, वत्स ! तुम अपना मन छोटा मत करो । मैं तुम्हारे प्रति पूर्ण विश्वस्त हूँ और तुम जैसे आदर्श पुत्र को पा कर मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ । तुम सभी पुत्र योग्य हो । मेरी चिन्ता तुम्हें बताना ही पड़ेगी । लो, अब मैं वज्र का हृदय बना कर तुम्हें अपनी चिन्ता सुनाता हूँ;--

"पुत्र ! कैकयी की माँग है कि राज्याभिषेक तुम्हारा नहीं, भरत का हो । अब मैं इस माँग को पूरी कैसे करूँ ? यह अन्यायपूर्ण माँग ही मुझे खाये जा रही है, वत्स !

"पूज्य ! इस जरासी बात में चिन्ता करने जैसा तो कुछ है ही नहीं । मेरे लिए

तो यह परम प्रसन्नता की बात है। माता ने यह माँग रख कर तो मुझे बचा लिया है। राज्य के झंझटों में पड़ने से बचा कर मेरा उपकार ही किया है। मैं परम प्रसन्न हूँ---देव! आप चिन्ता छोड़ कर प्रसन्न हो जाइए। मैं स्वयं अपने भाई के राज्याभिषेक को अति शीघ्र देखना चाहता हूँ। मैं अभी महामन्त्री को भरत के राज्याभिषेक की तैयारी करने का आपका आदेश पहुँचाता हूँ।"

भरत का विरोध

"आप क्या कह रहे हैं;---ज्येष्ठ? आपके बोलने में कुछ अन्यथा हुआ है, या मेरे सुनने में"---कहते हुए भरत ने प्रवेश किया।

"नहीं बन्धु! सत्य ही कह रहा हूँ। तुम्हारा राज्याभिषेक का आयोजन होगा। तुम अवधेश बनोगे"---रामचन्द्रजी ने भाई को छाती से लगाते हुए कहा।

---"नहीं, नहीं, यह अनर्थ कदापि नहीं हो सकता। मैं तो पिताश्री के साथ इस गृह, गृहवास और संसार का त्याग कर रहा हूँ और आप मेरे गले में राज्य की फाँसी लगा रहे हैं। जिनका अधिकार हो, वे राज्य करें। अपना फन्दा दूसरों के गले में क्यों डाल रहे हैं---आप? क्या आप मेरे, प्रजा के, राज्य के और कुल-परम्परा के साथ न्याय कर रहे हैं?"

"पूज्य! ये ज्येष्ठ कैसी बातें कर रहे हैं? ऐसी ठठोली तो आज तक मुझ से नहीं की---इन्होंने। आज क्या हो गया है इन्हें"---पिता की ओर अभिमुख होते हुए भरतजी ने पूछा।

---"राम सत्य कह रहे हैं, वत्स! तुम्हारा राज्याभिषेक होने से ही मैं ऋण-मुक्त हो सकता हूँ। तुम्हें मुझे उबारना ही होगा"---दशरथजी ने उदासी पूर्ण स्वर में कहा।

"यह तो महान् अनर्थ है, घोर अन्याय है। मैं इस अन्याय के भार को वहन करने योग्य नहीं हूँ। मुझे आत्म-साधना करनी है। मैं काम-भोग रूपी कीचड़ से निकल कर त्याग-तप की सुरम्य वाटिका में रमण करना चाहता हूँ। मैं नहीं बँधूंगा इस पाश में, नहीं बँधूंगा, नहीं! नहीं!! नहीं!!!"---कहते हुए भरत, रामचन्द्रजी के चरणों में गिर गए।

राम ने दशरथजी से कहा--"पूज्य ! मेरे यहाँ रहते, भरत राज्यासीन नहीं होगा इससे न तो आपका वचन पूरा होगा और न माता की इच्छा पूरी होगी। आप पर ऋण बना रहेगा। अतएव में वन में जाता हूँ। आशीर्वाद दीजिए और अपने मन को प्रसन्न रखिये।"

महारानी कौशल्या पर वज्राघात

राम की बात सुन कर दशरथजी अवाक् रह गए। उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। राम को वन में जाने की आज्ञा वे कैसे दें ? किस प्रकार पुत्र-विरह सहन करे ? उनका हृदय बैठा जा रहा था। रामचन्द्र, पिता की चरणरज, धनुष और बाणों से भरा हुआ तूणीर ले कर चल दिए। राम के चलते ही दशरथजी मूच्छित हो कर गिर पड़े। भरत छाती-फाड़ रुदन करने लगे। रोते-रोते भरत ने दशरथजी को सँभाला और पलंग पर लिटाया। राम वहाँ से निकल कर अपनी माता कौशल्या के पास गए। उनके चरणों में प्रणाम किया और बोले--

"मातेश्वरी ! पिताश्री ने माता कैकयी को युद्धकाल में वरदान दिया था। यह पिताश्री पर ऋण था। अब ऋण उतारने का समय आ गया है। मेरा सौभाग्य है कि उस ऋण से मुक्त होने का निमित्त मैं हुआ हूँ। छोटी माता, भाई भरत का राज्याभिषेक कराना चाहती है। भरत अस्वीकार करता है। वह मेरे रहते राज्यासीन होना स्वीकार नहीं करता। इसलिए मैं वन में जा रहा हूँ। माता ! प्रसन्न हो कर आज्ञा प्रदान करो और भरत को अपना ही पुत्र समझो। आपकी भरत पर पूरी कृपा रहे और मेरे वन-गमन से किंचित् भी चिंतित या कायर भाव नहीं लावें। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैं आज अपने विशिष्ठ कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ। आशीष दो माँ !"

वज्र से भी अधिक आघात-कारक, राम के वचन सुन कर महारानी कौशल्या मुर्च्छित हो गई। दासियों ने चन्दन-जल का सिंचन कर के उनकी मूर्च्छा दूर की। साव-धान होते ही रुदन करती हुई महारानी कहने लगी--

"अरे, तुमने मुझे सावधान क्यों किया ? मैं मूर्च्छा में ही क्यों न मर गई ? जीवित रह कर जलते रहने में कौन-सा सुख है ? पति संसार त्याग रहे हैं और पुत्र गृह त्याग रहा है। फिर में जीवित रह कर क्या करूँगी ? मेरा हृदय किस आधार से शान्त

रहेगा ? नहीं, मेरे लिए मृत्यु ही सुखकर है। बस मुझे मर जाने दो, कोई मत रोको। ऐसा करो कि ये प्राण शीघ्र ही इस शरीर से निकल जायँ"--महारानी के हृदय में विरह-वेदना समा नहीं रही थी।

"माता ! आप वीरांगना हैं और वीरमाता हैं। आपकी सहन-शक्ति तो अजोड़ एवं आदर्श होनी चाहिए। सामान्य महिला की भाँति अधीर एवं कातर होना और रुदन करना आपको शोभा नहीं देता। आप तो सिंहनी के समान हैं। सिंह-शावक बड़ा हो कर स्वतन्त्र--अकेला ही--वन-विहार करता है। सिंहनी को उसकी कोई चिन्ता नहीं होती। आप स्वस्थ हो जाइए और पिताश्री की ऋण-मुक्ति में एक पल का भी विलम्ब मत कीजिए। इस प्रकार माता को धैर्य्य बँधा कर और प्रणाम कर, वे कैकयी के पास पहुँचे। उन्हें प्रणाम किया और वन में जाने की आज्ञा मांगी।

कैकयी ने कहा--"राम ! तुम आदर्श पुत्र हो। प्रसन्नता से जाओ। तुम्हारे लिए सभी स्थान आनन्ददायक और मंगलमय होंगे। संसार के पुत्रों और बन्धुओं के सामने तुम्हारा आदर्श लाखों वर्षों तक रहेगा। तुम महान् हो। मैं क्षुद्र नारी हूँ। अपने स्वार्थ को मैं नहीं रोक सकी। मेरे विषय में अपने मन में दुर्भाव मत लाना।"

इसके बाद राम, अन्य विमाताओं के पास पहुँचे और प्रणाम कर चल निकले।

सीता भी वनवास जा रही है

राम के वनगमन की बात युवराज्ञी सीता ने सुनी, तो वह भी तैयार हो गई। उसने दूर से ही दशरथजी को प्रणाम किया और कौशल्या के पास पहुँची। कौशल्या ने सीता को छाती से लगाते हुए कहा--

"बेटी ! पुत्र तो मुझे छोड़ कर जा रहा है, अब तू कहाँ चली ? ऋण का भार तो राम के वन जाने से ही उतर जायगा। तेरे जाने की क्या आवश्यकता है ? तू कोमल है, सुकुमार है। राम ने तो युद्ध किये हैं, वन में भी घुमा है और वह वीर है, नरसिंह है। तू वन-गमन के योग्य नहीं। तू किस प्रकार चल सकेगी ? भूख-प्यास के कष्ट सहन कर सकेगी ? तुझ से शीत, ताप और वर्षा के असह्य दुःख कैसे सहन हो सकेंगे ? तेरे यहां रहने से मुझे कुछ धीरज रहेगी, किन्तु पति का अनुगमन कर के तू एक आदर्श पत्नी का कर्त्तव्य पालन कर रही है। मैं तुझे कैसे रोकूं। न हां करते बनता है, न ना कह सकती

हूँ। किंतु तेरे चले जाने से मेरा सहारा ही क्या रहेगा ? पुत्री ! मेरा हृदय कितना कठोर है ? यह फट क्यों नहीं जाता ? हा, मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ !

"मातेश्वरी ! आप प्रसन्न हृदय से मुझे विदा कीजिए। आपका शुभाशिष मेरा रक्षक होगा। जहाँ आर्यपुत्र हैं, वहाँ विकट वन भी मेरे लिये नन्दन-कानन सम सुख-दायक होगा। मैं कष्टों को भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकूँगी। उनके विना यहाँ के सुख मेरे मन को शान्ति नहीं दे सकेंगे। अनुज्ञा दीजिए माता ?"—सीता ने याचक नेत्रों से सीख माँगी।

महारानी ने गदगद् कंठ से कहा—"जाओ पुत्री ! पति का अनुगमन करो। कुलदेवी तुम्हारी रक्षा करेगी। शासन-देव तुम्हारे सहायक होंगे। तुम्हारा धर्म तुम्हारी सभी वाधाएँ दूर करेगा। वनवास की अवधि पूर्ण कर सकुसल आओ। ये आँखे तुम्हारे मार्ग में बिछी रहेगी।"

युवराज्ञी सीताजी, रामचन्द्रजी के पीछे-पीछे चल कर राज-भवन के वाहर निकली। राम और सीता के वन-गमन की वात नगर में फैल चुकी थी। हजारों नर-नारी वाहर जमा हो गए थे। जनता इस अप्रिय प्रसंग से क्षुब्ध थी। राम का वनगमन उन्हें अपने प्रिय-वियोग-सा खटक रहा था। सभी की आँखों से आँसू झर रहे थे। लोग गदगद् कठं से राम का जय-जयकार कर रहे थे। महिलाएँ सीता की जय वोलती हुई उसकी पति-भक्ति त्याग और उत्तम शील की प्रशंसा कर रही थी। राम और सीताजी नगर-जनों के विरही हृदय से निकली हुई भक्तिपूर्वक शुभकामनाओं को नम्र-भाव से स्वीकार करते हुए नगर के वाहर निकले।

लक्ष्मणजी भी निकले

ज्येष्ठ-भ्राता रामचन्द्रजी के वनवास का दुःखद वृत्तांत लक्ष्मणजी ने विलम्ब से सुना। सुनते ही उनके हृदय में क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो गई। उन्होंने सोचा—"पिताजी की सरलता का विमाता कैकयी ने अनुचित लाभ लिया। स्त्रियाँ मायाचार में प्रवीण होती है। भाई भरत को राज्य दे कर पिताश्री तो ऋण-मुक्त हो जाएँगे। उसके वाद मैं भरत को राज्य-च्युत कर के ज्येष्ठ वन्धु को प्रतिष्ठित कर दूंगा, तो पुनः स्थिति यथावत् हो जायगी।" किंतु जव उन्होंने पिताजी के हृदय की दशा और रामचन्द्रजी के अस्वीकार की आशंका पर

विचार किया, तो उन्हें अपनी पूर्व-विचारणा निष्फल लगी। वे भ्रातृ-वियोग सहन नहीं कर सके और उन्ही का अनुगमन करने का निश्चय करके धनुष तथा बाणों से भरा हुआ तूणीर ले कर चल दिये। वे पिता की आज्ञा लेने आये। लक्ष्मण को भी राम का अनुगमन करता देख कर दशरथजी के आहत हृदय पर फिर आघात लगा। उनकी वाणी अवरुद्ध रही। लक्ष्मण का तमतमाया मुंह देख कर वे उसका हृदय जान गए। उन्होंने हाथ ऊँचा कर दिया। भरत तो जानते ही थे कि लक्ष्मण भी जाने वाले हैं। उन्हें वियोग में भी यह आश्वासन तो मिलता था कि लक्ष्मणजी के साथ रहने से रामचन्द्रजी और सीताजी का वनवास का समय निरापद रहेगा और उनके कष्टों में कमी होगी।

लक्ष्मणजी, माता सुमित्रा के पास आए, प्रणाम किया और अपना अभिप्राय व्यक्त किया। सुमित्रादेवी पुत्र का अभिप्राय जान कर आहत हरिनी की भाँति निच्छ्वास छोड़ने लगी--

"वत्स! तेरा निर्णय तो उचित है। राम और सीता के साथ तुम्हारा जाना आवश्यक भी है। किंतु मेरा हृदय अशांति का घर बन जायगा। मैं भी ज्येष्ठा कौशल्या के समान तड़पती रहूँगी। अच्छा, जाओ पुत्र! तुम्हारा प्रवास निर्विघ्न मंगलमय और शीघ्र ही पुनर्मिलन वाला हो।"

माता को प्रणाम कर लक्ष्मणजी महारानी कौशल्याजी के पास पहुँचे। उनसे भी आज्ञा माँगी। रो-रो कर थकी हुई राज-महिषी फिर रोने लगी। वे लक्ष्मणजी से भी प्रेम और वात्सल्य भाव रखती थी। अन्त में शुभाशिष के साथ आज्ञा प्राप्त कर शीघ्र ही भवन से निकल गए और वन में पहुँच कर राम और सीताजी के साथ हो लिए।

नागरिक भी साथ चले

लक्ष्मणजी को भी वन में जाते हुए देख कर नागरिकजन अधीर हो गए और उनके पीछे-पीछे जाने लगे। इधर दशरथजी ने सोचा--

"मेरे दोनों प्रिय एवं राज्य के लिए आधारभूत पुत्र वनवासी हो गए, तो मैं यहाँ रह कर क्या करूँगा? विरहजन्य शोकाग्नि में जलते-तड़पते रहने से तो पुत्रों के साथ वन में जाना ही उत्तम है। वैसे मैं इन सब को छोड़ कर प्रव्रजित होना चाहता ही था। वे राज्यप्रासाद से निकल गए और उनके पीछे अन्तःपुर परिवार भी निकल गया। राजा,

अंतःपुर और अयोध्या के नागरिक--सभी, राम, लक्ष्मण और सीता के पीछे-पीछे अयोध्या छोड़ कर निकल गए। अयोध्या नगरी जन-शून्य हो गई। राम, लक्ष्मण और सीता प्रसन्नता पूर्वक बन में चले जा रहे थे। उन्होंने पीछे से कोलाहल पूर्ण सम्बोधन सुना, तो ठिठक गए। उन्होंने पिता, माता आदि परिवार और नगरजनों को बड़ी कठिनाई से समझा कर लौटाया और आगे बढ़े। सभी लोग रानी कैकयी की निन्दा करते नगर में लौट आये। वनवासी-त्रय को मार्ग में आये हुए गाँवों के निवासियों ने अपने यहाँ रह जाने का अत्यंत आग्रह किया, किंतु वे नहीं माने और आगे बढ़ते रहे।

भरत द्वारा कैकयी की भर्त्सना

श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के वनवास के बाद भरतजी को राज्यासीन करने की विचारणा होने लगी। किंतु भरतजी ने स्वीकार नहीं किया और सर्वथा निषेध कर दिया। वे भ्रातृ-वियोग से खेदित एवं चिन्तित रहते हुए अपनी माता कैकयी पर आक्रोश करने लगे। उन्होंने माता से कहा--

"माँ! आपको यह कुबुद्धि क्यों सुझी? आपने कैसे मान लिया कि मैं ज्येष्ठ-भ्राता की उपेक्षा एवं अवहेलना कर के राजा हो जाऊँगा? अरे, कम-से-कम मुझे तो पूछा होता? हां, आपने सारे संसार के सामने अपने को हीन बना लिया। आपकी इस कुत्सित् माँग ने पूज्य पिताश्री, माताओं, भ्रातागण, समस्त परिवार और राज्य को दुःख के गर्त में डाल दिया। मेरी शान्ति छिन ली। सदा प्रसन्न एवं प्रफुल्ल रहने वाला यह महालय, गंभीर, उदास, शोक, रुदन एवं निश्वासों से भरपूर हो गया। आपकी एक भूल ने सभी को अशान्त बना दिया। हा, दैव! मेरी माता से ऐसा अनर्थ क्यों हुआ?"

कैकयी का चिन्तन

पुत्र की बातें कैकयी के हृदय में शूल के समान लगी। रामचन्द्रादि के प्रस्थान के समय उसका हृदय भी कोमल हो गया था और जन-निन्दा के समाचारों ने उसे अपने दुष्कृत्य का भान करा ही दिया था, फिर भी वह अपने मन को आश्वस्त कर रही थी। उसने सोचा था -'यह परिवर्तन, विषमता तो उत्पन्न करेगा ही। थोड़े दिनों तक उदासी चिन्ता

एवं विषाद रहेगा, फिर भरत के राज्याभिषेक से पुनः परिवर्त्तन होगा और भरत और मैं अपने कौशल से पुनः अनुकूल परिस्थिति का निर्माण कर लेंगे। उसके मन में यह शंका ही नहीं उठी कि भरत ही मेरी सारी आशा-आकांक्षाओं को नष्ट कर देगा। जब उसका पुत्र भरत ही उसकी निन्दा करने लगा तो वह हताश हो गई और अपने आपको महा-पापिनी मानने लगी। उसे लगा कि--"मैं किसी को अपना मुख दिखाने योग्य भी नहीं रही। अब मेरा जीवित रहना उचित नहीं है। अपमानित जीवन से मरण उत्तम है।" फिर विचारों में परिवर्त्तन हुआ-- मैं मर कर भी अपने कलंक को नहीं धो सकती, किंतु अपनी माँग को समाप्त कर राम को लौटा सकती हूँ। राम आदि के वनवास का कारण मेरी माँग ही है। जब मैं अपनी माँग ही निरस्त करदूँगी, तो राम के लौट आने में कोई बाधा ही नही रहेगी। इस प्रकार मैं अपनी बिगड़ी हुई स्थिति सुधार लूँगी।"

राम को लौटाने का प्रयास

कैकयी अपने भवन-कक्ष में इस प्रकार विचार कर रही थी। उधर दशरथ नरेश ने विचार किया कि--"मैंने अपने वचन का निर्वाह कर लिया। मैं भरत को राज्य देने को तत्पर हूँ। किंतु जब भरत ही राज्याधिकार नहीं चाहता, तो अब राज्यासन को रिक्त एवं निर्नायक तो नहीं रखा जा सकता। मुझे आत्म-साधना में लगना है। इसलिए वन-वासी राम को बुला कर राज्याभिषेक करना ही आवश्यक और एक मात्र मार्ग रह गया। उन्होंने मन्त्रियों और सामन्तों को बुलाया और उन्हें राम-लक्ष्मण को लौटा लाने के लिए भेजा। उनके साथ सन्देश भेजा--"भरत, राज्यभार स्वीकार नहीं करता और मैं अपना अंतिम जीवन सुधारने के लिए निवृत्त होना चाहता हूँ। राज्यधुरा को धारण करने वाला यहाँ कोई नहीं है और कैकयी की माँग भी पूर्ण हो चुकी है, इसलिए शीघ्र लौट आओ।"

मन्त्रियों और सामन्तों का दल चल निकला। उन्होंने राम के पास पहुँच कर महाराज का सन्देश सुनाया। किंतु राम ने लौटना स्वीकार नहीं किया। उन्हें लगा कि इस प्रकार लौटने से अपने वचन का निर्वाह नहीं होकर भंग होता है। मन्त्रियों और सामन्तों का समझाना व्यर्थ रहा। राम आगे बढ़ने लगे। मन्त्रिगण आदि भी उनके पीछे-पीछे जाने लगे। आगे चलते भयंकर अटवी आई, जिसमें व्याघ्र-सिंहादि हिंसक पशु रहते थे। मार्ग में एक गंभीरा नामक नदी थी। वह बहुत गंभीर, विशाल और प्रबल वेग वाली थी।

उसमें आवर्त्त (चक्कर) पड़ रहे थे। नदी के किनारे रुक कर राम ने उन मन्त्रियों को समझाया और दृढ़ता पूर्वक कहा--

"मैंने आपके और पिताश्री के अनुरोध पर गंभीरता पूर्वक विचार किया। मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि मुझे अपने निर्णय पर अटल रहना चाहिए। अब मैं तत्काल लौटना प्रतिज्ञा-भंग के समान मानता हूँ। आप लौट जाइए।"

--"स्वामिन् ! आपने जिस उद्देश्य से प्रतिज्ञा ली थी, वह पूर्ण हो चुकी है। महाराज का वचन भी पूर्ण हो गया। अब वचन का पालन शेष रहा ही नहीं। भरतजी जब राज्य ग्रहण करना नहीं चाहते, तब आप राज्य को किस के भरोसे छोड़ रहे हैं ? अब कौनसी बाधा है-- आप के लौटने में ?"

--"मैंने प्रतिज्ञा करते समय यह नहीं सोचा था कि--'यदि भरत नहीं मानेगा, तो मैं लौट आऊँगा।' अतएव अब लौटना प्रतिज्ञा-भंग के समान मानता हूँ।"

मन्त्रियों और सामन्तों का प्रयत्न व्यर्थ हुआ। वे सर्वथा निराश हो कर अवाक् खड़े रहे। रामचन्द्रजी ने उन्हें बिदा करते हुए कहा--

"पिताश्री से हम सब का प्रणाम एवं कुशल-क्षेम कहना। भाई भरत से कहना-- 'तुम राज्य का भार वहन करके प्रसन्नता एवं तत्परता से संचालन करो। आप सभी का कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार राज्य कार्य करते रहे, उसी प्रकार भरत नरेश को अपना स्वामी समझ कर करो और राज्य की उत्तम नीति-रीति और व्यवस्था से सुख-शांति एवं समृद्धि में वृद्धि करते रहो।"

रामचन्द्रजी की अंतिम आज्ञा सुन कर सारा शिष्टमंडल गद्गद हो गया। सभी की छाती भर गई। आँखों से आँसू झरने लगे। वे अनिच्छापूर्वक लौटने को विवश हुए। मन्त्रियों और सामन्तों के मुँह से सहसा ये शब्द निकल गए-- "हमारा दुर्भाग्य है कि हमें श्रीरामचन्द्रजी को मनाने और सेवा करने का सौभाग्य नहीं मिला।"

कैकयी और भरत, राम को मनाने जाते हैं

रामादि उस करुण परिस्थिति से आगे बढ़े और उस दुस्तर नदी को पार कर किनारे पर पहुँचे। शिष्टमंडल, अश्रु-पूरित नयनों से देखता रहा और उनके दृष्टि से ओझल हो जाने पर लौट चला। अयोध्या पहुँच कर उन्होंने अपनी विफलता की कहानी नरेश को सुनाई।

हृदय में आशा लिए और बनवासी पुत्रों और पुत्रवधू के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए नरेश को निराशा का धक्का लगा। वे कुछ समय मौन रहे, फिर शक्ति संचय कर भरतजी से बोले,—

"वत्स ! अब तुम राज्य-सत्ता ग्रहण करो और मेरे निष्क्रमण का प्रबन्ध करो।"

"नहीं, पूज्य ! मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि मैं अयोध्या का राज्य ग्रहण नहीं करूँगा। मैं सेवक रहूँगा, स्वामी नहीं। अब मैं स्वयं ज्येष्ठगण के समीप जा कर उन्हें लाउँगा........

"मैं भी जाउँगी स्वामिन् ! यह विपत्ति मैंने ही उत्पन्न की है। इसका निवारण मैं ही कर सकती हूँ"— कहते हुए कैकयी ने प्रवेश किया। उसने आगे कहा—"आपश्री ने तो अपने वचन के अनुसार भरत को राज्य दिया। किंतु भरत भी परम विनयी, नीतिवान् और निर्लोभी सिद्ध हुआ। मेरी दुर्मति ने भरत की भव्यता का विचार ही नहीं किया और सहसा अपनी तुच्छ माँग उपस्थित कर दी। मैं महा पापिनी हूँ—नाथ! मेरी अधमता ने मेरी बहिनों को शोक-सागर में डाल दिया। सारे महालय को विषाद में ढ़क दिया। सारे राज्य को उदास कर दिया। मैं अपनी लगाई हुई आग में ही झुलस रही हूँ देव ! मुझे आज्ञा दीजिए। मैं भरत को साथ ले कर जाऊँगी और उन पुण्यात्माओं को मना कर लाऊँगी।"

दशरथजी को कैकयी का पश्चात्ताप युक्त स्वच्छ हृदय देख कर संतोष हुआ। उन्होंने कैकयी की प्रशंसा करते हुए कहा;—

"भूल तो तुम से हुई ही प्रिये ! किंतु यह भवितव्यता ही थी। यदि मैं भी उस समय तुम्हें समझा कर इस आशंका से अवगत करता, भरत का अभिप्राय जान कर फिर अपन विचार करते, तो कदाचित् यह स्थिति नहीं आती। नहीं, नहीं, होनहार हो कर ही रहता है। तुम भरत के साथ अवश्य जाओ। सम्भव है तुम्हें सफलता मिल जाय।"

राम से भरत की प्रार्थना

कैकयी, भरत और मन्त्रीगण, रामचन्द्रजी के मार्ग पर शीघ्रतापूर्वक बढ़ चले और छह दिन में ही वे रामत्रय से जा मिले। उन्होंने दूर से राम-लक्ष्मण और सीताजी को एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा। उन पर दृष्टि पड़ते ही कैकयी रथ से नीचे उतरी और—

"हे वत्स ! हे वत्स ! करती हुई रामचन्द्रजी के पास पहुँची । रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजी ने उन्हें प्रणाम किया । कैकयी उनका मस्तक चूमती हुई गद्गद स्वर से शुभाशीष देने लगी । भरत ने रामचन्द्र के चरणों में प्रणाम किया और भावावेश में मूर्च्छित हो गया । रामचन्द्रजी ने भरतजी को उठाया, छाती से लगाया, समझाया और सावधान किया । भरतजी भाव-विभोर हो कर कहने लगे ;--

"वन्धुवर ! आप मुझे अविनीत, द्रोही एवं विरोधी के समान छोड़ कर वन में आये । मैंने आपका क्या अपराध किया था ? माता की भूल का दण्ड मुझे क्यों दिया--आपने ? क्या मैं राज्यार्थि हूँ ? मैंने तो पिताश्री के साथ प्रव्रजित होने की अपनी इच्छा पहले ही स्पष्ट वतला दी थी ? अव आप अयोध्या में पधार कर राज्यभार सम्भालो । वन्धुवर लक्ष्मणजी आपके मन्त्री हों, मैं प्रतिहारी और भाई शत्रुघ्न आप पर छत्र लिए रहे । यदि आप मेरी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं करें, तो मुझे भी अपने साथ रख लें । मैं अब आपका साथ नहीं छोड़ सकता ।"

कैकयी ने कहा--"वत्स ! अपने छोटे भाई की यह याचना पूर्ण करो । तुम तो सदैव भ्रातृ-वत्सल रहे हो । तुम्हारे पिताजी और यह छोटाभाई सर्वथा निर्दोष हैं । दोष एक मात्र मेरा ही है । स्त्री-सुलभ तुच्छ-वुद्धि--कुवुद्धि के कारण मुझ-से यह भूल हुई है । मेरी दुर्बुद्धि ने ही यह दुःखद स्थिति उत्पन्न की है । मैं ही तुम्हारे, पति के, अपनी स्नेहमयी वहिनों के और समस्त परिवार तथा राज्य के दुःख, शोक एवं संताप की कारण बनी हूँ । मुझे क्षमा कर दो--पुत्र ! तुम मेरे भी पुत्र हो । क्या मुझे क्षमा नहीं करोगे ? मेरी इतनी-सी याचना स्वीकार नहीं करोगे ?" कैकयी की वाणी अवरुद्ध हो गई । उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे ।

रामचन्द्रजी ने कहा--"माता ! मैं महाराज दशरथजी का पुत्र हो कर, अपनी प्रतिज्ञा को भंग करूँ--यह नितान्त अनुचित है । पिताश्री ने भरत को राज्य दिया और मैंने उसमें अपनी पूर्ण सम्मति दे कर भरत को अयोध्यापति मान लिया । अव इससे पलटना मेरे लिए असम्भव है । माता ! तुम्हारा कोई दोष नहीं, तुम्हारी तो मुझ पर कृपा है, किंतु मेरी और पिताश्री की प्रतिज्ञा की अवगणना नहीं की जा सकती । आप तो हमें आशिष दीजिए ।"

"भाई ! तुम क्या पिताजी को और मुझे प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हो ? जिसकी प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो, उस मनुष्य का मूल्य ही क्या रहता है ? तुम्हें हमारे वचन का निर्वाह करने में सहायक वनना चाहिए । फिर मेरी आज्ञा भी यही है, उसका

पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम मेरी आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते।"

उन्होंने सीताजी को संकेत किया। वे जल का कलश भर लाई। रामचन्द्रजी ने भरतजी को पूर्व की ओर मुँह कर के बिठाया और अपने हाथों से उनके मस्तक पर जल-धारा दे कर उन्हें 'अयोध्यापति' घोषित किया। जयध्वनि की, और विसर्जित किया‡ सभी जन दुखित-हृदय से चले जाते हुए रामत्रय को देखने लगे। उनके दृष्टि ओझल होते ही भरतादि उदास हृदय से अयोध्या आये। भरतजी से रामचन्द्र के समाचार जान कर दशरथजी ने कहा--"पुत्र ! राम आदर्शवादी है। अपने वंश के गौरव की रक्षा करने में वह अपना जीवन भी दे सकता है। अव तुम राज्य-धुरा को धारण करो और मुझे निवृत्त कर के संयम-धुरा धारण करने दो।"

भरतजी,, कर्त्तव्य-वुद्धि से राज्य का संचालन करने लगे। दशरथजी, महामुनि सत्यभूतिजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर के साधना में जुट गए।

सिंहोदर का पराभव

भरतजी का वन में ही राज्याभिषेक कर के रामत्रय दक्षिण की ओर चल दिये। चलते-चलते वे महामालव भूमि में पहुँचे। एक वट वृक्ष के नीचे वैठ कर राम ने भरत से कहा;--

यह प्रदेश अभी थोड़े दिनों से उजाड़ हुआ लगता है। देखो, ये उद्यान सूख रहे हैं, किन्तु पानी की तो न्यूनता नहीं लगती। इक्षु के खेत सूख रहे हैं, खलों में धान्य यों ही पड़ा है, जिसे सम्भालने वाला कोई दिखाई नहीं दे रहा। लगता है कोई विशेष प्रकार का उपद्रव इस प्रदेश पर छाया हुआ है। उसी समय उधर से एक पथिक निकला। राम ने उससे पूछा--"भद्र ! इस प्रदेश में यह श्मशान-सी निस्तव्धता क्यों है ? विना सम्भाल के ये खेत क्यों सूख रहे हैं ? इन खलों के स्वामी कहाँ चले गए ? यह प्रदेश उजाड़ जैसा क्यों लग रहा है ?

पथिक ने कहा--"यह महामालव का अवंति देश है। इसका सिंहोदर नाम का महा पराक्रमी शासक है। दशांगपुर नगर भी इसके राज्य में ही हैं, किंतु वहाँ इसका सामन्त

‡ अन्य ग्रंथों में भरत द्वारा रामचन्द्रजी की चरणपादुका राज्य-सिंहासन पर स्थापित करने और रामचन्द्रजी के नाम से, स्वयं अनुचर की भाँति राज्य चलाने का अधिकार है, त्रि० श०पु० च० में ऐसा उल्लेख नहीं है।

राज्य कर रहा है। उसका नाम वज्रकर्ण है। एक बार वज्रकर्ण वन में आखेट के लिए गया और एक गर्भिणी हरिणी को मारा। तत्काल उसकी दृष्टि थोड़ी दूर पर ध्यानस्थ रहे हुए मुनि श्रीप्रीतिधरजी पर पड़ी। वह आकर्षित हो कर मुनि के पास पहुँचा। मुनिराज का ध्यान पूर्ण हुआ। राजा ने मुनिवर का परिचय पूछा। मुनिराज ने उसे अपना--अपनी साधना का परिचय दे कर धर्मोपदेश दिया। शिकारी का बुद्धिविकार मिटा और वह उपासक हो गया। भावोल्लास में उसने अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु के अतिरिक्त दूसरे के आगे नहीं झुकने की दृढ़ प्रतिज्ञा ले ली। वह सिंहोदर नरेश (अपने स्वामी) से भी बच कर रहने लगा, जिससे साक्षात्कार का प्रसंग ही उपस्थित नहीं हो +। किसी विद्वेषी ने सिंहसेन से चुगली कर के इस रहस्य को खोल दिया। सिंहोदर क्रुद्ध हो गया। वज्रकर्ण को दण्डित कर दशांगपुर हस्तगत करने की उसने योजना बनाई। उसने वज्रकर्ण पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी। रात को वह सोया, किन्तु इन्हीं विचारों में मग्न हो जाने से उसे नींद नहीं आ रही थी। रानी ने नींद नहीं आने का कारण पूछा। राजा ने वज्रकर्ण की उद्दंडता की बात कही।

एक मनुष्य ने वज्रकर्ण को सूचना दी--"सिंहोदर आप पर चढ़ाई कर के आने ही वाला है। सावधान हो जाइए।" राजा ने पूछा--"तुम्हें कैसे मालूम हुआ?" उसने अपना वृत्तान्त सुनाया;--

"मैं कुन्दनपुर के समुद्रसंगम नामक व्यापारी श्रावक का विद्युंगम नाम का पुत्र हूँ। मैं व्यापारार्थ उज्जयिनी गया था। वहाँ की अनिन्द्यसुन्दरी वारांगना कामलता पर मैं मुग्ध हो गया। उसके मोह में फँस कर मैंने अपना सारा धन लूटा दिया। कामलता ने मुझसे महारानी के कानों की कुण्डल-जोड़ माँगी। मैं चुरा कर लाने के लिए राजभवन में गया। राजा को नींद नहीं आ रही थी। रानी द्वारा कारण पूछने पर उसने आपके नहीं झुकने और चढ़ाई कर के जाने की बात बताई। वह बात मैं वहाँ छुपा हुआ सुन रहा था। आपको साधर्मी जान कर सावधान करने की भावना से मैं आपको सूचना देने आया हूँ।"

वज्रकर्ण सावधान हो गया। उसने धान्य, घास, पानी आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके दुर्ग के द्वार बंद करवा दिये। सिंहोदर सेना ले कर आया और दशांगपुर

+ ग्रंथकार कहते हैं कि उसकी अंगूठी में मुनिसुव्रत जिनेश्वर की प्रतिमा थी और वह सिंहसेन को नमस्कार करते समय अरिहंत को स्मरण कर, मुद्रिका युक्त हाथ सिर पर लगाता था। इस प्रकार वह अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करता था।

के घेरा डाल कर बैठ गया। वज्रकर्ण ने सिंहोदर से कहलाया कि--"मेरे मन में आपके प्रति विपरीत भाव नहीं है। मैं केवल देव-गुरु को ही वन्दनीय मानता हूँ। इसी दृष्टि से मैंने प्रतिज्ञा की है। यदि आपको मेरी प्रतिज्ञा उचित नहीं लगे, तो मैं राज्याधिकार छोड़ कर अन्यत्र चला जाने को भी तय्यार हूँ। अब आप ही उचित मार्ग निकालें।"

सिंहोदर इस निवेदन से भी प्रसन्न नहीं हुआ। वह धर्म के प्रति आदर वाला नहीं था। उसके घेरा डालते ही वहाँ की सारी व्यवस्था बिगड़ गई। प्रजा में भय, त्रास एवं अस्थिरता बढ़ी। सेना के दुर्व्यवहार से लोग अपने गाँव, घर, खेत, बाग, उद्यान और खले आदि छोड़ कर, दूर प्रदेश में भाग गए। इसीसे शून्यता छा रही है। मैं भी उसी प्रकार भागा हुआ हूँ। आग लग जाने से कुछ घर जल गए। मेरी पत्नी ने धनवानों के शून्य घरों में से चोरी करने के लिए मुझे भेजा सो मैं यहाँ आया हूँ। सद्भाग्य से आपके दर्शन हुए।"

पथिक की बात सुन कर रामचन्द्रजी ने उसे स्वर्णसूत्र दे कर संतुष्ट किया और स्वयं दशांगपुर आये। राम की आज्ञा से लक्ष्मणजी दशांगपुर में प्रवेश कर के वज्रकर्ण के पास पहुँचे।

वज्रकर्ण, श्रीलक्ष्मणजी को देख कर प्रभावित हुआ। उसने सोचा--इस भव्य आकृति में अवश्य ही एक महान् आत्मा है। अभिवादन करते हुए वज्रकर्ण ने श्रीलक्ष्मणजी से आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। लक्ष्मणजी ने कहा--'मेरे पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता अपनी पत्नी के साथ बाहर उद्यान में हैं। उनके भोजन ग्रहण करने के बाद मैं ले सकता हूँ।' वज्रकर्ण ने उत्तम भोज्य सामग्री ले कर अपने सेवकों को लक्ष्मणजी के साथ उद्यान में भेजे। भोजनोपरान्त रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी, सिंहोदर के पास आये और कहने लगे;--

"सभी राजाओं को अपने सेवक समान समझने वाले महाराजाधिराज श्रीभरतजी ने तुम्हारे लिए आदेश दिया है कि तुम वज्रकर्ण के साथ का अपना संघर्ष समाप्त कर के लौट जाओ।"

--"श्रीभरत नरेश का अनुग्रह अपने भक्तिवान् सेवकों पर होता है, अभिमानी एवं अविनम्र सेवक पर अनुग्रह नहीं करते। यह वज्रकर्ण मेरा सामंत होते हुए भी मेरे सामने नहीं झुकता, तब मैं इसे कैसे छोड़ दूँ"--सिंहोदर ने कारण बताया।

--"वज्रकर्ण तुम्हारे प्रति अविनयी नहीं है। वह धर्म-नियम का पालक है। उसकी प्रतिज्ञा अर्हन्त देव और निर्ग्रंथ गुरु को ही प्रणाम करने की है। इनके अतिरिक्त वह किसी को प्रणाम नहीं करता। यह इसकी धर्मदृढ़ता है, उद्दंडता या अविनय नहीं, न

द्वेष, मान या लोभ के वश हो कर वह हठी बना है। उसके शुभाशय को समझ कर तुम्हें यह घेरा उठा लेना चाहिए।"

"महाराजाधिराज भरतजी का आदेश तुम्हें शिरोधार्य करना चाहिए। वे समुद्रांत सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी हैं।"

लक्ष्मणजी के उपरोक्त वचन, सिंहोदर सहन नहीं कर सका। वह कोपायमान हो कर बोला;--

"कौन है ऐसे भरतजी, जो मुझे आदेश देते हैं ? नहीं मानता मैं उनके आदेश को। मैं स्वयं प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक हूँ। मुझे आदेश देने वाला कोई नहीं है। मैं तुम्हारी बात को स्वीकार नहीं कर सकता।"

को प्रणाम नहीं करने के मेरे दृढ़ अभिग्रह को सदैव सहन करते रहें।'

श्रीरामचन्द्रजी के आदेश को सिंहोदर ने स्वीकार किया। उसके स्वीकार कर लेने पर लक्ष्मणजी ने उसे मुक्त कर दिया। सिंहोदर और वज्रकर्ण आलिंगन पूर्वक मिले। सिंहोदर ने अपना आधा राज्य वज्रकर्ण को दे दिया, जिससे वह सामंत नहीं रह कर समान नरेश हो गया। अब प्रणाम करने का प्रश्न ही नहीं रहा।

दशांगपुर नरेश वज्रकर्ण ने अवंतिकाधिपति सिंहोदर से, रानी श्रीधरा की कुण्डल जोड़ी माँग कर विद्युंगम को दी। वज्रकर्ण ने अपनी आठ कन्याएँ और सिंहोदर ने अपने सामंतों सहित तीन सौ कन्याएँ लक्ष्मण को दी। लक्ष्मण ने उन कन्याओं को वनवास के समय तक पितृगृह में ही रखने का आग्रह करते हुए कहा—"जब तक हम प्रवास में रहें, तबतक के लिए इन स्त्री-रत्नों को अपने यहाँ ही रहने दें। जब अनुकूल समय आयगा, पाणि-ग्रहण कर लग्नविधि की जायगी।" वज्रकर्ण और सिंहोदर अपने-अपने स्थान पर गए और रामचन्द्रादि रात्रिकाल वहीं व्यतीत कर किसी निर्जल प्रदेश की ओर आगे बढ़े।

कल्याणमाला या कल्याणमल्ल ?

चलते-चलते श्री सीतादेवी को प्यास लगी। उन्होंने जल पीने की इच्छा प्रकट की। श्रीरामभद्र और सीताजी को एक वृक्ष के नीचे बिठा कर, लक्ष्मण जल लेने के लिए चले। कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्हें मनोहर कमल-पुष्पों से सुशोभित एक सुन्दर सरोवर दिखाई दिया। उस सरोवर पर कुबेरपुर का राजा 'कल्याणमल्ल' क्रीड़ा करने आया था। कल्याणमल्ल की दृष्टि लक्ष्मण पर पड़ते ही मोहावेश बढ़ा। उसके नयनों में मादकता आ गई। बदन में काम व्याप्त हो कर विचलित करने लगा। उसके शरीर पर स्त्री के लक्षण प्रकट होने लगे। कल्याणमल्ल ने लक्ष्मण को आतिथ्य ग्रहण करने का निमन्त्रण दिया। पुरुषवेशी कल्याणमल्ल के मुख-कमल पर स्त्रीभाव के चिन्ह देख कर लक्ष्मण समझ गए कि यह है तो स्त्री, परन्तु कारण वश पुरुषवेश में रहती है। उन्होंने प्रकट रूप से कहा—"थोड़ी दूर पर मेरे ज्येष्ठ-भ्राता, भावज सहित बैठे हैं। मैं उन्हें छोड़ कर आपका निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सकता।" कल्याणमल्ल ने अपने चतुर प्रधान को रामभद्रजी के पास भेज कर आमन्त्रित किया। उनके लिए वहीं पटकुटी (तम्बु) तय्यार करवा कर ठहराया

को प्रणाम नहीं करने के मेरे दृढ़ अभिग्रह को सदैव सहन करते रहें।'

श्रीरामचन्द्रजी के आदेश को सिंहोदर ने स्वीकार किया। उसके स्वीकार कर लेने पर लक्ष्मणजी ने उसे मुक्त कर दिया। सिंहोदर और वज्रकर्ण आलिगन पूर्वक मिले। सिंहोदर ने अपना आधा राज्य वज्रकर्ण को दे दिया, जिससे वह सामंत नहीं रह कर समान नरेश हो गया। अव प्रणाम करने का प्रश्न ही नहीं रहा।

दशांगपुर नरेश वज्रकर्ण ने अवंतिकाधिपति सिंहोदर से, रानी श्रीधरा की कुण्डल

और भोजन कराया। भोजनादि से निवृत्त हो कर और परिजनादि को हटा कर कल्याण-मल्ल ने स्त्रीवेश धारण किया और अपने प्रधानमन्त्री के साथ अतिथियों के संमुख आ कर नतमस्तक हो प्रणाम किया। रामभद्र ने कहा;—

"भद्रे! अपने स्वाभाविक स्त्रीत्व को गुप्त रख कर पुरुषवेश में रहने का क्या प्रयोजन है?"

उत्तर मिला—यहाँ के शासक (मेरे पिता) वाल्यखिल्य नरेश थे। उनकी प्रिय रानी पृथ्वीदेवी की कुक्षि में मैं आई। थोड़े दिन वाद ही राज्य पर म्लेच्छों ने आक्रमण कर दिया और छलवल से पिताजी को बाँध कर ले गए। उसके बाद मेरा जन्म हुआ। बुद्धिमान प्रधानमन्त्री ने जाहिर किया कि 'रानी के पुत्र का जन्म हुआ है' और उत्तरा-धिकारी पुत्र के रूप में मेरा राज्याभिषेक हो गया। मैं पुरुषवेश और पुरुष नाम से दूसरों के सामने आने लगी। मेरी परिचर्या माता और अत्यंत विश्वस्त एक सेविका द्वारा होने लगी, जिससे किसी को मेरे पुत्री होने का पता नहीं चले। मैं 'कल्याणमाला' के वदले 'कल्याणमल्ल' कहाने लगी। पुत्र-जन्म के समाचार पा कर पड़ोसी राज्य के नरेश सिंहोदर ने मेरे पिताजी के लौट आने तक मुझे राज्याधिपति की मान्यता दी। अब तक मैं पुरुष रूप में ही प्रसिद्ध हूँ। मातेश्वरी, प्रधानमन्त्री और एक सेविका के सिवाय मेरे स्त्रीत्व का किसी को पता नहीं है। पिताश्री को छुड़ाने के लिए मैंने म्लेच्छों को बहुत-सा धन दिया। वे दुष्ट धन भी ले गये और उन्हें मुक्त भी नहीं किया। इसलिए आप से प्रार्थना है कि आप उन दुष्टों से मेरे पिताश्री को मुक्त कराने की कृपा करें। आप महावली हैं, पर दुःखभंजक हैं। पहले भी आपने सिंहोदर के भय से वज्रकर्ण की रक्षा की। अब मुझ पर यह उपकार कर के अनुग्रहित करें।

रामभद्र ने कहा—"हम तुम्हारे पिता को मुक्त करा कर लावें, तबतक तुम पुरुष-वेश में ही रह कर राज्य का संचालन करती रहो।" कल्याणमाला ने पुनः पुरुषवेश धारण कर लिया। उसके प्रधानमन्त्री ने कहा—"राजकुमारी के पति लक्ष्मणजी होंगे।"

—"अभी हम देशाटन कर रहे हैं। लौटते समय राजकुमारी के लग्न, लक्ष्मण के साथ हो जावेंगे—श्री रामभद्रजी ने कहा।

म्लेच्छ सरदार से वालिखिल्य को छुड़ाया

तीन दिन वहाँ रुक कर श्री राम-लक्ष्मण और सीता ने रात्रि के समय—सभी को

निद्रामग्न छोड़ कर प्रयाण किया। प्रातःकाल होने पर जब अतिथियों को नहीं देखा, तो कल्याणमाला खिन्न-हृदय से नगर में चली गई। रामभद्रादि नर्मदा नदी उतर कर विंध्य प्रदेश की भयंकर अटवी में पहुँचे। पथिकों ने उधर जाने से इन्हें रोकते हुए, म्लेच्छों के भयंकर उपद्रव का भय बतलाया। किंतु यात्रीत्रय उधर ही चलते रहे। आगे चलते हुए उन्हें कंटकवृक्ष पर बैठे हुए पक्षी की विरस बोली रूप अपशकुन, और क्षीरवृक्ष पर रहे हुए पक्षी की मधुर ध्वनिरूप शुभशकुन हुए, किन्तु उस ओर ध्यान नहीं दे कर वे चलते ही रहे। आगे बढ़ने पर उन्हें हाथी-घोड़े और उच्च प्रकार के विपुल अस्त्रशस्त्रादि से युक्त म्लेच्छों की विशाल सेना मिली। वह सेना किसी राज्य का विनाश करने के लिए जा रही थी। उस सेना के युवक सेनापति की दृष्टि सीताजी पर पड़ी। वह सीताजी का रूप देख कर विमोहित हो गया और विकार-ग्रस्त हो कर अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि--"इन सामने आ रहे दोनों पुरुषों को वन्दी बना कर अथवा मार कर इस सुन्दर स्त्री को मेरे पास लाओ।"

म्लेच्छ-सैनिकों ने रामभद्रादि पर आक्रमण कर दिया और बाण-वर्षा करते हुए उनके निकट आने लगे। लक्ष्मण ने राम से निवेदन किया--"आर्य! जबतक इन दुष्टों का मैं दमन नहीं कर लूं, तबतक आप दोनों इस वृक्ष की छाया में विराजें। उन्हें बिठा कर लक्ष्मण ने धनुष सम्भाला और टंकार ध्वनि उत्पन्न की। धनुष की सिंहनाद से भी अधिक भयंकर ध्वनि सुन कर आक्रमणकारियों का दल लौट कर भागने लगा। म्लेच्छों की विशाल सेना के प्रत्येक सैनिक के मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि "जिस महावीर के धनुष की टंकार (ध्वनि) ही हमारे कानों के पर्दे फोड़ दे और बल साहस तथा सामर्थ्य की इतिश्री कर दे, उसके बाणों की मार कितनी भयानक एवं संहारक होगी?" म्लेच्छाधिपति के मन में भी यही विचार उत्पन्न हुआ। वह परिस्थिति का विचार कर और शस्त्रादि का त्याग कर, श्रीरामभद्र के पास आया और कहने लगा;--

"देव! कौशांबी नगरी के वैश्वानर ब्राह्मण का मैं पुत्र हूँ। मेरा नाम 'रुद्रदेव' है। मैं जन्म से ही क्रूर हूँ। चोरीजारी आदि अनेक दुर्गुणों की खान हूँ। मेरे मन में दया-करुणादि शुभभाव तो आते ही नहीं। संसार में ऐसा कोई दुराचरण नहीं रहा, जो मैंने नहीं किया हो। एक बार चोरी करते हुए मैं पकड़ा गया। राजा ने मुझे प्राणदण्ड दिया और मैं वधस्थल पर ले जाया जाने लगा, किन्तु एक दयालु श्रावक ने राजा को धन दे कर मुझे बचा लिया और मुझे समझाते हुए कहा;--

"तू यह पापी-कृत्य छोड़ दे और धर्म का आचरण कर के प्राप्त मानवभव को सफल कर ले।"

उस उपकारी जीवन-रक्षक की बात को मैं स्वीकार नहीं कर सका। मेरी दुष्ट-प्रकृति मुझ से बदली नहीं जा सकी। मैंने उस देश का त्याग कर दिया और भटकता हुआ चोरपल्ली में पहुँच गया। यहाँ आ कर मैंने अपना नाम बदल कर 'काक' रख लिया और अनुकूलता पा कर पल्लीपति बन गया। मेरी सैन्यशक्ति दिनोदिन बढ़ने लगी। मैं गाँवों नगरों और राज्यों को लूटने लगा और घात लगा कर, राजाओं को पकड़ने और गुप्त स्थानों पर बन्दी बनाने लगा। मेरा स्थान तथा हलचल सुरक्षित एवं गुप्त रहती आयी। किन्तु अचानक आज मैं आपके संमुख आ कर, आपकी अद्भूत शक्ति के वशीभूत हो गया। अब आप आदेश दें कि मैं क्या करूँ। मैं आपश्री का किंकर हूँ। मेरा अविनय क्षमा करें।"

"वालिखिल्य राजा को मुक्त करो"—रामभद्रजी ने आज्ञा दी। आज्ञा का पालन करते हुए वालिखिल्य को छोड़ दिया। वालिखिल्य ने मुक्त होते ही अपने उद्धारक श्रीरामभद्रजी के चरणों में नमन किया। म्लेच्छाधिपति काक ने उसी समय वालिखिल्य राजा को उसके स्थान पर पहुँचा दिया। वालिखिल्य, राजधानी में पहुँच कर स्वजनादि से मिला और राज्य का संचालन करने लगा।

वालिखिल्य को मुक्त करा कर रामभद्रादि आगे बढ़े और विंध्य-प्रदेश की अटवी को पार कर के ताप्ति नहीं उतरे, तथा आगे बढ़ते हुए अरुण नामक ग्राम में पहुँचे। उस समय सीताजी को प्यास लगी, इससे वे कपिल नाम के ब्राह्मण के घर गये। कपिल अत्यंत क्रोधी स्वभाव वाला था, किन्तु उस समय वह घर में नहीं था। उसकी पत्नी ने रामभद्रादि का सत्कार कर के जलपान कराया। इतने में कपिल आ गया। उसने अपरिचित पथिकों को घर में बैठे देखा, तो भड़क उठा और अपनी पत्नी को गालियाँ देता हुआ बोला;—

"रे दुष्टा! तेने इन मलिन और अपवित्र मनुष्यों को घर में क्यों बिठाया? पापिनी! तेने अपने अग्निहोत्री घर की पवित्रता का कुछ भी विचार नहीं कर के अशुद्ध कर दिया। तू स्वयं पापिनी है। मैं तेरी नीचता को सहन नहीं कर सकता"—इस प्रकार बकता हुआ वह ब्राह्मणी की ओर झपटा। उसी समय लक्ष्मणजी ने उसे कमर से पकड़ लिया और ऊँचा उठा कर उसे चक्र के समान घुमाने लगे। कपिल का क्रोध उड़ गया। वह भयभीत हो कर चिल्लाने लगा। रामभद्रजी ने लक्ष्मणजी को समझा कर कपिल को छुड़ाया। इसके बाद तीनों वहाँ से निकल कर आगे बढ़े।

यक्ष द्वारा रामपुरी की रचना

चलते-चलते तीनों एक महावन में पहुँच गए। वर्षाऋतु का आगमन हो चुका था। वर्षा हो रही थी। रामादि प्रवासीत्रय वर्षा से बचने के लिए एक विशाल वटवृक्ष के नीचे आ कर ठहरे। उन्होंने इस वृक्ष को उपयुक्त समझ कर भाई से कहा--"बन्धु ! अब वर्षाकाल इस वृक्ष के नीचे ही व्यतीत करना ठीक रहेगा।" लक्ष्मण और सीताजी भी सहमत हो गए। उस वृक्ष पर 'इभकर्ण' नाम का यक्ष रहता था। यक्ष ने यह बात सुनी और उनकी भव्य आकृति देखी, तो भयभीत हो गया। वह अपने स्वामी गोकर्ण यक्ष के पास गया और विनय पूर्वक बोला--

"स्वामिन् ! मैं विपत्ति में पड़ गया हूँ। दो अप्रतिम-तेजस्वी पुरुष और एक महिला मेरे आवास पर आये हैं। वे पूरा वर्षाकाल वहीं बिताना चाहते हैं। इससे मैं चिन्तित हूँ। अब आप ही मेरी समस्या का हल करें।

गोकर्ण ने इभकर्ण की बात सुन कर, अवधिज्ञान से आगत प्रवासियों का परिचय जाना और प्रसन्नतापूर्वक बोला;--

"भद्र ! तुम भाग्यशाली हो। तुम्हारे यहाँ आने वाले महापुरुष हैं। उनमें आठवें बलभद्र और वसुदेव हैं और अशुभोदय से प्रवासी दशा में हैं। ये सत्कार करने योग्य हैं। चल मैं भी चलता हूँ।"

गोकर्ण यक्ष, इभकर्ण के साथ वहाँ आया और वैक्रिय-शक्ति से वहाँ एक विशाल नगरी का निर्माण कर दिया। इतना ही नहीं, उसने नगरी को सभी प्रकार के साधनों से सुसज्जित एवं धन-धान्यादि से परिपूर्ण कर दी। हाट बाजार आदि से भरपूर उस नगरी का नाम--'रामपुरी' रखा गया। प्रातःकाल मंगल-वाद्य सुन कर जाग्रत हुए रामभद्रादि ने जब अपने सामने वीणाधारी यक्ष और महानगरी देखी, तो आश्चर्य करने लगे। यक्ष ने निवेदन किया--

"स्वामिन् ! यह नगरी आपके लिए है। मैं गोकर्ण यक्ष हूँ। आप हमारे अतिथि हैं। आप जबतक यहाँ रहेंगे, तबतक मैं परिवार सहित आपकी सेवा में रहूँगा।

रामभद्रादि आनन्दपूर्वक उस देव-निर्मित रामपुरी में रहने लगे और यक्ष द्वारा प्रस्तुत धनधान्यादि का उपभोग एवं दान करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

कपिल का भाग्योदय

वह कपिल ब्राह्मण, हवन के लिए समिधा एवं पुष्प-फल आदि लेने के लिए वन

में आया। वह धुन ही धुन में आगे बढ़ा और दृष्टि लगा कर देखने लगा, तो उसे एक भव्य नगरी और उसके भवन-शिखर आदि दिखाई देने लगे। वह चकित रह गया। उसने वहाँ कभी कोई बस्ती देखी ही नहीं थी। अचानक इस महावन में यह नगरी कैसे बस गई? दूर जाती हुई एक सुन्दर महिला को देख कर वह उसके निकट गया और नगरी के विषय में प्रश्न किया--' भद्रे! यह क्या देव-माया है, इन्द्रजाल है, या गन्धर्वपुरी है? अचानक यह नगर कैसे बन गया?"

महिला यक्षिणी थी। उसने कहा--

"यह रामपुरी है। श्री राम-लक्ष्मण और सीता के लिए गोकर्ण यक्ष ने बनाई है। यहाँ दयानिधि श्री रामभद्रजी, दीनजनों को दान देते हैं। यहाँ जो याचक आते हैं, उनकी मनो-कामना वे पूरी करते हैं। यहाँ आ कर कोई खाली हाथ नहीं जाता।"

कपिल प्रसन्न हो गया। अपने सिर पर लदे हुए लकड़ियों के बोझ को एक ओर पटक कर उसने विनयपूर्वक महिला से पूछा;—

"कल्याण-वेलि! मुझे बता। मैं उन रामभद्रजी की सेवा में कैसे पहुँच सकता हूँ?"

--"यदि तू अपनी मिथ्या हठ और आग्रह छोड़ कर आर्हत् धर्म स्वीकार कर ले और फिर इस नगरी के पूर्वद्वार से प्रवेश कर के राजभवन में जावे, तो तेरा धर्म और अर्थ-दारिद्रय दूर हो सकता है।

कपिल की दुर्दशा का अन्त निकट ही था। यक्षिणी की सलाह उसे भाई। वह शीघ्र ही स्वस्थान आया और पूछता हुआ जैन-साधुओं के निकट पहुँचा। धर्म-शिक्षा ग्रहण की। धर्म सुनते ही रुचि भी उत्पन्न हो गई। कपिल का भाग्योदय एवं भव्यता परिपक्व होने ही वाली थी। वह श्रावक हो गया। घर आ कर उसने पत्नी को भी धर्म समझा कर श्राविका बना ली। फिर दोनों रामपुरी में आये। राजभवन में प्रवेश करने के बाद जब कपिल की दृष्टि श्रीराम-लक्ष्मणादि पर पड़ी, तो पहिचान कर उलटे पाँव भागने लगा। उसे अपने दुर्व्यवहार का स्मरण हो आया था। उसे भागता देख कर लक्ष्मणजी ने रोकते हुए कहा—

"द्विज! निर्भय रह और जो इच्छा हो, वह माँग ले।"

कपिल का भय दूर हुआ। उसने श्री रामभद्रजी से विनयपूर्वक अपनी विपन्न दशा का परिचय दिया। उसकी पत्नी सीताजी से मिली। श्रीरामभद्रजी ने ब्राह्मण को इतना धन दिया कि वह सम्पन्न हो गया। उसकी विपन्नता नष्ट हो गई। कालान्तर में कपिल, संसार से विरक्त हो कर नन्दावतंस नामक आचार्य के समीप दीक्षित हो गया।

वर्षाऋतु व्यतीत होने पर रामभद्रजी ने आगे बढ़ने का विचार किया। वे प्रस्थान की तय्यारी करने लगे, तब गोकर्ण यक्ष ने विनयपूर्वक निवेदन किया;--

"यहाँ के निवास के समय व्यवस्था करने में मेरी ओर से कोई त्रुटि रह गई हो, या अविनय हुआ हो, तो क्षमा कीजिएगा।" इतना कह कर उसने अपना स्वयंप्रभ नाम का एक हार श्री राम को अर्पण किया। लक्ष्मणजी को रत्नमय दिव्य कुंडल जोड़ और सीताजी को चूड़ामणि तथा इच्छानुसार बजने वाली वीणा भेंट की। रामभद्रजी ने यक्ष का संमान किया और उस नगरी को छोड़ कर तीनों प्रवासी चल दिये। यक्ष-निर्मित वह मायापुरी भी विलीन हो गई।

वनमाला का मिलन

रामभद्रादि चलते-चलते और कितने ही वनों, पर्वतों और नदी-नालों का उल्लंघन करते विजयपुर नगर के निकट आये। संध्या का समय था। नगर के बाहर उद्यान में, दक्षिण-दिशा में एक विशाल वट वृक्ष था। उसकी शाखाएँ बहुत लम्बी थी। जटाएँ भूमि में घुस गई थी। वह सघन वृक्ष पथिकों के लिए आकर्षक एवं शांतिदायक था। उस वृक्ष को घर जैसी सुविधा वाला देख कर रामभद्रादि ने उसके नीचे विश्राम किया।

विजयपुर नरेश महीधरजी के 'वनमाला' नाम की एक पुत्री थी। बालवय में उसने लक्ष्मणजी की कीर्ति-कथा सुन ली थी और उसी समय से वह लक्ष्मणजी के प्रति प्रीति वाली हो गई। युवावस्था में भी उसने लक्ष्मणजी को ही अपना पति माना और उन्हीं से मिलने के मनोरथ करती रही। पुत्री का मनोरथ महीधर नरेश जानता था और वह भी यह सम्बन्ध जोड़ना चाहता था। किन्तु जब दशरथजी की दीक्षा और राम-लक्ष्मण तथा सीता के वनगमन की बात सुनी, तो महीधर नरेश खेदित हुआ। उसने पुत्री के योग्य समझ कर चन्द्रनगर के राजकुमार सुरेन्द्ररूप के साथ सम्बन्ध निश्चित किया। राजकुमारी वनमाला ने जब अपने सम्बन्ध की बात सुनी, तो उसे गम्भीर आघात लगा। वह आत्म-घात का निश्चय कर चुकी और अर्द्धरात्रि के बाद भवन से निकल गई। वह चली-चली उसी उद्यान में आई, जहाँ रामभद्रादि ठहरे हुए थे। वहाँ के यक्षायतन में प्रवेश कर के उसने बलदेव की पूजा की और प्रार्थना करती हुई बोली;—

"देव! इस भव में मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। मैं हताश हो कर प्राण त्याग रही हूँ। किंतु अगले भव में तो मेरे पति श्री लक्ष्मणजी ही हों।"

इस प्रकार प्रार्थना कर के वह देवालय से निकली और उसी वटवृक्ष के नीचे आई। उसने अपना उत्तरीय वस्त्र उतारा और वृक्ष की एक डाल से बाँध कर उसका पाश बनाया। फिर उच्च स्वर से बोली;--

"नभ में विचर रहे चन्द्र देव, नक्षत्र और तारागण तथा दिग्पाल ! मुझ दुर्भागिनी की आशा पूर्ण नहीं हो सकी। मैं हताश हो कर अपने जीवन का अन्त कर रही हूँ--इस आशा के साथ कि उस पुनर्जन्म में मैं सुमित्रानन्दन श्री लक्ष्मणजी की ही अर्द्धांगना बनूँ।"

श्री राम और सीताजी भरनींद में थे और लक्ष्मणजी जाग्रत हो कर चौकी कर रहे थे। लक्ष्मणजी ने देखा--उस वृक्ष की ओर एक मानव छाया आ रही है। वे सावधान हो गए। उन्होंने सोचा--'यह कौन है ? वनदेवी है, या वटवृक्ष की अधिष्ठात्री ? छाया, वृक्ष के नीचे आ कर रुकी और थोड़ी ही देर में उपरोक्त घोष सुनाई दिया। वे तत्काल दौड़े और डाल से झूलती हुई राजकुमारी का फन्दा काट कर उसे बचा लिया। राजकुमारी इस बाधा से भयभीत हो गई। किंतु जब उसे ज्ञात हुआ कि उसके रक्षक स्वयं उसके आराध्य ही हैं, तो हर्ष की सीमा नहीं रही। दोनों श्री राम के पास आये। निद्रा-त्याग के बाद लक्ष्मण ने, राजकुमारी वनमाला का परिचय दे कर पूरा वृत्तांत सुना दिया। वनमाला ने लज्जा से मुँह ढक कर राम और सीताजी के चरणों में नमस्कार किया और पास ही बैठ गई।

उधर वनमाला को शयन-कक्ष में नहीं देख कर दासियाँ चिल्लाई। महारानी रोने लगी। राजा, अनुचरगण युक्त खोज करने निकल गए। पदचिन्हों के सहारे वटवृक्ष तक आए और पुत्री को अपरिचित्त पुरुषों के पास बैठी देख कर राजा गर्जा;--

"पकड़ो इन चोरों को। ये राजकुमारी का अपहरण कर के लाये हैं।"

सैनिक शस्त्र ले कर झपटे। लक्ष्मणजी ने धनुष उठा कर टंकार किया, तो सभी सैनिकों की छाती बैठ गई। कुछ वहीं गिर पड़े और कुछ भाग खड़े हुए। महीधर नरेश ही अकेले खड़े रहे। उन्हें विश्वास हो गया कि--यह पराक्रमी वीर लक्ष्मणजी ही हैं। वे प्रसन्नता पूर्वक आगे बढ़ते हुए बोले;--

'अहोभाग्य ! स्वागत है वीर ! मैंने आपको पहिचान लिया है। मेरी पुत्री के भाग्योदय से ही आपका शुभागमन हुआ है। श्री रामभद्रजी के निकट आ कर उन्होंने प्रणाम किया और बोले;--

"महानुभाव ! हमारी चिर अभिलाषा आज पूरी हुई। मेरे असीम पुण्य का उदय

है कि श्री लक्ष्मणजी जैसे जामाता और आप जैसे समधी मिले। अब कृपा कर महालय में पधारें।"

महीधर नरेश, सम्मानपूर्वक रामभद्रादि को राजभवन में लाये। वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे।

अतिवीर्य से युद्ध

एक दिन नंद्यावर्तपुर के अतिवीर्य नरेश का दूत, महीधर नरेश की राजसभा में आ कर निवेदन करने लगा;--

"मेरे स्वामी राजाधिराज अतिवीर्यजी का, अयोध्यापति भरत नरेश से विग्रह हो गया है। युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी है। मैं आपको सेना-सहित पधारने का आमन्त्रण ले कर उपस्थित हुआ हूँ। पधारिये। भरतनरेश की ओर भी बहुत से राजा आये हैं। इसलिए आपको हमारी सहायता करनी चाहिए।"

लक्ष्मणजी ने पूछा--"तुम्हारे राजा को भरत नरेश से युद्ध करने का क्या कारण है?"

--"मेरे स्वामी महाप्रतापी और अनुपम शक्तिशाली हैं। अन्य कई नरेश उनका अधिपत्य स्वीकार करते हैं, किन्तु अयोध्या नरेश उनकी शक्ति मान्य नहीं करते। इसीसे यह विग्रह उत्पन्न हुआ है"--दूत ने कहा।

--"क्या भरत नरेश में इतनी शक्ति है कि जिससे वे अतिवीर्य के साथ युद्ध करने को तत्पर हो गए"--रामचन्द्रजी ने पूछा।

--"मेरे स्वामी तो महाबली हैं ही, भरतजी भी सामान्य नहीं हैं। दोनों में से किसकी विजय होगी--कहा नहीं जा सकता"--दूत ने कहा।

महीधर नरेश ने दूत को विदा करते हुए कहा--"मैं अपनी सेना ले कर आ रहा हूँ, तुम जाओ।"

दूत को रवाना कर के महीधर नरेश ने श्रीरामभद्र से कहा--"मुझे अयोध्यापति के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आमन्त्रित करने वाले अतिवीर्य के दुर्दिन आ गये हैं। मैं भरतजी के शत्रु ऐसे अतिवीर्य के साथ युद्ध कर के उसका मद चूर्ण करूँगा।"

"नहीं राजन्! आप यहीं रहें। मैं आपके पुत्रों के साथ सेना ले कर जाऊँगा"--रामभद्र ने कहा।

रामभद्र, लक्ष्मण और महीधर के पुत्र, विशाल सेना ले कर चले और नंद्यावर्तपुर के बाहर उद्यान में पड़ाव किया। उस क्षेत्र के अधिष्टायक देव ने श्रीरामभद्र की सेवा में उपस्थित हो कर कहा--

"महानुभाव ! मैं आपकी सेवा के लिए तत्पर हूँ। कहिये, क्या हित करूँ ?"

--"देव ! तुम्हारी सद्भावना से मैं प्रसन्न हूँ। यही पर्याप्त है"--रामभद्रजी ने कहा।

--"आप समर्थ हैं, किंतु मैं चाहता हूँ कि अतिवीर्य को ऐसा सबक मिले कि जिससे वह लज्जित बने और लोक में वह--"स्त्रियों से हारा हुआ" माना जाय। इसलिये मैं आपकी समस्त सेना को वैक्रिय द्वारा स्त्रीरूप में परिवर्तित कर देता हूँ।"

देव ने राम-लक्ष्मण सहित समस्त सेना को स्त्रीरूप में बदल दिया। रामभद्र सेना सहित नगर के समीप आ कर द्वारपाल द्वारा नरेश को सूचना करवाई। नरेश ने पूछा--

--"महीधर नरेश आये हैं क्या ?"

--"नहीं, वे नहीं आये।"

--"वह अभिमानी है। मुझे उसका घमण्ड उतारना पड़ेगा। जाओ उसकी सेना को लौटा दो। भरत के लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ"--अतिवीर्य ने क्रोधपूर्वक कहा।

"महाराज ! महीधर ने सेना भी स्त्रियों की ही भेजी है। उसमें पुरुष तो एक भी नहीं है। यह कितनी वड़ी दुष्टता है"--द्वारपाल ने कहा।

--"क्या स्त्रियों की सेना ? निकालो उन राँडों को--मेरे राज्य में से। गर्दन पकड़ कर धकेलते हुए सीमा पार कर दो। निर्लज्ज कहीं का"--नरेश ने क्रोधावेश में कहा।

सैनिक और सामंतगण उस स्त्री-सेना को लौटाने के लिए आये और अपनी शक्ति लगाने लगे। स्त्रीरूपधारी लक्ष्मण ने हाथी को बाँधने का स्तंभ उखाड़ कर उसी से प्रहार करना शुरू किया। सभी सैनिक और सामंत भूमि पर लौटने लगे। सामन्तों की दुर्दशा से अतिवीर्य का क्रोधानल विशेष भड़का। वह स्वयं खड्ग ले कर झपटा। निकट आने पर लक्ष्मणजी ने उसका हाथ पकड़ कर खड्ग छिन लिया और नीचे गिरा कर उसके ही वस्त्र से उसे बाँध दिया और जनता के देखते हुए उसे घसीट कर ले चले। अतीवीर्य की दुर्दशा देख कर सीताजी का हृदय करुणामय हो गया। उन्होंने लक्ष्मणजी से उसे छुड़वाया। इधर देवमाया हटने से सभी पुनः पुरुषरूप में हो गए। अतिवीर्य ने देखा कि ये तो रामभद्र, लक्ष्मण और सीताजी हैं। वह लज्जित हुआ। क्षमा माँगी। रामभद्रजी ने उसे भरतजी

के साथ शांतिपूर्वक समझौता कर के राज करने की सूचना की। किन्तु अतिवीर्य के मन पर मानमर्दन की गहरी चोट लगी थी। वे राज्य और संसार से विरक्त हो कर और अपने पुत्र विजयरथ को राज्य दे कर प्रव्रजित हो गए।

विजयरथ ने अपनी वहिन रतिमाला, लक्ष्मण को दी और भरतजी की अधिनता स्वीकार की। और अपनी छोटी वहिन विजयसुन्दरी, भरतजी को अर्पित की।

अव श्री रामभद्रजी ने महीधर नरेश से प्रस्थान करने की आज्ञा माँगी लक्ष्मणजी ने भी वनमाला से अपने प्रस्थान की बात कही, तो वह उदास हो गई और आंसू गिराती हुई बोली;—

"यदि आपको मुझे छोड़ कर ही जाना था, तो उस समय क्यों वचाई ? मरने देते मुझे, तो यह वियोग का दुःख उत्पन्न ही नहीं होता। नहीं, ऐसा मत करियें। मेरे साथ लग्न कर के मुझे अपने साथ ले चलिये। अव मैं पृथक् नहीं रह सकती।"

"मनस्विनी ! मैं अभी पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता की सेवा में हूँ। तुम्हें साथ रखने पर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन वरावर नहीं कर सकूँगा। मैं अपने ज्येष्ठ को इच्छित स्थान पर पहुँचा कर शीघ्र ही तुम्हारे पास आऊँगा और तुम्हें ले जाऊँगा। तुम्हारा निवास मेरे हृदय में हो चुका है। मैं पुनः यहाँ आ कर तुम्हें अपने साथ ले जाने की शपथ लेने को तत्पर हूँ।"

"इच्छा नहीं होते हुए भी वनमाला को मानना पड़ा। उसने लक्ष्मणजी को 'रात्रि-भोजन के पाप' की शपथ लेने को कहा।" लक्ष्मणजी ने कहा;—

"जो मैं पुनः लौट कर यहाँ नहीं आऊँ, तो मुझे रात्रि-भोजन का पाप लगे।"

जितपद्मा का वरण

इसके वाद पिछली रात को रामत्रय ने वहाँ से प्रस्थान किया और वन-पर्वत तथा नदी-नाले लांघते हुए 'क्षेमांजलि' नामक नगर के समीप आये। उद्यान में विश्राम किया, फिर लक्ष्मण के लाये हुए और सीता द्वारा साफ कर के सुधारे हुए वनफलों का आहार किया। इसके वाद लक्ष्मणजी ने नगर प्रवेश किया। नगर के मध्य में पहुँचने पर उन्हें एक उद्घोषणा सुनाई दी;—

"जो वीर पुरुष ! महाराजाधिराज के शक्ति-प्रहार को सहन कर सकेगा। उसे नरेन्द्र अपनी राजकुमारी अर्पण करेंगे।"

लक्ष्मण ने किसी नागरिक से उद्घोषणा का कारण पूछा। उसने कहा—"यहाँ के नरेश शत्रुदमनजी एक पराक्रमी एवं बलवान् नरेश हैं। उनकी कन्यकादेवी रानी की कुक्षि से जन्मी राजकुमारी जितपद्मा अनुपम सुन्दरी और लक्ष्मी के अवतार जैसी है। उसका वर भी वीर ही होना चाहिए, इसलिए राजा ने यह निश्चय किया है कि जो उसके शक्ति-प्रहार को सह सके, वह वीर पुरुष ही मेरी पुत्री का पति होगा। यही इस घोषणा का अर्थ है। अब तक उसके योग्य वर नहीं मिला। प्रति दिन उद्घोषणा होती रहती है।"

लक्ष्मणजी तत्काल राजसभा में पहुँचे। नरेश के परिचय पूछने पर अपने को राजाधिराज भरतजी का दूत बतलाया और कहा।

"मैं कार्य-विशेष से इधर से जा रहा था कि आपकी उद्घोषणा और उसमें रही हुई चिन्ता की बात सुनने में आई। मैं आपको चिंता-मुक्त करने के लिए आया हूँ। आपकी प्रिय पुत्री को मैं ग्रहण कर सकूँगा।"

एक दूत की धृष्टता से राजा रुष्ट हुआ। फिर भी पूछा;—

—"आप मेरी शक्ति के प्रहार को सहन कर सकेंगे।"

—"एक ही क्या, पांच शक्ति का प्रहार करिये। मैं सहर्ष तत्पर हूँ"—लक्ष्मणजी ने साहसपूर्वक कहा।

ये समाचार अन्तःपुर में भी पहुँचे। राजमहिषी झरोखे में आ कर लक्ष्मणजी को देखने लगी। राजकुमारी भी एक ओर छुप कर देखने लगी। लक्ष्मणजी को देखते ही राजकुमारी मोहित हो गई। वह सोचने लगी—"पिताजी शक्ति-प्रहार नहीं करे, तो अच्छा हो।" वह अनिष्ट की आशंका से चिन्तित हुई। उससे रहा नहीं गया। वह राजसभा में चली आई। उसने पिता को शक्ति-प्रहार करने से रोकते हुए कहा;—

"पिताजी! रुकिये। अब परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रही। मैं इन्हें ही वरण करूँगी। अब आप इस घातक परीक्षा को बन्द करिये।"

वैसे राजा भी लक्ष्मण की आकृति देख कर प्रभावित हुआ था, किन्तु दूत जैसे हीन व्यक्ति को जामाता कैसे बना ले? इसलिए उसने शक्ति-प्रहार आवश्यक माना और उठ खड़ा हुआ—शक्ति ले कर प्रहार करने। चलादि शक्ति लक्ष्मण पर। लक्ष्मणजी ने दो प्रहार हाथ पर झेले, दो छाती पर और एक दाँत पर। पाँचों प्रहार सह कर भी लक्ष्मणजी अडिग रहे। उनके मुख पर हास्य छाया रहा। उपस्थित जन-समूह अनिष्ट की आशंका से चिन्तत था। किन्तु शक्ति की विफलता और लक्ष्मण की अजेयता देख कर जयजयकार किया। जितपद्मा ने प्रफुल्ल-वदन हो लक्ष्मण के गले में वरमाला डाल दी। नरेश भी

लक्ष्मणजी का स्वागत करने को तत्पर हो गए। लक्ष्मणजी ने कहा कि—'मेरे ज्येष्ठ पूज्य उद्यान में हैं। उन्हें छोड़ कर मैं आपका अतिथ्य ग्रहण नहीं कर सकता। जब राजा ने जाना कि--'ये तो दशरथ-नन्दन राम-लक्ष्मण हैं, तो उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। वह तत्काल उद्यान में आया और बड़े आदर के साथ राम-सीता को ले कर राज-भवन में आया। रामचन्द्रादि कुछ दिन वहाँ रहे और फिर यात्रा प्रारम्भ हो गई। लक्ष्मणजी ने यहाँ भी कहा—"मैं लौटते समय लग्न करूँगा।"

मुनि कूलभूषण देशभूषण

क्षेमांजलि नगरी से निकल कर रामभद्रादि वंशशैल्य पर्वत की तलहटी पर बसे हुए वंसस्थल नामक नगर के निकट आए। उन्होंने देखा—वहां के नागरिक और राजा, सभी भयभीत हैं। राम ने एक मनुष्य से कारण पूछा। उसने कहा—"तीन दिन से रात्रि के समय इस पर्वत पर भयंकर ध्वनि होती है। इससे यहाँ के सभी लोग भयभीत हैं और नगर छोड़ कर अन्यत्र रात व्यतीत करते हैं। लोग उद्विग्न रहते हैं। अनिष्ट की आशंका से सभी लोग चिंतित हैं।"

नगरजनों की कष्टकथा से द्रवित, तथा लक्ष्मण से प्रेरित हो कर राम पर्वत पर चढ़े। उन्होंने पर्वत पर ध्यानस्थ रहे हुए दो मुनियों को देखा। वे मुनिवरों को भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर के बैठ गए। रात्रि के समय वहाँ अनलप्रभ नाम का एक देव आया। उसने भयंकर वेताल का रूप बनाया और अनेक वेतालों की विकुर्वणा की। वह देव घोर गर्जना और भयंकर अट्टहास करता हुआ मुनिवरों पर उपद्रव करने लगा। उस दुराशय दानव की दुष्टता देख कर राम-लक्ष्मण सन्नद्ध हो गए। सीता को मुनिवरों के निकट बिठा कर वे उस दुष्टात्मा वेताल पर झपटे। रामलक्ष्मण के साहस और प्रभाव से उदभ्रांत हुआ देव, भाग कर स्वस्थान चला गया। दोनों महात्मा निर्भीक हो कर ध्यान में लीन थे। उनके घातिकर्म झड़ रहे थे। वे धर्मध्यान से शुक्लध्यान में प्रविष्ट हो कर निर्मोही हो गए और घातिकर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। रामभद्रजी ने केवलज्ञानी भगवंत को नमस्कार कर के उपद्रव का कारण पूछा। सर्वज्ञ भगवान् कूलभूषणजी ने कहा;—

"पद्मिनी नगरी में विजयपर्वत राजा राज करता था। उसके 'अमृतसर' नामक दूत था। उपयोगा नाम की दूतपत्नी से 'उदित' और 'मुदित' नाम के दो पुत्र हुए थे।

अमृतसर के 'वसुभूति' नाम का एक ब्राह्मण मित्र था। अमृतसर की पत्नी वसुभूति ब्राह्मण पर आसक्त थी। वह इतनी मोह-मूढ़ बनी कि अमृतसर को मार कर वसुभूति के साथ रहना चाहती थी। वसुभूति भी उपयोगा पर आसक्त था। राजाज्ञा से अमृतसर का विदेश जाने का प्रसंग आया। वसुभूति भी उसके साथ गया। उसने अनुकूल अवसर देख कर अमृतसर को मार डाला। इसके बाद वह लौट आया और लोगों में कहने लगा कि--

"अमृतसर ने अपने आवश्यक एवं गुप्त कार्य के लिए मुझे लौटा दिया और खुद आगे बढ़ गया।" उसने उपयोगा से मनोरथ सफल होने की बात कही। उपयोगा ने कहा--

"इन दोनों छोकरों को भी मार डाला जाय, तो फिर कोई बाधा नहीं रहेगी। ये छोकरे हमारे लिए दुःखदायक बन जावेंगे। इसलिए इस बाधा को भी हटा दो, जिससे हम निराबाध रह कर सुख भोग सकेंगे।"

वसुभूति ने स्वीकार कर लिया। वह उन दोनों बन्धुओं को समाप्त करने का अवसर देखने लगा। यह बात वसुभूति की पत्नी को मालूम हो गई। उसने चुपके से उन दोनों भाइयों को सावधान कर दिया। उदित और मुदित वसुभूति को पितृ-घातक तथा दोनों की घात की ताक में रहने वाला जान कर क्रुद्ध हुए। उदित ने वसुभूति को मार डाला। वह मृत्यु पा कर नवपल्ली में म्लेच्छ कुल में उत्पन्न हुआ।

कालान्तर में मतिवर्द्धन मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर राजा ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उसके साथ मुदित और उदित भी दीक्षित हो गए। विहार करते मार्ग भूल कर वे नवपल्ली में चले गए। वसुभूति का जीव जो म्लेच्छ हुआ था, मुनियों को देख कर क्रोधित हो गया। उस पर पूर्व का वैर उदय में आ गया था। वह उन मुनियों को मारने के लिए तत्पर हुआ, किंतु म्लेच्छ नरेश ने उसे रोका। म्लेच्छ नरेश अपने पूर्वभव में पक्षी था और उदित तथा मुदित कृषक थे। उन्होंने पक्षी को शिकारी के पास से छुड़ा लिया था। पक्षी को अपने रक्षक के प्रति शुभ भावना थी। वह इस भव में उदित हो कर मुनियों का रक्षक बना। दोनों मुनियों ने चिरकाल संयम पाला और समाधिमरण मर कर महाशुक्र देवलोक में 'सुन्दर' और 'सुकेश' नामक देव हुए। वसुभूतिका जीव भवभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से मनुष्य-भव पाया और संन्यासी बन कर तप करने लगा। वहाँ से मर कर ज्योतिषी देवों में 'धूमकेतु' नामका मिथ्यादृष्टि दुष्ट देव हुआ। उदित और मुदित के जीव महाशुक्र देवलोक से चव कर इस भरतक्षेत्र के रिष्टपुर नगर के प्रियंवद नरेश की पद्मावती रानी की कुक्षि से रत्नरथ और चित्ररथ नाम के पुत्र हुए और धूमकेतु भी देवभव पूरा कर के

उसी राजा की कनकाभा रानी के उदर से 'अनुद्धर' नामक पुत्र हुआ। वह पूर्वभव के वैर से अनुप्राणित हो कर अपने विमाताजात बन्धुओं पर द्वेष एवं मात्सर्य रखने लगा। किन्तु वे दोनों भाई उससे स्नेह करते थे। योग्य समय पर रत्नरथ को राज्य तथा चित्ररथ और अनुद्धर को युवराज पद दे कर प्रियंवद नरेश प्रव्रजित हो गए और केवल छह दिन संयम पाल कर देवलोकवासी हो गए।

रत्नरथ राजा ने 'श्रीप्रभा' नाम की राजकुमारी से लग्न किया। इसी राजकुमारी के लिए पहले युवराज अनुद्धर ने भी याचना की थी। हताश अनुद्धर का नरेश पर द्वेष बढ़ा। वह अपने ही क्रोध की आग में जलता हुआ युवराज पद छोड़ कर निकल गया और डाकू बन कर राज्य में लूट-पाट करने लगा। इस डाकू भाई के द्वारा प्रजा का पीड़न, रत्नरथ नरेश से सहन नहीं हुआ। जब समझाना-बुझाना भी व्यर्थ हो गया, तो नरेश ने उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया और उचित शिक्षा दे कर छोड़ दिया। इसके बाद अनुद्धर जोगी बन कर तपस्या करने लगा, किन्तु स्त्री-प्रसंग से तपभ्रष्ट हो गया और मृत्यु पा कर भवभ्रमण करते-करते मनुष्यभव पाया। मनुष्यभव में पुनः तपस्वी बन कर अज्ञान-तप करने लगा और मर कर ज्योतिषी में अनलप्रभ देव हुआ।

रत्नरथ नरेश और चित्ररथ युवराज ने संयम स्वीकार किया और चारित्र का विशुद्ध पालन करते हुए भव पूर्ण कर अच्युत कल्प में अतिबल और महाबल नाम के महर्द्धिक देव हुए। वहाँ से च्यव कर सिद्धार्थपुर के क्षेमंकर नरेश की रानी विमलादेवी की कुक्षि से मैं कूलभूषण और यह देशभूषण उत्पन्न हुआ। योग्य वय में पिताश्री ने हमें घोष नाम के उपाध्याय के पास अभ्यास करने भेजा। हमने उपाध्याय के पास बारह वर्ष तक रह कर अभ्यास किया। अभ्यास पूर्ण कर के हम उपाध्याय के साथ राजभवन में आ रहे थे कि हमारी दृष्टि महालय के गोखड़े में बैठी एक सुन्दर कन्या पर पड़ी। हमारे मन में उसके लिए अनुराग उत्पन्न हुआ। हम काम-पीड़ित हो गए और उसी चिन्तन में मग्न हम पिताश्री के पास आये। पिताश्री ने उपाध्याय को पारितोषिक दे कर विदा किया। हम अन्तःपुर में माता के पास पहुँचे। उसी सुन्दरी को माता के निकट बैठी देख कर हमें आश्चर्य हुआ। माता ने उसका परिचय कराते हुए कहा;—"यह तुम्हारी छोटी बहिन कनकप्रभा है। इसका जन्म तब हुआ था—जब तुम उपाध्याय के यहाँ विद्याभ्यास करने गये थे।" यह बात सुन कर हम लज्जित हुए। बहिन के प्रति अपनी दुष्ट भावना के लिए पश्चात्ताप करते हुए हम दोनों विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और उग्र तप करते हुए हम इस पर्वत पर आये। हमारे पिता हमारा वियोग सहन नहीं कर सके और अनशन कर

मृत्यु पा कर महालोचन नामक गरुड़पति देव हुए। आसन कम्पन से हम पर उपसर्ग जान कर पूर्व-स्नेह के कारण यहाँ आये हैं।

कालान्तर में वह मिथ्यादृष्टि अनलप्रभ देव, अन्य देवों के साथ, कौतुक देखने की इच्छा से अनन्तवीर्य नाम के केवलज्ञानी भगवंत के पास गया। धर्मदेशना के पश्चात् किसी ने प्रश्न किया--"भगवन् ! मुनिसुव्रत भगवान् के इस धर्म-शासन में आपके बाद केवलज्ञानी कौन होगा ?" सर्वज्ञ ने कहा--"मेरे निर्वाण के बाद कूलभूषण और देशभूषण नाम के दो साधु केवली होंगे।" यह बात अनलप्रभ ने भी सुनी। कालान्तर में उसने पूर्व-वैर के उदय से विभंगज्ञान से हमें इस पर्वत पर देखा और मिथ्यात्व के जोर से केवली का वचन अन्यथा करने यहाँ आया और हमें दारुण दुःख देने लगा। लगातार चार दिन तक उपसर्ग करते रहने पर आज तुम्हारे भय से वह भाग गया है। उसके योग से हमें घातिकर्म क्षय करने में सफलता मिली।"

महालोचन देव ने रामभद्र से कहा--"तुमने यहाँ आ कर मुनिवरों का उपसर्ग दूर किया, यह अच्छा किया। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। कहो मैं तुम्हारा क्या भला करूँ ?" रामभद्र ने कहा--"हमें किसी प्रकार की चाहना नहीं है।"--"मैं कभी किसी प्रकार तुम्हारा हित करूँगा।"--कह कर देव चला गया।

नगर का भय दूर होने और महामुनियों को केवलज्ञान होने की बात सुन कर वंसस्थल नरेश भी पर्वत पर आये। केवलज्ञानी भगवंतों को वंदना कर के रामभद्रजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया। रामभद्रादि वहाँ से प्रस्थान कर आगे बढ़े।

दण्डकारण्य में xx जटायु परिचय

चलते-चलते रामभद्रादि 'दण्डकारण्य' नामक प्रचण्ड अटवी में आये और एक पर्वत की गुफा में प्रवेश किया। उस गुफा में रहने की सुविधा होने से वे वहाँ कुछ दिन के लिए ठहर गए। एक दिन वहाँ 'त्रिगुप्त' और 'सुगुप्त' नाम के दो चारण मुनि आये। वे दो मास के उपवासी साधु थे और पारणे के लिए वहाँ आये थे। रामभद्रादि ने उनकी भक्तिपूर्वक वंदना की और प्रासुक आहार-पानी से प्रतिलाभित किया। उस दान से प्रभावित हो कर देवों ने वहाँ सुगन्धित जल और रत्नों की वर्षा की। उसी समय कंबुद्वीप के विद्याधरपति 'रत्नजटी' और दो देव वहाँ आये। उन्होंने प्रसन्न हो कर राम को अश्वयुक्त रथ दिया। वहाँ एक वृक्ष पर गन्ध नाम के रोग से पीड़ित एक गिद्ध पक्षी बैठा था।

"स्कन्दक ! कुंभकारट जाने पर तुम्हें और सभी साधुओं को मरणान्तक उपसर्ग होगा ।"

—"भगवन् ! हम आराधक बनेंगे, या विराधक ?"

—"तुम्हारे सिवाय सभी आराधक होंगे ।"

—"यदि मेरे सिवाय सभी साधु आराधक होंगे, तो मैं अपने को सफल समझूँगा ।"

स्कन्दक मुनि ने अपने पाँच सौ साधुओं के साथ विहार कर दिया। वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए कुंभकारट नगर के समीप पहुँचे । उन्हें आते देख कर पालक का वैर जाग्रत हुआ। उसने तत्काल एक षड़यन्त्र की योजना की । साधुओं के ठहरने के लिए उपयोगी ऐसे एक उद्यान में उसने गुप्तरूप से बहुत-से शस्त्रास्त्र, भूमि में गड़वा दिये । स्कन्दक अनगार, अपने परिवार सहित उस उद्यान में ठहरे । दण्डक राजा, मुनि आगमन सुन कर वन्दन करने गया। मुनिराज ने राजा-प्रजा को धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुन कर परिषद स्वस्थान चली गई ।

पालक ने राजा को एकान्त में कहा—"यह स्कन्दक मुनि बगुलाभक्त—दंभी है। इसके साथ के साधु बड़े शूर-वीर हैं । प्रत्येक में एक हजार शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति है । ये आपका राज्य हड़पने के लिए आये हैं । इन्होंने अपने शस्त्र, उद्यान की भूमि में गाड़ रखे हैं । अवसर पा कर ये आप पर आक्रमण कर के आपके राजसिंहासन पर अधिकार करना चाहते हैं । मुझे अपने भेदिये द्वारा विश्वस्त सूचना प्राप्त हुई है । आपको पूर्णरूप से सावधान रहना होगा । यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो, तो स्वयं चल कर देख लीजिए ।"

राजा यह सुन कर स्तंभित रह गया । वह पालक के साथ उद्यान में आया। पालक द्वारा दिखाई गई भूमि खुदवा कर उसने शस्त्र निकलवाये । उसके हृदय में मुनि-वृन्द के प्रति उग्रतम क्रोध उत्पन्न हुआ । उसने पालक से कहा;—

"सन्मित्र ! तू मेरा रक्षक है । तेरी सावधानी से ही यह षड़यन्त्र सफल नहीं हो कर पकड़ में आ गया । यदि तू नहीं होता, या असावधान होता, तो यह ढोंगी-समूह अपना मनोरथ पूर्ण कर लेता और मेरी तथा मेरे परिवार की क्या गति होती ? किस दुर्दशा से मृत्यु होती ? तू मेरा व इस राज्य तथा मेरी वंश-परम्परा का उपकारी है। अब तू ही इस दुष्ट-समूह को दंडित कर । इन सब को उचित दण्ड दे । अब मुझ-से पूछने की आवश्यकता नहीं, तू स्वयं समझदार है ।"

राजाज्ञा प्राप्त होते ही पालक ने तत्क्षण, मनुष्य को पिलने का यन्त्र (घाना)

मँगवा कर वहीं गड़वा दिया और आचार्य स्कन्दक के सामने एक-एक साधु को पिलने लगा। पिलते समय साधुओं को स्कन्दकजी ने उपदेश दे कर आराधना में तल्लीन बनाया। सभी उच्च भावों में रमण करते हुए, श्रेणि का आरोहण कर, घाति-कर्मों को नष्ट कर दिये और पिलाते हुए केवलज्ञान पाये, तथा बाद में योग-निरोध कर मोक्ष प्राप्त हुए। शेष रहे आचार्य और उनका लघुशिष्य। आचार्य ने पालक से कहा--"पहले मुझे पेर लो, इस बालक को बाद में पेरना। मैं इस बाल-मुनि का पेरा जाना नहीं देख सकूँगा।"

पालक के मन में उत्कट वैर था। वह आर्य स्कन्दकजी को अत्यधिक दुखी देखना चाहता था। उसने उनकी माँग ठुकरा दी और बालमुनि को पेरना प्रारम्भ किया। आचार्य ने भी अंतिम प्रत्याख्यान तो किये, किंतु पालक की दुष्टता को सहन नहीं कर सके। उन्होंने द्वेषपूर्ण भावों से निदान किया;--

"मेरी तपस्या के फल स्वरूप, मैं दण्डक राजा, पालक, इनके कुल तथा देश को नष्ट करने वाला बनूं। मेरे ही हाथों ये सभी छिन्न-भिन्न होवें।

इस प्रकार निदान करते और इन्हीं भावों में लीन बने आचार्य स्कन्दकजी को पालक ने पिलवा दिया। आचार्य मृत्यु पा कर अग्निकुमार जाति के भवनपति देव रूप में उत्पन्न हुए।

पाँच सौ मुनियों को घानी में पेर कर हत्या करने के कारण वह सारा उद्यान ही मांस और हड्डियों का ढेर बन गया। रक्त की नदी बह चली। मांसभक्षी कुत्ते श्रृगाल आदि आ-आ कर भक्षण करने लगे। चील, कौए, गिद्ध आदि पक्षी भी भक्ष को चोंच एवं पाँवों में भर कर उड़ने लगे।

रानी पुरन्दरयशा--जो स्कन्दाचार्य की बहिन थी, अपने भवन में बैठी थी। उसे इस मुनि-संहार रूपी घोरतम हत्याकांड का पता भी नहीं था। अचानक उसके सामने, भवन के आंगन में रक्त एवं मांस के लोथड़ों से सना हुआ रजोहरण गिरा। एक पक्षी रजोहरण को ही, रक्तमांस लिप्त होने के कारण हाथ का हिस्सा या आंत के भ्रम में उठा कर उड़ गया था। वह उसे सम्भाल नहीं सका और उसके पाँवों से छूट कर अन्तःपुर के आंगन में गिरा। रानी उसे देख कर चौंकी। उसने पता लगाया तो इस घोरतम हत्याकाण्ड का पता लगा। इस महापाप से उस रानी को गम्भीर आघात लगा। वह रुदन करती हुई राजा की घोर निन्दा करने लगी। शोकग्रस्त रानी को कोई व्यन्तर देवांगना उठा कर ले गई और भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के समवसरण में रख दी। वहाँ उसने बोध प्राप्त कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

अग्निकुमार देव हुए स्कन्दकाचार्य ने अवधिज्ञान से अपने और श्रमण-संघ के घोर-शत्रु पालक को देखा। उसके महापाप का स्मरण कर वह देव, क्रोधावेश में आ गया और अपनी दाहक-शक्ति से दण्डक राजा, पालक और समस्त नगर को जला कर भस्म कर दिया। उस समय जल कर भस्म हुआ यह क्षेत्र 'दण्डकारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दण्डक राजा अनेक योनियों में जन्म-मरण करता और पापकर्म का फल भोगता हुआ यह गन्ध नाम का महा रोगी पक्षी हुआ। पाप-कर्म विपाक हलका होने पर इसके ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हुआ। हमारे दर्शन से इसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। हमें प्राप्त स्पर्शौषधी लब्धि के प्रभाव से इसके सभी रोग नष्ट हो गए।"

अपना पूर्वभव सुन कर वह गिद्धपक्षी प्रसन्न हुआ। उसने पुनः मुनिवरों को नमस्कार किया और धर्म श्रवण कर के श्रावक-व्रत स्वीकार किये। महर्षि ने अवधिज्ञान, से उसकी इच्छा जान कर उसे जीव-हिंसा, मांस-भक्षण और रात्रि-भोजन का त्याग कराया। "हे रामभद्र! अब यह पक्षी तुम्हारा सहधर्मी है। साधर्मी-बन्धुओं पर वात्सल्य भाव रखना कल्याणकारी है--ऐसे जिनेश्वर भगवंतों का वचन है।"

रामभद्रादि ने महर्षि के वचनों का आदर किया। दोनों मुनिराज आकाश-मार्ग से प्रस्थान कर गए। राम-लक्ष्मण और सीता, जटायु पक्षी के साथ दिव्य रथ में बैठ कर आगे बढ़े।

सूर्यहास खड्ग साधक शंबूक का मरण

पाताल-लंका में खर विद्याधर का शासन था। उसकी पत्नी चन्द्रनखा के 'शंबूक' और 'सुन्द' नाम के दो पुत्र थे। यौवन-वय प्राप्त होने पर महा साहसी शंबूक कुमार ने वन में जा कर सूर्यहास खड्ग साधने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की इच्छा की अवहेलना कर के शंबूक कुमार सूर्यहास खड्ग साधने के लिए दण्डकारण्य में आया। कंच-रवा नदी के किनारे वंशजाल के गव्हर को उसने अपना साधना-स्थल बनाया। उसने निश्चय किया कि--"यहाँ रहते हुए मुझे कोई रोकेगा, तो मैं उसे मार डालूँगा।" दिन में एक बार भोजन करता, ब्रह्मचर्य पालता एवं जितेन्द्रिय रहता हुआ वह विशुद्धात्मा, वटवृक्ष की शाखा से अपने पाँव बाँध कर तथा औंधा लटकता हुआ, सूर्यहास खड्ग साधने की विद्या का जाप करने लगा। यह विद्या बारह वर्ष और सात दिन की साधना से सिद्ध हो सकती थी। शंबूक को साधना करते हुए बारह वर्ष और चार दिन बीत चुके थे और केवल

तीन दिन ही शेष रह गए थे। इस साधना के बल से सूर्यहास खड्ग आकाश से नीचे उतरता हुआ वंश-गव्हर के निकट आ गया और अपना तेज तथा सुगन्ध फैलाने लगा। उस समय रामभद्रादि भी उसी क्षेत्र में, कुछ दूर ठहरे हुए थे। लक्ष्मणजी इधर-उधर घूमते हुए उस वंशजाल के निकट आ गए। उनकी दृष्टि अपने तेज से प्रकाशित सूर्यहास खड्ग पर पड़ी। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक उस खड्ग को ग्रहण किया और म्यान से बाहर निकाल कर उसकी तीक्ष्णता की परीक्षा के लिए वंशजाल पर हाथ चला दिया। प्रहार से वंशजाल बड़ी सरलता से कट गई और साथ ही शंबूक का मस्तक भी कट कर लक्ष्मणजी के निकट गिर गया। रक्त की धारा बह चली। लक्ष्मणजी यह देख कर चौंके। उन्होंने वंसजाल में घुस कर देखा, तो वटवृक्ष की शाखा से लटकता हुआ शंबूक का धड़ दिखाई दिया। उन्हें पश्चात्ताप हुआ--"अरे, एक निरपराध मनुष्य का वध हो गया। यह साधक, सूर्यहास खड्ग की साधना कर रहा था। इसका मनोरथ पूर्ण होने ही वाला था कि मेरे हाथ से इसकी मृत्यु हो गई। धिक्कार है मेरे इस अविचारी दुष्कृत्य को।" वे रामभद्रजी के पास आये और अपने पाप की आलोचना करते हुए वह खड्ग बताया। रामचन्द्रजी ने कहा--"हे वीर ! यह सूर्यहास खड्ग है। इसके साधक को तुमने मार डाला। इसका उत्तर-साधक भी कहीं निकट ही होगा।"

कर्म की गति विचित्र है। शंबूक बारह वर्ष तक कठोर साधना कर रहा था। उसे साधना का फल प्राप्त होने ही वाला था कि मृत्यु ने अपना ग्रास बना लिया और लक्ष्मणजी को बिना साधना के ही अनायास फल प्राप्त हो गया। यह सब शुभाशुभ कर्म का फल है।

काम-पीड़ित चन्द्रनखा

रावण की बहिन एवं खर विद्याधर की रानी चन्द्रनखा को अपने पुत्र शंबूक की साधना पूर्ण होने का समय स्मरण हो आया। वह पूजा और भोजन-पान की सामग्री ले कर साधना स्थान पर पहुँची। वहाँ पुत्र के स्थान पर उसका कटा हुआ, कुण्डलयुक्त मस्तक आदि देख कर उसे गंभीर आघात लगा। हाथ की सामग्री छूट कर गिर गई और 'हा, पुत्र ! हा, वत्स !" कह कर वह विलाप करने लगी। शोक का भार कम होने पर उसने सोचा--'ऐसा कौन दुष्ट है, जिसने आज ही मेरे पुत्र का वध कर दिया।' वह उसकी खोज करने के लिए पृथ्वी पर चरणचिन्ह देखने लगी। तत्काल ही उसे मनुष्य के पाँवों

में बैठ कर दण्डकारण्य में आया। जब रावण की दृष्टि श्री रामचन्द्रजी पर पड़ी, तो एक बारगी वह सहम गया। उनके प्रखर तेज को देख कर उसके मन में भय उत्पन्न हुआ और एक ओर प्रच्छन्न खड़ा रह कर सोचने लगा--"इस अप्रतिम योद्धा के पास से महिला-रत्न प्राप्त करना अत्यन्त कठिन एवं कष्टकर है। मैं इस उत्कृष्ट सुन्दरी को कैसे प्राप्त करूँ।" उसकी बुद्धि कुंठित हो गई। उसने अपनी 'अवलोकिनी' विद्या का स्मरण किया। विद्या देवी के उपस्थित होने पर रावण ने कहा--'सीता-हरण में तू मेरी सहायता कर।"

"वासुकी नाग के मस्तक पर से मणि-रत्न लेना कदाचित् सम्भव हो जाय, परन्तु राम की उपस्थिति में सीता को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता। फिर भी एक उपाय है। युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय राम ने लक्ष्मण से कहा था कि—"संकट उपस्थित होने पर सिंहनाद करना।" यदि सिंहनाद कर के राम को यहाँ से हटा दिया जाय, तो

में आ रहा हूँ, डरो मत।" जटायु तत्काल उड़ा और रावण को संबोधित करते हुए बोला;–

"ऐ दुष्ट निशाचर! ऐ नीच निर्लज्ज! छोड़ दे माता को। नहीं, तो अभी तेरे पाप का फल चखाता हूँ।"

वह रावण पर झपटा और अपने तीक्ष्ण चोंच, नाखून तथा धारदार पंखों से रावण के शरीर पर घाव करने लगा। उसने शीघ्रतापूर्वक रावण पर इतने वार किए कि जिससे अनेक स्थानों से रक्त वहने लगा, जलन होने लगी। रावण क्रोधित हुआ और खड्ग से उसके पंख काट कर नीचे गिरा दिया। जटायु भूमि पर पड़ा तड़पने लगा और रावण आकाश-मार्ग से निर्विघ्न अपने स्थान की ओर जाने लगा। सीताजी उच्च स्वर से विलाप करती हुई कहने लगी;––

"हे शत्रु के काल प्राणेश! हे वत्स लक्ष्मण! हे पिता! हे वीर भामण्डल! यह पापी रावण मेरा अपहरण कर के मुझे ले जा रहा है। वचाओ, कोई इस पापी से मुझे बचाओ।"

मार्ग में अर्कजटी के पुत्र रत्नजटी खेचर ने सीता का रुदन सुना और सोचा कि––"यह करुण-क्रन्दन तो मेरे स्वामी भामण्डल की वहिन सीता का लगता है। अभी वह राम के साथ वनवास में है। कदाचित् किसी लम्पट ने राम-लक्ष्मण को भ्रम में डाल कर सीता का अपहरण किया हो। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं सीता को मुक्त करवाऊँ"—इस प्रकार विचार कर वह खड्ग ले कर उछला और रावण के संमुख आ कर कहने लगा—

"अरे धूर्त, लम्पट! छोड़ दे इस सती को। अन्यथा तू जीवित नहीं वच सकेगा। मैं तुझे इस घोर पाप का फल चखाऊँगा।"

रावण ने रत्नजटी को अपने पर आक्रमक वनता देख कर उसकी समस्त विद्याओं का हरण कर लिया ×। विद्या-हरण के साथ ही रत्नजटी नीचे गिरा और वहाँ के कम्वु-गिरि पर रहने लगा।

सीता को ले कर रावण आकाश मार्ग से आगे वढ़ने लगा। सीता को संतुष्ट एवं प्रसन्न करने के लिए वह वड़ी विनम्रता पूर्वक कहने लगा;––

"सुन्दरी! तू खेद क्यों करती है? मैं समस्त भूचर और खेचरों का स्वामी हूँ। शक्ति, अधिकार एवं वैभव में मेरे समान संसार में दूसरा कोई नहीं है। मैं तुझे राज-महिषी के सम्मानपूर्ण पद पर शोभित करूँगा। तेरी आज्ञा में मैं स्वयं त्रिखण्डाधिपति सदैव

× धन-जन की भांति विद्या का भी हरण हो सकता है? कदाचित् वुद्धि-विभ्रम उत्पन्न कर दिया जाता हो?

हूँ। मूर्ख ! शंबूक का वध तो मेरे प्रमाद एवं अनजान में हुआ है। वह कृत्य मेरे पराक्रम का नहीं था। किन्तु तू अपने को वीर एवं योद्धा मानता हो, तो मैं तत्पर हूँ। इस बनवास में भी मैं यमराज को तेरा दान कर के संतुष्ठ कर सकूँगा"—लक्ष्मणजी ने खर को सम्बोधित कर कहा।

लक्ष्मणजी की बात सुन कर खर के क्रोध में अभिवृद्धि हुई। वह तीक्ष्ण एवं घातक प्रहार करने लगा। लक्ष्मण ने भी बाण-वर्षा कर के उसे ढक दिया। इस प्रकार खर और लक्ष्मण के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। उस समय आकाश में देववाणी सुनाई दी कि--"जो वासुदेव के साथ भी इतनी वीरता से लड़ रहा है--ऐसा खर नरेश महान् योद्धा है।" यह देववाणी सुन कर लक्ष्मण ने सोचा--'खर के वध में विलम्ब होना, खर के महत्व को बढ़ाने के समान है।' उन्होंने 'क्षुरप्र' अस्त्र का प्रहार कर के खर का मस्तक काट डाला। खर के गिरते ही उसका भाई दूषण, राक्षसों की सेना ले कर युद्ध में आ डटा, किन्तु थोड़ी ही देर में लक्ष्मण ने उसका और उसकी सेना का संहार कर डाला।

युद्ध समाप्त कर और विराध को साथ ले कर लक्ष्मणजी राम के पास पहुँचे। उस समय उनका बायां नेत्र फरक रहा था। उन्हें अपने और देवी सीता के विषय में अनिष्ट की आशंका हुई। निकट आने पर राम को अकेले तथा विषाद में डुबे देख कर लक्ष्मण को अत्यन्त खेद हुआ। लक्ष्मण, राम के अत्यन्त निकट पहुँच गए, किन्तु राम को इसका ज्ञान ही नहीं हुआ। वे आकाश की ओर देखते हुए कह रहे थे।

"हे वनदेव ! मैं इस सारी अटवी में भटक आया, किन्तु सीता का कहीं पता नहीं लगा। कहाँ होगी वह ? कौन ले गया उसे ? मैं भ्रम में क्यों पड़ा ? लक्ष्मण की शक्ति पर विश्वास नहीं कर के मैंने कितनी मूर्खता की ? मैंने उसे अकेली क्यों छोड़ी ? हा ! उधर भाई लक्ष्मण हजारों शत्रुओं के मध्य अकेला ही जूझ रहा है। मैं उसे भी अकेला छोड़ कर चला आया और यहाँ सीता भी किसी दुष्ट के फन्दे में पड़ गई। क्या करूँ अब ? हा, प्रभो।" इस प्रकार बोलते हुए शोकाकूल हो कर रामभद्रजी पुनः मूर्च्छित हो गए। उनकी यह दशा देख कर लक्ष्मण भी विचलित हो गए। वे बन्धुवर से पास बैठ कर कहने लगे;—

दोनों भुजाओं में बाँध कर आलिंगन किया। लक्ष्मणजी का भी हृदय भर आया। उन्होंने कहा;--

"पूज्य ! किसी धूर्त ने छलपूर्वक सिंहनाद कर के आपको ठगा और देवी का अपरहण किया। किंतु मैं उस दुष्ट को देवी के साथ ही लाऊँगा। वह अधम अपने पाप-कर्म का फल अवश्य भुगतेगा। हमें तत्काल खोज प्रारम्भ करनी है। सर्व प्रथम इस विराध को पाताल-लंका का राज्य प्रदान करें। युद्ध के समय यह मेरे पक्ष में आ कर शत्रु से लड़ने को तत्पर हुआ था, तब मैंने इसे इसके पिता का राज्य वापिस दिलाने का वचन दिया था। अब उस वचन को पूरा करें और फिर देवी की खोज में चलें।"

विराध ने भी उसी समय अपने विद्याधर अनुचरों को सीता की खोज के लिए चारों ओर भेज दिये। उन विद्याधरों के आने तक रामभद्रादि वहीं रहे और शोक, चिन्ता तथा उद्वेगपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। बहुत दूर-दूर तक खोज करने के बाद वे विद्याधर निराशायुक्त लौट आये। उन्हें निराश एवं अधोमुख देख कर रामभद्रजी आदि समझ गए। उन्होंने कहा—

"भाई। तुमने परिश्रम किया, किन्तु हमारे दुर्भाग्य ने तुम्हारा परिश्रम सफल नहीं होने दिया। इसमें तुम्हारा क्या दोष ? जब अशुभ-कर्म का उदय होता है, तब कोई उपाय सफल नहीं होता।"

"स्वामिन् ! आप खेद नहीं करें। खेद-रहित हो कर प्रयत्न करने में ही सफलता का मूल रहा है। मैं आपका अनुचर हूँ। आज आप मेरे साथ पधार कर मुझे पाताल-लंका में प्रवेश करवा दें। वहां से देवी की खोज करना बहुत सरल होगा।"

दो सुग्रीव में वास्तविक कौन

किष्किधा के राजा सुग्रीव की रानी तारा अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके रूप पर साहसगति विद्याधर मुग्ध था ‡। साहसगति ने तारा को प्राप्त करने के लिए हिमाचल की गुफा में रह कर तप किया और प्रतारिणी विद्या सिद्ध कर ली। इस विद्या के द्वारा वह इच्छित रूप बना कर अपना मनोरथ साधना चाहता था। सुग्रीव वन-विहार कर रहा था, तब साहसगति प्रतारिणी विद्या के द्वारा सुग्रीव का रूप बना कर अन्तःपुर में चला गया। उसके पीछे वास्तविक सुग्रीव वन-विहार से लौट कर आया और अन्तःपुर में प्रवेश करने लगा, तो अन्तःपुर-रक्षक आश्चर्य में पड़ गया। उसने अपना कर्त्तव्य स्थिर कर के, बाद में आये हुए सुग्रीव को रोकते हुए कहा;––"महाराज तो अभी अन्तःपुर में पधारे हैं, आप कौन हैं? जबतक आपके विषय में विश्वस्त नहीं हो जाऊँ, आप प्रवेश नहीं कर सकेंगे।"

—"कंचुकी! मैं वास्तविक सुग्रीव हूँ। पहले कोई धूर्त व्यक्ति आया होगा। तुम उस धूर्त को पकड़ो। वह पाखण्डी कुछ अनर्थ नहीं कर डाले, इसलिए अन्तःपुर और युवराज को सावधान कर दो। मैं यहीं हूँ।

रानी और युवराज (वालीकुमार) को सूचना मिलते ही अन्तःपुरस्थ मायावी सुग्रीव को रोका। रानी, कुमार तथा अन्य स्व-परजन, दोनों में से किसी एक को चुनने में असमर्थ थे। दोनों सर्वथा समान थे। कोई अन्तर नहीं था उन दोनों में। होते-होते दोनों के पक्ष हो गए। सेना में भेद पड़ गया। कुछ एक-ओर तो कुछ दूसरी-ओर। दोनों में युद्ध छिड़ गया। दोनों वीर, योद्धा और उनकी सेना लड़ने लगी। भारी लड़ाई हुई। वास्तविक सुग्रीव को विशेष क्रोध आया। झूठे, पाखण्डी एवं दंभी को सचाई का ढोंग कर के आगे बढ़ता हुआ देख कर, सच्चे एवं आक्रांत का शान्त रहना महा कठिन होता है। सुग्रीव उस ढोंगी के साहस तथा गर्वोक्ति सहन नहीं कर सका। वह स्वयं शस्त्र धारण कर उस धूर्त को ललकारता हुआ समुख आया। साहसगति भी तत्पर हो गया। दोनों परस्पर युद्ध करने लगे। आघात-प्रत्याघात के दाव चलने लगे। दोनों बलवान् और युद्धकला विशारद थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा। शस्त्र समाप्त होने पर दोनों मल्ल की भाँति भिड़ गए। मल्लयुद्ध भी बहुत देर तक चला। वास्तविक सुग्रीव ने हनुमान से सहायक बनने का निवेदन किया, किन्तु 'सच्चाई किसके पक्ष में है'––यह निर्णय नहीं हो सकने के कारण वे दर्शक ही रहे। इधर नकली सुग्रीव––साहसगति ने भुलावा दे कर सुग्रीव को दबाया

आवास में रहा। साहसगति राज्यभवन में ही रहा- अन्तःपुर से दूर। सुग्रीव उस धूर्त से पार पाने का उपाय सोचने लगा। उसकी दृष्टि रावण की ओर गई, किन्तु फिर रुक गई। 'रावण स्वयं लम्पट है। यदि उसने धूर्त से रक्षा की भी, तो तारा के रूप पर मुग्ध हो, वह स्वयं ही विपत्तिरूप वन सकता है'—इन विचारों ने उसे रावण की ओर से मोड़ा। उसने फिर सोचा—' पाताल-लंकापति खर पराक्रमी योद्धा था, किन्तु लक्ष्मण ने उसे मार डाला। मैं राम-लक्ष्मण की सहायता प्राप्त कर सकूँ, तो मेरा कार्य सफल हो सकता है"—इस विचार से सुग्रीव ने अपने विश्वासी दूत को विराध के पास भेजा। दूत की वात सुन कर विराध ने कहा—"तुम जाओ और सुग्रीव को ही यहाँ भेज दो।" दूत की वात सुन कर सुग्रीव, विराध के पास आया। विराध और सुग्रीव, राम-लक्ष्मण के पास आये और अपनी व्यथा सुनाई। रामभद्रजी स्वयं ऐसे ही संकट में थे, किन्तु सुग्रीव की विपत्ति देख कर वे सहायक वनने को तत्पर हो गए और दोनों भाई उसके साथ हो लिये। विराध राजा भी साथ ही आना चाहता था, परंतु रामभद्रजी ने उसे रोक कर राज्य-व्यवस्था सम्भालने की सूचना की। किष्किंधा पहुँचने के वाद सुग्रीव ने उस नकली सुग्रीव को युद्ध के लिए ललकारा। वह फिर सामने आया और दोनों वीर भिड़ गए। रामभद्रजी स्वयं भी यह निर्णय नहीं कर सके कि—'दोनों में वास्तिविक कौन है।" कुछ क्षण विचार करने के वाद उन्होंने वज्रावर्त धनुष सम्हाला और उसका टंकार किया। उस टंकार-ध्वनि के प्रभाव से साहसगति की परावर्तनी (रूपान्तरकारी) विद्या निकल कर पलायन कर गई। अव उसका वास्तविक रूप खुल गया था। राम ने उसे फटकारते हुए कहा—

"दुष्ट पापी! परस्त्री-लम्पट! अव अपने पाप का फल भोग"—इतना कह कर एक ही वाण में उसे समाप्त कर दिया। सुग्रीव का संकट समाप्त हो गया। वह पूर्व की तरह राज्याधिपति हुआ। उसने अपनी तेरह कन्याएँ राम को देने का प्रस्ताव किया। राम ने कहा—"मुझे इनकी आवश्यकता नहीं। तुम सीता की खोज करो।

सुग्रीव आज्ञाकारी सेवक वन गया। उसने खोज प्रारंभ की। राम-लक्ष्मण नगर के वाहर, उद्यान में रहने लगे।

चन्द्रनखा का रावण को उभाड़ना

खर-दूषण आदि के युद्ध में मारे जाने के समाचार रावण के पास पहुँचे। उसकी वहिन चन्द्रनखा अपने पुत्र सुन्द के साथ रोती, छाती पटती तथा कुहराम मचाती हुई आई,

तो एक विषादोत्पादक वातावरण हो गया। अन्तःपुर में रोनापीटना मच गया। रावण अपनी बहिन से मिलने आया, तो वह भाई के गले लिपट कर फूट-फूट कर रोने लगी। उसने कहा;—

"भाई! मैं लूट गई। मेरे पति, देवर, पुत्र और चौदह हजार कुलपति मारे गए। हमारा राज्य छिन कर हमें निकाल दिया। बन्धु! तेरा दिया हुआ राज्य, तेरे सामने ही शत्रुओं ने छिन लिया और तेरे पराक्रमी बहनोई तथा भानेज को मार कर, बहिन को विधवा एवं भिखारिणी बना डाली। यह तेरा एक भानेज बचा है। यह भी निराश्रित हो कर दरिद्र दशा में यहाँ आया है। मेरे वीर-बन्धु! तुझ त्रिखण्डाधिपति की बहिन की ऐसी दुर्दशा तुझ से कैसे सहन हो सकेगी? बता अब मैं क्या करूँ? कहाँ जा कर रहूँ? मेरे हृदय में भड़की हुई ज्वाला कौन शान्त करे? पाताल-लंका के राज्य पर, मेरा और तेरे भानेज का सर्वस्व लूटने वाला वहाँ अधिकार कर के बैठा आनन्द कर रहा है और हमें भटकते-भिखारी बना दिया है। इसका तेरे पास कोई उपाय है भी, या नहीं?"

सारे अन्तःपुर में रोना-पीटना मच गया। सर्वत्र शोक व्याप्त हो गया और रावण स्वयं भी उदास हो कर चिन्तामग्न हो गया। उसने बहिन को आश्वासन देते हुए कहा;—

"बहिन! तू शान्त होजा। तेरा सुहाग लूटने वाले, पुत्र-घातक और राज्य-हड़पने वालों को मैं यमधाम पहुँचाऊँगा और तेरा राज्य तुझे दूँगा। तू यहाँ शान्ति के साथ रह। जो मर गये, वे तो अब आने वाले नहीं है, अब उनके लिए शोक करना छोड़ दे।"

मन्दोदरी रावण की दूती बनी

रावण, साहस कर के सीता को ले आया। किन्तु उसकी मनोकामना पूरी नहीं हुई। सीता उससे सर्वथा विमुख ही रही। वह रावण के सामने भी नहीं देखती थी और उसके संमुख आते ही दुत्कारती रहती थी। इतना ही नहीं, सीता भूखी रह कर प्राण गँवाने के लिए तत्पर थी। रावण के मन में सीता की प्रतिकूलता भी स्थायी चिन्ता का कारण बन गई। सीता के सौंदर्य पर रही हुई आसक्ति ने जो कामाग्नि प्रज्वलित कर दी थी, उसमें भी वह सुलग रहा था। दूसरी ओर उसकी बहिन विशेष चिन्ता ले कर आगई। इस परिस्थिति ने रावण को अशान्त एवं उद्विग्न बना दिया। वह शय्या पर पड़ा हुआ करवटें बदल रहा था। उसी समय उसकी महारानी 'मन्दोदरी' आई। उसने पति की

उद्विग्नता देख कर पूछा—

"स्वामिन् ! आप उद्विग्न क्यों हैं ? एक साधरण मनुष्य की भाँति आपको अशांत नहीं बनना चाहिये। आपको तड़पते देख कर मुझे भी दुःख हो रहा है। कहिये, क्या कारण है आपकी चिन्ता का ?"

"प्रिये ! मैं क्या कहूँ---अपनी अशांति की बात ? सीता के विना मुझे शांति नहीं मिल सकती। यदि तू मुझे प्रसन्न देखना चाहती है, तो स्वयं जा और सीता को मना कर मेरे अनुकूल वना। यही मुझे प्रसन्न करने एवं जीवित रखने का उपाय है, अन्यथा मेरी प्रसन्नता और जीवन की आशा छोड़ दे। मैं वलात्कार कर के भी अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता था, किन्तु किसी स्त्री के साथ वलात्कार नहीं करने की मैंने शपथ ले रखी है। मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। अव तू ही मेरा दुःख मिटा सकती है।"

रावण की वात सुन कर मन्दोदरी विचार में पड़ गई। वह उठी और वाहनारूढ़ हो कर देवरमण उद्यान में आई। उसने सीता के सामने उपस्थित हो कर विनयपूर्वक कहा;—

"देवी ! मैं महाराजाधिराज दशाननजी की पटरानी मन्दोदरी हूँ, किन्तु तेरे सामने तो मैं सेविका के रूप में उपस्थित हुई हूँ। यदि तू मेरी सेवा स्वीकार कर ले, तो मैं तुझे मेरे स्थान पर प्रतिष्ठित कर के जीवनभर तेरी सेवा करने को तत्पर हूँ। सुन्दरी ! तेरा भाग्य उदय हुआ है। तू त्रिखण्डाधिपति की हृदयेश्वरी हो जायगी और समस्त साम्राज्य तेरा आज्ञांकित रहेगा। अवतक तेरा भाग्योदय नहीं हुआ था, इसलिए तू उस दरिद्री राम के साथ भिखारियों की तरह वन में भटक रही थी। तेरा यह जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा था। अब तू उस विश्वपूज्य पुरुषोत्तम के हृदय में वस गई है, जिसके चरणों में सारा संसार झुक रहा है। उठ, मेरे साथ राज्यभवन में चल। मैं आज ही तेरा अग्र-महिषी का अभिषेक, महाराजाधिराज द्वारा कराऊँगी और स्वयं तेरी सेवा में तत्पर रहूँगी।"

"चल हट कुटनी ! तू उस लम्पट चोर को महापुरुष वताती है---जो डाका डाल कर मुझे ले आया। वह गीदड़ मेरे केसरीसिंह जैसे जीवनाधार की समानता क्या करेगा ? मैं तो समझती थी कि रावण ही दुराचारी है, परंतु अव जाना कि तू भी दुराचारिणी है, जो कुटनी का काम कर, सती महिलाओं को दुराचार में लगाने की चेष्टा करती है। जा, हट यहाँ से। तेरी छाया के स्पर्श से भी पाप लगता है,"---सीता ने रोषपूर्वक कहा---

रावण छिप कर यह वार्तालाप सुन रहा था। वह प्रकट हो कर कहने लगा;---

"सुन्दरी ! मन्दोदरी को क्यों दोष देती है ? वह तो तेरे भले के लिए, अपना

सर्वस्व त्याग कर तेरी सेवा करने को तत्पर हुई है। मैं स्वयं भी मेरा साम्राज्य और जीवन तेरे चरणों पर न्यौछावर करने को तत्पर हूँ। मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ कि जीवन-पर्यन्त मैं तेरा सेवक रहूँगा। अब तू अपना हठ छोड़ कर चल हमारे साथ।"

"दुष्ट, नराधम! तेरे पतन का समय निकट आ रहा है। यमराज तुझ पर अपना कालहस्त शीघ्र ही फैलावेगा। तेरे मन में घुसा हुआ पाप, तुझे नष्ट-भ्रष्ट कर, नरक में डाल देगा। तू उस अधःपतन और मृत्यु का पथिक हो गया है, जिसे कोई भी सत्पुरुष नहीं चाहता। अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले चाण्डाल! कुत्ते! भाग जा यहाँ से।"

"तू निश्चय जान कि पुरुषोत्तम राम, अपने अनुज वीर लक्ष्मण के साथ आ कर तुझे यमधाम पहुँचा देंगे। उस महाबाहु युगल के सामने तू मच्छर जैसा है। यदि सुमति ने तेरा साथ नहीं दिया, तो तेरा विनाश अवश्यंभावी है।"

रावण कामान्ध था। उसकी वासना प्रबल थी और दुर्भाग्य का उदय होने जा रहा था। उसे सन्मति आवे कहाँ से? उसने सोचा—"यह सीधी तरह नहीं मानेगी। कई प्राणी ऐसे होते हैं, जो भय उत्पन्न होने पर ही प्रीति करने लगते हैं, उन पर समझाने का प्रभाव नहीं पड़ता। मुझे भी अब कठोर उपाय काम में लाना चाहिए"—इस प्रकार सोच कर अपनी वैक्रिय-शक्ति से वह उपद्रव करने लगा। संध्या हो चुकी थी। अन्धकार सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। अन्धकार वैसे भी भयानक होता है, फिर शत्रुतापूर्ण वातावरण तथा एकाकीपन हो, तो भयंकरता विशेष बढ़ जाती है। ऐसे समय रावण-विकुर्वित उल्लू का बोलना, गीदड़ों का रोना, सिंह की गर्जना, सर्पों की फुत्कार, बिल्लों का क्रोधपूर्वक लड़ना, भूत-पिशाच एवं वेताल के भयंकर अट्टहास, इत्यादि उपद्रव, पहले तो दूर भासित होने लगे, फिर निकट आते हुए उसे घेर कर भय का उग्र प्रदर्शन करने लगे। सीता तो पहले से ही आत्म-विश्वासी थी। वह अपने शीलधर्म पर प्राण न्यौछावर करने के लिए तत्पर हो चुकी थी। इसीसे तो रावण जैसे महापराक्रमी का प्रभाव भी उसे विचलित नहीं कर सका। जिसके मन में जीवन से भी धर्म का महत्व अधिक होता है और धर्म के लिए प्राण देने को तत्पर हो जाता है, उसे भय किस बात का? सीता निश्चल रह कर परमेष्ठि का स्मरण करने लगी। रावण के उत्पन्न किये हुए भय विफल हुए और उसे निराश लौटना पड़ा।

रावण से विभीषण की प्रार्थना

प्रातःकाल होने पर विभीषण ने सुना—"रावण किसी सुन्दरी का अपहरण कर के

लाया है और उसके अनुकूल नहीं होने पर भाँति-भाँति के उपद्रव कर के उसे कष्ट देता है।" विभीषण तत्काल देवरमण उद्यान में आया और सीता के पास आ कर सान्त्वना देता हुआ बोला;—

"भद्रे ! तुम कौन हो ? किस भाग्यशाली की पुत्री ? तुम्हारे पति कौन है ? यहाँ आने का क्या कारण है ? तुम अपना वृत्तांत निःसंकोच मुझे सुनाओ। मुझसे भय मत रखो। मैं पर-स्त्री-सहोदर हूँ।"

विभीषण की वात पर सीता को विश्वास हुआ। उसने कहा;—

"बन्धुवर ! मैं जनक नरेश की पुत्री और भामण्डल विद्याधर की वहिन हूँ। दशरथ नरेश मेरे श्वशूर हैं। रामभद्रजी मेरे पति हैं। मैं अपने पति और देवर लक्ष्मणजी के साथ दण्डकारण्य में थी। मेरे देवर लक्ष्मण इधर-उधर घूम कर वन-विहार कर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि आकाश में अधर रहे हुए श्रेष्ठ खड्ग पर पड़ी। उन्होंने उसे ले लिया और कौतुकवश निकट रही हुई वंशजाल पर एक हाथ चला दिया। उस झाड़ी में ही खड्ग का साधक उलटा लटक कर साधना कर रहा था। खड्ग का प्रहार झाड़ी में रहे हुए साधक की गरदन पर पड़ा और वह कट कर लक्ष्मण के पास ही आ गिरा। यह देख कर लक्ष्मण को वहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपने ज्येष्ठ-भ्राता के पास आये और इस दुर्घटना का पश्चात्तापपूर्वक निवेदन किया। इतने में लक्ष्मण के चरण-चिन्हों पर चलती हुई कोई क्रोधित महिला आई। कदाचित् वह साधक की उत्तर-साधिका थी। किन्तु ज्योंही उसकी दृष्टि इन्द्र के समान स्वरूपवान् मेरे पति पर पड़ी, वह मोहित हो गई और अनुचित याचना करने लगी। मेरे पति ने उसकी माँग अस्वीकार की, तो वह एक राक्षसी सेना ले कर आई। उस विशाल सेना से युद्ध करने के लिए लक्ष्मण गए। मेरे पति ने लक्ष्मण को जाते समय कहा था कि संकट उपस्थित होने पर सिंहनाद करना। इसके वाद रावण ने मायापूर्वक नकली सिंहनाद कर के मेरे पति को मेरे पास से हटाया और मेरा अपहरण कर के मुझे यहाँ ले आया है। रावण के मन में पाप भरा हुआ है। किन्तु उसकी पापी इच्छा कभी भी पूर्ण नहीं होगी। मैं धर्म पर जीवन को न्यौछावर कर दूँगी।"

"वहिन शान्त रहो। मैं जाता हूँ। अपने भाई को समझा कर तुम्हें मुक्त करने का प्रयत्न करूँगा"—विभीषण ने कहा और चल दिया।

रावण को विनयपूर्वक नमस्कार करने के वाद विभीषण ने कहा;—

"स्वामिन् ! सीता का अपहरण कर के आपने वहुत वुरा काम किया है। यह अनीति और दुराचार अपने कुल के प्रतिकूल है। आप महापुरुष हैं। आपके द्वारा ऐसा चौर्यकर्म

और जारकर्म नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की हीनदृष्टि, विनाश की नींव लगाती है। अब भी आप सीता को लौटा दें, तो बिगड़ी बात सुधर जायगी। अन्यथा यह निमित्त दुर्भाग्य जनक होगा।"

"अरे ओ भीरु, कायर! तू इस प्रकार बोलता है? मेरी शक्ति का तुझे पता नहीं। क्या तू मुझे उन वनवासी राम-लक्ष्मण से भी गया-बीता मानता है? आने दे उन्हें यहाँ। मैं उन्हें क्षणमात्र में ही गत-प्राण कर दूँगा। जा निश्चित रह,"--रावण बोला।

"भ्रातृवर! ज्ञानी की भविष्यवाणी सत्य होती दिखाई देती है। सीता के निमित्त से अपने कुल का विनाश होने वाला है। पतन-काल का उदय ही मेरी प्रार्थना व्यर्थ करवा रहा है। यही कारण है कि मेरे मारने पर भी दशरथ जीवित रहा। भावी अन्यथा होने वाली नहीं है। फिर भी मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप सीता को लौटा ही दें। इसी में हम सब का हित है"—विभीषण ने पुनः प्रार्थना की।

रावण ने विभीषण की प्रार्थना की उपेक्षा की और उठ कर देवरमण उद्यान में आया। वह सीता को विमान में बिठा कर आकाश में ले गया और अपने भव्य-भवन, उपवन वाटिकाएँ, निर्मल जल के झरने, प्रपात, नदियें, कुण्ड आदि प्राकृतिक रम्य एवं क्रीड़ास्थान तथा अन्य रमणीय स्थल दिखा कर ललचाने लगा। परन्तु सीता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में इस प्रयत्न में भी विफल हो कर, सीता को अशोकवन में छोड़ कर रावण चला गया।

रावण पर अपनी प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं देख कर विभीषण ने मन्त्री-मण्डल को एकत्रित किया और कहा—

"मन्त्रीगण! अपना स्वामी कामपीड़ित हो कर दुराचारी बन गया है। काम-प्रकोप तो वैसे भी हानिकारक होता है। किन्तु परस्त्री लम्पटता तो रसातल में ले जाने वाली है। ज्ञानियों की भविष्यवाणी सफल होती दिखाई देती है। मैंने विनम्र प्रार्थना की--वह व्यर्थ गई। कहो, अब क्या किया जाय?"

मन्त्रियों ने कहा--"हम तो नाम के ही मन्त्री हैं, शक्तिशाली मन्त्री तो आप ही हैं। जब आपकी हितकारी प्रार्थना नहीं मानी, तो हमारी कैसे मानेंगे? हमने तो सुना है कि राम-लक्ष्मण के पक्ष में सुग्रीव और हनुमान भी मिल गये हैं। न्याय, नीति और धर्म उनके पक्ष में है। इसलिए हमें भय है कि हमारा भविष्य अच्छा नहीं है। फिर भी हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये।

आपस में परामर्श कर के उन्होंने लंका के प्रकोष्ट पर यान्त्रिक शस्त्र रखवा दिये ावश्यक प्रवन्ध कर दिया।

सीता की खोज

सीता के विरह से रामभद्रजी ‡ दग्ध चिंतित एवं खेदित रहने लगे। उनकी प्रसन्नता ख-शांति लुप्त हो गई थी। लक्ष्मणजी उन्हें सान्तवना देते, किन्तु कोरी सान्तवना ट नहीं होती। उनका एक-एक दिन वर्ष के समान वीतने लगा। सुग्रीव अपने अन्तः- मग्न रहने लगा। वह भोग-विलास में पड़ कर अपना वचन भूल गया। जब ाजी को अनुभव हुआ कि सुग्रीव भोग-विलास में अपना कर्त्तव्य ही भूल गया, तो ात हो गए और धनुष-वाण तथा खड्ग ले कर नगरी में आये। उनके कोपयुक्त न से भूमि कम्पित होने लगी, मार्ग के पत्थर चूर्ण होने लगे। उनका कोपयुक्त मुख र द्वारपाल भयभीत हो गए और नम्रतापूर्वक पीछे हट गए। जब सुग्रीव को ाजी के आगमन की सूचना मिली, तो वह दौड़ा हुआ उनके निकट आया और हाथ र खड़ा रहा। लक्ष्मणजी क्रोधावेश में बोले;—

"कपिराज ! तुम तो कृतार्थ हो गए। तुम्हारा दुःख मिट गया। अब भोगासक्त र अन्तःपुर में ही निमग्न हो गए। तुम्हारे स्वामी रामभद्रजी वन में वृक्ष के नीचे बैठे ःखपूर्ण समय व्यतीत कर रहे हैं, इसका तुम्हें भान ही नहीं रहा। तुम अपना वचन ल गए। क्या तुम्हें भी साहसगति के रास्ते—यमधाम, जाना है ? चल साथ होजा ीताजी की खोज प्रारम्भ कर।"

—"स्वामी ! मुझ से अपराध हो गया है। क्षमा करें और मुझ पर प्रसन्न होवें। ो मेरे स्वामी हैं। मैं अभी से सेवा में लग जाता हूँ'—सुग्रीव ने लक्ष्मणजी को किया और उनके साथ रामभद्रजी के पास आ कर प्रणाम किया। उसने अपने ों को चारों ओर खोज करने के लिए भेजा और स्वयं भी खोज में लग गया।

सीता के अपहरण के समाचार सुन कर भामण्डल चिंतित हुआ। वह तत्काल द्रजी के पास आया और उन्हीं के पास रहने लगा। विराध नरेश भी अपने स्वामी

---

‡ 'रामभद्रजी' नाम पर हमारे पास कुछ भाइयों के पत्र आये हैं, किन्तु त्रि. श. पु. चरित्र में यही नाम लिया है और 'चउपन्न महापुरीसचरियं' में भी यही नाम है। अतएव हमने यही दिया है।

के दुःख से दुखी हो कर सेना सहित आ पहुँचा था और वहीं उपस्थित था।

रत्नजटी से सीता का पता लगना

सुग्रीव स्वयं भी खोज करने के लिए आकाश-मार्ग से गया था। वह कम्बूद्वीप पहुँचा। सुग्रीव को अपने निकट आता देख कर रत्नजटी चिन्तित हुआ। उसने सोचा—"रावण मुझ पर क्रुद्ध है। उसने मेरी समस्त विद्याओं का हरण कर लिया और अब मुझे मारने के लिए वीर सुग्रीव को भेजा है।" वह इस प्रकार चिन्ता-मग्न था कि सुग्रीव उसके पास ही आ गया और बोला—"रे रत्नजटी ! क्या तू मुझे पहिचानता नहीं। यहाँ क्या कर रहा है ?"

—"महानुभाव ! रावण ने मेरी दुर्दशा कर दी। रावण सीता का हरण कर के ले जा रहा था। मैंने सीता का विलाप सुन कर रावण का सामना किया तो, उस दुष्ट ने मेरी समस्त विद्याएँ हरण कर ली। बस, उसी समय मैं यहाँ गिर पड़ा और यहीं भटक रहा हूँ। आप इधर कैसे पधारे ?"

"मैं सीताजी की खोज में ही आया हूँ। तू अच्छा मिला। चल मेरे साथ।"

सुग्रीव, रत्नजटी को साथ ले कर रामभद्रजी के पास आया। रत्नजटी ने सीता का हाल सुनाते हुए कहा;—

"देव ! सीताजी का हरण रावण ने किया है। जब रावण उन्हें ले कर विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जा रहा था, तब वे विलाप करती हुई पुकार रही थी। उनकी पुकार इस प्रकार मेरे कानों में पड़ी;—

"हे प्राणेश राम ! हे वत्स लक्ष्मण ! हे वीर भामण्डल ! दौड़ो। यह दुरात्मा चोर मुझे लिये जा रहा है। इस पापात्मा डाकू से मुझे छुड़ाओ।"

"मैंने पुकार सुनी, तो समझ लिया कि यह मेरे मित्र भामण्डल की बहिन है। कोई दुष्ट उसका हरण कर के ले जा रहा है। मुझ-से नहीं रहा गया। मैं तत्काल उड़ा और रावण से भिड़ गया। उस दुष्ट ने मेरी समस्त विद्याओं का हरण कर लिया, जिससे मैं यहीं नीचे गिर पड़ा। वानरपति सुग्रीवजी का सुयोग मिलने पर मैं आज वहां से यहाँ आ सका।'

रत्नजटी की बात सुन कर रामभद्रजी प्रसन्न हो गए। वे बार-बार उससे सीताजी

की बात पूछने लगे । उन्होंने रत्नजटी को छाती से लगा कर आलिंगन किया ।

लक्ष्मण का कोटिशिला उठाना

सीता के चोर का पता रत्नजटी से पा कर रामभद्रजी ने सुग्रीव आदि से पूछा;—

"यहाँ से रावण की लंका कितनी दूर है ?"

"स्वामिन् ! लंका दूर हो या निकट ! मूल प्रश्न तो यह है कि उस प्रचण्ड राक्षस से हम सीताजी को कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? उस विश्वविजेता के सामने हम तो तृण के समान तुच्छ हैं । हमें अपनी शक्ति का विचार सब से पहले करना चाहिये ।"

"नहीं, नहीं, तुम्हें यह विचार करने की आवश्यकता नहीं ! तुम सब निश्चित रहो । तुम तो मुझे उसे दिखा दो, फिर मैं उससे समझ लूँगा । जब लक्ष्मण के बाण रावण के रक्त का पान करेंगे, तब तुम उसके सामर्थ्य को देख लोगे"—रामभद्रजी ने कहा ।

"रावण यदि शक्तिशाली होता, तो चोर की भाँति धोखा दे कर हरण करता ? उसे हमसे युद्ध कर के हमें जीतना था । उस दुष्टात्मा का पतनकाल निकट है । इससे उसे कुमति उत्पन्न हुई और उसने यह अधम कर्म किया । आप उसकी शक्ति की चिन्ता नहीं करें । आप सभी मात्र दर्शक ही रहें । मैं क्षत्रियोचित युद्ध से उसे मार कर यमधाम पहुँचाऊँगा"—लक्ष्मणजी ने राजाओं को विश्वास दिलाया ।

"वीरवर ! आपका कथन सत्य है । आप अजेय योद्धा हैं । आपकी शक्ति भी अपूर्व है, किन्तु रावण भी परम शक्तिशाली है । हम आपके सेवक हैं । आपका पक्ष भी न्यायपूर्ण है, फिर भी परिणाम का विचार कर के ही कार्य में प्रवृत्त होना उचित है । अनलवीर्य नाम के ज्ञानी महात्मा ने कहा था कि—"जो पुरुष, कोटिशिला को उठा लेगा, वही रावण को मारेगा ।" अतएव यदि आप कोटिशिला को उठालेंगे, तो हमें विश्वास हो जायगा । फिर किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहेगा ।"

लक्ष्मणजी ने स्वीकार किया । सभी वहाँ से आकाश-मार्ग से चल कर कोटिशिला के पास आये । लक्ष्मणजी ने सरलतापूर्वक तत्काल कोटिशिला उठा ली । उस समय देवों ने आकाश में 'साधु; साधु' शब्दोच्चार करते हुए पुष्प-वृष्टि की । अब सभी साथियों को लक्ष्मणजी की शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो गया । वे समझ गए थे कि इनके हाथों से रावण का विनाश अवश्य ही होगा । वे सभी आकाश-मार्ग से ही किष्किंधा में श्री रामभद्रजी के पास आये ।

हनुमान का लंका गमन

अव आगे के कार्य का विचार होने लगा। वृद्धजनों ने कहा;—

"हमें विश्वास है कि रावण के पतन का काल निकट है और वह आप ही के द्वारा होगा। यद्यपि रावण ने अनीति अपनाई, तथापि हमें तो नीति से ही काम करना है। इसलिए सर्वप्रथम एक दूत के द्वारा रावण के पास अपना सन्देश भेजना चाहिये। यदि वह समझ कर अपने पाप का परिमार्जन कर ले, तो अन्य मार्ग की आवश्यकता नहीं रहे। किंतु किसी पराक्रमी एवं समर्थ को ही दूत का कार्य सोंपना चाहिये। क्योंकि लंकापुरी में प्रवेश करना और निकलना विकट कार्य है। अपना दूत लंका की राजसभा में जा कर प्रधान-मन्त्री विभीषण के सामने सीता के प्रत्यर्पण की माँग करेगा। राक्षस-कुल में विभीषण वड़ा ही नीतिवान् है। विभीषण, रावण से सीता को लौटाने का कहेगा। यदि रावण विभीषण की अवज्ञा करेगा, तो वह तत्काल अपने पास आयेगा।"

वृद्धों की बात रामभद्रजी ने स्वीकार की। सुग्रीव ने श्रीभूति को संकेत कर के हनुमान को वुलाया। अप्रतिम तेजस्वी हनुमान तत्काल मन्त्रणा-स्थल पर उपस्थित हुए और रामभद्रजी को प्रणाम किया। हनुमान की ओर संकेत करते हुए सुग्रीव ने रामभद्रजी से कहा;—

"देव! यह पवनंजय के विनयी पुत्र हनुमान, विपत्ति के समय हमारे वन्धु हो कर उपस्थित हुए हैं। हम सभी विद्याधरों में इनके समान तेजस्वी एवं पराक्रमशील अन्य कोई भी नहीं है। इसलिए सीताजी की खोज तथा रावण की सभा में सन्देश पहुँचाने का काम इन्हीं को सोंपना चाहिए।"

—"स्वामिन्! इस सभा में अनेक वलवान् और प्रतिभा-सम्पन्न महानुभाव उपस्थित हैं। ये गव, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, नील, द्विविद, मैंद, जाम्ववान्, अंगद, नल, नील तथा अन्य महानुभाव उपस्थित हैं। किन्तु महामना सुग्रीवजी की मुझ पर वहुत कृपा है। स्नेह के वशीभूत हो कर ये मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं स्वयं भी सेवा के लिए सहर्ष तत्पर हूँ। यदि आज्ञा हो, तो राक्षसद्वीप सहित लंका को ला कर आपके सामने उपस्थित करूँ। वान्धवों सहित रावण को वन्दी वना कर लाऊँ। मेरे लिए करणीय आज्ञा प्रदान करें।"

"वीर हनुमान! तुम योद्धा हो, अजेय हो, पराक्रमी हो। तुम्हारी शक्ति से मैं परिचित हूँ। तुम सव कुछ कर सकते हो। किन्तु अभी तो तुम्हें लंकापुरी में जा कर सीता की खोज करना है। सीता के विश्वास के लिए तुम मेरी यह मुद्रिका लेते जाओ। यह तुम सीता को देना और मेरा सन्देश इस प्रकार कहना;—

"हे देवी ! रामभद्र तुम्हारे वियोग से अत्यन्त पीड़ित हैं और तुम्हारा ही ध्यान करते रहते हैं। हे जीवितेश्वरी ! मेरे वियोग से तुम दुखी तो होगी, किन्तु जीवन के प्रति निराश हो कर मृत्यु से प्रीति मत कर लेना। तुम विश्वास रखना कि थोड़े ही दिनों में लक्ष्मण के हाथों रावण की मृत्यु हो जायगी। हम इसी कार्य में लगे हुए हैं। और वीर हनुमान ! लौटते समय सीता का चूड़ामणि मेरे संतोष के लिए ले आना।"

"प्रभो ! मैं कृतार्थ हुआ। किंतु जबतक मैं लौट कर नहीं आऊँ, तबतक आप यहीं—इसी स्थान पर रहें। मैं यहीं आऊँगा।"

हनुमान एक शीघ्रगति वाले विमान में बैठ कर लंका की ओर उड़ चले।

हनुमान का मातामह से युद्ध

लंका की ओर जाते हुए मार्ग में महेन्द्रपुर नगर आया। इस नगर पर दृष्टि पड़ते ही हनुमान को स्मरण हो आया कि यह मेरे मातामह (नाना) का नगर है। मेरे नाना और मामा ने विपत्तिकाल में मेरी माता को आश्रय नहीं दे कर अपमान पूर्वक निकाल दिया था। उनका क्रोध जाग्रत हुआ। उन्होंने आवेश में आ कर रणवाद्य बजा दिया और युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी। हृदय एवं पर्वतों को कम्पित करने वाला हनुमान का युद्ध-घोष सुन कर महेन्द्र नरेश और उनके पुत्र तत्काल सेना ले कर आ गये। भयंकर युद्ध हुआ। हनुमान सर्वत्र घूम-घूम कर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगा। महेन्द्र नरेश का ज्येष्ठ-पुत्र प्रसन्नकीर्ति भी वैसा ही पराक्रमी योद्धा था। उसका सामना करने में हनुमान को बहुत समय लगा। उन्हें विचार हुआ—"मैं स्वामी के कार्य के लिए लंका जाते हुए, मार्ग में ही दूसरे झगड़े में उलझ गया। यह मेरी भूल हुई। फिर यह तो मेरे मामा हैं। किंतु अब तो युद्ध जीत कर ही आगे बढ़ा जा सकेगा—" इस प्रकार विचार कर हनुमान ने विशेष शक्ति से प्रहार किया और प्रसन्नकीर्ति को चकित करते हुए उसके रथ को तोड़ दिया, तथा उसे पकड़ लिया और अन्त में महेन्द्र राजा को भी पकड़ लिया। युद्ध रुक गया। इसके बाद महेन्द्र नरेश और प्रसन्नकीर्ति युवराज को मुक्त कर के उनके चरणों में प्रणाम किया और अपना परिचय दिया, तथा क्षमा याचना की। अपने दोहित्र और भानेज को ऐसा उत्कट पराक्रमी योद्धा जान कर, महेन्द्र नरेश और प्रसन्नकीर्ति आदि प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"हमने तुम्हारे पराक्रम की बातें सुनी अवश्य थी, परंतु आज प्रत्यक्ष देख कर हमें बहुत प्रसन्नता हुई। अब राज्य-महालय में चलो।"

—"नहीं, पूज्य ! मैं स्वामी की आज्ञा से सीताजी की खोज करने लंका जा रहा हूँ। मार्ग में महेन्द्रपुर देख कर माता के विपत्तिकाल की बात स्मरण हो आई और अचानक यह बखेड़ा खड़ा कर दिया। मुझे शीघ्र ही लंका पहुँचना है और आपसे भी निवेदन है कि आप अपनी सेना ले कर राम-लक्ष्मण के पास जाइए।"

हनुमान आगे बढ़े और महेन्द्र नरेश, सेना ले कर किष्किन्धा की ओर चले।

दावानल का शमन

आगे बढ़ते हुए हनुमान की दृष्टि दधिमुख द्वीप पर पड़ी। उन्होंने दो मुनियों को ध्यानमग्न तथा उनके समीप ही तीन कुमारियों को भी साधनारत देखी, साथ ही उस द्वीप पर उठ रही दावानल की भयंकर ज्वालाएँ भी देखीं। उन्होंने सोचा—'यह दावानल इन महामुनियों, कुमारियों और अन्य अनेक प्राणियों का संहार कर देगा। इसको बुझाना अत्यंत आवश्यक है।' उन्होंने अपनी विद्या का प्रयोग कर भंयकर अग्नि का तत्काल शमन कर दिया। हनुमान ने मुनियों की वन्दना की। तीनों कुमारियों की भी साधना पूर्ण हो चुकी थी। उन्होंने मुनिवरों की वन्दना करके हनुमान से कहा।

"हे परमार्हत् ! आपने हमें इस भयंकर एवं विनाशकारी दावानल से बचाया है। आपकी सहायता से स्वल्पकाल में ही हमारी विद्या सिद्ध हो गई। हम आपकी पूर्ण आभारी हैं।"

—"परन्तु तुम्हारा परिचय क्या है"—हनुमान ने पूछा।

—"हम दधिमुख नगर के अधिपति गन्धर्वराज की पुत्रियाँ हैं। हमें प्राप्त करने के लिए बहुत-से विद्याधरों ने पिता के सामने याचना की। उनमें 'अंगारक' नाम का एक विद्याधर भी था। हमारे पिताश्री ने किसी की भी माँग स्वीकार नहीं की। एकबार उन्होंने किसी ज्ञानी मुनि को पूछा, तो उन्होंने कहा कि—"साहसगति नामक विद्याधर को मारने वाला ही तुम्हारी पुत्रियों का पति होगा।" मेरे पिता, साहसगति को मारने वाले की खोज कर रहे थे, किन्तु अबतक पता नहीं लगा। हम तीनों बहिने भी अपने भावी पति को जानने के लिए यहाँ आ कर विद्या साध रही थी कि हम पर अत्यन्त आसक्त होने के बाद निराश हो कर रुष्ट हुए अंगारमर्दक ने हमें साधना-भ्रष्ट करने के लिए आग लगा दी। किन्तु आपने अकारण ही कृपा कर के हमें बचा लिया। जो मनोगामिनी विद्या

छह महीने में सिद्ध होती थी, वह आपकी सहायता से क्षणभर में सिद्ध हो गई। आपने हम पर वड़ा उपकार किया"--सब से वड़ी राजकुमारी ने कहा।

--'राजनन्दिनी ! साहसगति को मारने वाले तो रामभद्रजी हैं। मैं उन्हीं के कार्य के लिए लंका जा रहा हूँ।' उन्होंने सीता-हरण सम्बन्धी वृत्तांत कह सुनाया। तीनों राजकुमारियाँ अपने पिता के पास आईं। गन्धर्वराज, अपनी पुत्रियाँ और विशाल सेना ले कर रामभद्रजी की सेवा में किष्किंधा गये।

विद्याओं का विनाश और लंकासुन्दरी से लग्न

लंका के समीप आते ही लंका की रक्षा करने वाली 'शालिका' नाम की विद्या--जो अत्यन्त काले वर्ण की और भयंकर रूप वाली थी, हनुमान को दिखाई दी। वह क्रोध पूर्वक हनुमान को ललकारती हुई बोली--"अरे ओ वानर ! तू यहाँ क्यों आया और कहाँ जा रहा है। मैं आज तेरा भक्षण करूँगी"--इस प्रकार कह कर उसने अपना मुँह खोला। हनुमान सावधान ही थे। वे गदा ले कर उसके मुँह में घुस गए और पेट फाड़ कर वाहर निकल आए। उस विद्या ने लंका के वाहर एक किले जैसा रक्षा-प्राकार वना रखा था। हनुमान ने अपनी विद्या के सामर्थ्य से उसे मिट्टी के पात्र की भाँति तोड़ कर नष्ट कर दिया। वज्रमुख नामका एक राक्षस उस प्राकार की रक्षा कर रहा था। वह उग्र क्रोधावेश में युद्ध करने आया। किन्तु हनुमान ने उसे भी मार डाला। वज्रमुख के मरते ही उसकी 'लंकासुन्दरी' नाम की पुत्री--जो अनेक प्रकार की विद्याओं में निपुण थी, हनुमान से युद्ध करने आई। वह हनुमान पर वारंवार प्रहार करने लगी और हनुमान कौतुक पूर्वक उसके प्रहार को निष्फल करने लगे। अन्त में वह अस्त्र-विहीन हो गई। उसको आश्चर्य हुआ कि--"यह वीर पुरुष कौन है ? कितना तेजस्वी और पराक्रमी है।" वह अनिमेष दृष्टि से हनुमान को देखने लगी। उसके मनमें काम ने प्रवेश किया। वह हनुमान पर मोहित हो गई। उसने हनुमान से कहा;--

"हे धीर वीर महानुभाव ! मैंने पिता के वध से क्रुद्ध हो कर आप से युद्ध किया, किंतु आपने मेरे सभी अस्त्र व्यर्थ कर दिये। सचमुच आप अद्भुत पुरुष हैं। मुझे पहले एक साधु ने कहा था कि--'तेरे पिता को मारने वाला ही तेरा पति होगा।' उन महात्मा की वात आज सफल हो रही है। अव आप मुझे स्वीकार करलें। आप जैसे महापराक्रमी पति को पा कर मैं गौरवान्वित हूँगी।"

हनुमान ने लंका सुन्दरी से वहीं गन्धर्व-विवाह कर लिया। उस समय सूर्य अस्त होने वाला था +। हनुमान रात भर लंका सुन्दरी के साथ क्रीड़ा करते रहे।

हनुमान का विभीषण को सन्देश

प्रातःकाल लंकासुन्दरी से विदा हो कर हनुमान ने नगर में प्रवेश किया और विभीषण के समक्ष उपस्थित हुआ। विभीषण ने हनुमान का सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा। हनुमान ने कहा;--

"आप दशाननजी के बन्धु हैं और न्यायपरायण महामन्त्री हैं। रावण, रामभद्रजी की पत्नी सीताजी का अपहरण कर के ले आये हैं। मैं श्रीरामभद्रजी का सन्देश ले कर आया हूँ कि आप रावण से सीताजी को मुक्त करवा दें। मैं जानता हूँ कि रावण बलवान् हैं, किंतु उसका यह कार्य अत्यंत अधम है। इससे उनका परलोक ही नहीं, यह लोक भी बिगड़ेगा। आप इस पाप का परिमार्जन करवाइये। अन्यथा इसका दुःखद परिणाम उन्हें भुगतना पड़ेगा।"

"हनुमान ! तुम्हारा कहना सत्य है। मैंने पहले भी बन्धुवर से सीता को मुक्त करने का निवेदन किया था। किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। मैं पुनः आग्रहपूर्वक प्रार्थना करूँगा।"

सीता को सन्देश

हनुमान विभीषण के पास से निकल कर देवरमण उद्यान में आया और छुप कर सीता को देखने लगा। सीता अशोक वृक्ष के नीचे उदास और आँसू बहाती हुई दिखाई दी। वह अत्यंत दुर्बल, म्लान एवं अशक्त होगई थी। उसके हृदय से सतत निःश्वास निकल रहे थे। सीता को देखते ही हनुमान ने सोचा--"सीता महासती है। उसके दर्शन से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है। वह योगिनी की भाँति राम का ही ध्यान कर रही है। रामभद्रजी को इस सीता का विरह संतप्त कर रहा है--यह उचित ही है। ऐसी

+ आचार्यश्री ने इस स्थल पर संध्या, रात्रि और उषाकाल का बड़ा ही मोहक तथा अलंकारों से भरपूर विस्तृत वर्णन किया है। इस सारे वर्णन में सुन्दरी युवती के अंगोपांगों तथा मदन भावयुक्त उपमा प्रचुरता से व्यक्त हुई है।

रूपसम्पन्न, शीलसम्पन्न एवं पवित्र पत्नी, किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होती है। दुष्ट रावण अपने पाप से, सती के निःश्वास से और राम के प्रताप से अवश्य गिरेगा। उसके दुर्दिन आ गये हैं।"

हनुमान ने अदृश्य रह कर ही रामभद्रजी की मुद्रिका सीताजी की गोद में डाल दी। अचानक पतिदेव की मुद्रिका देख कर सीता हर्षित हो गई। उसे विश्वास हो गया कि पतिदेव पधारे हैं, या उनका सन्देश ले कर कोई आया है। वह हर्षित होती हुई मुद्रिका को वारवार देखने लगी। उसे मस्तक और हृदय से लगाने लगी। सीता को प्रसन्न देख कर त्रिजटा दौड़ी हुई रावण के पास पहुँची और बोली;—

"स्वामिन्! सीता प्रसन्न हो गई है। मैंने उसे हँसती हुई देखी है। यह प्रथम समय है कि वह प्रसन्न एवं हँसती हुई दिखाई दी।" त्रिजटा की बात ने रावण को उत्साहित किया। उसने मन्दोदरी से कहा;—

"प्रिये! सीता की प्रसन्नता का कारण यही हो सकता है कि वह अव राम से विरक्त हो गई है और मेरी इच्छा कर रही है। तुम इसी समय जाओ और उसे मिष्ट-वचनों से समझा कर अनुकूल वनाओ।"

मन्दोदरी फिर सीता के पास पहुँची और कहने लगी;—

"महाभागे! मेरे पतिदेव इस संसार में सर्वोत्तम महापुरुष हैं। वे अपूर्व शक्ति, शौर्य, वैभव और अधिकारों के स्वामी हैं। हजारों राजा उनके सेवक हैं। उनके लिए हजारों अपूर्व सुन्दरियाँ स्वार्पण करने के मनोरथ कर रही है, फिर भी वे उनकी ओर देखते भी नहीं। उनका स्नेह तुझ पर हुआ है। तू महान् भाग्यशालिनी है। तेरा यह देवांगना जैसा सौन्दर्य, वन के भटकते दरिद्रियों के योग्य नहीं है। यह दुर्भाग्य का ही फल है कि तू अप्सरा जैसी होकर भी उस भील जैसे राम के पल्ले पड़ी। विधाता की इस भूल को सुधारने का समय आ गया है। अव तू मान जा और स्वीकार कर ले। तेरी सेवामें मैं अन्य हजारों रानियों सहित रहूँगा। स्वयं सम्राट तेरे सेवक वन कर रहेंगे। तुझे यह अनुपम अवसर नहीं गँवाना चाहिये।"

सीता मन्दोदरी की वात सहन नहीं कर सकी। उसने क्रोधित हो कर कहा—

"अरी कूटनी! तू क्या समझती है मुझे? मैं अव तेरा मुँह भी देखना नहीं चाहती। तू याद रख कि तेरा पापी पति भी उसी रास्ते जाने वाला है—जिस राते खर-दूषणादि गये और तेरी भी वही दशा होनेवाली है, जो चन्द्रनखा की हुई। मेरे हृदयेश्वर,

अपने अनुजबान्धव के साथ आने ही वाले हैं। तेरे वैधव्य का समय अब निकट ही है। तू जा यहाँ से, चली जा। अब फिर अपनी छाया से मुझे दूषित करने यहाँ मत आना।"

मन्दोदरी हताश हो कर चली गई। उसके जाते ही हनुमान प्रकट हुए और सीता को प्रणाम करते हुए बोले; —

"देवी ! श्रीराम-लक्ष्मण स्वस्थ हैं। मैं उनका सन्देश ले कर आया हूँ। यह मुद्रिका भी मैं ही आपके विश्वास के लिए लाया हूँ। मेरे लौटते ही वे शत्रु को नष्ट करने के लिए यहाँ आएँगे।"

राम का समाचार सुन कर सीता आश्चर्यपूर्वक बोली; —

"हे वीर ! तुम कौन हो और इस दुर्लंघ्य समुद्र को लांघ कर यहाँ कैसे आये ? तुमने मेरे प्राणेश्वर और वत्स लक्ष्मण को कहाँ देखे। वे अभी कहाँ हैं और किस दशा में हैं ?"

—"माता ! मैं महाराज पवनंजयजी और महासती अंजना का पुत्र हनुमान हूँ। आकाशगामिनी विद्या से समुद्र लांघ कर मैं यहां आया हूँ। मैं पहले रावण की सहायता कर चुका हूँ। रावण की अनीति से उसका पक्ष त्याग कर मैंने श्री राम-लक्ष्मण की सेवा स्वीकार की है। रामभद्रजी आपके वियोग में सदैव चिंतित, उदास एवं संतप्त रहते हैं। गाय के वियोग से बछड़ा दुःखी रहता है, वैसे लक्ष्मण भी आपके वियोग में दुःखी हैं। अभी वे किष्किन्धापुरी में हैं। वानरराज सुग्रीव, भामण्डल, विराध और महेन्द्र नरेश आदि अनेक विद्याधर, राम-लक्ष्मण की सेवा में हैं। मेरे लौटते ही वे लंकापुरी के लिए प्रयाण करेंगे। आपकी खोज करने के लिए महाराज सुग्रीवजी ने मुझे चुना और मैं रामभद्रजी का सन्देश और मुद्रिका ले कर यहां आया। उन्होंने मुझे आपसे चूड़ामणि लाने का कहा है, जिससे उन्हें मेरे यहां पहुँचने का विश्वास हो जाय। अब आप मुझे चूड़ामणि दीजिये और आहार ग्रहण करके अपने शरीर को स्वस्थ रखिये।"

हनुमान से सारा वृत्तांत सुन कर सीता प्रसन्न हुई और अपनी इक्कीस दिन की तपस्या पूर्ण कर के भोजन किया। इसके बाद अपना चूड़ामणि देते हुए सीताजी ने हनुमान से कहा; —

"वत्स ! अब तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ। यदि शत्रु को तुम्हारे यहां आने का पता लग गया, तो उपद्रव खड़ा हो जायगा। ये क्रूर राक्षस तुम्हें पकड़ कर अनिष्ट करेंगे।'

—"माता ! आप चिन्ता नहीं करें। मैं विश्व-विजेता पुरुषोत्तम राम-लक्ष्मण का

दूत हूँ। मेरे सामने रावण और उसकी सेना का कोई महत्व नहीं। यदि आप कहें, तो मैं रावण और उसकी सेना का पराभव कर के आपको अपने कन्धे पर बिठा कर ले जा सकता हूँ"—हनुमान ने अपनी शक्ति का परिचय देते हुए कहा।

"भद्र! तुम समर्थ हो और सब कुछ कर सकते हो। किंतु इससे तुम्हारे स्वामी की कीर्ति को क्षति पहुँचती है। वे स्वयं रावण को पराजित करके मुझे ले जावें, इसीमें उनकी शोभा है। दूसरी बात यह कि मैं पर-पुरुष का स्पर्श नहीं करती, इसलिए तुम्हारे साथ मैं नहीं आ सकती। अब तुम यहां से शीघ्र जाओ और अपने स्वामी को मेरा सन्देश दे कर निश्चिन्त करो। तुम्हारे जाने के बाद ही आर्यपुत्र यहां के लिए उद्यम करेंगे"—सीता ने हँसते हुए कहा।

—"देवी! मैं वहीं जाऊँगा। किन्तु मेरे आने का थोड़ा परिचय इन राक्षसों को भी देदूं जिससे इनको सद्‌बुद्धि प्राप्त होने का निमित्त मिले।" सीता ने हनुमान की इच्छा को मान्य करते हूए कहा—"बहुत अच्छा।"

हनुमान का उद्यान में उपद्रव करना

हनुमान अपने बाहुबल का परिचय देने के लिए उस देवरमण उद्यान को नष्ट करने लगे। वे उछलते-कूदते हुए लताओं से लगा कर बड़े-बड़े वृक्षों तक को तोड़-उखाड़ कर इधर-उधर फेंकने लगे। उस उद्यान के चारों ओर के द्वारों पर राक्षसों की चौकी थी। उद्यान को नष्ट किया जाता हुआ देख कर, राक्षस दौड़े और अपने मुद्‌गर से हनुमान पर प्रहार करने लगे। किन्तु उनके सभी शस्त्रास्त्र व्यर्थ गए। हनुमान, उन टूटे हुए वृक्षों की शाखाओं से राक्षसों को मारने लगे। उनके प्रहार से आक्रामक धराशायी हो गए। उनके कुछ साथी राक्षस भागते हुए रावण के पास गए और इस घटना का वृत्तांत सुनाया। रावण ने अपने पुत्र अक्षयकुमार को, हनुमान को मारने के लिए आज्ञा दी। अक्षयकुमार सेना ले कर चढ़ आया। दोनों में अस्त्र-प्रहार होने लगा। अन्त में हनुमान ने अक्षयकुमार को गत-प्राण कर दिया। भाई के मरने का दुखद समाचार सुन कर, इन्द्रजीत हनुमान से युद्ध करने आया। दोनों वीरों में बहुत देर तक घोर संग्राम हुआ। दोनों के अस्त्र घनघोर मेघ-वर्षा की भाँति एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। इन्द्रजीत के सभी अस्त्रों को हनुमान ने अपने अस्त्रों से बीच ही में काट कर गिरा दिये और अपने युद्ध-कोशल से इन्द्रजीत की

सेना को भी घायल तथा छिन्न-भिन्न कर दी। अपने अस्त्रों को व्यर्थ तथा सेना की दुर्दशा देख कर इन्द्रजीत ने हनुमान पर नागपाश फैंका, जिससे हनुमान पाँव से लगा कर मस्तक तक बँध गया। हनुमान, नागपाश तोड़ कर शत्रु पर विजय पाने में समर्थ थे। परंतु उन्हें रावण के पास पहुँच कर अपना सामर्थ्य बताना था, इसलिए वे बँध गए। इन्द्रजीत हर्ष एवं विजयोल्लासपूर्वक हनुमान को रावण के सामने लाया। रावण और अन्य राक्षसगण, प्रसन्नतापूर्वक वन्दी हनुमान को देखने लगे।

हनुमान द्वारा रावण की अपभ्राजना

हनुमान को अपने सामने वन्धन में जकड़ा हुआ देख कर रावण कड़क उठा। हनुमान ने उसके पुत्र और अनेक योद्धाओं को मार डाला था। वह रोषपूर्ण भाषा में बोला;—

"क्यों रे दुष्ट! तेरी वुद्धि कहाँ चली गई? तू मेरा आश्रित है। भटकते हुए दरिद्र ऐसे राम-लक्ष्मण का साथ देने में तुने कौनसा लाभ देखा? वे अस्थिर, निर्वासित, असहाय और वन-फल खा कर जीवन-निर्वाह करने वाले हैं। उनके वस्त्र मलिन हैं। वे साधु के समान अकिंचन और किरात जैसे असभ्य हैं। उनका सहायक वनने से तुझे क्या मिलेगा? तू क्या सोच कर यहाँ आया और इतना उधम मचाया तथा अपने प्राण संकट में डाल दिये? वे राम-लक्ष्मण वड़े धूर्त हैं। वे स्वयं दूर रहे और तुझे यहाँ धकेल दिया। अव तेरे ये वन्धन कौन छुड़ाएगा? तू मेरा सेवक हो कर उनका दूत कैसे वना?'

—"दशाननजी! तुम मुझे अपना सेवक समझते हो, यह तुम्हारी भूल है। मैंने तुम्हारा स्वामित्व कव स्वीकार किया था? तुम्हारा घमण्डी सामन्त खर, वरुण के कारा-गृह में पड़ा था, तव मेरे पूज्य पिताश्री ने उसे मुक्त कराया था। उसके बाद दूसरी वार तुम्हारी माँग होने पर मैं खुद तुम्हारी सहायता के लिए आया था और वरुण के पुत्रों के संकट से तुम्हारी रक्षा की थी। यह तुम्हें हमारी सहायता थी। हम तुम्हारे सेवक नहीं थे। अव तो तुम पाप, अन्याय और अनार्यकर्म करने वाले हो। ऐसे दुराचारी का साथ मैं क्यों देने लगा? राम-लक्ष्मण के पक्ष में सत्य है, न्याय और नीति है, इसलिए मैं उनका साथी ही नहीं, सेवक हूँ। वे महान् हैं और मर्यादाशील हैं और तुम्हें तुम्हारे पाप का दण्ड देने में समर्थ हैं। उन्होंने मेरे द्वारा जो सन्देश दिया है, वह नीति का पालन करने के

लिए है। यदि अब भी तुम नहीं समझे, तो निश्चय समझो कि उन्हीं के हाथों तुम्हारा पतन होगा, अवश्य होगा। उन दोनों में से एक लक्ष्मण अकेले ही तुम्हें धूल में मिला सकते हैं"—हनुमान ने रावण को खरी-खरी सुनाते हुए कहा।

—"रे कपि ! तू मेरे शत्रु का पक्ष ले कर मुझसे झगड़ रहा है। फिर भी तू दूत होने के कारण अवध्य है। किंतु तेरी उद्दण्डता दूत की सीमा से बाहर है, फिर भी मैं प्राण-दण्ड देना नहीं चाहता। किंतु तेरा काला मुँह और पंच शिखा कर के गधे पर बिठाया जायगा और नगरी के प्रत्येक मार्ग पर, लोक-समूह के साथ घुमाया जायगा।"

रावण के वचन से हनुमान का क्रोध भड़का। उन्होंने झटका दे कर नागपाश तोड़ फेंका और उछल कर, रावण के मुकुट पर पदाघात कर के गिरा दिया। इसके बाद वे कूदते-फाँदते लंका को रौंदते, उसके भव्य भवनों को नष्ट करते हुए निकल गए। रावण—"पकड़ो, बाँधो, मारो, वह गया, दौड़ो"—बकता ही रह गया। सभाजन यह असंभवित दृश्य देख कर स्तब्ध रह गए। उन्हें इस घटना की अशंका ही नहीं की थी।

हनुमान, किष्किन्धा लौट आए और वहाँ घटित घटना का विस्तार से वर्णन कर के सुनाया, तथा सीताजी का चूड़ामणि, रामभद्रजी को दिया। रामभद्रजी को इससे बहुत संतोष हुआ। वे चूड़ामणि को बारबार हृदय से लगाने लगे। उन्होंने हनुमान को प्रसन्न हो कर छाती से लगाया और सीता का वृत्तांत बारबार पूछने लगे।

राम-लक्ष्मण की रावण पर चढ़ाई
समुद्र और सेतु से लड़ाई

हनुमान से सीता के समाचार और रावण के अपमान की बात जान कर, राम-लक्ष्मण और सुग्रीव, भामण्डल, नल, नील, महेन्द्र, हनुमान, विराध, सुसेन, जाम्बवान, अंगद आदि ने रावण पर चढ़ाई कर दी। वे आकाश-मार्ग से चले। उनके साथ अन्य राजाओं ने भी अपनी सेना सहित प्रयाण किया। उनके विजय-कूच के वादिन्त्रों के नाद से आकाश गुंजित हो गया। अपने स्वामी के कार्य की सिद्धि में पूर्ण विश्वास से अभिभूत हो कर विद्याधर-गण विमान, रथ, अश्व, हाथी आदि वाहनों पर आरूढ़ हो कर आकाश-मार्ग से चलने लगे। वे सभी वेलन्धर पर्वत पर बसे हुए वेलन्धरपुर के निकट आये। वहां 'समुद्र' और 'सेतु' नाम के दो बलवान् एवं दुर्धर्ष राजा थे। उन्होंने राम-सेना के साथ युद्ध

इस प्रकार आक्रोशपूर्वक बोलते हुए रावण ने शक्ति को बलपूर्वक घुमा कर लक्ष्मण पर फेंकी। इधर सुग्रीव, हनुमान, नल, भामण्डल और विराध आदि वीरों ने उस शक्ति को मध्य में ही नष्ट करने के लिए अपने-अपने अस्त्रों से प्रहार किया, किन्तु उस शक्ति पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ और वह सीधी जा कर लक्ष्मण के वक्षस्थल पर लगी। शक्ति के वज्राघात से लक्ष्मणजी मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। उनके गिरते ही राम-सेना में हाहाकार मच गया। भाई के मूर्च्छित होते ही रामभद्रजी का कोपानल भड़का। वे स्वयं रावण पर झपटे और तीव्र प्रहार से रावण का रथ, सारथि और घोड़े का चकनाचूर कर दिया। रावण तत्काल दूसरे रथ पर सवार हो कर आया, किन्तु उसकी भी यही दशा हुई। इस प्रकार रावण के पाँच रथ, सारथि और घोड़े नष्ट हो गए। रावण ने सोचा—

"अभी युद्ध स्थल से हट जाना चाहिए। लक्ष्मण की मृत्यु, राम को भी मार देगी। राम, लक्ष्मण का विरह सहन नहीं कर सकेगा। अभी राम, क्रोध से प्रचण्ड बन रहा है। शोक का प्रभाव होते ही क्रोध उतर जायगा।"

रामभद्रजी हताश

रावण युद्ध-भूमि से निकल कर लंका में चला गया। रावण के चले जाने पर रामभद्रजी, लक्ष्मणजी के पास पहुँचे। लक्ष्मणजी को अचेत देख कर वे स्वयं धसक कर गिर पड़े और अचेत हो गए। सुग्रीव आदि ने शीतल जल आदि से रामभद्रजी को सावधान किया। सावधान होते ही रामभद्रजी लक्ष्मणजी को मूर्च्छित देख कर विलाप करने लगे। बहुत देर तक विलाप करने के बाद उनका ध्यान, लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार करने वाले रावण की ओर गया और वे धनुष-बाण उठा कर रावण को समाप्त करने के लिए जाने लगे, तब सुग्रीव ने विनयपूर्वक कहा--

"स्वामिन् ! रुकिये, रावण निशाचर है। वह लंका में चला गया है। रात्रि के समय उसे पाना कठिन है। सर्वप्रथम हमें लक्ष्मणजी को सावधान करना है। रावण कहीं जाने वाला नहीं है। आज नहीं, तो कल। अब उसका समय बहुत निकट आ गया है।"

"बन्धुओं ! मैंने आप सब को कष्ट दिया। आप सभी ने हमारा साथ दिया। किन्तु दैव हमारे विपरीत है। पत्नी का हरण हुआ, भाई का वध हुआ, अब किस भरोसे आप सब को युद्ध में घसीटूं। अब मैं भी शीघ्र ही भाई के रास्ते जाने वाला हूँ। आप सब अपने-

अपने स्थान पर जाइये"—रामभद्रजी ने सुग्रीव, अंगद, हनुमान, भामण्डल आदि को संबोध कर कहा। विशेष में विभीषण से कहा--"बन्धु ! मुझे सब से अधिक दुःख इस बात का है कि मैं तुम्हारा लंकेश्वर का अभिषेक कराने का अपना वचन पूरा नहीं कर सका। दुर्भाग्य ने मुझे विफल कर दिया। किन्तु मैं कल प्रातःकाल ही रावण को लक्ष्मण के मार्ग पर भेज कर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर दूँगा और उसके बाद में भी उस मार्ग पर चला जाऊँगा। बिना लक्ष्मण के मुझे अपना जीवन और सीता भी दुःखरूप लगेंगे"—रामभद्रजी अधीर हो कर बोले।

--"महाभाव ! धीरज रखिये। शक्ति से बाधित व्यक्ति रात्रिपर्यन्त जीवित रहता है। अभी सारी रात्रि शेष है। इस बीच, यन्त्र-मन्त्रादि उपचार हो सकते हैं। हमें अन्य सभी विचार छोड़ कर लक्ष्मणजी को सावधान करने का यत्न करना चाहिए"—विभीषण ने कहा।

विभीषण की बात सभी को स्वीकार हुई। सुग्रीव आदि ने विद्याबल से एक प्रासाद बनाया, प्रासाद में राम और लक्ष्मण को रखा। प्रासाद के सात परकोटे बनाये। प्रत्येक परकोटे की चारों दिशाओं में चार द्वार बनाये। पूर्व के द्वार पर अनुक्रम से--सुग्रीव, हनुमान तार, कुन्द, दधिमुख, गवाक्ष और गवय रहे। उत्तरदिशा के द्वार पर अंगद, कुर्म, अंग, महेन्द्र, विहंगम, सुषेण और चन्द्ररश्मि रहे। पश्चिम द्वार पर--नील, समरशील, दुर्धर, मन्मथ, जय, विजय और संभव रहे और दक्षिण के द्वार पर—भामण्डल, विराध, गज, भुवनजीत, नल मैंद और विभीषण रहे और पहरा देने लगे।

लक्ष्मण के शक्ति लगने और रामभद्र के जीवन-निरपेक्ष होने के समाचार सीताजी ने सुने, तो उन्हें भी आघात लगा। वे भी मूर्च्छित हो गई। मूर्च्छा हटने पर वह विलाप करने लगी। सीताजी का रुदन, एक विद्याधर-महिला से नहीं देखा गया। उसने अवलोकिनी विद्या से देख कर कहा—

"देवी ! तुम्हारे देवर लक्ष्मणजी, प्रातःकाल स्वस्थ हो जावेंगे और अपने ज्येष्ठ-बन्धु रामभद्रजी सहित यहाँ आ कर तुम्हें आनन्दित करेंगे।"

उपरोक्त भविष्यवाणी सुन कर सीता स्वस्थ हुई और प्रातःकाल की प्रतीक्षा करने लगी।

उधर, रावण कभी प्रसन्न, तो कभी शोकाकुल होने लगा। लक्ष्मण की मृत्यु और उससे राम की भी होने वाली मृत्यु तथा युद्ध समाप्ति की कल्पना कर के रावण प्रसन्न होता, किन्तु जब कुंभकर्ण, जैसे सहोदर और इन्द्रजीत, मेघवाहन आदि पुत्रों, जम्बुमाली

प्रसन्न हुए और भाई को छाती से लगा कर भुजाओं से बाँध लिया। सारे शिविर में मंगल-वाद्य बजने लगे। उत्सव मनाया जाने लगा और वहीं विशल्या तथा अन्य कुमारियों के साथ लक्ष्मण के लग्न हुए। विशल्या के स्नानजल से अन्य घायल सैनिकों को भी लाभ हुआ।

रावण की चिन्ता

लक्ष्मण के जीवित होने के समाचारों ने रावण को चिन्ता-सागर में डाल दिया। उसने परामर्श करने के लिए अपने मन्त्रि-मण्डल को बुलाया। परिषद के सामने युद्धजन्य परिस्थिति का वर्णन करते हुए रावण ने कहा;—

"मेरा विश्वास था कि शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण मर जायगा और लक्ष्मण के मरने पर राम भी मरेगा ही। क्योंकि दोनों भाइयों में स्नेह अत्यधिक है। इन दोनों के मरने पर युद्ध का अन्त आ जायगा। इससे कुंभकर्ण आदि भी छूट जायँगे, किन्तु बात उलटी बनी। लक्ष्मण जीवित है और स्वस्थ है। मेरी योजना सर्वथा निष्फल हुई। अब क्या करना और कुंभकर्ण आदि को कैसे छुड़ाना। इसीं विचार के लिए आप सब को बुलाया है। आपकी दृष्टि में उचित मार्ग कौनसा है?"

—"स्वामिन्! हमारी दृष्टि में सीता की मुक्ति ही सब से सरल और उत्तम उपाय है। सींता को मुक्त करते ही युद्ध समाप्त हो जायगा और सभी बन्दी छूट जावेंगे। हमारी दृष्टि में इसके सिवाय अन्य मार्ग नहीं आता। यदि यह मार्ग नहीं अपनाया गया, तो सर्वनाश भी हो सकता है। दैव अपने अनुकूल नहीं लगता। इसलिए राम को प्रसन्न करना ही एक-मात्र उपाय है"—मन्त्रियों ने एकमत हो कर कहा।

रावण के सन्धि-सन्देश को राम ने ठुकराया

मन्त्रि-मण्डल का परामर्श रावण को नहीं भाया। उसका दुर्भाग्य, अभिमान के रूप में खड़ा हो कर, उसको सन्मार्ग पर नहीं आने देता था। उसने मन्त्रियों के सत्परामर्श की अवगणना की और दूत को बुला कर राम-लक्ष्मण को समझाने के लिए भेजा। दूत, राम-लक्ष्मण के सैनिक-शिविर में आया। उस समय भ्रातृद्वय सुग्रीवादि वीरों के साथ

युद्ध सम्बन्धी विचार-विनिमय कर रहे थे। दूत ने रामभद्रजी को प्रणाम किया और विनय-पूर्वक निवेदन किया; —

"मेरे स्वामी ने कहलाया है कि आप मेरे बन्धु आदि को मुक्त कर दें और सीता की माँग छोड़ दें, तो आपको अपना आधा राज्य और तीन हजार कुमारियें दी जायगी। आप बहुत लाभ में रहेंगे। यदि आपने हमारी इतनी उदारता की भी उपेक्षा की, तो फिर आप या आपकी सेना में से कोई भी नहीं बच सकेगा।"

—"न तो मुझे राज्य का लोभ है और न राजकुमारियों के साथ भोग की कामना है। यदि रावण, सीता को सम्मान के साथ ला कर हमारे अर्पण करेगा, तो मैं सभी बन्दियों को छोड़ दूंगा और युद्ध का भी अन्त आ जायगा। समझौते का एकमात्र यही उपाय है। इसके सिवाय सभी बातें व्यर्थ है" —रामभद्रजी ने अपना निर्णय सुनाया।

—"जरा गंभीरता पूर्वक विचार कीजिए। एक स्त्री के लिए इतना भयानक एवं विनाशकारी युद्ध छेड़ना बुद्धिमानी नहीं है, जबकि आपको एक के बदले तीन हजार सुन्दर राजकुमारियाँ और आधा राज्य मिल रहा है। ऐसा लाभ-दायक सौदा तो विजेता को ही मिलता है, जबकि आपकी विजय की कुछ भी आशा नहीं है। आप यह मत सोचिये कि एकबार जीवित रहे लक्ष्मण, फिर भी जीवित रह सकेंगे। मेरे स्वामी दशाननजी अकेले ही आप सब को समाप्त करने में समर्थ हैं। यह सन्देश तो केवल सद्भावनावश भेजा है, सो आपको स्वीकार कर लेना चाहिए।"

"रे, अधम ! तेरा स्वामी किस भ्रम में भूल रहा है। उसे अपनी शक्ति का बड़ा घमण्ड है। उसकी आँखें अब भी नहीं खुली—जब कि उसका परिवार, सामन्त और योद्धागणों में से बहुत-से युद्ध में खप गए और बहुत-से बन्दी हो गए। अब उसके पास स्त्रियें ही रही है, जिन्हें दे कर वह युद्ध के विनाशक परिणामों से बचना चाहता है।"

"हे दूत ! पुत्री की माँग तो संसार में होती है, किन्तु पत्नी माँग तो तेरे दुराचारी स्वामी जैसा ही कर सकता है। फिर भी वह तो चोर है। अब बिना शाखा-प्रशाखा के बचे हुए उस ठूँठ से कह कि यदि उसमें अपनी शक्ति का घमण्ड है, तो शीघ्र ही रणभूमि में आ जाय। मेरी भुजाएँ उसका गर्व नष्ट करने को उद्यत है"—लक्ष्मणजी ने आवेशपूर्वक कहा।

विजय के लिए रावण की विद्या-साधना

दूत ने रावण को प्रति-सन्देश सुनाया। रावण ने फिर मन्त्रियों से पूछा, किन्तु

"वास्तव में मेरे दुर्भाग्य का उदय है। मेरे पतन का समय आ लगा है। मुनिवर की भविष्यवाणी सत्य हो रही है। भाई विभीषण और मन्त्रियों के परामर्श की अवगणना का परिणाम निश्चित ही होगा।"

विभीषण का अन्तिम निवेदन

रावण को चिन्तित देख कर विभीषण ने कहा—

"भ्रातृवर ! अब भी समझो और सीता को ला कर रामभद्रजी को अर्पण करदो, तो यहीं बात समाप्त हो जायगी और युद्ध का अन्त आ जायगा।"

विभीषण की बात सुन कर रावण का क्रोध फिर उभर आया। भवितव्यता ने उसे उकसाया। दुर्मति आ कर रावण के शब्दों में प्रकट हुई;—

—"चुप रह वंश-द्रोही ! चक्र गया, तो क्या हुआ ? मेरा यह मुक्का ही अभी इतना शक्तिशाली है कि उस चक्र के और शत्रु के टुकड़े-टुकड़े कर सकता है। मैं भयभीत नहीं हूँ।"

रावण का मरण

रावण की गर्वोक्ति सुन कर लक्ष्मण ने चक्र घुमाया और रावण पर फेंका। चक्र के प्रहार से रावण की छाती फट गई और वह भूमि पर गिर पड़ा। वक्ष से रक्त की धारा वहने लगी। रावण अन्तिम साँस लेने लगा। वह ज्येष्ठ-कृष्णा ११ के दिन का अन्तिम प्रहर था। रावण मर कर चौथे नरक में गया। रावण के गिरते ही देवों ने लक्ष्मणजी पर पुष्पवर्षा की और जयजयकार बोली। राम-शिविर में विजय-घोष हुआ और वानरदल नाच-कूद कर विजयोत्सव मनाने लगा।

रावण की मृत्यु के आघात से पीड़ित होकर विभीषण भी शोक-मग्न हो गया। परन्तु तत्काल सावधान हुआ और राक्षसी-सेना को सम्बोधित कर कहा—

"वीर राक्षसगण ! शान्त हो कर स्थिति को समझो। ये दोनों भ्राता सामान्य मनुष्य नहीं, महापुरुष हैं। श्री रामभद्रजी इस कालचक्र के पद्म नाम के आठवें बलदेव हैं और श्री लक्ष्मणजी आठवें नारायण (वासुदेव) हैं। इनका आश्रय स्वीकार करो।"

विभीषण के उपदेश से प्रेरित हो कर राक्षसी-सेना ने राम-लक्ष्मण को प्रणाम किया और उनका अधिपत्य स्वीकार किया। रामभद्रजी उन पर प्रसन्न हुए और उनकी स्थिति यथावत् रहने दी।

रामभद्रजी द्वारा आश्वासन

विभीषण का शोक बढ़ गया। उसने भी रावण के साथ ही देह-त्याग करने का संकल्प किया और शोकावेग से—"हा भ्रात! हा वीर! हा ज्येष्ठ बन्धु!"—इस प्रकार गगन-भेदी हाहाकार करते हुए, छुरी निकाल कर छाती में मारने लगा। किन्तु रामभद्रजी ने उसका हाथ पकड़ लिया। उधर रावण की मन्दोदरी आदि रानियाँ भी करुण-विलाप करती हुई वहाँ आ पहुँची। उन्हें देख कर विभीषण विशेष दुःखी हुआ। उन सब को समझाते हुए राम-लक्ष्मणजी ने कहा—

"विभीषणजी! तुम्हारे ज्येष्ठ-बन्धु दशाननजी वीर थे, योद्धा थे। उनके साथ संग्राम करने में देव भी सकुचाते थे। वे वीरतापूर्वक लड़े। उन्होंने कभी शस्त्र नीचा नहीं किया। उनके लिए शोक करना उचित नहीं। उठो और उनके शव की उत्तर क्रिया करो।"

श्री रामभद्रजी ने कुंभ कर्ण, इन्द्रजीत आदि को भी मुक्त कर दिया। राम-लक्ष्मण और सभी सम्बन्धियों ने मिल कर गोशीर्ष-चन्दन की चिता रची और कर्पूरादि उत्तम द्रव्यों से रावण के शरीर का दहन किया। रामभद्रजी ने पद्म-सरोवर में स्नान किया। अन्तिम संस्कार के बाद सभा हुई। रामभद्रजी ने गद्गद् कंठ से रावण की साधना और शौर्य की प्रशंसा की और कुंभकर्ण आदि को सम्बोधित कर कहा;—

"वीर बन्धुओं! आप अपना राज्य सँभालो। न्याय-नीति एवं धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करो। हमें आपके राज्य-वैभव एवं अधिकार की तनिक भी इच्छा नहीं है। हम आपके शत्रु नहीं, मित्र हैं। आप सुखपूर्वक अपना-अपना राज्य सँभालो।"

रामभद्रजी की यह घोषणा सुन कर कुंभकर्णादि ने कहा—

"महाभुज! राज्य तथा सम्पत्ति की दुर्दशा तो हम देख ही चुके हैं। विनाशशील धन-सम्पत्ति और कामभोग की ज्वाला ही आत्मा को जलाती रहती है। हम अब इस ज्वाला से दूर रह कर शाश्वत सुखदायक धर्म की आराधना करना चाहते हैं। 'राजेश्वर हो कर नरकेश्वर' बनने की हमारी इच्छा नहीं। हम एकान्त शान्त निर्ग्रंथ-साधना करेंगे।"

इन्द्रजीत आदि का पूर्व-भव

उस समय लंका के बाहर कुसुमायुध उद्यान में अप्रमेयवल नाम के चार ज्ञानवाले मुनिराज पधारे। उन्हें वहाँ उसी रात्रि में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवों ने उनके केवल-ज्ञान की महिमा की। प्रातःकाल राम-लक्ष्मण और कुंभकर्ण आदि ने केवली भगवंत की वन्दना की और धर्मोपदेश सुना। देशना पूर्ण होने पर इन्द्रजीत और मेघवाहन ने अपना पूर्वभव पूछा। भगवंत ने वतलाया;--

"इसी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी में तुम प्रथम और पश्चिम नाम के दो निर्धन भाई थे। तुम्हारी उदरपूर्ति भी कठिन हो रही थी। भवदत्त अनगार के उपदेश से प्रव्रजित हो कर तुम दोनों साधु हुए। कालान्तर में तुम विचरते हुए कौशाम्वी आये। उस समय कौशाम्वी में वसन्तोत्सव हो रहा था। उस उत्सव में वहां के राजा को अपनी रानी के साथ क्रीड़ा करते देख कर पश्चिम मुनि विचलित हो गए और निदान कर लिया कि— "यदि मेरे तप-संयम का फल हो, तो मैं इसी राजा और रानी का पुत्र वनूं।" इस निदान से अन्य साधुओं ने रोकने का प्रयत्न किया, किंतु वे नहीं माने। मृत्यु पा कर वे उसी राजा और रानी के रतिवर्द्धन नाम के पुत्र हुए और प्रथम नामक मुनि, संयम का पालन कर पाँचवें देवलोक में ऋद्धि-सम्पन्न देव हुए। रतिवर्द्धन कुमार, अपनी रानियों के साथ क्रीड़ा करने लगा। जव प्रथम देव ने अपने भ्राता को भोगासक्त देखा, तो प्रतिवोध देने के लिए साधु का वेश वना कर आया और अपना पूर्वभव का सम्वन्ध वता कर धर्म-साधना करने की प्रेरणा की। अपने पूर्व सम्वन्ध तथा साधना की वात सुन कर रतिवर्द्धन एकाग्र हो गया। अध्यवसायों की शुद्धि से उसे जतिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने खुद ने अपना पूर्वभव देख लिया। उसकी जीवन-धारा ही पलट गई। वह संयमी वन गया और चारित्र का पालन कर उसी पाँचवें देवलोक में देव हुआ। वहाँ से तुम दोनों भाई च्यव कर महाविदेह क्षेत्र के विवुध नगर में उत्पन्न हुए। राजऋद्धि का त्याग कर, संयम पाल कर अच्युत स्वर्ग में गए। वहाँ से च्यव कर तुम दोनों यहाँ रावण प्रतिवासुदेव के इन्द्रजीत और मेघवाहन नाम के पुत्र हुए और रतिवर्द्धन भव की माता रानी इन्दुमुखी, तुम्हारी माता मन्दोदरी हुई।"

पूर्वभव सुन कर इन्द्रजीत, मेघवाहन, कुंभकर्ण और मन्दोदरी आदि ने संसार-त्याग कर चारित्र अंगीकार किया।

सीता-मिलन

केवली भगवंत को वन्दना-नमस्कार करके रामभद्रजी, लक्ष्मणजी, सुग्रीव आदि ने महोत्सव-

इस प्रकार घोषणा करके विभीषण का हाथ पकड़ कर सिंहासन पर विठाया और राज्याभिषेक उत्सव मनाने की आज्ञा दी। तत्काल शुभ-मुहूर्त में विभीषण का राज्याभिषेक किया गया और राजतिलक तथा दान-सम्मान के वाद उत्सव पूर्ण किया। इसके पश्चात् रामभद्रजी की आज्ञा से विद्याधरों ने जा कर सिंहोदर राजा आदि की कुमारियों को वहाँ लाये। इनके साथ लग्न करने का पहले ही निश्चित् हो चुका था। उन कुमारियों से विद्याधर महिलाओं ने, मंगलाचार एवं मंगल-गानपूर्वक, पूर्व निश्चयानुसार राम और लक्ष्मण ने लग्न किया। इसके वाद राम-लक्ष्मणादि छह वर्ष पर्यन्त लंका में सुखपूर्वक रहे।

माता की चिन्ता और नारदजी का सन्देश लाना

राम-लक्ष्मण आदि लंका में सुखपूर्वक समय विता रहे थे। उधर अयोध्या में राजमाता कौशल्या और सुमित्रादि पुत्र-वियोग से दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थी। उन्हें लंका में लक्ष्मण के घायल होने और विशल्या के जाने के वाद कोई समाचार नहीं मिले थे। वे यह सोच कर कि 'लक्ष्मण वचा या नहीं और युद्ध का क्या परिणाम हुआ। अभी राम, लक्ष्मण और सीता किस अवस्था में हैं,' आदि—चिन्ता में ही घुल रही थी। ऐसे समय अचानक नारदजी वहां आये। उन्होंने राजमाताओं की शोकमग्न दशा देख कर कारण पूछा। राजमाता कौशल्या ने कहा—

"राम-लक्ष्मण और सीता वन में गये। सीता का रावण ने हरण किया। लक्ष्मण को शक्ति का भयंकर आघात लगा। उसके निवारण के लिए विशल्या को ले गए। उसके वाद क्या हुआ, कुछ भी समाचार नहीं मिले। उनसे विछुड़े वर्षों हो गए। 'हम उन्हें देख सकेंगे या नहीं, यही हमारी चिन्ता का कारण है।"

नादरजी ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"भद्रे ! तुम चिन्ता मत करो। वे स्वस्थ हैं। उन्हें कोई नहीं मार सकता। तुम विश्वास रखो। मैं अव वहीं जाऊँगा और उन्हें यहाँ लाऊँगा।"

नारदजी राजमाताओं को आश्वासन दे कर, आकाश-मार्ग से उड़ कर सीधे लंका पहुँचे। रामभद्रजी ने नारदजी का सत्कार किया और आगमन का कारण पूछा। नारद से —ी माताओं की मनोवेदना जान कर रामजी ने तत्काल विभीषण से कहा—"तुम्हारी

सेवा से हम अपनी माताओं को भी भूल गए और इतने वर्ष तक यहीं जमे रहे। अब हम शीघ्र ही अयोध्या जाना चाहते हैं। मातेश्वरी की वेदना हमसे सहन नहीं होती। अब हमारे प्रस्थान की व्यवस्था करो।" विभीषण ने कहा--"स्वामिन्! आप पधारना चाहते हैं, तो मैं नहीं रोक सकता, किन्तु निवेदन है कि सोलह दिन और ठहर जाइए, तबतक मैं अपने कलाकारों को अयोध्या भेज कर नगर की सजाई करवा दूं--जिससे आपका नगर-प्रवेश उत्सवपूर्वक किया जा सके। वैसे ही अचानक पहुँच जाना मुझे अच्छा नहीं लगता।" रामभद्रजी ने विभीषण की विनती स्वीकार कर ली। विभीषण ने अपने विद्याधर कलाकारों को अयोध्या भेजा, जिन्होंने अयोध्या को सजा कर, स्वर्गपुरी के समान अत्यन्त मनोहर बना दी। नारदजी भी तत्काल अयोध्या पहुँचे और राम-लक्ष्मण के आगमन के समाचार सुना कर सब को संतुष्ठ किया। भरतजी, शत्रुघ्नजी, माताएँ और समस्त नागरिक, राम-लक्ष्मण के आगमन के समाचार जान कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।

भ्रातृ-मिलन और अयोध्या प्रवेश

भरतजी का मन अत्यंत प्रसन्न था। अब वे अपने को बहुत हलका समझने लगे थे। वे अनुभव करते थे कि रामभद्रजी के आने के बाद राज्य का सारा भार अपने सिर से उतर गया। उन्होंने राज्यभर में महोत्सव मनाने का आयोजन पहले से ही कर दिया था। प्रजा अपनी इच्छा से ही अनेक प्रकार के उत्सवों में मग्न हो रही थी।

भरतजी की विरक्ति

हो गया और स्तंभ उखाड़ कर भागा। वह किसी भी प्रकार वश में नहीं आ रहा था। महावत आदि उसके पीछे भागे आ रहे थे। समाचार सुन कर राम-लक्ष्मण भी सामन्तों सहित अपने प्रिय हाथी के पीछे आ रहे थे। किन्तु उसे पकड़ने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो चुके थे। गजराज भागता हुआ उसी स्थान पर आया, जहाँ जलक्रीड़ा हो रही थी। गजराज की भरतजी पर दृष्टि पड़ते ही शांत हो गया। उसका मद उतर चुका था। भरतजी भी उसे देख कर हर्षित हुए। हाथी वश में हो गया। उसे गजशाला में ले जा कर बांध दिया गया। सभी जन चकित रह गए कि--भरतजी को देखते ही हाथी एकदम शांत कैसे हो गया, क्या कारण है इसका ? कोई समझ नहीं रहा था। भरतजी भी नहीं जानते थे। उसी समय देशभूषणजी और कुलभूषणजी—ये दो मुनिराज अयोध्या के उद्यान में पधारे। महामुनि देशभूषणजी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। राम-लक्ष्मण और समस्त परिवार तथा नगरजन मुनिराज को वन्दन करने उद्यान में आये। धर्म-देशना सुनी। इससे वाद रामभद्रजी ने पूछा--"भगवन् ! मेरा भुवनालंकार हाथी, भरत को देख कर मद-रहित एवं शांत कैसे हुआ, क्या कारण है इसका ?"

केवली भगवान् ने भरतजी और भुवनालंकार का पूर्व सम्वन्ध वतलाते हुए कहा;—

"इस अवसर्पिणी के आदि जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेवजी के साथ चार हजार राजाओं ने निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु जव भगवान् निराहार रह कर मौनपूर्वक तप करने लगे, तो वे सभी क्षुधा-परीषह से पराजित हो कर वनवासी तापस बन गए और फल-फूल खा कर जीवन विताने लगे। उनमें चन्द्रोदय और सूरोदय नाम के दो राजकुमार थे। चिरकाल भव-भ्रमण करने के वाद चन्द्रोदय तो गजपुर में कुलंकर नामक राजकुमार हुआ और सूरोदय उसी नगर में श्रुतिरति नामक पुरोहित पुत्र हुआ। पूर्वभव के सम्वन्ध के कारण दोनों में मित्रता हो गई। राजकुमार कुलंकर यथासमय राजा हुआ। एक दिन वह तापस के आश्रम में जा रहा था कि मार्ग में अभिनन्दन मुनि मिले। वे अवधिज्ञानी थे। उन्होंने राजा से कहा—"राजन् ! तुम जिसके पास जा रहे हो ? वह तापस पंचाग्नि तप करता है। उसकी धुनी में दहन करने के लिए जो काष्ठ लाया गया है, उसमें एक सर्प है। वह सर्प पूर्व-भव में तुम्हारा क्षेमंकर नामक पितामह था। यदि तापस ने काष्ठ को विना देखे ही अग्नि में डाल दिया, तो वह सर्प जल मरेगा। कितना अज्ञान है जीवों में ?"

मुनिराज के वचन सुन कर राजा व्याकुल हो गया और तत्काल आश्रम में पहुँच कर उस लकड़े को फड़वाया। लकड़ा फटते ही सर्प उछल कर वाहर निकल आया। यह

देख कर राजा के विस्मय का पार नहीं रहा। राजा की विचारधारा सुलट गई। उसने संसार की भयानकता समझी और विरक्त हो गया। उसने संसार-त्याग कर श्रमण-जीवन स्वीकार करने की इच्छा की। वह सोच ही रहा था कि वह श्रुतरति पुरोहित वहां आया और राजा को विरक्त जान कर कहने लगा;—

"हिंसा तो संसार में होती ही रहती है। हम नित्य ही देख रहे हैं। विना हिंसा के संसार-व्यवहार नहीं चल सकता। हिंसा देख कर आपकी तरह यदि सभी लोग साधु हो जायँ, तो यह संसार चले ही कैसे? फिर भी यदि साधु वनना ही है, तो इतनी शीघ्रता क्यों करते हैं? अभी तो जीवन वहुत लम्बा है। वृद्धावस्था आने पर साधु वने गे, तो राजधर्म और आत्मधर्म दोनों का पालन हो जायगा।"

पुरोहित की वात सुन कर राजा का उत्साह मन्द हो गया और वह राजकाज में लगा रहा। उस राजा के श्रीदामा नाम की रानी थी। वह पुरोहित पर आसक्त थी। कालान्तर में रानी को सन्देह हुआ कि—'यदि हमारे गुप्त पाप की वात राजा को मालूम हो गई, तो हमारी क्या दशा होगी?' इस विचार से ही वह भयभीत होगई। उसने सोचा—'इस भय से मुक्त हो कर निःशंक सुखभोग का एक ही मार्ग है, और वह है—राज-हत्या। इसी से हमारी वाधा दूर होगी और यथेच्छ सुखभोग सकेंगे।" रानी ने अपना मनोभाव श्रुतिरति पुरोहित को वतलाया। वह इस पाप में सम्मत हो गया। रानी ने राजा को विष दे कर मार डाला। कुछ काल के वाद श्रुतिरति भी मरा। दोनों चिरकाल तक भव-भ्रमण करते रहे। कालान्तर में राजगृह नगर में वे ब्राह्मण के यहाँ युगल पुत्र रूप में जन्मे। एक का नाम विनोद और दूसरे का रमण। रमण वेदाध्ययन के लिए विदेश गया। कुछ वर्षों तक अभ्यास करने के वाद वह राजगृही लौट आया। रात के समय पुर-द्वार वन्द होने के कारण वह एक यक्ष-मन्दिर में जा कर सो गया। उसके भाई विनोद की पत्नी, दत्त नाम के एक ब्राह्मण से गुप्त सम्वन्ध रखती थी। रात के समय विनोद को निद्रामग्न जान कर वह पूर्व योजनानुसार दत्त से मिलने उसी यक्ष-मन्दिर में आई। उसने नींद में सोये हुए रमण को ही दत्त समझ कर जगाया और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने लगी। विनोद को पत्नी के व्यभिचार का सन्देह हो गया था। इसलिए वह अवसर की ताक में था। पत्नी के घर से निकलते ही वह भी खड्ग ले कर पीछे हो लिया और रमण पर प्रहार कर के उसे मार डाला। अन्धकार में कोई किसी को पहिचान नहीं सकता था। पत्नी ने अपने पाप का भण्डा फुटा देख कर अपने पति विनोद पर छुरी से प्रहार किया, जिससे वह भी मर गया। दोनों भाई फिर भव-भ्रमण करते हुए एक धनाढ्य

कर रहे हैं। उनका त्रिशूल शस्त्रागार में है। इसलिए इस समय युद्ध करना सरल होगा।"

शत्रुघ्न ने सेना सहित रात के समय प्रयाण किया और मधु नरेश के नगरी में आने का मार्ग रोका। जब मधु नरेश उद्यान से लौट कर अपने भवन में आने लगे, तो उनके साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया। थोड़े ही समय में शत्रुघ्न ने मधु के लवण नाम के पुत्र को मार डाला। पुत्र-मरण से अत्यधिक क्रुद्ध हो कर मधु, शत्रुघ्न से प्रचण्ड युद्ध करने लगा। दोनों योद्धाओं में बहुत समय तक युद्ध होता रहा। अन्त में शत्रुघ्न ने लक्ष्मण के दिये अर्णवावर्त धनुष और अग्निमुख बाण ग्रहण किया और मधु पर प्रहार करने लगे। उन बाणों का प्रहार मधु को असह्य हो गया। वह शक्ति-रहित होने लगा। उसे विचार हुआ कि 'मेरा वह त्रिशूल अभी मेरे पास होता, तो शत्रु को विनष्ट किया जाता। अब रक्षा नहीं हो सकती।' उसने जीवन की आशा छोड़ दी। उसका विचार पलटा--"हा! मैंने मनुष्य-भव पा कर भी व्यर्थ गँवा दिया। न तो मैंने संयम-साधना की, न तप त्याग और ज्ञान-ध्यानादि से आत्मा को पवित्र किया। मेरा सारा भव ही व्यर्थ गया।"—इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसकी आत्मपरिणति संयम के योग्य बन गई। इस प्रकार भाव-संयम में प्राण छोड़ कर वह सनत्कुमार देवलोक में महर्द्धिक देव हुआ। मधु के मृत शरीर पर देवों ने पुष्प-वृष्टि की और जय-जयकार किया।

मधु के पास जो देवरूपी त्रिशूल था, वह मधु के मरते ही उसकी शस्त्रागार से निकल कर चमरेन्द्र के पास पहुँचा और शत्रुघ्न द्वारा मधु के छलपूर्वक मारे जाने की बात सुनाई। चमरेन्द्र, अपने मित्र की मृत्यु पर दुःखी हुआ। वह क्रोधपूर्वक शत्रुघ्न को मारने के लिए चला। चमरेन्द्र को जाते देख कर वेणुदारी नाम के गरुड़पति इन्द्र ने पूछा—"आप कहाँ जा रहे हैं?" चमरेन्द्र ने कहा—"मैं अपने मित्र-घातक शत्रुघ्न को मारने के लिए मथुरा जा रहा हूँ।" तब वेणुदारी इन्द्र ने कहा;--

"रावण ने धरणेन्द्र से अमोघविजया शक्ति प्राप्त की थी। उस महाशक्ति को भी प्रबल पुण्यशाली लक्ष्मण ने जीत ली और रावण को मार डाला, तो शत्रुघ्न तो उन वासुदेव और बलदेव का भाई है। उसके सामने बिचारा मधु किस गिनती में है?"

चमरेन्द्र ने कहा--'लक्ष्मण विशल्या कुमारी के प्रभाव से उस शक्ति को जीत सका। यदि विशल्या नहीं होती, तो लक्ष्मण नहीं बच सकते और अब तो विशल्या कुमारिका नहीं रही। इसलिए उसका प्रभाव भी नहीं रहा। अतएव मैं मेरे मित्रघातक को अवश्य ही मारूँगा।" इस प्रकार कह कर चमरेन्द्र शीघ्र ही मथुरा आया। उसने देखा कि शत्रुघ्न के राज्य से समस्त प्रजा प्रसन्न है, संतुष्ठ है, स्वस्थ है, तो उसने प्रजा में व्याधि

उत्पन्न कर शत्रुघ्न को विचलित करने का प्रयत्न किया। शत्रुघ्न चिन्तामग्न हो गए, तो कुलदेवों ने आ कर उपद्रव का कारण बताया। 'चमरेन्द्र से रक्षा किस प्रकार हो'—इसका उपाय करने के लिए शत्रुघ्न, राम-लक्ष्मण के पास अयोध्या पहुँचे।

शत्रुघ्न का पूर्वभव

जिस समय शत्रुघ्न अयोध्या में आये, उसी समय मुनिराज श्री देशभूषणजी और कुलभूषणजी भी वहाँ आये। राम-लक्ष्मण और शत्रुघ्न, मुनिराज को वन्दन करने गए। सर्वज्ञ भगवान् से रामभद्रजी ने पूछा—"भगवन् ! शत्रुघ्न को इस विशाल भरतक्षेत्र में केवल मथुरा लेने का ही आग्रह क्यों हुआ ? इसकी मथुरा पर इतनी आसक्ति क्यों है ?"

सर्वज्ञ भगवान् देशभूषणजी ने कहा--

"शत्रुघ्न का जीव, मथुरा में अनेक बार उत्पन्न हुआ था। एकबार वह 'श्रीधर' नाम का ब्राह्मण था। वह रूपवान् था और साधु-संतों का भक्त भी। एकबार वह कहीं जा रहा था कि राजमहिषी ललिता की दृष्टि उस पर पड़ी। वह श्रीधर पर मोहित हो गई। उसने उसे अपने पास बुलाया। श्रीधर महारानी के पास आया ही था कि अकस्मात् राजा भी वहाँ आ पहुँचा। राजा को देख कर महारानी घबड़ाई और चिल्लाई—"इस चोर को पकड़ो। यह चोरी करने आया है।" राजा ने श्रीधर को पकड़ लिया और राजाज्ञा से वह वधस्थान ले जाया गया। श्रीधर, साधुओं की संगति करता ही था। इस मरणान्त उपसर्ग को देख कर उसके मन में संसार के प्रति तीव्र विरक्ति हो गई और उसने प्रतिज्ञा कर ली कि--"यदि जीवन शेष रहे और यह विपत्ति टल जाय, तो मनुष्य-भव का सुफल प्राप्त कर लूं। सद्भाग्य से उधर से निर्ग्रंथ मुनि श्री कल्याणचन्द्रजी पधार रहे थे। उन्होंने श्रीधर की दशा देखी तो अधिकारी को समझाया और राजा को प्रतिबोध दे कर श्रीधर को मुक्त कराया। बन्धन-मुक्त होते ही श्रीधर प्रव्रजित हो गया और तपस्या कर के देवलोक में गया। वहाँ से च्यव कर उसी मथुरा में चन्द्रप्रभ राजा की रानी कांचनप्रभा की कुक्षि से 'अचल' नाम का पुत्र हुआ। अचलकुमार अपने पिता का अत्यन्त प्रिय था। उसके भानुप्रभ आदि आठ बड़े सपत्न-बन्धु (सोतेली माता के पुत्र) थे। उन ज्येष्ठ-भ्राताओं ने सोचा--"अचल, पिताश्री का अत्यन्त प्रिय है, इसलिये यही राज्य का उत्तराधिकारी होगा और हम इसके अधीन हो जावेंगे। ऐसा नहीं हो जाय, इसलिए अचल को इस जीवन

से मथुरा के सारे राज्य में, देव द्वारा उत्पन्न किया हुआ उपद्रव शांत हो गया। इससे प्रजा और राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। भरत नरेश ने मुनिवरों की सेवा में उपस्थित हो कर निवेदन किया--

"महात्मन्! नगर में पधारें और मेरे यहाँ से आहारादि ग्रहण कर अनुग्रहित करें।"

"नहीं राजन्! हमारे लिए राजपिण्ड ग्राह्य नहीं है और निमन्त्रित स्थान से आहारादि ग्रहण करना भी हमारा आचार नहीं है। तुम किसी प्रकार का विचार मत करो"—प्रमुख मुनिराज ने अपना नियम बतलाया।

"भगवन्! कृपा कर कुछ दिन और विराजें और धर्मोपदेश से जनता को लाभान्वित करें"--भरत नरेश ने प्रार्थना की।

"राजन्! चातुर्मास काल पूर्ण हो चुका है। अब एक दिन भी अधिक ठहरना हमारे लिए निषिद्ध है। अब हम विहार करेंगे" +।

लक्ष्मण का मनोरमा से लग्न

वैताढ्य गिरि की दक्षिण-श्रेणी के रत्नपुर नगर का राजा रत्नरथ था। उसकी चन्द्रमुखी रानी से मनोरमा नाम की कन्या का जन्म हुआ। मनोरमा रूप-लावण्य में अति सुन्दर एवं मनोहारी थी। यौवन-वय में उसकी कांति विशेष बढ़ गई। राजा उसके योग्य

+ इस स्थल पर श्री हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि--वे सप्तर्षि एक बार पारणे के लिये अयोध्या नगरी में अर्हद्दत्त सेठ के घर गये। सेठ के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ–'ये कैसे साधु हैं, जो वर्षाकाल में भी विहार करते रहते हैं"? उसने उपेक्षापूर्वक व्यवहार किया, किंतु उसकी पत्नी ने आहार-दान दिया। वे मुनिवर आहार ले कर 'द्युति' नाम के आचार्य के उपाश्रय में पहुँचे। आचार्य ने उन सप्तर्षियों की वन्दना की और आदर-सत्कार किया। किन्तु उनके शिष्यों के मन में भी वही सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्हें अकाल-विहारी जान कर वन्दनादि नहीं किया। सातों मुनिवर पारणा कर के चले गये। उनके जाने के बाद द्युति आचार्य ने उन मुनियों की महानता और चारणलब्धि का वर्णन किया। इससे उनके शिष्यों को पश्चाताप हुआ। अर्हद्दत्त श्रावक को भी पश्चात्ताप हुआ और उसने मथुरा जा कर मुनिवरों से क्षमा याचना की।'

श्रावक और साधुओं का सन्देह उचित था। वर्षाकाल में पाद-विहार में जीव-विराधना बहुत होती है और निषिद्ध भी है। गगन-विहार में वैसा नहीं होना और उनका इस प्रकार जाना मर्यादा के अनुकूल हुआ क्या?

वर की खोज में था। अचानक नारदजी वहाँ पहुँच गए। राजा के पूछने पर नारदजी ने कहा—'लक्ष्मणजी इस कन्या के लिए योग्य वर हैं।' उनका अभिप्राय सुनते ही वंश-वैर से अभिभूत राजकुमारों में क्रोध व्याप्त हो गया। उन्होंने नारदजी की अपभ्राजना करने के लिए अपने सेवकों को संकेत किया। नारदजी परिस्थिति समझ गए और तत्काल गगनविहार कर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने राजकुमारी मनोरमा का चित्र एक वस्त्रपट्ट पर आलेखित किया और लक्ष्मण को दिखाया। लक्ष्मण मुग्ध हो गए। उन्होंने परिचय पूछा। नारदजी ने परिचय देते हुए बीती हुई सारी वात वतला दी। राम-लक्ष्मण ने सेना ले कर प्रयाण किया और थोड़ी देर के युद्ध में रत्नरथ को जीत लिया। राम के साथ राजकुमारी श्रीदामा और लक्ष्मण के साथ मनोरमा के लग्न हुए। इसके वाद राम-लक्ष्मण, वैताढ्य गिरि की समस्त दक्षिण-श्रेणी को जीत कर अयोध्या में पहुँचे और सुखपूर्वक राज करने लगे।

लक्ष्मणजी के १६००० रानियाँ हुई। इनमें पटरानियाँ आठ थीं। यथा—१ विशल्या २ रूपवती ३ वनमाला ४ कल्याणमाला ५ रत्नमाला ६ जितपद्मा ७ अभयवती और ८ मनोरमा। इनके ढाई-सौ पुत्र हुए, जिन में आठ महारानियों के ये आठ पुत्र मुख्य थे;—१ विशल्या का पुत्र श्रीधर, २ रूपवती का पुत्र पृथिवीतिलक, ३ वनमाला का पुत्र अर्जुन, ४ कल्याणमाला का पुत्र मंगल, ५ रत्नमाला का पुत्र विमल, ६ जितपद्मा का पुत्र श्रीकेशी, ७ अभयवती का पुत्र सत्यकीर्ति और ८ मनोरमा का पुत्र सुपार्श्वकीर्ति।

रामभद्रजी के चार रानियाँ थीं—१ सीता २ प्रभावती ३ रतिनिभा और ४ श्रीदामा।

सगर्भा सीता के प्रति सौतिया-डाह एवं षड्यन्त्र

सीता को रात्रि के समय अर्द्ध-निद्रित अवस्था में स्वप्न दर्शन हुआ। उसने दो अष्टापदों को आकाश में रहे देवविमान से उत्तर कर अपने मुँह में प्रवेश करते देखा और जाग्रत हुई। वह उत्साहपूर्वक उठी और पति के कक्ष में पहुँची। उन्हें मधुर सम्बोधन से जाग्रत किया। रामभद्रजी ने महारानी सीता को आदरपूर्वक आसन पर विठाया और प्रिय एवं मधुर सम्वोधन के साथ आने का प्रयोजन पूछा। सीता ने स्वप्न विवरण सुनाया। स्वप्न की उत्तमता जान कर रामभद्रजी प्रसन्न हुए और फल वतलाते हुए कहा—"देवी!

दो देव, स्वर्ग से च्यव कर तुम्हारी कुक्षी में आये हैं। वे पुत्र रूप में उत्पन्न हो कर अपने वंश की ध्वजा दिगन्त तक फहरावेंगे। यह उत्तम स्वप्न तुम्हें कल्याणकारी होगा, मंगलप्रद होगा और आनन्द में वृद्धि करेगा," किन्तु मुझे थोड़ी शंका यह होती है कि विमान में से अष्टापद पक्षी उतरे, यह कुछ ठीक नहीं लगता। सीता ने पति के मुख से स्वप्न फल बड़ी विनम्रता से ग्रहण किया और कहा--"प्रभो! धर्म तथा आपके महात्म्य से उत्तम फल की ही प्राप्ति होगी। अपने मन से सन्देह निकाल दें। गर्भ-धारण के पश्चात् सीताजी, रामभद्रजी को विशेष प्रिय लगने लगी। वे सीता पर अत्यन्त प्रेम रखने लगे और उसकी प्रसन्नता के लिए विशेष प्रयत्न करने लगे।

सीताजी को सगर्मा जान कर तथा उसके प्रति पति का विशेष प्रेम देख कर उनकी सौतें उन पर विशेष द्वेष रखने लगीं। ईर्षा से उनका हृदय जलने लगा। वे किसी भी प्रकार से सीताजी को अपमानित कर, पति और प्रजा की दृष्टि से गिराना चाहती थीं। उन्होंने मिल कर षड्यन्त्र रचा और सीता से प्रेमपूर्वक पूछा;--"रावण आपके पास आता था। आपने उसे देखा ही होगा। यह बताइये कि उसका रूप कैसा था। आकृति राक्षस जैसी थी या देव जैसी? आप एक पट पर लिख कर हमें बतावें।"

"बहिनो! मैने रावण के सामने ही नहीं देखा। वह आता तब मैं नीचे--पृथ्वी पर देखा करती। इसलिए मुझे उसके मुख आदि अंगों का तो ज्ञान ही नहीं हुआ। हाँ, उसके पांवों पर दृष्टि पड़ती। मैने उसके पाँव ही देखे हैं"--सीताजी ने कहा।

"अच्छा, आप रावण के चरणों का आलेखन करके ही बता दें। हम उसी पर से कुछ अनुमान कर लेंगी"--सौतों ने आग्रह किया।

सीता उनके षड्यन्त्र को नहीं समझ सकी और सरल भाव से रावण के चरणों का आलेखन कर दिया। उस चरणचित्र को सपत्नियों ने ले लिया और अवसर पा कर रामभद्रजी को बता कर कहने लगी;--

"नाथ! यह देखिये, आपकी अत्यंत प्रिय महारानी का कृत्य। यह रावण पर अत्यंत आसक्त है। उसका स्मरण करती रहती है और उसके चरणों का आलेखन कर अपना भक्तिभाव व्यक्त करती रहती है। यह इतनी गूढ़ और मयाविनी है कि अपना पाप बड़ी सफाई से छुपाये रखा और आप पर तथा लोगों पर महासती होने झूठा रंग जमाती रही। उसका यह गुप्त पाप हमने देखा। इस स्थिति पर आप विचार करें। यह साधारण बात नहीं है। अपने विश्वविख्यात उत्तम कुल को कलंकित करने वाला अत्यंत गंभीर प्रसंग है। अपने वंश की पवित्रता को बनाये रखने के लिए आपको योग्य निर्णय

करना चाहिये। सीताजी हमारी बड़ी बहिन है। हमारी उन पर अत्यंत प्रीति है। हम उनका हित ही चाहती है। किंतु यह प्रसंग, कुल की पवित्रता से सम्बन्ध रखता है। इसलिए बड़े दुःख के साथ श्रीचरणों में यह कटु प्रसंग उपस्थित करना पड़ा है।"

रामभद्रजी को इस अप्रत्यासित विषय पर आघात लगा। उनके मन में यह तो पूर्ण विश्वास था कि सीता पूर्ण रूप से पवित्र है। उसे कलंकित एवं अपमानित करने के लिये यह जाल रची गई है। किन्तु वे तत्काल अपना विश्वास व्यक्त कर, पत्नियों की बात काटना नहीं चाहते थे। अतएव उपेक्षा कर दी। पति की उपेक्षा जान कर रानियें लौट गई। वे अपनी दासियों द्वारा नागरिकजनों में सीता की निन्दा कराने लगी। लोग, पराई निन्दा में विशेष रुचि लेते हैं और बात को विशेष बढ़ा-चढ़ा कर सुनाते रहते हैं। इस प्रकार सीता की बुराई सर्वत्र होने लगी।

वसंत ऋतु के आगमन पर राम ने महेन्द्रोदय उद्यान में जा कर क्रीड़ा करने का विचार किया और सीता से कहा--

"प्रिये! तुम गर्भ के कारण खेदित हो, इसलिए चलो अपन उद्यान में चलें। अभी वसंत के आगमन से वनश्री भी प्रफुल्लित है। वकुलादि वृक्ष भी तुम्हारे जैसी महिलाओं की इच्छा, प्रसन्नता, छाया तथा स्पर्शादि से विकसित होते हैं। बड़ा सुहावना समय है। चलो, तुम्हें प्रसन्नता होगी, सुस्ती मिटेगी और बदन में स्फूर्ति आएगी।"

रामभद्रजी, सीताजी और अन्य परिवार को ले कर उद्यान में गये। वहां नागरिकजन भी वसन्तोत्सव मना रहे थे। सीता आदि ने भी उत्साहपूर्वक उत्सव मनाया, विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ की और भोजनादि किया। वे सुखपूर्वक बैठ कर विनोदपूर्ण अलाप-संलाप कर रहे थे कि अचानक सीताजी का दाहिना नेत्र फरका। स्त्री का दाहिना नेत्र फरकना अनिष्ट सूचक माना जाता है। सीता के मन में से प्रसन्नता लुप्त हो गई और मुख पर चिन्ता झलकने लगी। उन्होंने राम से कहा--"नाथ! मेरा दक्षिण-नेत्र फरक रहा है। यह अशुभ-सूचक है। मैंने राक्षस-द्वीप में रह कर इतने कष्ट सहन किये, फिर भी दुःख की इतिश्री नहीं हुई। क्या अभी और भुगतना शेष रह गया है? क्या फिर दुर्दिन देखने की घड़ी निकट आ रही है?"

--"देवी! चिन्ता मत करो। कर्मों का फल तो जीव को भोगना ही पड़ता है। चिन्ता और संताप छोड़ कर प्रभु-स्मरण करो, धर्म की आराधना करो और सत्पात्र को दान दो। विपत्तिकाल में धर्म ही सहायक होता है।"

सीताजी धर्म-साधना और दानादि में विशेष प्रवृत्त हुई।

गुप्तचरों ने सीता की कलंक-कथा सुनाई

सपत्नियों ने योजनापूर्वक सीताजी पर दोषारोपण कर के नगरभर में प्रचार कर दिया। लोगों में यह चर्चा मुख्य बन गई। नगर में होती हुई हलचल और अच्छी-बुरी प्रवृत्ति की जानकारी प्राप्त करने के लिए, राज्य की ओर से उत्तम, विश्वास-योग्य एवं चारित्र-सम्पन्न अधिकारी नियुक्त किये गये थे। वे आवश्यक भेद की बातें प्राप्त कर के नरेश को निवेदन करते। सीता की होती हुई निन्दा उन अधिकारियों ने भी सुनी। वे अधिकारी सीता पर लगाया हुआ दोषारोपण सर्वथा असत्य मानते थे। किंतु उनका कर्त्तव्य था कि इसकी जानकारी रामभद्रजी को करवावें। वे चिंतित हो गए। अन्त में वे श्री रामभद्रजी के निकट आये। परंतु उनकी वाणी अवरुद्ध हो रही थी। वे थरथर काँपने लगे। श्रीराम ने उन अधिकारियों की ऐसी दशा देख कर कहा;--

"मूक क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ? घबड़ाओ नहीं, जैसी बात हो, स्पष्ट कह दो। मैं तुम पर विश्वास करता हूँ। तुम्हें राज्य का हितैषी मानता हूँ। तुम्हें निर्भय हो कर सत्य बात बतला देनी चाहिए।"

राम का अभय-वचन पा कर विजय नाम का अधिकारी बोला;--

"स्वामिन् ! आपको एक बात अवश्य निवेदन करनी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि बात झूठी है और आपश्री के लिए विशेषरूप से आघातजनक है। किंतु उस दुःखदायक बात को दबा कर रखना भी स्वामी को अन्धकार में रखना है। इसलिए वह महादुःखदायक बात भी कहने को विवश हो रहा हूँ।"

"प्रभो ! परम पवित्र महारानी सीतादेवी पर नागरिकजन दोषारोपण कर रहे हैं। लोग अघटित को भी कुयुक्ति से सत्य जैसा बना कर घटित कर रहे हैं। नगर में यह चर्चा विशेषरूप से चल रही है कि रावण ने रतिक्रीड़ा की इच्छा से ही देवी सीता का हरण किया था। सीताजी उसके यहाँ अकेली ही थी और लम्बे काल तक रही थी। भले ही देवी, रावण से विरक्त रही हो, परन्तु महाबली रावण अपनी इच्छा पूर्ण किये बिना कैसे रहा होगा ? उसने बलात्कार कर के भी अपनी इच्छा पूर्ण की ही होगी। कौन था वहाँ उस कामान्ध नरवृषभ को रोकने वाला ? अतएव सीता की पवित्रता नष्ट हो चुकी है। फिर भी राम ने मोहवश उसे हृदयेश्वरी बना कर सर्वाधिक सम्मान दिया है। क्या यह उत्तम राजकुल के योग्य है। बड़े लोग खोटा काम कर लें, तो उन्हें कोई नहीं कह सकता। यदि ऐसा ही काम कोई साधारण मनुष्य करता, तो उसकी क्या दशा होती ?"

इस प्रकार नगर के लोग परस्पर चर्चा करते हैं। लोग महादेवी को कलंकित

बता कर, आपको व आपके उत्तम कुल को भी मलिन बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। स्वामिन् ! यह सब झूठी बातें हैं, किंतु हैं, युक्तियुक्त। युक्तियुक्त असत्य की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। नाथ ! आपको गंभीरतापूर्वक विचार कर के इस अपवाद को मिटाना ही चाहिए।"

विजय अधिकारी की बात सुन कर रामभद्रजी दुःखित हुए। उन्होंने सोचा—'मनःकल्पति युक्ति, पवित्र को भी पतित बना देती है। पवित्रता की रक्षा के लिए, लोक-भ्रम मिटाने के लिए दुःसह्य स्थिति अपनानी पड़ती है। हा, कितनी विचित्र है—लोकरुचि ?' उन्होंने धैर्य धारण कर कहा;—

"भद्र ! तुम्हारा कहना ठीक है। तुम हितैषी हो। राजभक्त जन के कर्त्तव्य का तुमने पालन किया है। मैं भी ऐसे कलंक को सहन नहीं करूँगा।"

अधिकारीगण प्रणाम कर चले गये। उसी रात्रि को राम स्वयं गुप्त वेश में नगर में फिरे। उन्होंने भी वैसी ही कलंककथा सुनी और दुःखित हृदय से लौट आए। उन्होंने आते ही पुनः गुप्तचरों को लोक-प्रवाद जानने के लिए भेजा।

रामभद्रजी सोचने लगे—"कर्मोदय की यह कैसी विडम्बना है कि जिसके लिए मैंने सेना का संग्रह कर राक्षसकुल का विध्वंस किया, लक्ष्मण मरणासन्न दशा तक पहुँचा अनेक राजाओं को राजसुख छोड़ना पड़ा और युद्ध में सम्मिलित हो कर घायल होना पड़ा, जिसके पीछे लाखों मनुष्यों का रक्त बहा, वही सीता आज कलंकित की जा रही है। उस महासती पर असत्य दोषारोपण हो रहा है। हा, अब मैं क्या करूँ ? इस विपत्ति का निवारण किस प्रकार हो ?"

कुल की प्रतिष्ठा ने सत्य को कुचला

प्रातःकाल लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषणादि रामभद्रजी को प्रणाम करने आये। उन्हें बिठा कर उनके सामने गुप्तचरों को बुलाया और नागरिकों में व्याप्त अपवाद सुनाया। गुप्तचरों की बात सुन कर लक्ष्मणजी आदि सभी उत्तेजित हो गए। उन्होंने कहा;—लोगों में पर-निन्दा की रुचि होतीं है। उनका क्या, वे कभी कुछ और कभी कुछ, यों पलटते ही रहते हैं। मैं इस प्रकार मनःकल्पित झूठे दोषारोपण को सहन नहीं कर सकता। मैं उन नीच मनुष्यों को उनकी नीचता का कठोर दण्ड दूँगा।"

जानते थे। इसलिए उनकी ओर से प्रहार होता, वह बड़ी सावधानी से—उन्हें बचाते हुए होता। किंतु राम-लक्ष्मण तो इन कुमारों के साथ अपना सम्बन्ध जानते ही नहीं थे। इसलिए उनके प्रहार में ऐसी सावधानी नहीं थी। चिरकाल विविध आयुधों से युद्ध करने के बाद, युद्ध शीघ्र समाप्त करने की इच्छा से रामभद्रजी ने कृतांतवदन से कहा—

"रथ को ठीक शत्रु के सामने खड़ा कर दो।"

"महाराज! अश्व थक गये हैं। इनके शरीर भी बाणों के घावों से विंध गए हैं, रक्त वह रहा है। मैं इन्हें मार-मार कर थक गया, किंतु ये आगे बढ़ते ही नहीं। रथ भी टूट-फूट कर जिर्ण हो गया। अब मैं क्या करूँ? मेरे भुजदण्ड भी जर्जर हो गए हैं। मैं घोड़ों की रास भी सम्भाल नहीं सकता। विवश हो गया हूँ—महाराज! ऐसी दुर्दशा तो पहले कभी नहीं हुई थी।"

—"हां, स्थिति कुछ ऐसी ही है। मेरा वज्रावर्त धनुष भी शिथिल हो गया, मुसल-रत्न भी असमर्थ हो गया और हल-रत्न भी केवल खेत जोतने के काम का बन रहा है। इन देव-रक्षित अस्त्र-शस्त्रों की यह क्या दशा हो गई?"

—राम आश्चर्यान्वित एवं चिन्तित हो रहे थे। उधर लक्ष्मणजी की भी यही दशा थी। अंकुश के भीषण प्रहार से लक्ष्मणजी मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। उन्हें मूर्च्छित हुए देख कर विराध घबड़ाया और रथ को मोड़ कर अयोध्या की ओर जाने लगा। इतने में लक्ष्मणजी सावधान हो गए। उन्होंने कहा—

वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि सिद्धार्थ को साथ लिये हुए नारदजी वहां पहुँच गए और चिन्ता-निमग्न राम-लक्ष्मण को सम्बोध कर बोले--

"रघुपति ! आश्चर्य है कि आप हर्ष के स्थान पर चिन्ता कर रहे हैं। अपने ही पुत्रों से प्राप्त पराभव तो सुखद तथा कुल-गौरव बढ़ाने वाला होता है। ये दोनों कुमार आप ही के पुत्र हैं। इनकी माता, आप द्वारा त्यागी हुई महादेवी सीता है। ये युद्ध के निमित्त से मिलने आये हैं। आपका चक्र इसीलिए बिना प्रहार किये ही लौट गया। अब शस्त्र छोड़ कर इन्हें छाती से लगावें।"

नारदजी ने सीता का सारा वृत्तांत सुना दिया। पत्नी-विरह के खेद और पुत्र-मिलन की प्रसन्नता के वेग से रामभद्रजी मूर्च्छित हो गए। चेतना पा कर दोनों भ्रातृवीर उठे और पुत्रों को मिलने, आंसू गिराते हुए चले। राम-लक्ष्मण को अपनी ओर आते देख कर, दोनों कुमार, शस्त्र छोड़ कर रथ से नीचे उतरे और सम्मुख जा कर पिता और काका के चरणों में गिर पड़े। कुमारों को उठा कर छाती से लगाया और गोद में बिठा कर उनका मस्तक चूमा। शत्रुघ्न भी आ पहुँचे और उन्होंने भी दोनों कुमारों को अलिंगन कर स्नेह किया। युद्धभूमि का वीभत्स दृश्य एवं हुंकार तथा चित्कार के कर्णकटु शब्द, आनन्द-मंगल में पलट गए। हर्ष का सागर उमड़ आया। सर्वत्र जय-जयकार होने लगा।

महादेवी सीताजी, अपने पुत्रों का पराक्रम और पिता के साथ समागम का दृश्य देख कर हर्ष-विभोर हो गई और विमान में बैठ कर पुण्डरीकपुर पहुँच गई। राम-लक्ष्मण भी लव-कुश को परम पराक्रमी जान कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छाया रहा। भामण्डल ने वज्रजंघ नरेश का राम-लक्ष्मण से परिचय कराया। वज्रजंघ ने राम-लक्ष्मण को स्वामी भाव से प्रणाम किया। राम ने वज्रजंघ से कहा--"हे भद्र ! तुम मेरे लिए भामण्डल (साले) के समान हो। तुमने मेरे पुत्रों का पालन-पोषण और योग्य शिक्षा दे कर सुयोग्य बनाया।"

राम-लक्ष्मणादि स्वजन-परिजन सहित युद्धस्थल से चल कर अयोध्या में आये। नागरिकजन कुतूहल पूर्वक अपने राजकुमारों को निहार कर हर्षित हो रहे थे। राम-लक्ष्मण ने पुत्र-जन्मोत्सव के समान पुत्रागमन का महोत्सव मनाया।

सतीत्व-परीक्षा और प्रव्रज्या

लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, अंगद और हनुमान आदि ने राम से विवेदन किया—

"स्वामिन् ! महादेवी सीताजी अकेली पुण्डरीकपुर में चिन्तित रहती होगी। अब तो उनके प्रिय पुत्र भी उनके पास नहीं हैं। उनके दिन कैसे व्यतीत होते होंगे? यदि आप आज्ञा दें, तो हम उन्हें यहाँ ले आवें।"

--"भाइयों ! मुझे पहले भी पूर्ण विश्वास था और आज भी है कि सीता निर्दोष है और सती है। लोकापवाद सर्वथा झूठा है। फिर भी मैं लोकापवाद की उपेक्षा नहीं कर सकता। खोटा लोकापवाद भी शक्ति रखता है। वह बिना शक्तिशाली प्रतिकार के मिट नहीं सकता। उसे मिटा कर नष्ट करने के लिए उसे दिव्य करना होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सीता दिव्य में सफल होगी। फिर मैं उसे हर्ष एवं आदर के साथ स्वीकार करूँगा।"

रामभद्रजी की बात स्वीकार कर, सुग्रीव विमान ले कर, पुण्डरीकपुरी गये और सीता को प्रणाम कर निवेदन किया--"महादेवी ! स्वामी ने मुझे अपने पुष्पक विमान सहित आपको ले आने के लिए भेजा है, पधारिये। वे सब आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

--"भाई ! अयोध्या से निकाले जाने का पहला संताप भी अबतक मेरे मन से मिटा नहीं, जिन्होंने बिना न्याय किये ही मुझे दण्डित किया, उनके पास पहुँच कर नया दुःख प्राप्त करने की भूल अब मैं नहीं कर सकूँगी। तुम जाओ"—सीताजी ने अपने हृदय का दुःख व्यक्त किया।

—"आदर्श महिला-रत्न ! आपका कहना ठीक है। भवितव्यता वश अघटित घटना घट गई है। उसे भूल जाइए। स्वामी को और हम सब को उसका दुःख है। रामभद्रजी, दिव्य द्वारा आपका कलंक उतार कर, सम्मान पूर्वक आपको स्वीकार करने के लिए तत्पर हैं। महेन्द्रोदय उद्यान में दिव्य करने की तैयारियाँ हो रही है। नगर के प्रतिष्ठितजन और सभी नागरिक दिव्य-मण्डप में उपस्थित हैं। अब आप विलम्ब नहीं करें"--सुग्रीव ने शीघ्रता की।

—"मैं दिव्य करने को तत्पर हूँ। यह उस समय भी हो सकता था"—कह कर सीता चलने के लिए तत्पर हो गई। विमान पुण्डरीकपुर से उड़ कर अयोध्या के महेन्द्रोदय उद्यान में आया। विमान के उतरते ही लक्ष्मण और अन्य नरेशों ने सीता का स्वागत-सत्कार किया, नमस्कार किया और लक्ष्मणजी ने निवेदन किया—

"महादेवी ! पधारो, नगरी तथा गृह में पधार कर उसकी शोभा बढ़ाओ। उसे पवित्र करो।"

—"वत्स ! जब तक मेरा कलंक दूर नहीं होता, मैं न तो नगर में प्रवेश कर

सकती हूँ, न गृह-प्रवेश। मेरे निर्वासित होने का कारण उपस्थित है, तब तक मैं अयोध्या में नहीं आ सकती। मैं दिव्य करने को तैयार हूँ"—सीता ने कहा।

सुग्रीवादि ने रामभद्रजी के पास आ कर सीता की प्रतिज्ञा सुनाई। राम उठे और सीता के निकट आ कर बोले;—

"तुम रावण के अधिकार में रही, तब रावण ने तुम्हारे साथ भोग नहीं किया हो और तुम सर्वथा पवित्र ही रही हो, इस बात की सच्चाई प्रकट करने के लिए तुम दिव्य करो। उसमें सफल हो जाओगी, तो मैं तुम्हें स्वीकार कर लूँगा।"

—"ठीक है। मैं दिव्य करने को तत्पर हूँ। किन्तु आप जैसा न्यायी पुरुष, मेरे देखने में नहीं आया कि जो बिना न्याय किये ही किसी को दोषी मान कर दण्ड दे दे और दण्ड देने के बाद, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए तत्पर बने। यह राम-राज्य का अनूठा न्याय है। चलिये, मुझे तो दिव्य करना ही है"—कह कर सीता हँसने लगी।

—"भद्रे! मैं जानता हूँ तुम सर्वथा निर्दोष हो। किंतु लोगों ने तुम पर जो दोषारोपण किया, उसे मिटाने के लिए ही मैं कह रहा हूँ।"

—मैं एक नहीं, पाँचों प्रकार के दिव्य करने के लिए तत्पर हूँ। आप कहें, तो मैं—१ अग्नि में प्रवेश करूँ, २ मन्त्रित तन्दुल भक्षण करूँ, ३ विषपान करूँ, ४ उबलते हुए लोह-रस या सीसे का रस पी जाऊँ और ५ जीभ से तिक्षण शस्त्र को ग्रहण करूँ। जिस प्रकार आप संतुष्ठ हों, उसी प्रकार करने के लिए मैं तत्पर हूँ, इसी समय"—सीता ने राम से निवेदन किया।

उस समय नारदजी, सिद्धार्थ और समस्त जनसमूह ने एक स्वर से कहा—

"महादेवी सीता निर्दोष है, शुद्ध है, सती है, महासती है। हमें पूर्ण विश्वास है। किसी प्रकार के दिव्य करने की आवश्यकता नहीं है।"

समस्त लोकसमूह की एक ही ध्वनि सुन कर रामभद्रजी बोले;—

"क्या कह रहे हो तुम लोग? पहले सीता को कलंकिनी कहने वाला भी अयोध्या का जन-समूह ही था और आज सर्वथा निर्दोष घोषित करने वाला भी यही है। यदि इनके कहने का विश्वास कर लूँ, तो बाद में फिर इन्हीं में से सदोषता का स्वर निकलेगा। दूसरों की निन्दा करने में इन्हें आनन्द आता है। वे यह नहीं सोचते कि इस प्रकार की निराधार बातों से किसी का जीवन कितना संकटमय हो जाता है। तुम लोगों के लगाये हुए कलंक को धोने और भविष्य में इस कलंक की संभावना को नष्ट करने के लिए सीता को अग्नि में प्रवेश करने की आज्ञा देता हूँ।"

रही और उचित सहायता प्राप्त कर सकी। यह तुम्हारा खुद का प्रभाव था। वह अपने-आपमें एक दिव्य था। मैं अपने कुकृत्य के लिए क्षमा चाहता हूँ। अब तुम चलो। मैं तुम्हें सम्मानपूर्वक ले चलता हूँ। तुम्हारा सम्मान पहले से भी अत्यधिक होगा।"

"महानुभाव ! यह मेरे अशुभ कर्मों का उदय था। इसमें जनता और आपका कोई दोष नहीं। मैने अपने पूर्वभव के दुष्कर्मों का फल पाया है। अब मैं इन संचित कर्मों की जड़ ही काट देना चाहती हूँ और इसी समय संसार का त्याग कर आत्म-साधना के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती हूँ,"—इस प्रकार कह कर सीता सती ने अपने हाथों से केशों का लोच किया और उन केशों को राम को अर्पण किया।

प्रिया-वियोग से रामभद्रजी मूर्च्छित

राम के हृदय को प्रिया के वियोग से गंभीर आघात लगा। वे मूर्च्छित हो गए। सीताजी तत्काल वहां से चल कर, केवलज्ञानी भगवान् जयभूषणजी के निकट गई। भगवान् ने उन्हें विधिवत् प्रव्रजित किया और उन्हें महासती आर्या सुप्रभाजी की नेश्राय में रखा। महासती सीताजी संयम-साधना में संलग्न हो गई।

मूर्च्छित रामभद्रजी पर चन्दन के शीतल जल का सिंचन किया गया। उनकी मूर्च्छा दूर हुई। उन्होंने पूछा—

"कहाँ है वह उदारहृदया पवित्र हृदयेश्वरी ? कहाँ गई वह ? राजाओं ! सामन्तों ! देखते क्या हो ? जाओ, भागो, वह जहाँ हो वहाँ से ले आओ। वह मुझे त्याग कर चली गई। मैं उस लुंचित-केशा को भी स्वीकार करूँगा। तुम जाते क्यों नहीं ? क्या मरना चाहते हो मेरे हाथ से ? लक्ष्मण ! मेरा धनुष-बाण लाओ। मैं अत्यंत दुखी हूँ और ये सब खड़े-खड़े मेरा मुँह देख रहे हैं ?"

—"पूज्य ! आप यह क्या कर रहे हैं"—लक्ष्मणजी हाथ जोड़ कर कहने लगे—"मैं और ये सभी राजागण आपके सेवक हैं। इनका कोई दोष नहीं। जिस प्रकार कुल को निष्कलंक रखने के लिए आपने महादेवी का त्याग किया था, उसी प्रकार आत्मविमुक्ति के लिए महादेवी ने हम सब का त्याग कर दिया है। जिस दिन आपने उनका त्याग किया, उसी दिन से उन पर से आपका अधिकार भी समाप्त हो गया। वे स्वतन्त्र थीं ही। उन्होंने अपना मोह-ममत्व त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अपनी नगरी के बाहर महामुनि

जयभूषणजी पधारे हैं। उन्हें यहीं केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई है। देव और इन्द्र, केवल-महोत्सव कर रहे हैं। महादेवी भी उन्हीं के पास दीक्षित हुई है। आपका व हम सब का कर्त्तव्य है कि हम भी केवल-महोत्सव करें। महाव्रतधारिणी महासती सीताजी भी वहीं है। हम वहां चल कर उनके दर्शन करेंगे।"

लक्ष्मण की बात सुन कर राम का शोकावेग मिटा। उन्होंने कहा--"बन्धु! महासती हमें छोड़ कर चली गई। उसने मोह-ममता को नष्ट कर दिया। अब उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसे लौटाने का विचार करना भी पाप है। ठीक है, अच्छा ही किया है उसने। यह संसार त्यागने योग्य ही है। चलो, अपन सब वीतरागी महामुनि के समवसरण में चलें।"

राम का भविष्य

धर्मोपदेश सुन कर रामभद्रजी ने सर्वज्ञ भगवान् से पूछा--

"भगवन्! मैं भव्य हूँ या अभव्य?"

—"राम! तुम मात्र भव्य ही नहीं, किन्तु इसी जन्म में वीतराग सर्वज्ञ बन कर मुक्ति प्राप्त करोगे।"

—"भगवन्! इसी भव में मुक्ति? यह तो असंभव लगती है--प्रभो! मुक्ति की साधना सर्व-त्यागी होने पर होती है। मैं और सब का त्याग कर सकता हूँ, किन्तु लक्ष्मण को नहीं छोड़ सकता, फिर मेरी मुक्ति किस प्रकार हो सकेगी?"

--"भद्र! तुम अभी त्यागी नहीं हो सकते। अभी तुम्हें राज्यऋद्धि और बलदेव पद का भोग करना शेष है। जब वे भोगकर्म समाप्त हो जावेंगे, तब तुम निःसंग हो कर मुक्ति प्राप्त करोगे।"

रावण सीता और लक्ष्मणादि का पूर्व सम्बन्ध

विभीषणजी ने सर्वज्ञ भगवान् से पूछा--

"स्वामिन्! मेरे ज्येष्ठ-बन्धु दशाननजी न्याय-नीति सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने सीता का अनीतिपूर्वक हरण करने का दुष्कार्य क्यों किया? और वे लक्ष्मणजी के हाथों

रही और उचित सहायता प्राप्त कर सकी। यह तुम्हारा खुद का प्रभाव था। वह अपने-आपमें एक दिव्य था। मैं अपने कुकृत्य के लिए क्षमा चाहता हूँ। अब तुम चलो। मैं तुम्हें सम्मानपूर्वक ले चलता हूँ। तुम्हारा सम्मान पहले से भी अत्यधिक होगा।"

"महानुभाव! यह मेरे अशुभ कर्मों का उदय था। इसमें जनता और आपका कोई दोष नहीं। मैंने अपने पूर्वभव के दुष्कर्मों का फल पाया है। अब मैं इन संचित कर्मों की जड़ ही काट देना चाहती हूँ और इसी समय संसार का त्याग कर आत्म-साधना के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती हूँ,"—इस प्रकार कह कर सीता सती ने अपने हाथों से केशों का लोच किया और उन केशों को राम को अर्पण किया।

प्रिया-वियोग से रामभद्रजी मूर्च्छित

राम के हृदय को प्रिया के वियोग से गंभीर आघात लगा। वे मूर्च्छित हो गए। सीताजी तत्काल वहां से चल कर, केवलज्ञानी भगवान् जयभूषणजी के निकट गई। भगवान् ने उन्हें विधिवत् प्रव्रजित किया और उन्हें महासती आर्या सुप्रभाजी की नेश्राय में रखा। महासती सीताजी संयम-साधना में संलग्न हो गई।

मूर्च्छित रामभद्रजी पर चन्दन के शीतल जल का सिंचन किया गया। उनकी मूर्च्छा दूर हुई। उन्होंने पूछा —

हुआ। वहां से च्यव कर वह महापुर नगर में एक सेठ का पद्मरुचि नाम का पुत्र हुआ। वह यहां भी श्रावक के व्रतों का पालन करने लगा। एकबार वह घोड़े पर सवार हो कर गोकुल की ओर जा रहा था। मार्ग में उसने एक बुड्ढे वैल को तड़प कर मरते हुए देखा। वह तत्काल घोड़े पर से नीचे उतरा और उस वैल के कान में नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करने लगा। नमस्कार मन्त्र का श्रवण करता हुआ वैल मृत्यु पा कर उसी नगर में राजा के पुत्रपने उत्पन्न हुआ। उसका नाम वृषभध्वज रखा। बड़ा होने पर राजकुमार इधर-उधर घुमता हुआ उस स्थान पर पहुँचा—जहाँ वह बेल मरा था। वह स्थान उसे परिचित लगा। वह सोचने लगा। सोचते-सोचते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने उस स्थान पर एक देवालय वनाया और उसकी भींत पर वृद्ध वृषभ की मरणासन्न दशा और पद्मरुचि द्वारा दिया जाता धर्म-सहाय्य आदि का चित्रण कराया। इसके वाद उस देवालय पर रक्षक रख कर उन्हें आज्ञा दी कि—"यदि कोई मनुष्य इन चित्रों का रहस्य जानता हो, तो उसकी सूचना मुझे दी जाय।" कालान्तर में वह पद्मरुचि सेठ उस देवालय में आया और भीत्ति पर आलेखित चित्रावली देख कर विस्मित हो कर वोला—"ये चित्र तो मुझसे ही सम्वन्ध रखते हैं।" देवालय के रक्षक ने पद्मरुचि की वात सुन कर तत्काल राजकुमार को निवेदन किया। राजकुमार उसी समय चल कर मन्दिर पर आया और पद्मरुचि से मिल कर वहुत प्रसन्न हुआ। राजकुमार ने पद्मरुचि से चित्र का वृत्तांत पूछा। पद्मरुचि ने कहा—"महानुभाव! इस चित्र में जिस घटना का चित्रण हुआ है, वह मुझ-से सम्वन्ध रखती है। वृद्ध एवं मरणासन्न वृषभ को नमस्कार-मन्त्र सुनाने वाला मैं ही हूँ। इस घटना को जानने वाले किसी ने यह चित्र वनाया होगा।"

"भद्र! वह वृद्ध वैल मैं ही हूँ। आपने कृपा कर मुझे नमस्कार-महामन्त्र का सवल संवल प्रदान किया था। उसीके प्रभाव से मैं वर्त्तमान अवस्था को पहुँचा हूँ। आप मेरे उपकारी हैं। यदि आपकी कृपा नहीं होती, तो मेरी दुर्गति होती। आप मेरे देव हैं, गुरु हैं, स्वामी हैं। मेरा यह विशाल राज्य आपके अर्पण हैं।"

इस प्रकार भक्ति व्यक्त की और श्रावक व्रतों का पालन करते हुए वह पद्मरुचि के साथ अभेद रह कर धम की आराधना करने लगा और काल कर के दोनों ईशान देवलोक में महर्द्धिक देव हुए। देवलोक से च्यव कर पद्मरुचि तो मेरु पर्वत के पश्चिम में वैताढ्य गिरि पर, नन्दावर्त नगर में नन्दीश्वर नाम के राजा का पुत्र हुआ। उसका नाम नयानन्द रखा गया। वहाँ राज्य-सुख का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की और संयम का पालन कर, चौथे स्वर्ग में देव हुआ। देवभव पूर्ण कर के विदेह में क्षेमापुरी नगरी के राजा विपुल-

वाहन का श्रीचन्द्र नाम का पुत्र हुआ। वह राज्य-वैभव का त्याग कर समाधिगुप्त मुनि के पास प्रव्रजित हुआ और संयम पाल कर पाँचवें देवलोक में इन्द्र हुआ। वहाँ से च्यव कर ये रामभद्र नाम के आठवें बलदेव हुए।

वह श्रीकान्त सेठ का जीव (जो गुणवती के साथ गुप्तरूप से लग्न करना चाहता था) भवभ्रमण करता हुआ मृणालकन्द नगर में, शंभु राजा की हेमवती रानी की कुक्षि से वज्रकंठ नामक पुत्र हुआ और वसुदत्त भी जन्म-मरण करता हुआ उसी राजा के पुरोहित का श्रीभूति नाम का पुत्र हुआ और गुणवती भी भवभ्रमण करती हुई श्रीभूति की पत्नी सरस्वसी की कुक्षि से कन्या हुई। उसका नाम वेगवती था। यौवनवय के साथ उसमें चञ्चलता भी वढ़ गई। वह जैनमुनियों पर द्वेष रखती थी। उसने सुदर्शन नाम के प्रतिमाधारी मुनि को ध्यानमग्न देखा और द्वेषवश लोगों में प्रचारित कर दिया कि—"ये साधु दुराचारी हैं। मैंने इन्हें एक स्त्री के साथ दुराचार करते देखा। ऐसे व्यभिचारी को वन्दना नहीं करनी चाहिये।" उसकी बात सुन कर लोग भ्रमित हो गए और मुनि को कलंकित जान कर उपद्रव करने लगे। निर्दोष एवं पवित्र मुनिराज के हृदय को इस मिथ्या कलंक से मानसिक क्लेश हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि--"जबतक मेरा यह कलंक नहीं मिटेगा, मैं कायुत्सर्ग में ही रहूँगा।" मुनिराज की अडिगता एवं आत्मवल से शासन-सेवक देव आकर्षित हुआ। उसने वेगवती का मुख विकृत कर दिया--व्याधिमय एवं कुरूप। लोगों ने जब यह जाना तो वेगवती के पाप की निन्दा करने लगे। उसके पिता ने भी उसका तिरस्कार किया। अपने पाप का तत्काल भयंकर परिणाम देख, कर वेगवती मुनिराज के निकट आई और समस्त जन-समूह के समक्ष पश्चात्ताप करती हुई वोली;--

"हे स्वामी! आप सर्वथा निर्दोष हैं। मैंने द्वेषवश आप पर मिथ्या दोषारोपण किया। हे क्षमा के सागर! मेरा अपराध क्षमा करें।"

मुनिराज का कलंक दूर हुआ। वेगवती पुनः स्वस्थ हुई। उसकी सुन्दरता विशेष वढ़ गई। वह श्राविका वन कर धर्म का पालन करने में दत्तचित्त हुई। जनता ने भी मुनिराज से क्षमा याचना की। वेगवती का रूप देख कर राजा शंभु उस पर मोहित हुआ। उसने वेगवती के साथ लग्न करने के लिए उसके पिता श्रीभूति से याचना की। श्रीभूति ने कहा—"मेरी पुत्री मिथ्यादृष्टि को नहीं दी जा सकती।" यह सुन कर राजा क्रोधित हुआ। उसने श्रीभूति को मार डाला और वेगवती को वलपूर्वक ग्रहण कर भोग किया। वेगवती अवला थी। उसने राजा को शाप दिया—"भवान्तर में मैं तेरी मृत्यु का कारण

बनूंगी।" राजा के पाश से मुक्त हो कर वेगवती ने हरिकान्ता नाम की साध्वीजी से प्रव्रज्या स्वीकार की। चारित्र का पालन कर वह ब्रह्म-देवलोक में गई। वहाँ से च्यव कर जनक नरेश की पुत्री सीता हुई और शंभु राजा के जीव रावण की मृत्यु की कारण बनी। सुदर्शन मुनि पर मिथ्या दोषारोपण करने से इस भव में सीता पर मिथ्या कलंक आया।

शंभु राजा का जीव भव-भ्रमण कर के कुशध्वज ब्राह्मण की पत्नी सावित्री की उदर से प्रभास नाम वाला पुत्र हुआ। उसने मुनि विजयसेनजी के पास निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण की और संयमपूर्वक उग्र तप करने लगा। एक बार इन्द्र के समान प्रभावशाली विद्याधर नरेश कनकप्रभ को देख कर प्रभास मुनि ने समृद्धिशाली नरेश होने का निदान कर लिया और मृत्यु पा कर तीसरे देवलोक में उत्पन्न हुए और वहाँ से च्यव कर राक्षसाधिपति रावण हुए। याज्ञवल्क्य (जो धनदत्त और वसुदत्त का मित्र था) भव-भ्रमण करते हुए तुम विभीषण हुए। आज भी तुम्हारी वह पूर्व-भव की मित्रता कायम रही।

श्रीपति (जिसे राजा शंभु ने मार डाला था) स्वर्ग से च्यव कर सुप्रतिष्ठपुर में पुनर्वसु नाम का विद्याधर हुआ। उसने कामातुर हो कर पुंडरीक विजय के चक्रवर्ती सम्राट की पुत्री अनंगसुन्दरी का हरण किया। चक्रवर्ती के विद्याधरों से आकाश में युद्ध करते समय अनंगसुन्दरी घबड़ा गई और विमान में से गिर कर एक लतागृह पर पड़ी। वह वन में अकेली भटकने लगी। अचानक एक अजगर ने उसे निगल लिया और समाधिपूर्वक मृत्यु पा कर देवलोक में गई। वहाँ से च्यव कर वह विशल्या (लक्ष्मणजी की पत्नी) हुई। अनंगसुन्दरी के विरह में पुनर्वसु ने दीक्षा ली और निदान करके देवलोक में गया। वहाँ से च्यव कर दशरथजी के पुत्र लक्ष्मणजी हुए।

गुणवती का भाई गुणधर भी जन्ममरण करता कुडलमंडित नामक राजपुत्र हुआ और चिरकाल श्रावक व्रत पालन कर के सीता का भाई भामण्डल हुआ।

लवण और अंकुश के पूर्वभव

काकंदी नगरी के वामदेव ब्राह्मण के वसुनन्द और सुनन्द नाम के दो पुत्र थे। एक बार उन दोनों भाइयों के माता-पिता कहीं अन्यत्र गये हुए थे, ऐसे समय उनके घर एक मासोपवासी तपस्वी महात्मा पधारे, जिन्हें दोनों बन्धुओं ने भक्तिपूर्वक आहार दिया।

उस दान के प्रभाव से वे मरणोपरान्त उत्तरकुरु में युगलिकपने उत्पन्न हुए। युगलिक भव पूर्ण करके सौधर्म-स्वर्ग में देव हुए। स्वर्ग से च्यव कर फिर काकन्दी नगरी में राजपुत्र हुए। राज्य-वैभव का त्याग कर वे संयमी बने और दीर्घकाल तक संयम का पालन कर ग्रैवेयक देव हुए। वहाँ से च्यव कर लवण और अंकुशपने उत्पन्न हुए। उनके पूर्वभव की माता ने भव-भ्रमण कर के सिद्धार्थ हो कर दोनों बन्धुओं का अध्यापन कार्य किया था।

वीतराग-सर्वज्ञ महामुनि श्री जयभूषणजी महाराज ने इस प्रकार पूर्वभवों का वर्णन किया। जीव ने भवचक्र में कितने दुष्कर्म किये और उनका कटुफल भोगा, इसका विवरण सुन कर बहुत-से लोग संसार से विरक्त हुए। सेनापति कृतांत तो उसी समय प्रव्रजित हुए। राम-लक्ष्मण आदि महर्षि को वन्दना करके महासती सीता के पास आये। सीता को देख कर राम के मन में चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह कोमलांगी सीता संयम के भार को कैसे वहन कर सकेगी ? पुष्प के समान अत्यंत सुकुमार इसका शरीर, शीत और ताप के कष्ट किस प्रकार सहन करेगा ? फिर उनके विचार पलटे। नहीं, यह महासती रावण जैसे महाबली के सामने भी अडिग रही है। यह संयम-भार का वहन करने में समर्थ होगी। इस प्रकार का विचार करके रामभद्रजी ने महासती की वन्दना की। श्री लक्ष्मण आदि ने भी श्रद्धापूर्वक वन्दना की और स्वस्थान आये। सीताजी, संयम और तप की आराधना करके मासिक संलेषणा पूर्वक आयु पूर्ण कर अच्युतेन्द्र हुए। उनकी स्थिति २२ सागरोपम हुई। कृतांतवदन मुनि भी संयम पाल कर ब्रह्मदेवलोक में देव हुए।

राम-लक्ष्मण के पुत्रों में विग्रह

वैताढ्यगिरि पर कांचनपुर नगर के कनकरथ नरेश के मंदाकिनी और चन्द्रमुखी नाम की दो कुमारियाँ थीं। उनके स्वयंवर में अन्य नरेशों और राजकुमारों के अतिरिक्त राम-लक्ष्मण को भी राजकुमारों सहित आमन्त्रण दिया था। वे सभी आये। राजकुमारी मंदाकिनी ने राजकुमार अनंगलवण के गले में और चन्द्रमुखी ने मदनांकुश के गले में, स्वेच्छा से वरमाला पहिना कर वरण किया। यह देख कर लक्ष्मण के श्रीधर आदि २५० कुमारों में उत्तेजना उत्पना हुई। वे युद्ध के लिए तत्पर हो गए। अपने भाइयों को अपने विरुद्ध युद्ध में तत्पर देख कर लवण और अंकुश क्षुब्ध हो गए। उन्होंने अपने भाइयों के विरुद्ध शस्त्र उठाना उचित नहीं समझा। अपने पिता और काका का भ्रातृ-स्नेह उनका

आदर्श बना। उन्होंने अपने में और श्रीधरादि लक्ष्मण-पुत्रों में भेद मानना ठीक नहीं समझा। जब उन्होंने अपनी मनोभावना व्यक्त की, तो श्रीधरादि पर भी उसका प्रभाव पड़ा। वे लवणांकुश के समीप आये और अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चात्ताप किया। उन सभी ने संसार से विरक्त हो कर महाबल मुनि के पास प्रव्रज्या ले कर संयम-साधना में तत्पर हुए और लवण और अंकुश का उन राजकुमारियों के साथ लग्न हुआ।

भामण्डल का वैराग्य और मृत्यु

एक समय भामण्डल नरेश अपने भवन की छत पर बैठे थे। उनके मनमें विचार उत्पन्न हुआ कि "मैंने वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियों का राज्याधिकार और सुखोपभोग किया। अब संसार का त्याग कर के संयम-साधना करूँ और मानव-भव सफल करूँ"—इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे कि उसी समय उन कर आकाश में से बिजली पड़ी और वे मृत्यु पा कर देवकुरु क्षेत्र में युगलिक मनुष्य हुए।

हनुमान का मोक्ष

एक बार हनुमानजी मेरु पर्वत पर क्रीड़ा करने गये। संध्या का सुहावना समय था। वे प्राकृतिक दृश्य देख रहे थे कि अस्त होते हुए सूर्य पर उनके विचार अटके। वे सोचने लगे—

"संसार में उदय और अस्त चलता ही रहता है। आज जो उदय के शिखर पर चढ़ा हुआ है, वही कालान्तर में अस्त के गहरे गड्ढे में गिर जाता है। जो आज राव है, वह रंक भी हो जाता है। विजेता, पराजित हो जाता है और जो जन्म लेता है, वह मरता ही है। यह संसार की रीति है। उदयभाव से जीव उत्थान और पतन के चक्कर में घुमता रहता है। वे भव्यात्माएँ धन्य हैं जो संसार से उदासीन हो कर संयम और तप से संसार का छेदन कर, शाश्वत शांति प्राप्त कर लेती है। मुझे भी अब सावधान हो कर इस उदय-अस्त के चक्कर को काट देना चाहिए।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए हनुमान विरक्त हो गए। वे नगर में आये और पुत्र को राज्यभार सोंप कर आचार्य धर्मरत्नजी के पास निर्ग्रंथ अनगार बन गए। उनके साथ अन्य सात सौ पचास राजा भी दीक्षित हुए। उनकी रानियों ने महासती श्री लक्ष्मीवतीजी

के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की। मुनिराज श्री हनुमानजी, साधना के शिखर पर चढ़े और वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने। फिर आयुकर्म पूर्ण होने पर मोक्ष को प्राप्त हुए।

लक्ष्मणजी का देहावसान और लवणांकुश की मुक्ति

हनुमानजी की दीक्षा के समाचार सुन कर रामभद्रजी ने विचार किया—"प्राप्त राज्य-वैभव और सुखभोग छोड़ कर हनुमान साधु क्यों बना ? क्या ऐसे उत्कृष्ट भोग बार-बार मिलते हैं ? ऐसे भोगों को छोड़ कर महाकष्टकारी दीक्षा लेने में उसने कौनसी बुद्धिमानी की ?" रामभद्रजी की ऐसी विचारधारा चल ही रही थी कि प्रथम स्वर्ग के स्वामी सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान से रामभद्रजी की चित्तवृत्ति जानने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी देवसभा को सम्बोधित करते हुए कहा—"कर्म की कैसी विचित्र गति है, चरम-शरीरी राम जैसे महापुरुष भी इस समय विषय-सुख की अनुमोदना और धर्म-साधना की अरुचि रखते हैं ? वास्तव में इसका मुख्य कारण राम-लक्ष्मण का परस्पर गाढ़-स्नेह सम्बन्ध है। यह बन्धु-स्नेह ही उन्हें धर्म के अभिमुख नहीं होने देता।"

इन्द्र की यह बात सुन कर दो देव कौतुक वश अयोध्या में आये। उन्होंने अपनी वैक्रिय-लब्धि से ऐसा दृश्य उपस्थित किया कि जिससे अन्तःपुर की समस्त रानियाँ रोती विलाप करती और आक्रन्द करती दिखाई दी। वे—"हा, पद्म ! हा राम ! हा, अयोध्यापति कुलश्रेष्ठ ! आप अचानक तथा असमय ही हम सब को छोड़ कर परलोक क्यों सिधार गए," आदि।

रानियों का आक्रन्द तथा शोकमय वातावरण ने लक्ष्मण को आकर्षित किया। अपने ज्येष्ठ-बन्धु की मृत्यु की बात वे सहन नहीं कर सके तत्काल उनकी हृदयगति रुक गई और वे मृत्यु को प्राप्त हो गए। कर्म का विपाक गहन और अलंघ्य होता है।

देवों को अपने कौतुक का ऐसा दुष्परिणाम देख कर पश्चात्ताप हुआ। वे खेद-पूर्वक बोले—"हा, हमने महापुरुष का घात कर दिया। हम कितने अधम हैं।" वे आत्म-निन्दा करते हुए स्वस्थान चले गए।

लक्ष्मणजी को मृत्यु प्राप्त जान कर सारा अन्तःपुर परिवार आक्रन्द करने लगा। अन्तःपुर का विलाप तथा शोकोद्गार सुन कर रामभद्रजी तत्काल दौड़े आये और रनियों से बोले—

"तुम क्यों रोती हो ? कौनसी दुर्घटना हो गई ? कौन मर गया ? ऐं लक्ष्मण ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे छोड़ कर लक्ष्मण नहीं मर सकता। उसे कोई रोग हुआ होगा। मैं अभी उसका उपाय करता हूँ। तुम सब शान्त रहो।"

रामभद्रजी ने तुरन्त वैद्यों और ज्योतिषियों को बुलाया। अनेक प्रकार के औषधोपचार किये, मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग भी कराये, परन्तु सभी निष्फल रहे। राम हताश हो कर मूच्छित हो गए। कुछ समय बाद मूर्च्छा दूर होने पर उनका हृदयावेग उमड़ा। वे रोने और विलाप करने लगे। विभीषण, सुग्रीव और शत्रुघ्न आदि भी रोने लगे। सभी की आँखे झरने लगीं। कौशल्यादि माताएँ, रानियें और पुत्र आदि भी शोकमग्न हो रुदन करने लगी। सारी अयोध्या शोकसागर में निमग्न हो गई। इस दुर्घटना ने लवण और अंकुश के हृदय में वैराग्य भर दिया। उन्होंने रामभद्रजी से निवेदन किया--"पूज्य ! हमारे लघुपिता परलोकवासी हो कर हमें शिक्षा दे गये हैं कि यह संसार और कामभोग नाशवान् हैं। इन्हें छोड़ कर बरबस मरना पड़ेगा। हम अब ऐसे वियोग परिणाम वाले संयोगों से विरक्त हैं। आप आज्ञा प्रदान करें, हम स्वेच्छा से संसार का त्याग करेंगे।" दोनों बन्धु, राम को प्रणाम करके चल दिए और अमृतघोष मुनि के पास दीक्षित हो कर अनुक्रम से मुक्ति प्राप्त कर ली।

राम का मोह-भंग, प्रव्रज्या और निर्वाण

प्राणप्रिय भाई के अवसान और पुत्रों के संसार-त्याग के असह्य आघात से राम बारबार शोकाकूल हो मूच्छित होने लगे। मोहाभिभूत होने के कारण लक्ष्मण की मृत्यु का उन्हें विश्वास ही नहीं होता था। वे सोचते थे—"लक्ष्मण रूठ गया है। किसी कारण वह सभी लोगों से विमुख हो कर मौन है।" वे कहने लगे—

"हे भाई ! मैने तेरा क्या अपराध किया ? यदि अनजान में मुझ-से कोई अपराध हो गया हो, तो बता दे। तेरे रूठने से लव-कुश भी मुझे छोड़ कर चले गये। एक तेरी अप्रसन्नता से सारा संसार मेरे लिए दुःखमय हो गया है। बन्धु ! मान जा। प्रसन्न होजा। तेरी प्रसन्नता मेरा जीवन बन जायगी। सीता गई और पुत्र भी गये। यदि तू मेरा बना रहा, तो मैं अन्य अभाव भी प्रसन्नतापूर्वक सहन करलूंगा। बोल, बोल कुछ तो बोल ! तू इतना निर्मोही क्यों हो गया है ?"

इस प्रकार रामभद्रजी अनेक प्रकार से करुणापूर्ण वचन वोलते हुए लक्ष्मणजी के सिंहासनासीन शरीर के सामने बैठ कर विविध प्रकार से मनौती करने लगे। रामभद्रजी की ऐसी दशा देख कर विभीषणजी आदि गद्गद् स्वर से समझाने लगे;—

"हे स्वामी! आप पुरुषोत्तम हैं, धीरवीर हैं। आपको इस प्रकार मोह में डूबना नहीं चाहिए। अब आप सावधान बनें और लक्ष्मणजी के शरीर की लोक-प्रसिद्ध उत्तरक्रिया करने की तैयारी करें। अब इस शरीर में आत्मा नहीं रही। वह अपनी स्थिति पूर्ण कर चली गई। जो जन्म लेता है, वह एक दिन अवश्य मरता है। धीरजन ऐसे वियोग के दुःख को शांति से सहन करते हैं। आप यहाँ से दूसरे कक्ष में चलिये। अब इस शरीर की संस्कार-विधि प्रारम्भ करवाएँगे।"

रामभद्रजी यह बात सहन नहीं कर सके। भ्रकुटि चढ़ा कर क्रोधपूर्ण स्वर में वोले;—

"दुष्टों तुम्हें भी क्या मुझ से शत्रुता है? तुम लक्ष्मण को मरा हुआ कहते हो? तुम्हें दिखाई नहीं देता कि यह रूठा हुआ है! यह हजारों को मारने वाला वीर भी कभी मर सकता है, और मुझे छोड़ कर? तुम धृष्ट हो। तुम भी मुझसे वैर रखते हो। मैं तुम्हारी इस अधमता को सहन नहीं करूँगा। यदि अग्निदाह करना है, तो तुम्हारा ही सपरिवार होना चाहिए। मेरा भाई तो जीवित है। यह दीर्घायु है। मुझ-से पहले यह नहीं मर सकता। यह मुझ-से रूठ गया है। मैं इसे मनाऊँगा। हे प्रिय लक्ष्मण! बोल, शीघ्र वोल। तेरे रूठने से इन सव दुर्जनों का साहस वढ़ गया है। अव तुम्हारा मौन रहना ठीक नहीं। तुम अपने कोप को दूर करो और प्रसन्न होओ। चलो, अपन यहाँ से कहीं दूर वन में चलें। वहाँ इन दुष्टों की छाया भी न पड़ सकेगी। मैं एकान्त स्थान में तुम्हें मनाऊँगा।" इस प्रकार कह कर रामभद्रजी ने लक्ष्मणजी को कन्धे पर उठाया और चल दिये। वे लक्ष्मण के शरीर को स्नानगृह में ले जा कर स्नान कराने लगे, फिर चन्दन का विलेपन किया; वस्त्राभूषण पहिनाये और अपनी गोद में ले कर चुम्बनादि करने लगे। कभी भोजन का थाल मँगवा कर खाने का आग्रह करते, कभी पलंग पर सुला कर पंखा झलते, कभी पाँव दवाते और कभी कन्धे पर उठा कर चलते। इस प्रकार मोह में भान भूल कर, वे भाई के शव को ले कर घुमने लगे। इस प्रकार करते छह महीने वीत गए। लक्ष्मण का देहावसान और राम की विक्षिप्त जैसी दशा का समाचार पा कर इन्द्रजीत और सुन्द राक्षस के पुत्रों तथा अन्य खेचर शत्रुओं ने राम को मारने के विचार से, सेना ले कर अयोध्या के निकट आये और घेरा डाल दिया। जब रामने शत्रु-

सेना ने अयोध्या को आक्रान्त पाया, तो उन्होंने लक्ष्मण के शव को गोद में ले कर अपना धनुष सम्हाला और आस्फालन किया। उस वज्रावर्त धनुष ने अकाल में भी संवर्तक मेघ की वर्षा की। उस समय राम के पूर्व-स्नेही जटायुदेव का आसन चलायमान हुआ। वह कुछ देवों के साथ वहाँ आया। देवों को राम की सहायता में आया देख कर, शत्रु भयभीत हुए और घेरा उठा कर चले गये। साथ ही इन्द्रजीत के पुत्रों आदि कई प्रमुख व्यक्ति, संसार से विरक्त हो कर, अतिवेग नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए।

जटायुदेव ने राम का भ्रम दूर करने के लिए युक्ति रची। वह सूखे हुए वृक्ष के ठूंठ के मूल में पानी डाल कर सिंचन करने लगा। यह देख कर राम उसकी मूर्खता पर खीजे और बोले—'अरे मूर्ख कहीं सूखा ठूंठ भी हरा होता है?" देव बोला—"यदि सूखा हुआ ठूंठ हरा नहीं होता, तो मरा हुवा मनुष्य भी कभी जीवित होता है?" राम ने देव की युक्ति पर ध्यान नहीं दिया और आगे चलने लगे। कुछ दूर चलने के बाद उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति पत्थर की शिला पर कमल उगाने का प्रयत्न कर रहा है। राम ने उसकी मूर्खता का भान कराने के लिए कहा, तो उन्हें भी वैसा ही उत्तर मिला। आगे चलने पर उन्हें एक किसान मरे हुए बैल के कन्धे पर हल का जुआ रख कर खेत जोतने का प्रयत्न करते हुए दिखा। उसके बाद एक तेली को घानी में रेत डाल कर तेल निकालने की चेष्टा करते हुए देखा। उनके उलट प्रश्न से भी राम का भ्रम दूर नहीं हुआ। उस समय उनके कृतांतवदन सारथी के जीव—देव ने अवधिज्ञान से रामभद्रजी की दशा देखी, तो वह भी उन्हें बोध देने के लिए आया और मनुष्य रूप में एक स्त्री के शव को कन्धे पर उठाये और प्रेमालाप करते हुए उनके सामने से निकला। रामभद्रजी ने उसे टोका—"अरे मूर्ख! तेरे कन्धे पर स्त्री का मुर्दा शरीर है। इसमें प्राण नहीं रहे। इससे प्रेमालाप करना छोड़ कर इसकी उत्तर-क्रिया कर दे।"

—"नहीं, आप झूठ बोलते हैं, यह मेरी प्राणप्रिय-पत्नी है। मुझे छोड़ कर यह नहीं मर सकती। यह मुझ-से रूठ गई है। मैं इसे मनाऊँगा"—देव बोला।

—"अरे भोले! यह जीवित नहीं, मरी हुई है। अब यह किसी भी प्रकार जीवित नहीं हो सकती। कोई देव-दानव और इन्द्र भी इसे जीवित नहीं कर सकता। तू मूर्खता छोड़ कर इसकी अंतिम-क्रिया कर दे"—राम ने उसे समझाया।

—"क्या मैं मूर्ख हूँ, बेभान हूँ? फिर आप अपने कन्धे पर क्या जीवित मनुष्य को ढो रहे हैं? महानुभाव! इतना तो सोचो कि यदि लक्ष्मण जीवित होते, तो आपके कन्धे पर रहते? आपको पिता के समान पूज्य मानने वाले, आपके कन्धे पर चढ़ते? इनके

श्वासोच्छ्वास बन्द रहते ? चेतना लुप्त होती ? छह महीने तक ये निश्चल रहते ?"

इस युक्ति से राम प्रभावित हुए। अब उन्हें भी लक्ष्मणजी के जीवन में सन्देह होने लगा। फिर जटायु देव और कृतांत देव ने प्रकट रूप से रामभद्रजी को समझाया और स्वस्थान चले गए। इसके बाद राम ने लक्ष्मण के देह का अंतिम-संस्कार किया और शत्रुघ्न को राज्य दे कर संसार का त्याग करने की इच्छा व्यक्त की। किंतु शत्रुघ्न भी संसार से विरक्त थे, अतएव लवण के पुत्र अनंगदेव को राज्यासन पर स्थापित कर के मोक्ष-साधना में तत्पर हुए और विभीषण, शत्रुघ्न, सुग्रीव और विराध आदि नरेशों के साथ रामभद्रजी, भ. मुनिसुव्रतनाथ की परम्परा के महामुनि सुव्रताचार्य के समीप प्रव्रजित हुए। अन्य सोलह हजार नरेश भी दीक्षित हुए और तेतीस हजार रानियें भी श्रीमती साध्वीजी के पास दीक्षित हुई।

मुनिराज श्री रामभद्रजी ने चौदह पूर्व और द्वादशांगीरूप श्रुत्र का अभ्यास किया और विविध प्रकार के अभिग्रह से युक्त तपस्या करते हुए साठ वर्ष व्यतीत किये। इसके बाद एकलविहार-प्रतिमा स्वीकार की और निर्भय हो कर किसी पर्वत की गुफा में ध्यान करने लगे। उन्हें तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हो कर अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। वे लोक के रूपी पदार्थों को, हाथ में रही हुई वस्तु के समान प्रत्यक्ष देखने लगे। उन्होंने जान लिया कि—लक्ष्मण की मृत्यु, देवों के कपटयुक्त व्यवहार से हुई और वे पंकप्रभा नामक चतुर्थ पृथ्वी में दिखाई दिये। उन्हें देख कर मुनिराज श्री को विचार हुआ;—

"मैं पूर्वभव में धनदत्त था और लक्ष्मण मेरा छोटा भाई वसुदत्त था। वह बिना शुभ कृत्य किये मृत्यु पा कर भवभ्रमण करता रहा और अंत में मेरा छोटा भाई हुआ। इस भव में भी वह बिना ही धर्म आराधना के बारह हजार वर्ष का लम्बा जीवन पूर्ण कर के नरक में गया। कर्म का फल ही ऐसा है। इसमें उन दो देवों का कोई दोष नहीं।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए रामभद्रजी, कर्मों का दहन करने में विशेष तत्पर हुए और उग्र तप युक्त ध्यान करने लगे। एक बार वे तप की पूर्ति पर पारणा लेने के लिए 'स्यन्दन-स्थल' नगर में गए। मुनिराज का चन्द्रमा के समान सौम्य एवं देदीप्य मान रूप देख कर नगरजन अत्यंत हर्षित हुए। स्त्रियें उन्हें भिक्षा देने के लिए भोजन-सामग्री ले कर द्वार पर आ खड़ी हुई। उस समय नगरजनों में इतना कोलाहल बढ़ा कि जिससे चमत्कृत हो कर हाथी, बन्धन तुड़ा कर भागने लगे। घोड़े, खूंटे उखाड़ कर इधर-उधर दौड़ने लगे। रामभद्रजी तो उज्झित धर्म वाला (फेंकने योग्य) आहार लेने वाले थे। उन्हें इस प्रकार सामने ला कर दिया हुआ आहार नहीं लेना था। वे बिना आहार किये ही वन में लौटने

किये। वन में रहते हुए मुनिराज मासक्षमण, द्विमासक्षमण आदि उग्र तप और विविध प्रकार के आसन से ध्यान करने लगे। एक बार वे कोटिशिला पर बैठ कर ध्यान करने लगे। ध्यान की धारा बढ़ी और वे क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने लगे। उधर इन्द्र बने हुए सीता के जीवने अवधिज्ञान से महामुनि रामभद्रजी को देखा। उन्हें क्षपक-श्रेणी पहुँचते देख कर विचार हुआ--'मुझे तो अभी कुछ भव करना है। यदि मुनिराज मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, तो मुझे इनका सहवास नहीं मिलेगा। यदि ये अभी अपनी साधना में ढीले बन जायँ, तो आगे के मनुष्य-भव में हमारा फिर सम्बन्ध जुड़ जाय'--इस प्रकार विचार कर इन्द्र तत्काल मुनिवर के समीप आया। उसने वहाँ वसंतऋतु जैसी प्रकृति और मोहक तथा सुगन्धित पुष्पों युक्त उद्यान की विकुर्वणा की। सुगन्धित मलयानिल चलने लगा, कोयल मधुर शब्द गुंजाने लगी, पुष्पों पर भ्रमर मँडराने लगे और सभी वृक्ष तथा लताओं के पुष्पों से कामोद्दीपक वसंत की बहार फूटने लगी। ऐसे वातावरण में इन्द्र, सीता का रूप बना कर अन्य स्त्रियों के साथ ध्यानस्थ मुनिराज के पास आया और कहने लगा--

"आर्यपुत्र! मैं आपकी प्राणप्रिया सीता हूँ। मैं आपके पास कृपा की याचना ले कर आई हूँ। उस समय मैंने आपकी बात नहीं मानी और रूठ कर दीक्षित हो गई;

किंतु अब मैं पश्चात्ताप कर रही हूँ। ये विद्याधर कुमारिकाएँ भी आपको वरण करना चाहती है। कृपा कर हम सब को स्वीकार करें। मैं विश्वास दिलाती हूँ कि अब आपसे कभी नहीं रूठूंगी और आपको हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करूँगी।" साथ की किन्नरियें वादिन्त्र के साथ मधुर संगीत तथा नृत्य करने लगी। उन्होंने बहुत प्रयत्न किया। महामुनि को ध्यान से गिराने की बहुत चेष्टा की, किंतु वे अडिग रहे और घातिकर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। वह माघ-शुक्ला द्वादशी की रात्रि का अंतिम पहर था। सीतेन्द्रादि देवों ने केवल-महोत्सव किया। सर्वज्ञ भगवान् रामभद्रजी ने धर्मोपदेश दिया। सीतेन्द्र ने अपने अपराध की क्षमा याचना कर लक्ष्मण और रावण की गति के विषय में पूछा। भगवान् ने कहा—'इस समय शंबुक सहित रावण और लक्ष्मण चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में हैं। वहाँ का आयुपूर्ण कर रावण और लक्ष्मण, पूर्व-विदेह की विजयावती नगरी में जिनदास और सुदर्शन नाम के दो भाई के रूप में होंगे। जिनधर्म का पालन कर सौधर्म देवलोक में देव होंगे। वहाँ से च्यव कर फिर विजयपुर में श्रावक होंगे। वहाँ का आयु पूर्ण कर हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिक होंगे। वहाँ से मर कर देव होंगे। वहाँ से च्यव कर पुनः विजयपुरी में जयकान्त और जयप्रभ नाम के राजकुमार होंगे। वहाँ संयम की आराधना कर के लांतककल्प में देव होंगे। उस समय तुम अच्युत कल्प से च्यव कर इस भरतक्षेत्र में सर्वरत्नमति नाम के चक्रवती बनोगे और वे दोनों लांतक देवलोक से च्यव कर तुम्हारे पुत्र होंगे—इन्द्रायुध और मेघरथ। तुम दीक्षित हो-कर दूसरे अनुत्तर विमान में उत्पन्न होंगे। रावण का जीव इन्द्रायुध तीन शुभ भव करके तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा और तीर्थंकर होगा। उस समय तुम अनुत्तरविमान से मनुष्य हो कर तीर्थंकर के गणधर बनोगे और आयु पूर्ण कर मोक्ष प्राप्त करोगे। लक्ष्मण का जीव मेघरथ, शुभगति प्राप्त करता हुआ पुष्करवर द्वीप के पूर्वविदेह की रत्नचित्रा नगरी में चक्रवर्ती बनेगा और दीक्षित हो क्रमशः तीर्थंकर पद प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करेगा।

भविष्य-कथन सुन कर सीतेन्द्र ने सर्वज्ञ भगवान् रामभद्रजी की वन्दना की और स्नेहवश लक्ष्मणजी के पास नरक में आये। उस समय वहाँ शंबुक और रावण के जीव, सिंह रूप बना कर लक्ष्मण के जीव के साथ क्रोधपूर्वक युद्ध कर के दुःखी हो रहे थे। सीतेन्द्र ने उन्हें सम्बोधन कर कहा—"तुम क्यों द्वेषवश आपस में लड़ कर दुःखी हो रहे हो। तुम मनुष्य-भव में कितने समृद्धिशाली बलवान् और राज्याधिपति थे। तुमने

भगवान् रामर्षिजी पच्चीस वर्ष तक केवलपर्याय से विचरे और कुल आयु पन्द्रह हजार वर्ष का पूर्ण कर शाश्वत सुख के स्वामी बने ।

॥ इति राम-चरित्र ॥

परिशिष्ठ

गंगदत्त मुनि चरित्र

[भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी का चरित्र भी विशाल होगा और उनके समय तथा बाद में उनके तीर्थ में बहुत-से महापुरुष हुए होंगे, किन्तु उनका चरित्र उपलब्ध नहीं है। किसी भी तीर्थङ्कर भगवंत से सम्बन्धित एवं उल्लेखनीय सभी आत्माओं के चरित्र का उल्लेख होना सम्भव नहीं है। हमारे निकटवर्ती भगवान् महावीर प्रभु से सम्बन्धित सभी घटनाएँ और चरित्र भी पूरे नहीं लिखे जा सके होंगे, तब पूर्व के तीर्थङ्करों के तो हो ही कैसे ?

भगवान् का चरित्र छप चुकने के बाद मुझे विचार हुआ कि "प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र का जीव, पूर्वभव में भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी का शिष्य था। इसका चरित्र क्यों नहीं आया ? कार्तिक सेठ तो उसी समय हुए थे।' मैंने भगवती सूत्र श. १८ उ. २ देखा, तो उसमें स्पष्ट उल्लेख दिखाई दिया और उसी में गंगदत्त का उल्लेख देख कर श. १६ उ. ५ देखा। ये दोनों चरित्र न तो त्रि. श. पु. च. में है और न चउ. म. च. में। बाद के लेखकों ने भी इन्हें स्थान नहीं दिया। मैं भगवती सूत्र के आधार से यहाँ दोनों चरित्र उपस्थित करता हूँ।]

हस्तिनापुर नगर में गंगदत्त नामक गाथापति रहता था। वह सम्पत्तिशाली एवं समर्थ था। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी हस्तिनापुर के सहस्राम्र उद्यान में पधारे। भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर गंगदत्त, भगवान् के समीप आया। वन्दना-नमस्कार कर के भगवान् का धर्मोपदेश सुना। उसे संसार से विरक्ति हो गई। अपने ज्येष्ठ-पुत्र को गृहभार सौंप कर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के समीप प्रव्रजित हो गया। ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन किया। संयम और तप की साधना करते हुए, आयु-समाप्ति काल निकट जान कर उन्होंने अनशन किया और एक महीने का संथारा पाल कर, आयु पूर्ण कर महाशुक्र के महासामान्य विमान में देवपने उत्पन्न हुआ। वहाँ उनकी आयु स्थिति १७ सागरोपम प्रमाण है। यहाँ के देवभव की आयु पूर्ण कर के गंगदत्त देव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और तप-संयम की आराधना करके मुक्ति प्राप्त करेंगे।

यह गंगदत्त देव, अमायी सम्यग्दृष्टि है। इसका वहीं के एक मायी-मिथ्यादृष्टि देव से विवाद हुआ। मायी-मिथ्यादृष्टि देव ने गंगदत्त देव से कहा ;—

गंगदत्त देव भगवान् के समीप उपस्थित हुआ, उसके पूर्व शक्रेन्द्र भगवान् से प्रश्न पूछ रहा था और भगवान् ने उत्तर दिये थे। उसी समय अचानक शक्रेन्द्र संभ्रांत हो कर उठा और भगवान् को वन्दना-नमस्कार कर के अपने विमान में बैठ कर लौट गया।

शक्रेन्द्र के इस प्रकार लौट जाने पर श्री गौतम स्वामीजी ने भगवान् से पूछा;--

"भगवन् ! पहले कई बार शक्रेन्द्र आया, तब धैर्य-पूर्वक वन्दन-नमस्कार कर पर्युपासना करता, परंतु आज तो शीघ्रता से पूछ कर उद्विग्नता पूर्वक लौट गया, इसका क्या कारण है ?

भगवान् ने कहा—"गौतम ! गंगदत्त देव, महाशुक्र देवलोक से यहाँ आ रहा, है, यह जान कर शक्रेन्द्र उसके आने के पूर्व ही चला जाना चाहता था। गंगदत्त देव की ऋद्धि, द्युति, प्रभा एवं तेज, शक्रेन्द्र सहन नहीं कर सकता था, इस लिये वह शीघ्र ही चला गया।

टीकाकार लिखते हैं कि शक्रेन्द्र का जीव कार्तिक सेठ और गंगदत्त सेठ समकालीन रहे। दोनों हस्तिनापुर के रहने वाले थे। गंगदत्त सेठ पहले तो समृद्धिशाली था, परंतु बाद में ऋद्धि-विहीन हो गया था। उस समय कार्तिक सेठ विपुल सम्पत्ति का स्वामी बन गया था और दोनों में ईर्षा-भाव रहता था। देव-भव में गंगदत्त सातवें देवलोक का देव है और शक्रेन्द्र से विशेष समृद्ध है। अतएव पूर्वभव का मात्सर्य भाव यहाँ भी उदय में आया। इसी कारण शक्रेन्द्र शीघ्र लौट गया है।

दृष्टि शत्रु-सेना पर पड़ी। माता की दृष्टि पड़ते ही शत्रुदल के अधिपतियों की मति पलटी। उन्हें अपनी अल्प शक्ति और मिथिलेश की प्रबल शक्ति का भान हुआ और भावी अनिष्ट की आशंका हुई। उन्होंने तत्काल घेरा उठा लिया और मिथिलेश विजयसेनजी से सन्धि-चर्चा की। शत्रु-दल झुक गया और मिथिलेश के सामने आ कर नमन किया। संकट टल गया और विना लड़ाई के ही विजय प्राप्त हो गई। इस अनायास परिवर्तन को गर्भस्थ जीव का पुण्य-प्रभाव मान कर माता-पिता ने वालक का 'नमि कुमार' नाम दिया। क्रमशः यौवन अवस्था प्राप्त होने पर आपका राजकन्या के साथ लग्न हुआ। जन्म से ढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता ने आपका राज्याभिषेक करके सारा भार सौंप दिया। पाँच हजार वर्षतक राज करने के बाद आपने वर्षी-दान दिया और अपने सुप्रभ पुत्र को राज्य दे कर आषाढ़-कृष्णा नौमी को अश्विनी-नक्षत्र में, दिन के अंतिम पहर में, बेले के तप सहित, एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रव्रज्या स्वीकार करते ही प्रभु को मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। दूसरे दिन वीरपुर में नरेश के यहाँ आपका क्षीर से पारणा हुआ। आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे। नौ मास के बाद आप पुनः दीक्षास्थल सहस्राम्रवन में पधारे और मोरसली के वृक्ष के नीचे बेले के तप के साथ ध्यानस्थ रहे। मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी-नक्षत्र में घातीकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न किया। देवों ने समवसरण की रचना की। प्रभुने धर्मोपदेश दिया।

धर्म देशना

श्रावक के कर्त्तव्य

यह संसार असार है। धन-सम्पत्ति नदी की तरंग के समान चञ्चल है और शरीर विजली के चमत्कारवत् नाशवान् है। इसलिए बुद्धिमान् और चतुर मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि संसार, सम्पत्ति और शरीर, इन तीनों का विश्वास नहीं रख कर, मोक्षमार्ग की सर्व-आराधना रूप यतिधर्म का पालन करे। यदि श्रमणधर्म स्वीकार करने जितनी शक्ति नहीं हो, तो उसकी अभिलाषा रखते हुए सम्यक्त्व सहित बारह प्रकार के श्रावक-धर्म का पालन करने के लिए तत्पर रहे।

जाना और अर्थचिन्तन * (व्यापारादि आजीविका का कार्य) करना पड़े, तो धर्म का विरोध नहीं हो जाय, इसकी सावधानी रखना। फिर मध्यान्ह के समय धर्मध्यान करना। इसके बाद शास्त्रवेत्ताओं के समक्ष बैठ कर शास्त्रों का रहस्य समझने का प्रयास करना और संध्या को प्रतिक्रमण करना। इसके बाद उत्तम रीति से स्वाध्याय और ध्यान करना। रात के समय देव-गुरु और धर्म का स्मरण कर के अल्प निद्रा लेना और प्रायः ब्रह्मचर्य से रहना। यदि मध्य में निद्रा भंग हो जाय, तो स्त्री के अंगों की घृणितता का विचार करना। स्त्री का शरीर विष्ठा, मूत्र, मल, श्लेष्म, मज्जा और अस्थि से भरपूर है। इसी प्रकार स्नायु से सी हुई चर्म की थैली रूप है। यदि स्त्री के शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप का परावर्त्तन करने में आवे अर्थात् ऊपरी भाग भीतर हो जाय और भीतर का हिस्सा ऊपर आ जाय, तो प्रत्येक कामी-पुरुष को उस शरीर का गिद्ध, सियाल एवं कुत्ते आदि से रक्षण करना कठिन हो जाय।

यदि कामदेव, स्त्री रूपी शस्त्र से इस जगत् को जीतना चाहता हो, तो वह मूढ़मति हलकी कोटी के शस्त्र का उपयोग क्यों नहीं करता (?) आश्चर्य है कि संकल्प

+ यहां राइ प्रतिक्रमण का विधान भी होना था।

* 'अर्थ-चिन्तन करना' ये शब्द हमारी दृष्टि में सावद्य व्यापार की अनुज्ञा रूप है। इसके स्थान पर—"यदि विवशता पूर्वक अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न करना पड़े, तो न्याय, नीति और विरति तथा धर्म के लिए बाधक हो—ऐसा कार्य नहीं करना"—उचित लगता है।

में से उत्पन्न होने वाले कामदेव ने समस्त विश्व को बहुत ही बुरी अवस्था में डाल दिया और दुःखी कर दिया। किन्तु इस दुःख का मूल तो संकल्प ही है। इस प्रकार चिन्तन करना और महात्माओं ने जिसका त्याग किया है, उसका विचार करना और जो बाधक दोष हों उनके प्रतिकार का चिन्तन करना, साथ ही ऐसे दोषों से मुक्त मुनिवरों के प्रति प्रमोद तथा आदर भाव जगाना। सभी जीवों में रही हुई महादुःखदायक ऐसी भव-स्थिति के विषय में विचार कर के, जो स्वभाव से ही सुखदायक है--ऐसे मोक्ष-मार्ग की खोज करना। जिस मार्ग में जिनेश्वर देव, निर्ग्रन्थगुरु और दयामय धर्म है, ऐसे श्रावकपन की प्रशंसा तो सभी बुद्धिमान् करते हैं।

फिर जिनधर्म की प्राप्ति स्वरूप श्रावकपन की अनुमोदना करता हुआ विचार करे कि 'मैं उस चक्रवर्तीपन को भी नहीं चाहता, जिसमें जिनधर्म की छाया से वंचित रहना पड़े। मिथ्यात्व युक्त चक्रवर्तीपने से तो सम्यक्त्व युक्त दरिद्रता एवं किंकरता ही अच्छी है। फिर सोचे कि--

'त्यक्तसंगो जीर्णवासा, मलक्लिन्न कलेवरः। भजन्माधुकरीं वृत्ति, मुनिचर्यां कदाश्रये ॥"

--वह शुभ घड़ी कब आयगी जब मैं संसार के सभी सम्बन्धों का त्याग करके जीर्ण-वस्त्र पहने, मलिन शरीर युक्त हो, माधुकरी वृत्ति अंगीकार करके मुनि-धर्म का आचरण करूँगा।

"त्यजन् दुःशील संसर्ग, गुरुपाद-रजः स्पृशन्। कदाऽहं योग-मभ्यस्यन्, प्रभवेयं भवच्छिदे ॥

--दुराचारियों की संगति का त्याग करके गुरुदेव के चरणों की रज का स्पर्श करता हुआ और योगाभ्यास करता हुआ मैं कब भव-बन्धनों को नष्ट करने की शक्ति प्राप्त करूँगा।

"महानिशायां प्रवृत्ते, कायोत्सर्गे पुराद्बहिः। स्तंभवत्स्कन्ध कषणं, वृषाः कुर्युः कदा मयि ॥

चक्रवर्ती हरिसेन

तीर्थंकर भगवान् नमिनाथजी की विद्यमानता में ही हरिसेन नाम के दसवें चक्रवर्ती सम्राट हुए।

भ० अनन्तनाथजी के तीर्थ में नरपुर नगर के नराभिराम राजा थे। वे संयम की आराधना कर के सनत्कुमार देवलोक में गए। पाँचाल देश के काम्पिल्य नगर के इक्ष्वाकुवंशीय महाहरी नरेश की महिषी नामकी पटरानी की कुक्षि में नराभिराम देव का जीव उत्पन्न हुआ। माता को चौदह महास्वप्न आये। पुत्र जन्म हुआ। अनुक्रम से यथावसर आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ क्रमानुसार अन्य रत्न भी प्राप्त हुए। छह खंड की साधना की और चक्रवर्ती सम्राट पद का अभिषेक हुआ। अंत में संसार का त्याग कर चारित्र की आराधना की और समस्त कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त की। वे ३२५ वर्ष कुमार अवस्था में, ३२५ वर्ष माण्डलिक राजापने, १५० वर्ष खण्ड साधना में ८८५० वर्ष चक्रवर्ती नरेशपने और ३५० वर्ष चारित्र-पर्याय पाली। उनकी कुल आयु १०००० वर्ष की थी।

चक्रवर्ती जयसेन

भ० नमिनाथ के तीर्थ में ही जयसेन नाम के चक्रवर्ती हुए।

इसी जंबूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में श्रीपुर नगर था। वसुन्धर राजा वहाँ राज करते थे। पद्मावती उनकी पटरानी थी। पटरानी की मृत्यु हो जाने से राजा विरक्त हो गया और अपने पुत्र विनयंधर को राज्य दे कर स्वयं दीक्षित हो गया और चारित्र का पालन कर, मृत्यु पा कर सातवें देवलोक में देव हुआ।

मगधदेश की राजगृही नगरी के विजय राजा की वप्रा रानी की कुक्षि में वसुन्धर देव का जीव उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह स्वप्न देखे। जन्म होने पर जयकुमार नाम दिया। राज्याधिकार प्राप्त हुआ। चौदह रत्न की प्राप्ति हुई। छह खंड की साधना की। चक्रवर्तीपन का अभिषेक हुआ। राज्य-सुख भोग कर प्रव्रजित हुए और चारित्र का पालन कर मुक्ति प्राप्त की। ३०० वर्ष कुमार अवस्था में, ३०० मांडलिक राजा, १०० वर्ष दिग्विजय में, १९०० वर्ष चक्रवर्ती और ४०० वर्ष संयमी-जीवन। इस प्रकार कुल तीन हजार वर्ष की आयु भोग कर मुक्ति प्राप्त की।

भ० अरिष्टनेमिजी

पूर्वभव

गुच्छे निकले हुए हैं। भ्रमर मत्त हो कर गुञ्जारव कर रहे हैं और कोकिला आनन्दित हो कर कूक रही है। महारानी उस आम्रवृक्ष में फल लगते देख रही थी कि उस वृक्ष को हाथ में लेकर किसी रूपसम्पन्न पुरुष ने रानी से कहा—"यह वृक्ष आज तुम्हारे आँगन में लगाया जायगा। काल-क्रम से यह उत्कृष्ट फल देता हुआ नौ बार पृथक् आँगन में लगता रहेगा।" रानी जाग्रत हुई और स्वप्न की बात पति से निवेदन की। राजा ने स्वप्न-शास्त्र-विशारदों से फल पूछा। फलादेश बतलाते हुए पण्डितों ने कहा—

"राजन्! यह तो निश्चित-सा है कि आपके यहाँ एक उत्कृष्ट भाग्यशाली आत्मा, पुत्र के रूप में उत्पन्न होगी, किंतु हम यह नहीं समझ सके कि वृक्ष के विभिन्न स्थानों पर आरोपण का क्या फल होगा।"

स्वप्नफल सुन कर महारानी बहुत प्रसन्न हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक पुण्यात्मा बालक का जन्म हुआ। पुत्र का 'धनकुमार' नाम दिया गया।

कुसुमपुर के सिंह नरेश की विमला रानी की कुक्षी से पुत्री का जन्म हुआ। 'धनवती' उसका नाम था। वह अनुपम सुन्दरी एवं सद्गुणों की खान थी। यौवनावस्था

दर्शन एवं मिलन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन महापुरुष के सुयोग से मैं भी अपना जीवन उन्नत बना सकूँगा।

राजकुमार चित्रगति अब वहाँ से प्रयाण कर स्वस्थान जाना चाहते थे, किन्तु सुमित्र ने कहा--"महानुभाव ! यहाँ से थोड़ी ही दूर पर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महामुनि सुयशजी हैं और वे विहार कर के इधर ही पधार रहे हैं। इसलिए आप कुछ दिन यहाँ ठहरने की कृपा करें। भगवान् के पधारने पर उनकी वन्दना कर के आप भले ही पधार जावें।" चित्रगति रुके और सुमित्र के साथ क्रीड़ा करते हुए कुछ दिन व्यतीत किये। एक दिन दोनों मित्र उद्यान में टहल रहे थे कि उनकी दृष्टि सर्वज्ञ भगवान् सुयशजी पर पड़ी। वे तत्काल भगवान् के समीप आये और वन्दना-नमस्कार किया। सुग्रीव नरेश, मन्त्रीगण और नागरिक भी भगवान् के पधारने के समाचार जान कर दर्शनार्थ आये। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर चित्रगति कुमार, बहुत प्रभावित हुआ। उसने सम्यक्त्व पूर्वक देशविरत धर्म ग्रहण किया। इसके बाद सुग्रीव नरेश ने पूछा;--"भगवन् ! मेरे सुपुत्र सुमित्र को विष दे कर भद्रा कहां गई और अब वह कहाँ किस दशा में है ?"

"राजन् ! भद्रा यहाँ से भाग कर बन में गई। उसे चोरों ने लूट लिया और पल्लीपति को अर्पण कर दी। पल्लीपति ने उसे एक व्यवहारी के हाथ बेंच दी। व्यापारी को भी छल कर भद्रा अरण्य में चली गई और वहाँ लगे हुए दावानल में जल गई, तथा रौद्रध्यानपूर्वक मर कर प्रथम नरक में उत्पन्न हुई। नरक का आयु पूर्ण कर वह चाण्डाल के यहाँ जन्म लेगी। जब वह गर्भवती होगी, तो उसकी सौत उसे मार डालेगी। फिर वह तीसरी नरक में उत्पन्न होगी। वहाँ से निकल कर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होगी। इस प्रकार वह दुःख-परम्परा भोगती हुई संसार में अनन्त दुःख को प्राप्त करेगी।"

रानी का दुःखमय भविष्य जान कर राजा को विचार हुआ कि--"जिस पुत्र के लिए रानी ने कुमार को विष दिया, वह तो यहाँ बैठा हुआ सुख भोग रहा है और वह नरक में दुःख भोग रही है। यह कैसा विचित्र और दुःखमय संसार है। धिक्कार है इस विषय और कषायरूपी आग को। आत्मार्थियों के लिए तो यह तुष्टि का स्थान है ही नहीं उसने कहा--"मैं संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार करूँगा।"

पिता की तत्परता देख कर कुमार सुमित्र ने कहा--"पिताश्री ! मैं कितना अधम हूँ ! मेरे ही कारण मेरी माता को नरक में जाना पड़ा। यदि मैं नहीं होता, या मैं यहाँ से कहीं अन्यत्र चला जाता, तो उसकी यह दशा नहीं होती। मैं स्वयं अभागा हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर आत्मकल्याण करूँ।"

उसे ज्ञात हुआ कि कमलकुमार ने उसका हरण किया है। चित्रगति ने सेना ले कर शिव-मन्दिर नगर पर धावा कर दिया और प्रथम भिड़न्त में ही कमलकुमार को पराजित कर दिया। पुत्र की पराजय से राजा अनंगसिंह भड़का और स्वयं सेना सहित युद्ध करने लगा। युद्ध की भयंकरता बढ़ी। घोर युद्ध होने लगा। बहुत काल तक युद्ध करने पर भी चित्रगति पराजित नहीं हो सका, तो अनंगसिंह चिन्तित हो गया। उसे अपने शत्रु की शक्ति का अनुमान नहीं था। उसने अंतिम और अचूक प्रयोग स्वरूप, देव-प्रदत्त खड्ग ग्रहण किया, जिसमें से सैकड़ों ज्वालाएँ निकल रही थीं। राजकुमार चित्रगति ने विद्या के बल से घोर अन्धकार फैला दिया और उस अन्धकार में ही अनंगसिंह राजा के हाथ से वह खड्ग छिन लिया और सुमित्र की बहिन को ले कर चला गया। थोड़ी ही देर में अन्धकार मिट कर प्रकाश हो गया। जब अनंगसिंह ने देखा कि न तो हाथ में खड्ग है और न सामने शत्रु ही है, वह चिन्तित हो गया। किंतु उसकी चिन्ता, प्रसन्नता में परिवर्तित हो गई। उसे भविष्यवेत्ता की भविष्यवाणी का स्मरण हुआ। उसे विश्वास हुआ कि खड्ग छिनने वाला ही मेरा जामाता बनेगा। अब प्रश्न यह था कि वह राजकुमार कौन था और कहाँ का था? उसका पता कैसे लगाया जाय? उसे फिर स्मरण हुआ कि उस राजकुमार पर देवता पुष्पवर्षा करेंगे, तब पता लग जायगा।

चित्रगति, शीलवती सती को ले कर सुमित्र के पास पहुँचा। बहिन के अपहरण से सुमित्र संसार से उदासीन हो चुका था। बहिन के प्राप्त होते ही उसने तत्काल पुत्र का राज्याभिषेक किया और स्वयं सर्वज्ञ भगवान् सुयशजी के पास प्रव्रजित हो गया और ज्ञानाभ्यास से उन्होंने कुछ कम नौ पूर्व का अभ्यास कर लिया। फिर उन्होंने एकलविहार प्रतिमा धारण की और विचरते हुए मगधदेश में आये। एक गाँव के बाहर वे कायुत्सर्ग कर खड़े हो गए। उसी समय उनका सोतेला भाई पद्म, कहीं से भटकता हुआ वहाँ आ पहुँचा

और सुमित्रमुनि को पहिचान कर क्रोध में भभक उठा। उसने धनुष पर बाण चढ़ा कर ध्यानस्थ मुनिराज की छाती में मारा। मुनिराज इस भयंकरतम उपसर्ग से भी विचलित नहीं हुए और आराधना का सुअवसर जान कर, आलोचनादि कर, ध्यान में मग्न हो गए। वे आयु पूर्ण कर ब्रह्मदेवलोक में इन्द्र के सामानिक देव हुए।

मुनि को बाण मार कर पद्म आगे बढ़ा। अन्धकार में चलते हुए उसे एक विषधर ने डस लिया। वह वहीं गिरपड़ा और महान् रौद्रध्यान में मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

मुनिराज सुमित्रजी का घायल हो कर आयुष्य पूरा करने के समाचार सुन कर चित्रगति शोकसंतप्त हो गया। वह शोक-निवारण के लिए सर्वज्ञ भगवान् सुयशजी के दर्शनार्थ निकला। उसके साथ अनेक विद्याधर थे। अनंगसिंह राजा भी अपनी पुत्री रत्न-वती के साथ भगवान् को वन्दना करने आया था। कुमार चित्रगति ने भगवान् की वन्दना एवं स्तुति की। सुमित्रमुनि के जीव, ब्रह्मदेवलोकवासी देव ने अवधिज्ञान से अपने उपकारी मित्र को गुरु भगवान् की भक्ति करते हुए देखा, तो अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने वहाँ आ कर कुमार पर पुष्पवर्षा की। विद्याधर लोग चित्रगति की प्रशंसा करने लगे। अनंग-सिंह राजा ने राजकुमार को पहिचाना। वहीं सुमित्र देव प्रत्यक्ष हुआ और बोला—

"मित्र चित्रगति ! मैं सुमित्र हूँ। तुम्हारी कृपा से ही मैं जिनधर्म प्राप्त कर सका और अब दैविक सुखों का अनुभव कर रहा हूँ।"

इस दृश्य को देख कर चक्रवर्ती नरेश शूरसेन आदि विद्याधरगण बहुत प्रसन्न हुए। अनंगसिंह की पुत्री रत्नवती चित्रगति पर मोहित हो गई। अनंगसिंह ने पुत्री का अनुराग देखा। उसने सोचा—भविष्यवाणी और पुत्री की आसक्ति, ये सब योग मिल रहे हैं। अब सम्राट शूरसेनजी के पास सम्बन्ध का सन्देश भेजना चाहिए। स्वस्थान आ कर उसने अपने मन्त्री को भेजा, परिणाम स्वरूप चित्रगति कुमार का विवाह रत्नवती के साथ हो गया। वे सुखभोगपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

धनदेव और धनदत्त के जीव भी देवभव का आयु पूर्ण कर चित्रगति के छोटे भाई के रूप में जन्मे। उनका नाम मनोगति और चपलगति था। कालान्तर में शूरसेन नरेन्द्र ने चित्रगुप्त को राज्यभार दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की और आराधना करके मोक्ष प्राप्त हुए।

एक बार वे दोनों मित्र अश्वारूढ़ हो कर वन-क्रीड़ा करने निकले। अश्व तीव्रगति वाले और उल्टी प्रकृति के थे। वे भागते हुए उन्हें महावन में ले गए। हताश हो कर राजकुमार और मन्त्रीकुमार ने घोड़ों की लगाम छोड़ दी। वे तत्काल खड़े रह गए। कुमार घोड़े से नीचे उतरे। उन्हें उन अनजान महावन में आ कर भी प्रसन्नता हुई। वन की मनोहर शोभा ने उन्हें आनन्दित कर दिया। अब वे माता-पिता के बन्धन से भी मुक्त थे। उनमें यथेच्छ विहार की कामना जगी। वे परस्पर वार्तालाप करने लगे। इतने ही में उनके कानों में—"बचाओ, बचाओ रक्षा करो। शरणागत हूँ"—ये शब्द उनके कानों में पड़े। वे सावधान हुए। इतने ही में एक पुरुष, घबड़ाता हुआ उनके पास पहुँचा। वह थर-थर धूज रहा था। राजकुमार ने उसे अभय-वचन दिया और कहा—"तू निर्भय है। तुझे कोई नहीं सता सकता।" मन्त्रीपुत्र ने कहा—"मित्र ! सोच-समझ कर वचन दिया करो। यदि यह अपराधी हुआ, तो क्या होगा ?"

—"यह अपराधी हो, या निरपराध ! शरण आये की रक्षा तो करनी ही पड़ती है। यह मेरा क्षात्रधर्म है।"

वे इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि "पकड़ो, मारो" चिल्लाते हुए कई आरक्षक वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथों में खड्ग भाले आदि थे। उन्होंने आते ही कहा—

"यात्रियों ! यह डाकू है। इसने डाका डाल कर लोगों का धन लूटा है। हम इसे मारेंगे। तुम इससे दूर रहो।"

"यह मनुष्य मेरी शरण में आया है। मैंने इसकी रक्षा करने का निश्चय किया है। अब तुम लौट जाओ। यह तुम्हें नहीं मिल सकता।"

सैनिक क्रोधित हुए और मारपीट करने को तत्पर हो गए। खड्ग ले कर प्रहार करने को आये हुए सैनिकों पर कुमार झपटे। कुमार की तत्परता, शौर्य्य और प्रभाव से अभिभूत हो कर सभी आरक्षक भागे। उन्होंने कोशल नरेश से कुमार के हस्तक्षेप की वात कही। कोशल नरेश ने डाकू के रक्षक को दण्ड देने के लिए एक बड़ी सेना भेजी, किन्तु कुमार के भीषण प्रहार के सामने सेना भी नहीं ठहर सकी। सेना की पराजय से राजा उत्तेजित हो गया और स्वयं अश्वसेना और गजसेना ले कर आ पहुँचा। कुमार ने राजा को दलवल सहित आया देख कर, डाकू को अपने मित्र मन्त्रीपुत्र के रक्षण में छोड़ा और स्वयं परिकर बद्ध होकर युद्ध-क्षेत्र में पहुँचा। कुमार का लक्ष्य राजा पर धावा करने का था। उसने छलांग मार कर एक पाँव हाथी के दाँत पर जमाया, फिर उसके चालक (महावत) को खिंच कर नीचे गिरा दिया और हाथी के मस्तक पर आरूढ़ हो कर राजा से युद्ध करने लगा। अपराजित राजा के साथ आये एक मन्त्री ने राजकुमार को पहिचान लिया और राजा से युद्ध वन्द करने का निवेदन किया। जब राजा को ज्ञात हुआ कि यह कुमार मेरे मित्र का पुत्र है, तो उसने युद्ध वन्द करके कुमार को छाती से लगाया और युद्धवन्दी की घोषणा कर दी। उन्होंने कुमार से कहा —

"अपराजित ! तू वास्तव में अपराजित ही है। धन्य है तेरे माता-पिता। तू सिंह का पुत्र, सिंह ही है, तभी हस्ती पर धावा करने का साहस कर सका। हे महाभुज ! यहाँ तू अपने ही राज्य में है। यह भी तेरी ही भूमि है। चल अपन घर चलें।"

राजा ने राजकुमार को अपने समीप हाथी पर विठाया और राजधानी में आये। डाकू को क्षमादान किया गया। दोनों मित्र वहीं रहने लगे। राजकुमार अपराजित को योग्य वर जान कर कोशल नरेश ने अपनी कन्या कनकमाला का विवाह कर दिया। कुछ दिन वहीं रह कर राजकुमार सुखभोग करता रहा। फिर किसी दिन रात्रि के समय दोनों मित्र, गुप्त रूप से वहाँ से चल निकले। चलते-चलते वे वन में वहुत दूर निकल गए। अचानक उनके कानों में ये शब्द पड़े;—

"हे वनदेव ! मुझे बचाओ। इस राक्षस से मेरी रक्षा करो।"

उपरोक्त शब्दों को सुन कर राजकुमार उसी दिशा में आगे वढ़ा। उसने देखा—

वह युवक कुमार की ओर आकर्षित हुआ। दोनों युद्ध-रत हुए। बहुत देर तक द्वन्द्व-युद्ध होता रहा। फिर बाहुयुद्ध हुआ। जब उस विद्याधर ने अपराजित को अजेय माना, तो नागपाश फेंक कर राजकुमार को बांध लिया, किन्तु राजकुमार ने उस पाश को भी एक झटके से तोड़ डाला। फिर विद्याधर ने अपनी अनेक प्रकार की विद्याओं का प्रयोग किया। किन्तु राजकुमार अपराजित के सामने उसकी एक नहीं चली। अपराजित के किये हुए प्रहार से विद्याधर धराशायी हो गया। राजकुमार अपराजित का साहस, शौर्य, रूप और प्रभाव देख कर वह पीड़ित युवती अपनी पीड़ा भूल कर मोह-मुग्ध होगई और कुमार को अनुराग पूर्ण दृष्टि से देखने लगी। राजकुमार ने मूर्च्छित विद्याधर को योग्य उपचार से सचेत किया। विद्याधर सावधान हो कर अपराजित के शौर्य और परोपकारितादि गुणों के आगे झुक गया। उसने कहा;—

"नर-श्रेष्ठ! आपने योग्य समय पर पहुँच कर मुझे नरक में जाने योग्य दुष्कृत्य से बचा लिया। कामवासना से निराश हो कर मैं इस सुन्दरी की हत्या करना चाहता था, किन्तु आपने मुझे नारी-हत्या के पाप से बचा लिया। लीजिये मेरे पास एक मणि और एक मूलिका है। मणि के जल से मूलिका को घिस कर मेरे घाव पर लगाने की कृपा करें।"

कुमार ने वैसा ही किया, जिससे विद्याधर का घाव भर गया और वह स्वस्थ हो गया। अब वह राजकुमार अपाजित को अपना परिचय इस प्रकार देने लगा;—

"वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नगर के विद्याधरपति अमृतसेन की यह पुत्री है। इसका नाम रत्नमाला है। इसके योग्य वर के विषय में भविष्यवेत्ता ने कहा कि—"हरिनन्दी राजा का पुत्र अपराजित इसका पति होगा।" इस भविष्यवाणी को सुन कर यह स्त्री अपराजित की ओर आकर्षित हो गई और उसके ही सपने देखने लगी। यह अपराजित के सिवाय और किसी का विचार ही नहीं करती। एक वार मैंने इसे देखा। मेरा मन इस पर मुग्ध हो गया। मैंने इसके पिता के समक्ष इसके साथ मेरा विवाह करने की माँग रखी, किन्तु इसने स्पष्ट कह दिया कि "मेरा पति राजकुमार अपराजित ही हो सकता है, दूसरा नहीं। मैं आजन्म अविवाहित रह सकती हूँ, किंतु अपराजित को छोड़ कर और किसी को स्वीकार नहीं कर सकती।" इसके उत्तर से मैं हताश हुआ। मैंने इसे वलपूर्वक प्राप्त करने का निश्चय किया।"

श्रीसेनजी के पुत्र शंखकुमार की प्रशंसा की। यशोमती के मन में शंखकुमार के लिए प्रीति उत्पन्न हो गई। उसने सखी के द्वारा पिता को सन्देश भेज कर शंखकुमार से लग्न करने की इच्छा व्यक्त की। राजा, पुत्री की इच्छा जान कर प्रसन्न हुआ और अपना मन्त्री, श्रीसेन राजा के पास भेज कर सम्बन्ध की याचना की। इतने में विद्याधर नरेश मणिशेखर ने जितारी राजा के पास राजकुमारी की माँग भेजी। राजा ने कहा—

"मेरी कन्या ने शंखकुमार से लग्न करने का निश्चय कर लिया है, अब इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता।" विद्याधर क्रोधित हो गया और यशोमती का अपहरण कर लिया। मैं यशोमती की धात्री हूँ। अपहरण के समय मैं उसके पास थी और उसका हाथ पकड़ कर थामि हुए थी। दुष्ट ने उसके साथ मेरा भी हरण किया और यहाँ ला कर बल पूर्वक मुझे पृथक् कर के यहाँ छोड़ गया है। अब वह राक्षस, कुमारी को न जाने कहाँ ले गया और कैसी यातना दे रहा होगा ? मैं इसी दुःख से रो रही हूँ। यहाँ वन में मेरा और राजकुमारी का कोई सहायक नहीं है। अब क्या होगा ?"

"भद्रे ! धैर्य्य रख। मैं राजकुमारी की खोज करता हूँ और जहाँ भी होगा, उस दुष्ट से यशोमती को मुक्त कराऊँगा"— इतना कह कर कुमार उस अटवी में राजकुमारी की खोज करने लगा। सूर्य उदय होने पर राजकुमार एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर चढ़ा और चारों ओर देखने लगा। हटात् उसकी दृष्टि एक खोह पर पड़ी, और एक स्त्री और पुरुष दिखाई दिये। शंख तत्काल पर्वत से नीचे उतरा और उसी दिशा में चल दिया। थोड़ी ही देर में वह दोनों के निकट पहुँचा। उसने देखा—मणिशेखर यशोमती को बलात्कार पूर्वक वश में करना चाहता था, और यशोमती उसकी भर्त्सना करती हुई कह रही थी;—

"नीच अधम ! मैं परस्त्री हूँ। मैंने अपने हृदय से पुरुष-श्रेष्ठ शंखकुमार को वरण कर लिया है। अब मैं दूसरे पुरुष की छाया से भी दूर रहना चाहती हूँ। यदि तू सदाचारी है, तो मुझ-से दूर रह और अपनी दुर्मति छोड़ कर मेरे साथ अपनी सगी बहिन के समान व्यवहार कर।"

यशोमती बोल ही रही थी कि शंखकुमार वहाँ पहुँच गया। उसे देखते ही मणि-शेखर ने कहा;—"यह तेरा प्रियतम, मृत्यु से आकर्षित हो कर यहाँ आ पहुँचा है। मैं इसे अभी मृत्यु का ग्रास बना देता हूँ। इसके साथ ही तेरी आशा भी मर जायगी। फिर विवश हो कर तुझे मेरे आधीन होना ही पड़ेगा।"

"ऐ लम्पट, दुराचारी ! वाचालता छोड़ कर इधर आ। मैं तुझे तेरे दुराचरण का दण्ड देने ही यहाँ आया हूँ।"

—"नहीं, नहीं ! आप ऐसा क्यों सोचते है ? कहिये, मैं आप का क्या हित करूँ"—कुमार ने नम्रतापूर्वक कहा ।

—"यदि आप प्रसन्न हैं, तो आप यशोमती सहित मेरे यहां चलिये और मेरी पुत्री को भी ग्रहण करने की कृपा करिये ।"

मणिशेखर के कुछ सेवक भी वहां आ गए थे । कुमार ने दो खेचरों को अपनी सेना में भेज कर, सेना को वन्दियों सहित हस्तिनापुर जाने की आज्ञा दी और एक खेचर को भेज कर यशोमती की धात्री को अपने पास बुलाया । फिर सभी जन मणिशेखर के साथ वैताढ्य पर्वत पर, मणिशेखर की राजधानी कनकपुर में आये । कुछ काल कनकपुर में रहने के वाद कुमार ने स्वस्थान जाने की इच्छा प्रकट की । मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियों का लग्न, शंख के साथ करना चाहते थे, परन्तु शंख ने पहले यशोमती के साथ लग्न करने के वाद दूसरी कन्याओं को ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की । मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियों को यशोमती और कुमार के साथ लेकर चम्पानगरी आये । जितारी नरेश और उनका परिवार अपनी खोई हुई प्रिय राजकुमारी और साथ ही इच्छित जामाता को पा कर वड़े प्रसन्न हुए । उत्सव मनाने लगे और उस उत्सव में ही यशोमती के लग्न शंखकुमार के साथ कर दिए । इसके बाद अन्य विद्याधर कुमारियों के लग्न भी शंखकुमार के साथ किये गए । कुछ दिन वहाँ रहने के वाद राजकुमार अपनी रानियों के साथ हस्तिनापुर आया ।

अपराजित के भव के अनुज बन्धु, शूर और सोम देव भी आरण देवलोक से च्यव कर शंखकुमार के अनुज-बन्धु हुए। श्रीसेन महाराज ने युवराज शंख का राज्याभिषेक कर के गणधर महाराज गुणधरजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की और दुस्तर तपस्या करने लगे। वर्षों तक विशुद्ध चारित्र और घोर तप का पालन कर, घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञानी हो गए। एकदा केवली भगवान् हस्तिनापुर पधारे। शंख नरेश ने भगवान् का धर्मोपदेश सुना और पूछा--

"भगवन् ! मैं समझता हूँ कि संसार में कोई किसी का सम्बन्धी नहीं होता, फिर भी महारानी यशोमती पर मेरी इतनी ममता क्यों है ?"

—"यशोमती से तुम्हारा पूर्व-भवों का सम्बन्ध है। धनकुमार के भव में यह तेरी धनवती नाम की पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक में मित्रदेव हुई। उसके बाद चित्रगति के भव में रत्नवती पत्नी हुई। वहाँ से माहेन्द्र देवलोक में दोनों मित्र देव हुए। वहाँ से च्यव कर तू अपराजित हुआ और यह प्रीतिमती पत्नी हुई। इसके बाद आरण देवलोक में मित्रदेव हुए। अब इस सातवें भव में यह तेरी रानी है। इस प्रकार भवान्तर से तुम्हारा स्नेह-सम्बन्ध चला आ रहा है। यहाँ से तुम दोनों अपराजित नामके चौथे अनुत्तर विमान में उत्पन्न होओगे। उसके बाद तुम अरिष्टनेमि नाम के बाईसवें तीर्थंकर होओगे और यशोमती का जीव राजीमती--तुम्हारी अपरिणित अनुरागिनी होगी और तुम्हारे पास दीक्षित हो कर परमपद प्राप्त करेगी। ये तुम्हारे यशोधर और गुणधर बन्धु तथा मतिप्रभ मन्त्री, गणधर हो कर मुक्ति लाभ करेंगे।"

शंख नरेश ने अपने पुंडरीक पुत्र को राज्य दे कर दीक्षा ग्रहण की। रानी यशोमती, दोनों अनुज-बन्धु और मन्त्री भी दीक्षित हुए। शंख मुनि ने कठोर तप और विशुद्ध आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया और पादपोपगमन अनशन करके आयु पूर्ण कर अपराजित नामके अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए और यशोमती आदि भी अपराजित विमान में उत्पन्न हुए। यह इनका आठवां भव है।

वसुदेवजी

इस भरतक्षेत्र की मथुरा नगरी में हरिवंश में प्रख्यात राजा 'वसु' हुए, उनके पुत्र बृहद्ध्वज के बाद अनेक राजा हो गए। फिर 'यदु,' नाम का एक राजा हुआ। यदु के शूर

पुत्रियों ने अपने पिता द्वारा नन्दीसेन को दिया हुआ वचन सुना था। सब से बड़ी पुत्री का लग्न शीघ्र होने वाला था। उसे चिन्ता हुई कि "यदि पिता मुझे नन्दीसेन को व्याह देंगे, तो क्या होगा ?" उसने पिता के पास यह सूचना भेज दी कि—"यदि मेरा विवाह इस कुरूप के साथ करने का प्रयत्न किया, तो मैं आत्मघात कर लूँगी।" नन्दीसेन को इस बात की जानकारी हुई, तो निराश हो कर चिन्ता-मग्न हो गया। मामा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा;—"तू चिन्ता मत कर, मैं तुझे दूसरी पुत्री दूंगा।" यह सुन कर सभी पुत्रियों ने नन्दीसेन के प्रति घृणा व्यक्त करती हुई बड़ी के समान ही विरोध किया। यह सुन कर नन्दीसेन सर्वथा निराश हो गया, किंतु मामा ने विश्वास दिलाते हुए कहा—"ये छोकरियें तुझे नहीं चाहती, तो जाने दे। मैं दूसरे किसी की लड़की प्राप्त करके तेरा विवाह करूँगा, तू विश्वास रख।" किन्तु नन्दीसेन को विश्वास नहीं हुआ। उसने सोचा—"जब मेरे मामा की सात पुत्रियों में से एक भी मुझे नहीं चाहती, तो दूसरी ऐसी कौन होगी जो मेरे साथ लग्न करने के लिए तत्पर होगी ?" इस प्रकार विचार कर वह संसार से ही उदासीन हो गया। उसकी विरक्ति बढ़ी। वह मामा का घर छोड़ कर रत्नपुर नगर आया। उसकी दृष्टि संभोगरत एक स्त्री-पुरुष के युगल पर पड़ी। वह अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ मृत्यु की इच्छा से, नगर छोड़ कर उपवन में आया और आत्मघात की चेष्टा करने लगा। उस वन में एक वृक्ष के नीचे सुस्थित नामक महात्मा ध्यानस्थ खड़े थे। नन्दीसेन ने मुनि को देखा। उसने सोचा—"मरने से पहले महात्मा को वन्दना करलूँ।" उसने मुनिराज के चरणों में मस्तक टेक कर वन्दना-नमस्कार किया। मुनिराज ने ज्ञान से नन्दीसेन के मनोभाव जाने और दया कर बोले—;—

"अज्ञानी मनुष्य ! तू अपने मनुष्य-भव को नष्ट करना चाहता है। तेने पूर्वभव में प्रचूर पाप किये, जिससे मनुष्य-भव पा कर भी दुर्भागी एवं अभाव पीड़ित तथा घृणित बना, अब फिर आत्मघात का पाप कर के अपनी आत्मा को विशेषरूप से दण्डित करना चाहता है। यह तेरी कुबुद्धि है। समझ और धर्माचरण से इस मानव-भव को सफल कर। तप और संयम से आत्मा को पवित्र बना कर सभी पाप को धो दे। यह अलभ्य अवसर बार-बार नहीं मिलेगा।"

महात्मा के उपदेश ने नन्दीसेन को जाग्रत कर दिया। उसकी मोहनिद्रा दूर हुई। उसने उसी समय प्रव्रज्या ग्रहण की और ज्ञानाभ्यास करने लगा। कुछ काल में वह गीतार्थ हो गया। उसने अभिग्रह किया कि—"मैं साधुओं की वैयावृत्य करने में सदैव तत्पर रहूँगा।"

अभिग्रह ग्रहण करने के बाद नन्दीसेन मुनि अग्लान-भाव से वैयावृत्य करने लगे। बाल हो या वृद्ध, रोगी हो या तपस्वी, किसी भी साधु को सेवा की आवश्यकता हो, तो नन्दीसेन मुनि तत्पर रहते थे। उनकी वैयावृत्य की साधना सर्वत्र प्रशंसनीय हुई, यहाँ तक कि सुधर्मा-सभा को सम्बोधित करते हुए सौधर्म स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र ने कहा;—

"देवगण ! वैयावृत्य रूपी आभ्यन्तर तप की साधना करने में, भरतक्षेत्र में इस समय महात्मा नन्दीसेन मुनि सर्वोच्च साधक हैं। उनके समान साधक अन्य कोई नहीं है। वे वैयावृत्य के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। धन्य है ऐसे विशुद्ध एवं शुद्ध साधक महात्मा को।"

देवेन्द्र की बात से सारी देवसभा सहमत हुई। बहुत-से देव भी देवेन्द्र की अनुमोदना करते हुए धन्य धन्य करते हुए महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने लगे। कई असम्यग्दृष्टि देव मौन रह कर भी बैठे रहे। किन्तु एक देव, इन्द्र की बात पर अविश्वासी हो कर उठ खड़ा हुआ और सच्चाई को परखने के लिए स्वर्ग छोड़ कर मनुष्यलोक में आया। उसने अपना एक रूप असाध्य रोगी मुनि जैसा बना कर उसी उपवन में, एक वृक्ष के नीचे पड़ गया और दूसरा रूप बना कर नन्दीसेन मुनि के समीप आया। उस समय नन्दीसेन मुनि तपस्या का पारणा करने के लिए प्रथम ग्रास हाथ से उठा ही रहे थे कि उसने पुकारा;—

"अरे ओ वैयावृत्यी नन्दीसेन मुनि ! तुम महावैयावृत्यी कहलाते हो, किंतु मैं देखता हूँ कि तुम केवल प्रशंसा के भूखे ढोंगी हो। वहाँ एक असाध्य रोगी मुनि तड़प रहा है और यहाँ आप आनन्द से भोजन कर रहे हैं। देखी तुम्हारी वैयावृत्य ! कदाचित् अपने पेट और मन की ही वैयावृत्य करते होंगे तुम ?"

नन्दीसेनजी का हाथ में लिया हुआ प्रथम ग्रास फिर पात्र में गिर गया। वे तत्काल उठे और पूछा;—"महात्मन् ! कहाँ है वे रोग-पीड़ित मुनि ? क्या हुआ उन्हें ? शीघ्र बताइए, मैं सेवा के लिए तत्पर हूँ।"

"निकट के उपवन में ही अतिसार रोग से पीड़ित एक मुनि पड़े हैं।" नन्दीसेन मुनि शुद्ध पानी की याचना करने निकले, किन्तु देव-माया से सभी घरों का पानी अनैषणीय होता रहा। किन्तु मुनि लब्धिधारी थे, इसलिए देव-माया भी अधिक नहीं चल सकी और महात्मा को एक स्थान से शुद्ध पानी प्राप्त हो गया, जिसे ले कर वे उन रोगी मुनि के समीप आये। नन्दीसेन मुनि के निकट आने पर रोगी बना हुआ ढोंगी साधु बोला;—

"अरे ओ अधम ! मैं यहाँ मर रहा हूँ और तुझे इसकी चिन्ता ही नहीं ? अपनी उदर-सेवा करने के बाद बड़ा मस्त बना हुआ झूमता-टहलता चला आ रहा है ? ऐसा

है तेरा अभिग्रह, और ऐसा है तू वैयावृत्यी ? धिक्कार है तेरे इस दाम्भिक जीवन को।"

"मुनिवर ! शान्त होवें और मुझ अधम को क्षमा प्रदान करें। मैं अब आपकी सेवा में तत्पर रहूँगा और आपकी योग्य चिकित्सा की जावेगी। मैं आपके लिए शुद्ध प्रासुक जल लाया हूँ, आप इसे पियें। आपको शांति होगी"—नन्दीसेन मुनि ने शांति से निवेदन किया और पानी पिला कर कहा—"आप जरा खड़े हो जाइए, अपन उपाश्रय में चलें। वहाँ अनुकूलता रहेगी।"

"तू अन्धा है क्या ? अरे दम्भी ! मैं कितना अशक्त हो गया हूँ। मैं करवट भी नहीं बदल सकता, तो उठूँगा कैसे ?"

नन्दीसेनजी ने उस रोगी दिखाई देने वाले साधु को उठा कर कन्धे पर चढ़ाया और चलने लगे, किन्तु वह मायावी पद-पद पर वाक्-वाण छोड़ता रहा। वह कहता—"दुष्ट ! धीरे-धीरे चल। शीघ्रता करने से मेरा शरीर हिलता है और इससे पीड़ा होती है।" नन्दीसेनजी धीरे-धीरे चलने लगे, किन्तु देव को तो उनकी परीक्षा करनी थी। उस मायावी साधु ने नन्दीसेनजी पर विष्ठा कर दी और धोंस देते हुए कहा—"तू धीरे-धीरे क्यों चलता है ? मेरे पेट में टीस उठ रही है और मल निकलने वाला है।" नन्दीसेनजी का सारा शरीर विष्ठा से लथपथ हो गया और दुर्गन्ध से आसपास का वातावरण असह्य होगया। किन्तु नन्दीसेनजी ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे यही सोचने लगे कि—'इन महात्मा के रोग की उपशांति कैसे हो ? इन्हें भारी पीड़ा हो रही है," आदि।

जब देव ने देखा कि भर्त्सना और अपमान करने पर और विष्ठा से सारा शरीर भर देने पर भी महात्मा का मन वैयावृत्य से विचलित नहीं हुआ, तो उसने अपनी माया का साहरण कर लिया और स्वयं देवरूप में उपस्थित हो कर नन्दीसेनजी की वन्दना की, क्षमायाचना की। उसने इस परीक्षा का कारण इन्द्र द्वारा हुई प्रशंसा का वर्णन किया और बोला;—"महामुनि ! आप धन्य हैं। कहिये मैं आपको क्या दूँ ?" मुनिश्री ने कहा—"गुरुकृपा से मुझे वह दुर्लभ धर्म प्राप्त है, जो तुझे प्राप्त नहीं है। इसके सिवाय मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है।" देव चला गया। नन्दीसेन मुनि ने बारह हजार वर्ष तक तप और संयम का शुद्धतापूर्वक पालन किया और अन्त समय निकट जान कर अनशन किया। चालू अनशन में उन्हें अपने दुर्भाग्य एवं स्त्रियों द्वारा तिरस्कृत जीवन का स्मरण हो आया। उन्होंने निदान किया—"मेरे तप-संयम के फल से मैं "रमणीवल्लभ" बनूँ। बहुतसी रमणियों का प्राणप्रिय होऊँ।" आयु पूर्ण होने पर वे महाशुक्र देव हुए और वहाँ से च्यव कर वसुदेव हुए। उनका स्त्रीजनवल्लभ होना उस निदान का फल है।"

अन्धकवृष्णि राजा ने समुद्रविजय को राज्य दे कर दीक्षा ली और मुक्ति प्राप्त की ।

कंस-जन्म

राजा भोजवृष्णि ने भी उग्रसेन को राज्यभार सौंप कर निग्रथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। उग्रसेनजी के धारिणी नाम की पटरानी थी। एकदा श्री उग्रसेनजी उद्यान की ओर जा रहे थे। उन्होंने एक तापस को देखा, जो मार्ग के निकट एक वृक्ष के नीचे बैठा था। वह मासोपवास की तपस्या करता था। उसके यह नियम था कि—'पारणे के दिन भिक्षार्थ जाने पर, प्रथम जिस घर में जाय, उसी में से आहार मिले, तो लेना। यदि उस घर में आहार नही मिले, तो आगे दूसरे घर नहीं जा कर लौट आना और फिर मासोपवास प्रारंभ कर देना।' उग्रसेनजी ने तापस को अपने यहां पारणा करने का आमन्त्रण दिया और भवन में आने के बाद भूल गए। तापस पारणे के लिए उनके यहाँ गया, किंतु वह भोजन नहीं पा सका और लौट कर दूसरा मासखमण कर लिया। इसके बाद उग्रसेन नरेश फिर उद्यान में गए और तापस को देख कर उन्हें अपनी भूल स्मरण हो आई। उन्होंने तापस से अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी और पारणे के दिन अपने यहाँ से ही भोजन लेने का फिर से निमन्त्रण ,दया। तापस ने मान लिया। किंतु कार्य-व्यस्तता के कारण फिर भूल गए और तापस फिर बिना भोजन लिए खाली लौट गया और तीसरा मासोपवास चालू कर दिया। राजा को पुनः अपनी भूल मालूम हुई और उसने पुनः तपस्वी से क्षमा याचना की और आग्रहपूर्वक पारणे का निमन्त्रण दिया जो स्वीकार हो गया। किन्तु भवितव्यता वश इस समय भी पारणा नहीं हो सका। तपस्वी ने तीसरी बार भी पारणा नहीं मिलने से राजा की भूल नहीं मान कर जानबूझ कर बुरी भावना से तपस्वी को सताना माना और क्रोधपूर्वक यह निदान कर लिया कि—"मेरे तप के प्रभाव से मैं भवान्तर में इस दुष्ट को मारने वाला बनूँ।" इस प्रकार निदान कर के उसने आजीवन अनशन कर लिया और मृत्यु पा कर उग्रसेनजी की पटरानी धारिणी देवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। गर्भ के प्रभाव से माहारानी के मन में 'राजा के हृदय का मांस खाने' की इच्छा उत्पन्न हुई। यह इच्छा ऐसी थी कि जिसे मुँह पर लाना भी असंभव था। रानी दिनोदिन दुर्बल होने लगी। राजा ने रानी को खेद युक्त देख कर आग्रहपूर्वक कारण पूछा और अत्याग्रह के कारण रानी को अपना भाव बताना पड़ा। राजा ने मन्त्रियों से मन्त्रणा की और रानी को, दोहद पूरा करने का आश्वासन दिया। फिर राजा को एक अन्धेरे कमरे में लेटा कर, उनकी छाती पर खरगोश

का मांस रखा और उसमें से थोड़ा-थोड़ा काट कर रानी के पास भेजने लगे। जब रानी का दोहद पूरा हो गया, तो वह इस दुरेच्छा से भयभीत हुई और अपने पति की मृत्यु जान कर स्वयं भी मरने के लिए उद्यत हुई। जब मन्त्रियों ने रानी को विश्वास दिलाया कि 'राजा जीवित है। उनका योग्य उपचार हो रहा है और वे सात दिन में ही स्वस्थ हो जावेंगे,' तो रानी को संतोष हुआ।

रानी को विश्वास हो गया कि गर्भस्थ जीव कोई दुष्टात्मा है। वह मेरे और स्वामी के लिए अनिष्टकारी है। उसने उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया; किन्तु सफल नहीं हुई और पौषकृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को जब चन्द्रमा मूल-नक्षत्र में आया, एक पुत्र को जन्म दिया। रानी इस बालक से भयभीत तो थी ही, इसलिए उसको हटाने के लिए एक काँसे की पेटी पहले से बनवा कर तैयार रखी थी। पुत्र का जन्म होते ही उसे उस पेटी में सुला दिया और उसके साथ अपने और राजा के नाम से अंकित दो मुद्रिका और एक पत्र रखे और कुछ रत्न रख कर दासी के द्वारा पेटी को यमुना नदी में बहा दिया और राजा को कहला दिया कि 'महारानी के गर्भ से मरा हुआ पुत्र जन्मा है।' सातवें दिन पति को स्वस्थ देख कर उसने बड़ा भारी उत्सव मनाया।

वह पेटी यमुना में बहती हुई शौर्यपुर नगरी के समीप आई। एक 'सुभद्र' नाम का व्यापारी प्रातःकाल शौच के लिए नदी पर आया, उसने नदी में बहती हुई पेटी देखी और साहस कर के बाहर निकाल ली। उसने पेटी खोल कर देखी, तो उसमें एक सद्यजात सुन्दर बालक और रत्नादि देखे। उसने पत्र खोल कर पढ़ा और आश्चर्यान्वित हुआ। फिर पेटी अपने घर ला कर बालक अपनी पत्नी इन्दुमति को दिया और पुत्रवत् पालन करने की प्रेरणा की। काँसे की पेटी में से निकलने के कारण उन्होंने बालक का नाम "कंस" दिया। वे उस बालक का दूध, मधु आदि अनुकूल पदार्थों से पोषण करने लगे। कंस बड़ा होने लगा और उसका स्वभाव भी प्रकट होने लगा। वह अन्य बच्चों से झगड़ता, कलह करता और उन्हें मारता-पीटता। उन बच्चों के माता-पिता आ कर सेठ-सेठानी से कंस की दुष्टता कह कर उपालम्भ देने लगे। जब कंस दस वर्ष का हुआ और उसके उपद्रव बढ़ने लगे, तो सेठ ने उसे राजकुमार वसुदेव के पास--सेवक के रूप में रख दिया। कंस वसुदेवजी को प्रिय लगा। दोनों समान वय के थे। वसुदेव, कंस को सदैव अपने साथ ही रखने लगे। कंस भी वसुदेव के साथ रह कर विद्या और कलाओं का अभ्यास करने लगा। दोनों कला-निपुण हो कर यौवन-वय को प्राप्त हुए।

कंस का पराक्रम

मुक्तिमति नगरी के राजा वसु● का सुवसु नामक पुत्र, मन-दुःख होने से घर से निकल कर चल दिया और नागपुर पहुंचा। उसके 'वृहद्रथ' नामक पुत्र हुआ और वह भी वहाँ से चल कर राजगृहि में रहने लगा। उसकी संतति में वृहद्रथ नाम का राजा हुआ और उसका पुत्र 'जरासंध' हुआ। जरासंध बड़ा पराक्रमी और प्रतापी नरेश हुआ। वह बढ़ते-बढ़ते तीन खण्ड का अधिपति—प्रतिवासुदेव हो गया। जरासंध नरेश ने दूत भेज कर राजा समुद्रविजय को आज्ञा दी कि;—

"वैताढच गिरि के निकट सिंहपुर नगर का राजा सिंहरथ है। वह विरुद्धाचारी हो गया है। इसलिए उसे वन्दी बना कर मेरे पास लाओ। मैं इस कार्य को सम्पन्न करने वाले को अपनी पुत्री कुमारी 'जीवयशा' और एक श्रेष्ठ नगरी का राज्य दूंगा।

दूत द्वारा जरासंध नरेश की आज्ञा सुन कर राजकुमार वसुदेव ने पिता से, सिंहरथ पर चढ़ाई कर के जाने की आज्ञा माँगी। समुद्रविजयजी ने कहा—'वत्स ! अभी तुम सुकोमल कुमार हो। युद्ध के कठोर, जटिल तथा भयानक कार्य के लिए मैं तुम्हें नहीं भेज सकता।' किन्तु कुमार का आग्रह विशेष था, अतएव समुद्रविजयजी को स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने विशाल सेना और उत्तम शस्त्रास्त्र दे कर वसुदेव को विदा किया। सिंहरथ भी तत्पर हो कर युद्ध-भूमि में आ डटा। दोनों पक्षों में भारी युद्ध हुआ और सिंहरथ ने वसुदेव की सेना को हरा दिया। अपनी सेना की पराजय देख कर राजकुमार वसुदेव स्वयं रथारूढ़ हो कर आगे आया। कंस उसके रथ का चालक बना। दोनों पक्षों में विविध शस्त्रास्त्रों से भयानक युद्ध, लम्बे समय तक चलता रहा, किंतु परिणाम तक नहीं पहुँच रहा था। कंस स्वयं निर्णायक प्रहार करने के लिए तत्पर बना। उसने एक बड़े अस्त्र का प्रहार कर के सिंहरथ के रथ को नष्ट कर डाला। फिर सिंहरथ खड्ग ले कर कंस का वध करने के लिए झपटा। उस समय वसुदेव ने क्षुरप्र बाण मार कर सिंहरथ की मुष्टि का छेदन कर दिया। छल एवं बल में निपुण कंस ने तत्काल सिंहरथ पर झपट कर उसे पकड़ लिया और बाँध कर वसुदेव के रथ में डाल दिया। अपने राजा को वन्दी बना देख कर सेना भाग गई और युद्ध समाप्त हो गया। विजयी सेना, सिंहरथ को ले कर लौट गई। विजयी राजकुमार और सेना का भव्य स्वागत के साथ राजधानी में प्रवेश हुआ।

राजा समुद्रविजयजी ने एकान्त में राजकुमार वसुदेव से कहा—

● जो पहले तो सत्यवादी था, किन्तु बाद में असत्य बोलने के कारण, देव ने क्रुद्ध हो कर उसे मारडाला और वह नरक में उत्पन्न हुआ।

कंस का जीवयशा से लग्न

"पुत्र ! मुझे कोष्टुकी नामक ज्ञानी ने कहा था कि—जरासंध की पुत्री जीवयशा अच्छे लक्षण वाली नहीं है। वह पितृकुल के लिए अनिष्टकारी होगी। इसलिए सावधान रहना है। सिंहरथ को पकड़ कर लाने के उपलक्ष में जरासंध जीवयशा का लग्न तुम्हारे साथ करेगा। अपने को ससे वचना है। कहो, कैसे बचोगे ?"

वसुदेव ने कहा—"पिताश्री ! चिन्ता की बात नहीं। सिंहरथ को कंस ने पकड़ा है। इसलिए जीवयशा उसी को मिलनी चाहिए।"

—पुत्र ! कंस, क्षत्रीय जैसे पराक्रम वाला हो कर भी वणिकपुत्र है। जरासंध उसे अपनी पुत्री नहीं देगा, फिर क्या होगा ?

राजा ने सुभद्र सेठ को बुला कर कंस की उत्पत्ति का हाल पूछा। सुभद्र ने कहा—

"महाराज ! कंस मेरा पुत्र नहीं, यह मथुराधिपति राजा उग्रसेनजी का पुत्र है।" उसने कंस के मिलने की सारी घटना कह सुनाई और उस पेटी में से मिली हुई दोनों मुद्रिकाएँ तथा वह पत्र दिखाया। पत्र में लिखा था कि—

"यह बालक महाराज उग्रसेनजी का पुत्र और महारानी धारिणीं का अंगतजात है। भयंकर दोहद उत्पन्न होने के कारण अनिष्टकारी जान कर महारानी ने अपने पति की रक्षा के हित इस बालक का त्याग किया है।"

पत्र पढ़ कर समुद्रविजयजी ने कहा—"महाभुज कंस, यादव-कुल के महाराज उग्रसेनजी का पुत्र है। इसीसे इतना बल और शौर्य्य है।" उन्होंने यह सारी बात कंस को बताई और पत्र तथा मुद्रिका भी दिखाई। कंस अपने को राजकुमार जानकर प्रसन्न हुआ, किन्तु अपने को मृत्यु के मुख में धकेलने और इस हीन दशा में डालने के कारण पिता पर रोष जाग्रत हुआ। पूर्वभव का वैर सफल होने का समय भी परिपक्व हो रहा था।

समुद्रवीजयजी, कंस को साथ लेकर बन्दी सिंहरथ सहित जरासंध के पास पहुँचे। बन्दी को भेंट करने के बाद कंस के पराक्रम का बखान किया। जरासंध ने कंस के साथ अपनी पुत्री का लग्न कर दिया। कंस ने पिता से वैर लेने के उद्देश्य से मथुरा नगरी का राज्य माँगा। जरासंध ने उसकी माँग स्वीकार कर ली और कंस मथुरा पर अधिकार करने के लिये सेना के साथ रवाना हो गया। कंस ने मथुरा पहुँच कर राज्य पर अधिकार कर लिया और अपने पिता राजा उग्रसेनजी को वन्दी कर के पींजरे में बन्द कर दिया।

पति के दुःख से दुखी महारानी का महाक्लेश

राजा उग्रसेनजी के अतिमुक्त आदि पुत्र थे । पिता के वन्दी वना लेने की घटना का अतिमुक्त कुमार के हृदय पर गंभीर प्रभाव पड़ा । उन्होंने संसार से उदासीन हो कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । राज्याधिकार पा कर कंस संतुष्ठ हो गया । उसने अपने पालक सुभद्र सेठ को शौर्य्य नगर से बुलाया और वहुतसा धन दे कर सम्मानित किया । महारानी धारिणी देवी अपने पति के वन्दी वनाये जाने से अत्यंत दुखी थी । उन्होंने कंस को समझाया---

"पुत्र ! तुझे यमुना में वहाने वाली मैं हूँ, तेरे पिता नहीं । तेरे पिताजी को तो मालूम ही नहीं कि पुत्र जीवित जन्मा । मैने उन्हें कहला दिया था कि---मृत वालक जन्मा है और तुझे पेटी में बन्द करवा कर दासी द्वारा यमुना में वहा दिया । तेरे साथ मैंने जो पत्र रखा था, उसमें भी यही वात लिखी थी । यदि तेरा अपराध किया है, तो मैंने । तेरे पिताजी तो सर्वथा निर्दोष हैं । तू मुझे दण्ड दे । मुझे मारडाल, पर उन निर्दोष को मुक्त कर दे ।"

कंस ने माता की वात नहीं मानी । रानी हताश हो कर उन लोगों के घर गई--जिन्हें कंस मानता था और विश्वास करता था । उन्हें वह करुणापूर्ण स्वर में पति को मुक्त करवाने के लिए कहती, अनुनय करती और वे कंस को समझाते, पर वह किसी की नहीं मानता । पूर्वभव का वैर यहाँ वाधक वन रहा था ।

वसुदेव द्वारा मृत्यु का ढोंग और विदेश गमन

वसुदेवजी अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक थे । वे नगर में फिरते, तो उन्हें देख कर स्त्रियाँ मुग्ध हो जाती और विवेक-शून्य हो कर उन्हें घुरती रहती । कई घर से निकल कर उनके पीछे फिरने लगती । वसुदेवजी निदान के प्रभाव से रमणीवल्लभ थे । उनका निदान सफल हो रहा था । वे अपना समय इधर-उधर घूमने और क्रीड़ा करने में व्यतीत करने लगे । नगर के प्रतिष्ठितजनों ने, वसुदेवजी के आकर्षण से स्त्रियों में व्याप्त कामुकता, मर्यादाहीनता एवं अनैतिकता से चिन्तित हो कर राजा समुद्रविजयजी से निवेदन किया । राजा ने नागरिक शिष्टमण्डल को आश्वासन दे कर विदा किया और अवसर पा कर वसुदेवजी से कहा "वन्धु ! तुम दिनभर भ्रमण करते रहते हो । इससे तुम्हारे शरीर पर विपरीत परिणाम होता है । तुम मुझे दुर्वल दिखाई दे रहे हो । इसलिए तुम भ्रमण

करना बन्द कर के कुछ दिन विश्राम करो और यहीं रह कर अपनी कलाओं की पुनरावृत्ति करो तथा नवीन कलाओं का अभ्यास करो। इससे मनोरञ्जन भी होगा और कला में विकास भी होगा।" वसुदेव ने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा मानी और भवन में ही रह कर गीतनृत्यादि में काल व्यतीत करने लगे। कालान्तर में कुब्जा नाम की दासी, गन्ध-पात्र ले कर उधर से निकली। वसुदेवजी ने दासी से पूछा—"क्या लिये जा रही है ?" "यह गन्धपात्र है। महारानी शिवादेवी ने महाराज के लिए भेजा है। मैं उन्हें देने के लिए जा रही हूँ।" वसुदेवजी ने हँसते हुए दासी के हाथ से गन्धपात्र ले लिया और कहा—"इसकी तो मुझे भी आवश्यकता है।" दासी ने कुपित होते हुए कहा—"आपके ऐसे चरित्र के कारण ही आप भवन में वन्दी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।" दासी की वात वसुदेवजी को लग गई। उन्होंने पूछा—"क्या कहती है ? स्पष्ट वता कि मैं वन्दी कैसे हूँ ?" दासी सकुचाई और अपनी वात को छुपाने का प्रयत्न करने लगी। किंतु कुमार के रोष से उसे वताना ही पड़ा। उसने नागरिकजनों द्वारा महाराज से की गई विनती और फल स्वरूप वसुदेव का भवन में ही रहने की सूचना का रहस्य वता दिया। वसुदेवजी ने सोचा—'यदि महाराज यह मानते हों कि मैं स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए ही नगर में फिरता हूँ और इससे उनके सामने कठिनाई उत्पन्न होती है, तथा इसी के लिए उन्होंने मुझे भवन में ही रहने की आज्ञा दी है, तो मुझे यहाँ रहना ही नहीं चाहिये।' इस प्रकार विचार कर उन्होंने गुटिका के प्रयोग से अपना रूप पलटा और वेश वदल कर चल निकले। नगर के वाहर वे श्मशान में आये। वहाँ एक अनाथ मनुष्य का शव पड़ा था और एक ओर चिता रची हुई थी, वसुदेवजी ने उस शव को चिता में रख कर आग लगा दी और एक पत्र लिख कर एक खम्भे पर लगा दिया, जिसमें लिखा था;—

"लोगों ने मुझे दूषित माना और मेरे आप्तजन के समक्ष मुझे कलंकित किया। इसलिए मेरे लिए जीवन दुभर हो गया। अब मैं अपने जीवन का अन्त करने के लिए चिता में प्रवेश कर रहा हूँ। मेरे आप्तजन और नागरिकजन मुझे क्षमा करें और मुझे भुला दें।"

पत्र खंभे पर लगा कर, वसुदेवजी ब्राह्मण का वेश बना कर चल दिये। कुछ दूर चलने के वाद उन्होंने एक रथ जाता हुआ देखा। उसमें दो स्त्रियाँ वैठी थी—एक माता और दूसरी पुत्री। पुत्री सुसराल से अपनी माता के साथ पीहर जा रही थी। वसुदेव को देख कर पुत्री ने माता से कहा—'इस थके हुए पथिक को रथ में विठा लो।' वसुदेव को रथ में विठाया और घर आ कर भोजनादि कराया। संध्या-काल में वसुदेव वहाँ से चले और

एक यक्ष के मन्दिर में आ कर ठहरे।

जब वसुदेवजी को भवन में नहीं देखा, तो खोज होने लगी। इतने में किसी मृतक का अग्नि-संस्कार करने के लिए श्मशान में गये लोगों ने खंभे पर लगा हुआ वह पत्र देखा और हलचल मच गई। यह आघातजनक समाचार शीघ्र महाराज समुद्रविजयजी के पास पहुँचाया गया और नगरभर में यह बात पहुँच गई कि—'वसुदेवजी ने अग्नि में प्रवेश कर आत्म-घात कर लिया।' महाराज, राज्य-परिवार और सारा नगर शोक-सागर में डूब गया। रुदन और आक्रन्द से सारा वातावरण भर गया और वसुदेवजी की मृत्यु सम्बन्धी सभी प्रकार की उत्तर-क्रियाएँ की गई।

वसुदेव के लग्न

वसुदेव कुमार आगे चलते हुए विजयखेट नामक नगर में पहुँचे। विजयखेट नगर के राजा सुग्रीव के श्यामा और विजयसेना नाम की दो पुत्रियाँ थी। वे सुन्दर आकर्षक एवं मोहक रूप वाली थी और कलाओं में निपुण थी। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो पुरुष कला-प्रतियोगिता में उन्हें जीतेगा, उन्हीं को वे पति रूप में स्वीकार करेगी। वसुदेव ने उन्हें जीत लिया और उनके साथ लग्न कर लिया। उनका जीवन सुख-भोग में व्यतीत होने लगा। कालान्तर में विजयसेना पत्नी से उनके पुत्र का जन्म हुआ, जो वसुदेव के समान ही सुन्दर था। उसका नाम 'अक्रूर' रखा। कुछ काल के बाद वसुदेव अकेले वहाँ से चल निकले और एक घोर वन में पहुँच गए। प्यास से पीड़ित हो कर वे जलावर्त नाम के जलाशय के निकट आये। उधर से एक विशाल एवं मस्त हाथी दौड़ता हुआ वसुदेव के निकट आया। कुमार सँभल गए। वे इधर-उधर घूम-घूम कर चालाकी से हाथी को चक्कर दे कर खेदित करते रहे, फिर सिंह के समान छलांग मार कर उसकी गर्दन पर चढ़ बैठे। वसुदेव को हाथी के साथ खेलते और सवार होते, वहां रहे हुए अर्चिमाली और पवनंजय नाम के दो विद्याधरों ने देखा। वे वसुदेव को कुंजरावर्त उद्यान में ले गए। उस उद्यान में अशनिवेग नामक विद्याधर नरेश, अपने परिवार के साथ रहते थे। वसुदेव कुमार, राजा अशनिवेग के समक्ष आये और प्रणाम किया। राजा ने कुमार को आदर सहित अपने पास बिठाया। उनके श्यामा नाम की सुन्दर पुत्री थी। राजा ने श्यामा का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया। एकबार श्यामा ने वीणा बजाने में अपनी कला का पूर्ण परि-

चय दिया। वसुदेव उसकी उत्कृष्ट कला पर मोहित हो गए और इच्छित वस्तु माँगने का आग्रह किया। श्यामा ने कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो वचन दीजिये कि आप मुझे सदैव अपने पास रखेंगे, मुझे छोड़ कर कभी नहीं जावेंगे।" वसुदेव ने पूछा—"प्रिय ! यह कैसी माँग है--तुम्हारी ? क्या कारण है—इसका ?" श्यामा ने कहा;—

"वैत्ताढच गिरि पर किन्नरगीत नगर में अचिमाली राजा था। उसके ज्वलनवेग और अशनिवेग नाम के दो पुत्र थे। अचिमाली ने ज्वलनवेग को राज्य दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की। ज्वलनवेग के अचिमाला नाम की रानी से अंगारक नाम का पुत्र हुआ और अशनिवेग की सुप्रभा रानी के गर्भ से मैंने जन्म लिया। ज्वलनवेग राजा, अपने भाई अशनिवेग को राज्यभार दे कर स्वर्ग सिधारे। इसके बाद ज्वलनवेग के पुत्र अंगारक ने विद्या के बल से मेरे पिता से राज्य छिन कर अपना अधिकार कर लिया। मेरे पिता ने अंगीरस नामक चारणमुनि से पूछा कि—"मुझे मेरा राज्य मिलेगा या नहीं ?" मुनिराज ने कहा—

"तेरी पुत्री श्यामा के पति के प्रभाव से तुझे राज्य मिलेगा। जलावर्त्त सरोवर के निकट जो युवक मदोन्मत्त हाथी को जीत कर उस पर सवार हो जायगा, वही तुम्हारी पुत्री का पति होगा और वही तुझे राज्य दिलावेगा।"

मुनिराज की वाणी पर विश्वास कर के मेरे पिता यहाँ चले आये और एक नगर वसा कर रहने लगे। उन्होंने जलावर्त सरोवर के निकट आपकी खोज के लिए दो विद्याधरों की नियुक्ति कर दी। इसके बाद आप पधारे और अपना लग्न हुआ। पूर्व-काल में धरणेन्द्र, नागेन्द्र और विद्याधरों ने यह निश्चय किया था कि—"जो धर्म-साधना कर रहा हो, जिसके पास स्त्री हो, अथवा जो साधु के समीप रहा हो, उस व्यक्ति को यदि कोई मारेगा और वह विद्यावान हुआ तो उसकी विद्या नष्ट हो जायगी।" इस अभिशाप के कारण मैं आपको कहीं अकेला जाने देना नहीं चाहती। पापी अंगारक, पक्का शत्रु बना हुआ है। वह घात लगा कर या छल से आप को मारने की चेष्टा करेगा। आपको कहीं नहीं जाना चाहिए।"

वसुदेव वहीं रह कर कला के प्रयोग से मनोरंजन और सुखोपभोग करते हुए काल व्यतीत करने लगे। एकदा रात्रि के समय अंगारक आया और श्यामा के साथ सोये हुए निद्रा-मग्न वसुदेव का साहरण कर ले उड़ा। वसुदेव की नींद खुली। उन्होंने अनुभव किया कि उनका हरण किया जा रहा है। उन्होंने श्यामा के मुँह जैसा अंगारक और उसके पीछे खड्ग ले कर रोषपूर्वक आती हुई श्यामा को देखा, जो चिल्ला रही थी—"ठहर, ओ पापी ! मैं तुझे

अभी समाप्त करती हूँ।" अंगारक ने तत्काल श्यामा के दो टुकड़े कर दिये। यह देख कर वसुदेव के हृदय को आघात लगा। किन्तु तत्काल ही उन्होंने देखा कि श्यामा के शरीर के दो टुकड़े, दो श्यामा बन कर अंगारक से लड़ने लगे। अब वसुदेव समझ गये कि यह तो सब इन्द्रजाल है। उन्होंने अंगारक के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया। उस प्रहार से पीड़ित हो कर अंगारक ने वसुदेव को छोड़ दिया, जो चम्पा नगरी के बाहर के विशाल जलाशय में गिरे। वसुदेव सावधान थे। वे हंस के समान तैरते हुए बाहर निकले और शेष रात्रि सरोवर के देवालय में व्यतीत की। प्रातःकाल होने पर वे एक ब्राह्मण के साथ नगरी में आये।

प्रतियोगिता में विजय और गन्धर्वसेना से लग्न

चम्पानगरी के चारुदत्त सेठ की 'गन्धर्वसेना' नाम की सुन्दर मोहक और लावण्यवती पुत्री थी। वह गान एवं वादन-कला में प्रवीण थी। उसने प्रतिज्ञा की थी कि 'जो कलाविद, मुझे संगीत-कला में जीत लेगा, वही मेरा पति होगा।' उसके रति के समान अनुपम रूप, यौवन और गुणों से आकर्षित हो कर उसे प्राप्त करने की इच्छा से कई देशी-विदेशी युवक संगीत-कला का अभ्यास करने लगे थे। उस नगरी में सुग्रीव और यशोग्रीव नाम के दो संगीताचार्य रहते थे। प्रत्याशी युवक उन्हीं के पास अभ्यास करते थे और वे ही प्रतियोगिता के निर्णायक भी थे। वसुदेव भी एक प्रत्याशी बन कर संगीताचार्य सुग्रीव के समीप गये। उन्होंने अपना रूप एक मसखरे जैसा बना लिया था। संगीताचार्य के समीप पहुँच कर उन्होंने एक असभ्य गँवार-सा डौल करते हुए कहा;—"गुरुजी! मैं गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण हूँ। स्कन्दिल मेरा नाम है। मैं गन्धर्वसेना के साथ लग्न करना चाहता हूँ। आप मुझे संगीत-कला सिखाइये।" आचार्य ने एक गँवार जैसे ऊटपट वेशवाले असभ्य युवक को देख कर उपेक्षा से मुँह मोड़ लिया। अभ्यास करने वाले युवक, उस अनोखे अनघड़ प्रत्याशी को देख कर हँसने लगे, किन्तु वसुदेव तो वहीं जम गए और ग्राम्यजन योग्य वचनों से सहपाठियों को हँसाते हुए काल व्यतीत करने लगे। संगीताचार्य की पत्नी वसुदेव के हँसोड़पन से प्रभावित हो कर, पुत्र के तुल्य वात्सल्य भाव रखने लगी। तात्त्विक परीक्षा का दिन आया। आचार्यपत्नी ने सुग्रीव को अपने पुत्र के वस्त्र धारण करने को दिये। वसुदेव ने अपने पास के वस्त्र और गुरु-पत्नी के दिये हुए वस्त्र पहिने और सभा-

स्थान पर आया। वसुदेव की हास्यास्पद वेशभूषा और बोलचाल से सभी सभासद एवं दर्शक प्रभावित हुए। उन्हें मनोरंजन का एक साधन मिल गया। लोगों ने वसुदेव का व्यंगपूर्वक आदर किया और कहा—"हाँ भाई! तुम ही भाग्यशाली। तुम्ही जीतोगे और गन्धर्वसेना तुम्हारे साथ ही लग्न करेगी।" वसुदेव भी तत्काल बोले—"इस सारी सभा में मेरे समान और है ही कौन, जो गन्धर्वसेना के योग्य पति हो सके?" लोग हँसे और बोले—"अवश्य, अवश्य। तुम से बढ़ कर और है ही कौन? जाओ आगे बैठो"—कहते हुए न्यायाचार्य के समीप ही बिठा दिया। वे भी लोगों का मन लुभाने लगे। इतने में देवांगना के समान उत्कृष्ट रूपधारिणी गन्धर्वसेना सभा में उपस्थित हुई। सभा का वातावरण एकदम शान्त हो गया। प्रतियोगिता प्रारंभ हुई। थोड़ी ही देर में अन्य सभी प्रत्यासी परास्त हो गए। अंत में वसुदेव की बारी आई। उन्होंने अबतक अपना वास्तविक रूप बना लिया था। गन्धर्वसेना की दृष्टि वसुदेव पर पड़ी, तो वह प्रभावित हो गई। कुमार को सभागृह से बजाने के लिए एक वीणा दी गई। उस वीणा को देखते ही कुमार ने लौटाते हुए कहा—"यह दूषित है।" इसी प्रकार जितनी वीणा दी गई, उनमें कुछ-न-कुछ दोष बता कर लौटा दी गई। अन्त में गन्धर्वसेना ने अपनी वीणा दी। कुमार ने उसे देख-परख कर सज्ज की और पूछा—"शुभे! क्या मुझे इस वीणा के साथ गायन भी करना पड़ेगा?" गन्धर्वसेना ने कहा—"हे संगीतज्ञ! पद्म चक्रवर्ती के ज्येष्ठ-बन्धु विष्णु-कुमार मुनि द्वारा रचित त्रिविक्रम सम्बन्धी गीत इस वीणा में बजाइए।"

कुमार वीणा बजाने लगे। उन्होंने इस प्रकार वीणा द्वारा उस गीत को राग दिया कि जैसे साक्षात् सरस्वती हो। सभासद, दर्शक, संगीताचार्य और गन्धर्वसेना सभी मुग्ध हो गए। कुमार का विजय-घोष हुआ। अन्य सभी प्रतियोगी हताश हो कर लौट गए। चारु-दत्त सेठ, कुमार को सम्मानपूर्वक अपने घर लाया और शुभ मुहूर्त में विवाह सम्पन्न होने लगा। विवाह-विधि के समय चारुदत्त ने कुमार से पूछा—"आपका गोत्र क्या है? मैं क्या कह कर संकल्प करूँ?" वसुदेव ने कहा—"जो आपको अच्छा लगे।" सेठ ने कहा—"आप इसे वणिक-पुत्री जान कर हँसते होंगे, किंतु मैं इसका वृत्तांत आपको फिर सुनाऊँगा।" लग्न सम्पन्न हो गया। इसके बाद दोनों संगीताचार्यों ने भी अपनी श्यामा और विजया नाम की पुत्रियाँ वसुदेव के साथ ब्याह दी।

गन्धर्वसेना का वृत्तांत सुनाते हुए चारुदत्त सेठ ने वसुदेव से कहा;—"इसका ही था। भानुदत्त नाम के एक धनवान सेठ रहते थे। पुत्र-लाभ नहीं होने के कारण वे चिन्तित रहते थे। एकवार उन्होंने एक चारण मुनि से पूछा। उन्होंने कहा—"तुझे पुत्र-लाभ होगा।" कालान्तर में मेरा जन्म हुआ। यौवनवय में मैं अपने मित्र के साथ समुद्र-तट पर गया। मैंने देखा कि भूमि पर किसी आकाशगामी के पाँवों की आकृति अंकित है। उसे एक पुरुष और एक स्त्री के सुन्दर चरण-चिन्ह दिखाई दिये। वह उन पद-चिन्हों के अनुसार आगे बढ़ा। एक उद्यान के कदलिगृह में उसने एक पुष्प-शैया देखी, जिसके समीप ढाल और तलवार रखे हुए थे। उसके समीप ही एक मनुष्य को, एक वृक्ष के साथ लोहे की कीलें ठोक कर जकड़ा हुआ देखा। जो तलवार उसके पास रखी थी, उसके कोश (म्यान) के साथ तीन औषधियाँ बंधी हुई थी। मैंने अपनी बुद्धि से सोच कर उनमें से एक औषधी निकाली और उसका प्रयोग कर, उस पुरुष के अंग पर लगी हुई कीलें निकाल कर उसे वृक्ष से पृथक् किया। दूसरी औषधी से उसके शरीर के घाव भर दिये और तीसरी औषधी से उसकी मूर्च्छा दूर करके सावचेत कर दिया। वह पुरुष सावधान हो कर मेरा उपकार मानता हुआ बोला;—

"मैं वैताढ्य गिरि के शिवमन्दिर नगर के विद्याधर नरेश महाराज महेन्द्रविक्रम का पुत्र अमितगति हूँ। मैं अपने मित्र धूमशिख और गौरमुण्ड के साथ क्रीड़ा करने के लिए हीमवान पर्वत पर गया। वहाँ मेरे तपस्वी मामा हिरण्यरोम की पुत्री सुकुमालिका दिखाई दी। वह अत्यंत रूपवती एवं मन-मोहक थी। मैं उसे देख कर कामातुर हो गया और अपने घर चला आया। मैं उदास रहने लगा। मेरे पिता, मेरी उदासी एवं चिन्ता-मग्न दशा देख कर सोच में पड़ गए। उन्होंने मुझ-से चिन्ता का कारण पूछा, किन्तु मैं मौन रहा। मेरे मित्र ने उन्हें कारण बता दिया। फिर पिताजी ने मेरा विवाह सुकुमालिका

स्थान पर आ में से मुझे बचाया और जीवनदान दिया। आप मेरे महान् उपकारी हैं। दर्शक, मैं आपका क्या हित करूँ, जिससे कुछ मात्रा में भी ऋण-मुक्त बनूं।

"महानुभाव ! मैं तो आपके दर्शन से ही कृतार्थ हो गया। अब मुझे कुछ भी आवश्यकता नहीं है।" इतना सुनने पर वह विद्याधर मुझे प्रणाम कर आकाश में उड़ कर चला गया और मैं अपने घर गया। कालान्तर में मेरा विवाह मेरे मामा की पुत्री मित्रवती के साथ हो गया। मै कला में अधिक रुचि रखता था, इससे मेरी रुचि भोग की ओर नहीं लगी। मुझे स्त्री में अनासक्त जान कर मेरे पिता चिंतित हुए। उन्होंने मुझे शृंगार-रस की ललित-क्रियाओं में लगाया। मैं स्वेच्छाचारी बना और एक दिन कलिंगसेना वेश्या की पुत्री बसंतसेना के सहवास में पहुँच गया। वहाँ मैं बारह वर्ष रहा और बाप की कमाई का सोलह करोड़ स्वर्ण उड़ा दिया। अंत में निर्धन जान कर, कलिंगसेना ने मुझे अपने आवास से निकाल दिया। वसंतसेना का मुझ पर प्रगाढ़ स्नेह था। किंतु माता के आगे उसकी एक नहीं चली। वह छटपटाती रही और मैं उससे बिछुड़ गया। मैं घर आया, तब मालूम हुआ कि माता-पिता तो कभी के स्वर्गवासी हो गए हैं और घर में दरिद्रता पूरी तरह छा गई है। मैंने अपनी पत्नी के गहने बेच कर व्यापार के लिए धन प्राप्त किया और मामा के साथ उशीरवर्ती नगरी आया। वहाँ मैंने कपास खरीदा। कपास ले कर मैं ताम्रलिप्ति नगरी जा रहा था कि मार्ग में लगे हुए दावानल में सारा कपास जल गया और मैं फिर से निराधार बन गया। मेरे मामा ने मुझे दुर्भागी जान कर छोड़ दिया। इसके बाद में घोड़े पर बैठ कर अकेला ही पश्चिम दिशा की ओर चला, किन्तु मेरा दुर्भाग्य अभी उन्नति पर बढ़ रहा था, सो थोड़ी ही दूर गया हूँगा कि मेरा घोड़ा मर गया। अब मैं अपना सामान उठा कर पैदल ही चलने लगा। कहाँ तो मैं दिन-रात सुख-भोग में ही लीन रहने वाला, और कहाँ मेरी यह सर्वथा निराधार अवस्था। मैं भूख-प्यास से पीड़ित और चलने के श्रम से थका हुआ क्लान्त, दुःखी अवस्था में प्रियंगु नगर में पहुँचा। यह नगर व्यापार का केन्द्र था। वहाँ मेरे पिता के मित्र सुरेन्द्रदत्त रहते थे। वे मुझे अपने घर ले गए और भोजन तथा वस्त्र से संतुष्ट किया। वहाँ पुत्र के समान मेरा पालन किया जाने लगा। फिर उनसे एक लाख द्रव्य ब्याज पर ले कर मैं व्यापार में लगा। मैंने कुछ चीजें खरिदी और जहाज भर कर विदेश चला गया। मैंने कई ग्रामों में जा कर व्यापार किया और आठ कोटी स्वर्ण उपार्जन किया। फिर मैंने अपना समस्त द्रव्य जहाज में भर कर घर के लिए प्रस्थान किया। इस समय मेरा दुर्भाग्य फिर जागा और जहाज टूट कर डूब गया। मैं एक पटिये के सहारे

तैरता हुआ सात दिन में किनारे लगा । राजपुर नगर वहां से निकट ही था । उसके बाहर उद्यान में झाड़ी बहुत थी । मैं भूखा-प्यासा और समुद्र में हुई दुर्दशा से अत्यंत अशक्त था, सो उस झाड़ी में एक ओर पड़ गया । मेरे निकट ही दिनकरप्रभ नामक त्रिदण्डी सन्यासी था । वह मेरी ओर आकर्षित हुआ । उसने मेरा हाल पूछा, तो मैंने उसे अपना पूरा वृत्तान्त सुना दिया । सन्यासी मुझ पर प्रसन्न हुआ और मुझे पुत्र के समान रखने लगा ।

एक दिन सन्यासी ने मुझ-से कहा—"वत्स ! तू धन का इच्छुक है और धन के लिए ही इतने भयंकर कष्टों का सामना करता है । तू मेरे साथ चल । उस पर्वत पर मैं तुझे ऐसा रस दूंगा कि जिससे तू करोडों स्वर्ण द्रव्य बना सकेगा ।" तेरा समस्त

उसी समय राजभवन के बाहर कोलाहल सुनाई दिया। वसुदेव ने कोलाहल का कारण पूछा। द्वारपाल ने कहा—"नील नाम का विद्याधर झगड़ा कर रहा है। वह नीलयशा को प्राप्त करना चाहता है। झगड़े का मूल यह है कि—शकटमुख नगर के नीलवान् राजा की नीलवती रानी से एक पुत्र और पुत्री जन्मे। बहिन का नाम "नीलांजना" और भाई का नाम "नील" रखा। दोनों भाई-बहिन, पहले वचन-बद्ध हो चुके थे कि "यदि अपने में से किसी एक के पुत्र और दूसरे के पुत्री होगी, तो दोनों का परस्पर लग्न कर देंगे।" यह नीलयशा—आपकी सद्य परिणिता पत्नी, उस नीलांजना की पुत्री है, जो वचनवद्ध है और वह झगड़ा करनेवाला रानी का भाई नील है। वह कहता है कि वचन का पालन कर के नीलयशा का लग्न, मेरे पुत्र नीलकंठ से होना चाहिए। उसने पहले भी सन्देश भेजा था। उसे स्वीकार करने में खास बाधा यही थी कि कुछ काल पूर्व बृहस्पति नामक मुनि ने नीलयशा का भविष्य बतलाते हुए कहा था कि—'अर्द्ध भारतवर्ष के पति ऐसे वासुदेव के पिता और यादव-वंश में उत्तम तथा कामदेव के समान रूपसम्पन्न एवं सौभाग्यशाली राजकुमार वसुदेव इस नीलयशा के पति होंगे।" इस भविष्य-वाणी के कारण नीलयशा अपको दी जा रही है और यही नील के झगड़े का कारण है। हम नील-यशा उसे नहीं दे सकते। सिंहदृष्ट्र राजा ने नील के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर दिया है। इसी का यह कोलाहल है।"

पहुँचे । रात वहीं व्यतीत कर दक्षिण-दिशा की ओर चले और एक पर्वत की तलहटी में बसे हुए गाँव में पहुँचे । वहाँ कई ब्राह्मण मिल कर उच्च ध्वनि से वेद-पाठ कर रहे थे । वसुदेव के पूछने पर एक ब्राह्मण ने कहा;—

"रावण के समय दिवाकर नाम के विद्याधर ने नारदजी को अपनी पुत्री दी थी । उनके वश में सुरदेव नाम का ब्राह्मण है और वही इस गाँव का मुखिया है । उसके क्षत्रिया नाम की पत्नी से सोमश्री नाम की पुत्री है । वह वेद शास्त्रों की ज्ञाता है । उसके पिता ने उसके लिए वर के विषय में कराल नाम के ज्ञानी से पूछा, तो उसने कहा था कि "जो व्यक्ति वेद सम्वन्धी शास्त्रार्थ में सोमश्री को जीतेगा, वही उसका स्वामी होगा ।" ये जितने भी वेदाभ्यासी ब्राह्मण हैं, वे सभी सोमश्री पर विजय प्राप्त करने के लिए वेद पढ़ रहे हैं ।" वसुदेव भी ब्राह्मण का रूप वना कर वेदाचार्य ब्रह्मदत्त के पास गया और वोला;— "मैं गौतम-गौत्रीय स्कन्दिल नाम का ब्राह्मण हूँ और वेदाभ्यास करना चाहता हूँ ।" वसुदेव ने अभ्यास किया और शास्त्रार्थ में सोमश्री से विजय प्राप्त करके उस के साथ लग्न किये और वहीं रह कर सुखपूर्वक काल विताने लगा ।

जादूगर द्वारा हरण और नर-राक्षस का मरण

एक दिन वसुदेव, उद्यान में गए । वहाँ उन्होंने इन्द्रशर्मा नामक इन्द्रजालिक के आश्चर्यकारक जादुई विद्या के चमत्कार देखे । वसुदेव ने इन्द्रशर्मा से कहा—"तुम मुझे यह विद्या सिखा दो ।" इन्द्रशर्मा ने कहा—"मैं तुम्हें मानस-मोहिनी विद्या सिखा दूंगा, किन्तु उसकी साधना विकट एवं कठोर है । सन्ध्या समय साधना प्रारम्भ होती है, जो सूर्योदय तक चलती है । किन्तु साधनाकाल में विपत्तियाँ वहुत आती हैं । इसलिए किसी सहायक मित्र की आवश्यकता होगी । यदि तुम्हारे पास कोई सहायक नहीं हो, तो मैं और मेरी पत्नी तुम्हारी सहायता करेंगे ।" वसुदेव साधना करने लगे । उस समय उस धूर्त्त इन्द्रशर्मा ने वसुदेव को एक शिविका में विठा कर हरण किया । पहले तो वसुदेव ने इसे साधना में उपसर्ग समझा और स्थिर रहे, किन्तु प्रातःकाल होने पर वे समझ गए कि 'मायावी इन्द्रशर्मा ही मुझे लिये जा रहा है ।' वे शिविका में से उतरे । इन्द्रशर्मा ने उन्हें पकड़ने का यत्न किया, किन्तु वे उसके हाथ नहीं आये और दूर निकल गए । संध्या समय

उन्होंने उसे खूब दौड़ाया, थकाया और वश में कर लिया। राजा ने अपनी पुत्री कपिला का लग्न वसुदेव से कर दिया। वसुदेव वहीं रह कर सुख-भोग में समय व्यतीत करने लगे। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा गया।

एकवार वसुदेव, हस्तीशाला में गये और उन्होंने एक नये आकर्षक हाथी को देखा। वे उस पर सवार हो गए। उनके सवार होते ही हाथी ऊपर उठ कर आकाश में उड़ने लगा। वसुदेव उस मायावी हाथी पर मुक्के का प्रहार करने लगे। मार की पीड़ा से पीड़ित हो कर वह नीचे गिरा और एक सरोवर के किनारे आ लगा। नीचे गिरते ही वह अपना मायावी रूप छोड़ कर वास्तविक रूप में आया। अव वह नीलकंठ विद्याधर दिखाई देने लगा। यह वही नीलकंठ है जो नीलयशा से वसुदेव के विवाह के समय युद्ध करने आया था।

वहाँ से चल कर वसुदेव सालगृह नगर आये। वहाँ उन्होंने भाग्यसेन राजा को धनुर्वेद की शिक्षा दी। कालान्तर में भाग्यसेन राजा पर उसका भाई मेघसेन सेना ले कर चढ़ आया। वसुदेव कुमार ने अपने युद्ध-कौशल से मेघसेन को जीत लिया। भाग्यसेन ने वसुदेव के पराक्रम से प्रभावित हो कर अपनी पुत्री पद्मावती का उसके साथ लग्न कर दिया और मेघसेन ने भी अपनी पुत्री अश्वसेना व्याह दी। वसुदेव ने कुछ दिन वहीं रह कर सुखमय काल व्यतीत किया। वहाँ से चल कर वे भद्दिलपुर नगर गये। भद्दिलपुर नरेश की अचानक मृत्यु हो गई थी। उनके पुत्र नहीं था। राज्य का संचालन उनकी पुंढ़ा नाम की पुत्री, पुरुष-वेश में रह कर करती थी। वसुदेव कुमार को देखते ही वह मोहित हो गई। उसने वसुदेव कुमार के साथ विवाह किया। कालान्तर में उसके पुण्ढ्र नामक पुत्र हुआ। वह वहाँ का राजा घोषित हुआ।

वसुदेव, रात के समय निद्रा ले रहे थे कि अंगारक विद्याधर उन्हें उठा कर ले गया और गंगा नदी में डाल दिया। वसुदेव नदी में गिरते ही सँभल गए और तैर कर किनारे पर आये। सूर्योदय के बाद वस्त्रों के सूख जाने पर वे इलावर्द्धन नगर में आये और एक सार्थवाह की दुकान पर बैठ गए। उनके बैठने के बाद व्यापार खूब चला और व्यापारी को लाख स्वर्ण-मुद्राओं का लाभ हुआ। सार्थवाह ने कुमार को सौभाग्यशाली एवं पुण्यवान जान कर आदर-सत्कार किया और रथ में बिठा कर अपने घर लाया तथा थोड़े ही दिनों में अपनी रत्नवती नाम की पुत्री का विवाह—वसुदेव के साथ—कर दिया। इन्द्र महोत्सव के समय वसुदेव अपने ससुर के साथ महापुर नगर गए। उन्होंने नगर के बाहर एक नवीन नगर की रचना देख कर उसका कारण पूछा। सार्थवाह ने कहा—"इस नगर के सोमदत्त राजा

इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद जीवयशा, मथुरा से निकल कर अपने पिता जरासंध के पास राजगृहि आई। इधर समुद्रविजयजी आदि ने उग्रसेनजी को मथुरा के राज्य-सिंहासन पर स्थापित किया और उग्रसेनजी ने अपनी पुत्री सत्यभामा के लग्न कृष्ण के साथ कर दिए।

जरासंध की भीषण प्रतिज्ञा और बन्धुयुगल की माँग

कंस की विधवा रानी जीवयशा, शोकाकुल हो कर मथुरा से निकली और अपने पिता जरासंध के पास आई। उसकी दुर्दशा देख कर जरासंध भी चिन्तित हुआ। उसने पुत्री को आश्वासन देते हुए शोक करने का कारण पूछा। जीवयशा ने अतिमुक्त श्रमण की भविष्यवाणी से लगा कर कंस-वध तक की सारी घटना कह सुनाई। जरासंध ने कहा—

"कंस ने बड़ी भारी भूल की। उसे देवकी के गर्भ को मारने की क्या आवश्यकता थी? यदि वह एक देवकी को ही मार डालता, तो उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र का आधार ही नष्ट हो जाता। विष-वेली को फूलने का अवकाश ही नहीं मिलता। जब

उग्रसेनजी की मुक्ति ×× सत्यभामा से लग्न

कंस की मृत्यु और सैनिकों के पलायन के वाद सभा अपने आप भंग हो गई। भय एवं चिन्ता लिए लोग अपने-अपने घर लौट गए। समुद्रविजयजी की आज्ञा से अनाधृष्टि-कुमार, वलराम और कृष्ण को अपने रथ में विठा कर वसुदेवजी के आवास पर ले आये। वहाँ सभी यादव एकत्रित हुए। वसुदेवजी, वलराम को अपने अर्धासन पर और कृष्ण को गोदी में बिठा कर वार-वार चुम्बन करने लगे। उनका हृदय भर आया और आँखों में आँसू झलकने लगे। यह देख कर वसुदेवजी के ज्येष्ठ-वन्धु पूछने लगे—' क्यों, वसुदेव! तुम्हारी छाती क्यों भर आई ? आँखों में पानी क्यों उतर आया ? क्या सम्वन्ध है कृष्ण से तुम्हारा ?" वसुदेवजी ने देवकी से लग्न, अतिमुक्तकुमार श्रमण की भविष्यवाणी और उस पर से कंस के किये हुए उपद्रव आदि सभी घटनाएँ सुना दीं। समुद्रविजयजी आदि को कृष्ण जैसा महाबली पुत्र पा कर अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने कृष्ण को उठा कर छाती से लगाया और बार-बार चुम्बन करने लगे। कृष्ण की रक्षा और शिक्षा देने के कारण बलरामजी की भी उन्होंने बहुत प्रशंसा की। यादवों ने वसुदेवजी से पूछा;—

"हे महाभुज ! तुम अकेले ही इस संसार पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो, फिर भी तुम्हारे छह पुत्रों को, जन्म के साथ ही दुष्ट कंस ने मार डाला। यह हृदय-दाहक क्रूर-कर्म तुमने कैसे सहन कर लिया ?"

"बन्धुओं ! उस दुष्ट ने स्नेह का प्रदर्शन कर के मुझे वचन-बद्ध कर लिया था। मैं उसकी धूर्तता नहीं समझ सका और वचन दे दिया। वचन देने के वाद उससे पलटना मेरे लिए शक्य नहीं वना। मैं सत्य-प्रिय हूँ। मैंने सत्य-व्रत का सदैव पालन किया है। अपने वचन की रक्षा के लिए मैं विवश रहा। देवकी के आग्रह से उसके सातवें वालक इस कृष्ण को मैं गोकुल में रख आया और उसके वदले में यशोदा की पुत्री ला कर रख दी, जिसकी नासिका के एक अंश का दुष्ट कंस ने छेदन कर दिया है।"

इसके वाद समुद्रविजयजी आदि यदुवंशियों की सम्मति से उग्रसेनजी (कंस के पिता, जिन्हें कंस ने बन्दी बना दिया था) कारागृह से मुक्त कर के कंस के शव की अंतिम क्रिया सम्पन्न की। इस अंतिम क्रिया में कंस की माता और अन्य रानियें तो सम्मिलित हुई, किन्तु उसकी मुख्य रानी जीवयशा सम्मिलित नहीं हुई। उसने अपने मनोभाव व्यक्त करते हुए कहा;—

"इन ग्वाल-वन्धुओं और दशार्हादि यादवों को समूल नष्ट करने के वाद ही मैं अपने पति का प्रेत-कर्म करूँगी। यदि मैं ऐसा नहीं कर सकी, तो जीवित ही अग्नि-प्रवेश कर के प्राण त्याग दूँगी।"

इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद जीवयशा, मथुरा से निकल कर अपने पिता जरासंध के पास राजगृहि आई। इधर समुद्रविजयजी आदि ने उग्रसेनजी को मथुरा के राज्य-सिंहासन पर स्थापित किया और उग्रसेनजी ने अपनी पुत्री सत्यभामा के लग्न कृष्ण के साथ कर दिए।

जरासंध की भीषण प्रतिज्ञा और बन्धुयुगल की माँग

कंस की विधवा रानी जीवयशा, शोकाकुल हो कर मथुरा से निकली और अपने पिता जरासंध के पास आई। उसकी दुर्दशा देख कर जरासंध भी चिन्तित हुआ। उसने पुत्री को आश्वासन देते हुए शोक करने का कारण पूछा। जीवयशा ने अतिमुक्त श्रमण की भविष्यवाणी से लगा कर कंस-वध तक की सारी घटना कह सुनाई। जरासंध ने कहा—

"कंस ने बड़ी भारी भूल की। उसे देवकी के गर्भ को मारने की क्या आवश्यकता

सोमक की बात सुन कर समुद्रविजयजी ने कहा,--

"भोले भाई ! वसुदेव ने अपने छह पुत्र, क्रूर कंस को दे कर जो भूल की, उसका भी मुझे दुःख है। अब मैं वैसी भूल नहीं करूँगा। राम और कृष्ण ने कोई अपराध नहीं किया। कंस उनके प्राणों का गाहक बन गया था और उन्हें मारना चाहता था। उन्हें मारने के लिए उसने कई षड्यन्त्र रचे थे। इसलिए अपने शत्रु को मार कर उन्होंने अपनी रक्षा ही की है। इसके सिवाय उन्हें अपने छह भाइयों के मारने का दण्ड भी कंस को देना ही था। छह बालकों की हत्या करने वाले राक्षस को मार डाला और अपनी रक्षा की, इसमें अपराध कौनसा हुआ ? जरासंध यदि न्याय करता है, तो सब से पहले उसका दामाद ही बाल-हत्या कर के हत्यारा बना था। उस हत्यारे के पाप का दण्ड उसे देना हीं था। यदि वह कृष्ण की हत्या करने की कुचेष्टा नहीं कारता, तो उसे वह नहीं मारता। अब तुम्हारा स्वामी मेरे इन प्राणप्रिय पुत्रों को माँग कर इन्हें मारना चाहता है। इतना दुर्बुद्धि है तुम्हारा राजा? जाओ, तुम्हें रामकृष्ण नहीं मिल सकते।"

—"हे राजन् ! स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का कर्त्तव्य होता है। इस में योग्यायोग्य और उचितानुचित देखने का काम, सेवक का नहीं होता। आपके छह बालक तो गये ही हैं। अब ये दो और चले जावेंगे, तो कमी क्या हो जायगी ? आपकी सारी विपदा दूर हो जावेगी और राज्य भी बच जायगा। दो लड़कों के पीछे सारे राज्य और समस्त परिवार को विपत्ति में डाल कर दुःखी होना, समझदारी नहीं है। एक बलवान और समर्थ के साथ शत्रुता करके बड़ी भारी भूल करोगे। कहाँ गजराज के समान सम्राट जरासंधजी और कहाँ एक भेड़ के समान आप ? आप उनकी शक्ति के सामने कैसे और कितनी देर ठहर सकेंगे ?

कृष्ण, सोमक की बात सहन नहीं कर सके। अब तक वे मौन रह कर सुन रहे थे। जब सोमक ने समुद्रविजयजी को भेड़ के समान बताया, तो वे बोल उठे;—

"सोमक ! मेरे इन पूज्य पिताजी ने आज तक तेरे स्वामी के साथ सरलतापूर्वक स्नेह-सम्बन्ध बनाये रखा। इससे तुम्हारा स्वामी बड़ा और समर्थ नहीं हो गया। हम जरासंध को अपना स्वामी नहीं मानते, अपितु दूसरा अत्याचारी कंस ही मानते हैं, जो उसके अत्याचार का समर्थक और वर्द्धक बन रहा है। अब तू यहाँ से चला जा और तेरे स्वामी को जैसा तुझे ठीक लगे --कह दे।"

कृष्ण की बात सुन कर सोमक ने समुद्रविजयजी से कहा;—

"हे दशार्ह राज ! तुम्हारा यह पुत्र कुलांगार लगता है। आप इसकी उद्दण्डता

की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? इसे रोकते क्यों नहीं हैं ?"

सोमक की बात सुन कर अनाधृष्टिकुमार बोला;—

—"ए सोमक ! तुझे लज्जा नहीं आती और बार-बार वही रोना रो रहा है। अपने दुष्ट जामाता के मरने से जरासंध को दुःख हुआ, तो हमें हमारे छह भाइयों के मरने का दुःख नहीं है क्या ? अब हम और हमारे ये भाई, तेरी ऐसी अन्यायपूर्ण बात सुनना नहीं चाहते। जा, चला जा यहाँ से।"

तिरस्कृत सोमक रोषपूर्वक लौट गया।

यादवों का स्वदेश-त्याग

सोमक के प्रस्थान के पश्चात् समुद्रविजयजी ने विचार किया। उन्हें विश्वास हो गया कि अब जरासंध से भिड़ना ही पड़ेगा। दूसरे ही दिन उन्होंने अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों की सभा बुलाई। उन्होंने कहा—

"जरासन्ध से युद्ध होना अनिवार्य हो गया है। उसकी सैन्य-शक्ति विशाल है। वह त्रिखण्ड का स्वामी है। 'हम उससे लड़ कर किस प्रकार सफल हो सकेंगे,—' इस पर विचार करना है। उन्होंने अपने विश्वस्त भविष्यवेत्ता के समक्ष प्रश्न रखा। भविष्यवेत्ता ने विचार करने के बाद कहा—

कालकुमार काल के गाल में

समुद्रविजयजी और कृष्ण से तिरस्कृत सोमक ने जरासंध के पास आ कर समस्त वृत्तांत सुनाया। जरासंध क्रोधाभिभूत हो गया। उसका 'कालकुमार' नामक पुत्र भी वहाँ उपस्थित था। वह भी यादवों और कृष्ण का अपमान-कारक व्यवहार जान कर अत्यधिक क्रोधित हो गया और रोपपूर्वक बोला—

"उन यादवों का इतना साहस कि साम्राज्य के सेवक हो कर भी अपने को स्वतन्त्र शासक मानते हैं और गर्वोन्मत्त हो कर अपना दासत्व भूल जाते हैं ? त्रिखण्डाधिपति के सामने सिर उठाने वाले उद्दंड भिक्षुओं को मैं नष्ट कर दूंगा। पिताश्री ! मुझे आज्ञा दीजिए। मैं उनको नष्ट कर के ही लौटूं गा। मुझ से बच कर वे इस पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकते। सुना है कि वे देश-त्याग कर चले गए, परन्तु मैं उन्हें खोज-खोज कर मारूँगा। भले ही वे कहीं जा कर छुप जायँ। मैं उन्हें जल से, थल से, आकाश से, पाताल से, समुद्र से और आग में से भी खोज निकालूं गा और उनके वंश का चिन्ह तक मिटाने के बाद ही लौटूं गा। बिना उन्हें नष्ट-विनष्ट किये मैं यहाँ नहीं आऊँ गा।"

जरासंध ने आज्ञा दी। काल, अपने भाई यवन और सहदेव तथा पाँच सौ राजाओं और बड़ी भारी सेना के साथ चल निकला। प्रस्थान करते हुए उसे अनेक प्रकार के अपशकुन—दुर्भाग्य सूचक निमित्त मिले। किंतु वह उनकी उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ता ही गया। वह यादवों के पीछे, उनके गमन-पथ पर शीघ्रतापूर्वक चला जा रहा था। वह विध्याचल पर्वत के निकट पहुँच गया। यादव-संघ उसके निकट ही था। कालकुमार को भ्रम में डालने के लिए राम-कृष्ण के रक्षक देवों ने एक विशाल पर्वत की विकर्वणा की, जिसका एक ही मार्ग था। कालकुमार उस पर्वत पर चढ़ा। वहाँ एक विशाल चिता जल रही थी और एक स्त्री उस चिता के पास बैठ कर करुणापूर्ण स्वर में रुदन कर रही थी। कालकुमार के पूछने पर स्त्री ने कहा;—

"मैं यादव-कुल के विनाश से दुःखी हूँ। तुम्हारे आतंक से भयभीत हो कर यादवों ने एक विशाल चिता रच कर जल मरने के लिए अग्नि में प्रवेश किया। दशार्ह भी अग्नि में प्रवेश करने गये और उनके पीछे बलराम और कृष्ण भी, अभी-अभी अग्नि की भेंट हुए। कदाचित् वे अभी मरे नहीं होंगे। मुझे विलम्ब हो गया है। अब मैं भी अग्नि में प्रवेश करूंगी।"

इतना कह कर वह भी अग्नि में प्रवेश कर गई। काल ने देखा—राम-कृष्ण अभी मरे नहीं हैं, वे तड़प रहे हैं। दशार्ह भी जीवित हैं। अधिक मनुष्यों के एक साथ गिरने से अग्नि कुछ मन्द भी हो गया था। देवों से छला हुआ कालकुमार दशार्ह और राम-कृष्ण

को जीवित ही निकालने के लिए, अग्नि में प्रवेश करने के लिए तत्पर हुआ। साथ में आये हुए अनुभव-वृद्ध राजाओं और हितैषियों ने उसे रोकना चाहा। उन्होंने कहा—

"हमारे प्रयाण के समय हमें, अनेक अपशकुन हुए। प्रकृति की ओर से हमें अपने साहस के अनिष्ट परिणाम की सूचना मिल चुकी है। हमें बहुत सोच-समझ कर काम करना है। संभव है कि हमारे सामने कोई छल रचा गया हो। जब यादव-कुल अपने आप ही आग में जल कर मर गया, तो हमें और चाहिये ही क्या? हमारा कार्य पूरा हो चुका। वे विना मारे ही मर गए। अब हमें लौट चलना चाहिये।"

"नहीं, मैं उन्हें जीवित निकाल कर मारूँगा। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि वे आग में घुस जाएँगे, तो मैं उन्हें वहाँ से भी खिंच लाऊँगा। तुम मुझे रोको मत। विलम्ब हो रहा है।"

इतना कह कर कालकुमार अग्नि में कूद पड़ा और थोड़ी ही देर में मर गया। उसकी देह लकड़ी के समान जल गई। सन्ध्या हो चुकी थी। राजकुमार यवन, सहेदव और साथ रहे हुए राजा आदि ने वहीं रात व्यतीत की। प्रातःकाल होने पर उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा। वहाँ न तो कोई पहाड़ था, न चिता ही थी। कुछ भी नहीं था। इतने ही में गुप्तचरों ने आ कर कहा कि यादवों का संघ बहुत दूर आगे निकल गया है। अब कालकुमार के भाइयों, सेनापतियों और राजाओं को विश्वास हो गया कि यह पहाड़ अग्नि और चिता आदि सब इन्द्रजाल था। हम ठगे गए और कालकुमार व्यर्थ ही मारा गया। वे सभी रोते और शोक करते हुए वहाँ से लौट कर जरासंध के पास पहुँचे। पुत्र-वियोग के आघात से जरासंध मूर्च्छित हो गया। मूर्च्छा दूर होने पर वह "हा, पुत्र!"—पुकारता हुआ रोने लगा

पुत्र प्राप्ति और द्वारिका का निर्माण

यादवों का प्रयाण चालू ही था। उनके गुप्तचरों ने आ कर कहा—"कालकुमार चिता में प्रवेश कर भस्म हो चुका है और सेना उलटे पाँव लौट गई है।" यादवों के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्होंने साथ आये हुए कोष्टुकी (भविष्यवेत्ता) का बहुत आदर-सम्मान किया और सन्ध्या समय एक वन में पड़ाव किया। वहाँ 'अतिमुक्त' नामक चारणमुनि आये। दशार्हराज समुद्रविजयजी आदि ने महातमा को वन्दन-नमस्कार किया और विनय-

पूर्वक पूछा--"भगवन् ! इस विपत्ति का अन्त कब होगा ?" महात्मा ने कहा--

"निर्भय रहो। तुम्हारा पुत्र अरिष्टनेमि त्रिलोक-पूज्य बाईसवाँ तीर्थङ्कर होगा और राम-कृष्ण, बलदेव-वासुदेव होंगे। ये देव-निर्मित द्वारिका नगरी बसा कर रहेंगे और जरासंध को मार कर अर्ध-भरत क्षेत्र के स्वामी होंगे।"

महात्मा की भविष्यवाणी से समुद्रविजयजी आदि अत्यंत हर्षित हुए। महात्मा प्रस्थान कर गए और यादव-संघ भी चलता हुआ सौराष्ट्र देश में रैवतक (गिरनार) गिरि की वायव्य-दिशा की ओर पड़ाव डाल कर ठहरा। यहाँ कृष्ण की रानी सत्यभामा के पुत्र-युगल का जन्म हुआ। इनकी कांति शुद्ध स्वर्ण के समान थी। इनके नाम-भानु और भामर दिये गए।

ज्योतिषी के निर्देशानुसार लवणाधिष्ठित सुस्थित देव की आराधना करने के लिए कृष्ण ने तेला किया। तेले के पूर के दिन सुस्थित देव उपस्थित हुआ और आकाश में रहा हुआ कृष्ण से आदरपूर्वक पूछा--"कहिये, क्या सेवा करूँ ?" कृष्ण ने कहा--

"हे देव ! पूर्व के वासुदेव की जो द्वारिका नगरी थी, वह तो जल-मग्न हो गई। अब मेरे लिए नगर बसाने का कोई योग्य स्थान बताओ।'

देव ने स्थान बताया और कृष्ण को पंचजन्य शंख, बलदेव को सुघोष नामक शंख, दिव्य रत्नमाला और वस्त्र प्रदान कर चला गया। देव ने इन्द्र के सामने उपस्थित होकर कृष्ण सम्बन्धी निवेदन किया। इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी नगरी का निर्माण किया। वह नगरी स्वर्ण के प्रकोट से सुरक्षित बनी। प्रकोट के कंगुरे विविध प्रकार की मणियों से सुशोभित थे। उसमें सभी प्रकार की सुख-सुविधा थी। विशाल भवन, अन्तःपुर, आमोद-प्रमोद और खेल-कुद के स्थान, बाजार, हाटें, दुकानें, सभागृह, नाट्यगृह, अखाड़े, अश्वशाला, गजशाला, रथशाला, शस्त्रागार, और जलाशय आदि सभी प्रकार की सुन्दरतम व्यवस्था उस नगरी में निर्मित्त की गई। वन, उद्यान, बाग-बगीचे, पुष्करणियें आदि से नगरी का बाह्य भाग भी सुशोभित किया गया। यह नगरी इस पृथ्वी पर इन्द्रपुरी के समान अलौकिक एवं आल्हादकारी थी। देव ने एक ही रात्रि में इसका निर्माण किया था। इसकी पूर्व-दिशा में रैवतगिरि, दक्षिण में माल्यवान् पर्वत, पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।

प्रातःकाल होते ही देव, कृष्ण के समीप उपस्थित हुआ और दो पिताम्बर, नक्षत्र-माला, हार, मुकुट, कौस्तुभ महामणि, शार्ङ्ग धनुष, अक्षयबाणों से भरे हुए तूणीर, नन्दक खड्ग, कौमुदी गदा और गरूड़-ध्वज रथ भेंट में दिये और बलराम को वनमाला, मूसल,

दो नीलवस्त्र, तालध्वज-रथ, अक्षय बाणों से भरे तूणीर, धनुप और हल दिए और दशार्ह को रत्नाभरण दिए।

कृष्ण को शत्रुजीत जान कर यादवों ने समुद्र के किनारे उनका राज्याभिषेक किया। इसके बाद बलराम, सिद्धार्थ-सारथि चालित रथ पर और कृष्ण, दारुक सारथि वाले रथ पर आरूढ़ हुए। दशार्ह आदि भी नक्षत्र-गण के समान वाहनारूढ़ हो कर चले। सभी यादवों ने जयघोष करते हुए द्वारिका में प्रवेश किया। कुबेर के निर्देशानुसार, कृष्ण की आज्ञा से सभी को अपने-अपने आवास बता कर निवास कराया गया। देव ने द्वारिका पर स्वर्ण, रत्न, धन, वस्त्र और धान्यादि की प्रचुर वर्षा की, जिससे सभी जन समृद्ध हो गए।

रुक्मिणी-विवाह

कृष्ण-वासुदेव सुखपूर्वक द्वारिका में रहने लगे और श्री समुद्रपालजी आदि दशार्ह के निर्देशानुसार शासन का संचालन करने लगे। द्रव्य-तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमिजी भी सुखपूर्वक बढ़ने लगे। श्री राम-कृष्ण आदि बन्धु, श्री अरिष्टनेमिजी से बड़े थे, फिर भी वे श्री अरिष्टनेमिजी के साथ बराबरी जैसा व्यवहार करते हुए खेलते, क्रीड़ा करते और उद्यान आदि में विचरण करते थे। भगवान् अरिष्टनेमिजी यौवनवय को प्राप्त हुए, किन्तु ये जन्म से ही कामविजयी थे। काम-भोग के उत्कृष्ट साधनों के होते हुए भी इन का मन अविकारी रहता था। उनके माता-पिता और राम-कृष्णादि बन्धुगण, उनसे विवाह करने का आग्रह करते, किंतु वे स्वीकार नहीं करते थे। इधर राम-कृष्ण के पराक्रम से बहुत-से राजा इनके वश में हो गए। दोनों बन्धु शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के समान प्रजा का पालन करते थे।

एकबार नारदजी घूमते-घामते द्वारिका की राज-सभा में आये। राम-कृष्ण ने उनका आदर-सत्कार किया। नारदजी राजसभा से निकल कर अन्तःपुर में आये। वहाँ भी रानियों ने बहुत आदर-सत्कार किया। वे रानी सत्यभामा के भवन में गए। उस समय सत्यभामा शृंगार कर रही थी। वह दर्पण के सामने खड़ी रह कर बाल संवार रही थी। शृंगार में व्यस्त रहने के कारण वह नारदजी का आदर-सत्कार नहीं कर सकी। अपना अनादर देख कर नारदजी क्रोधित हुए और उलटे पाँव लौटते हुए सोचने लगे—"सत्यभामा अपने रूप-सौंदर्य के गर्व में विवेकहीन हो गई है। अब इससे भी अधिक

पूर्वक पूछा--"भगवन् ! इस विपत्ति का अन्त कब होगा ?" महात्मा ने कहा--

"निर्भय रहो। तुम्हारा पुत्र अरिष्टनेमि त्रिलोक-पूज्य बाईसवाँ तीर्थङ्कर होगा और राम-कृष्ण, बलदेव-वासुदेव होंगे। ये देव-निर्मित द्वारिका नगरी बसा कर रहेंगे और जरासंध को मार कर अर्ध-भरत क्षेत्र के स्वामी होंगे।"

महात्मा की भविष्यवाणी से समुद्रविजयजी आदि अत्यंत हर्षित हुए। महात्मा प्रस्थान कर गए और यादव-संघ भी चलता हुआ सौराष्ट्र देश में रैवतक (गिरनार) गिरि की वायव्य-दिशा की ओर पड़ाव डाल कर ठहरा। यहाँ कृष्ण की रानी सत्यभामा के पुत्र-युगल का जन्म हुआ। इनकी कांति शुद्ध स्वर्ण के समान थी। इनके नाम-भानु और भामर दिये गए।

ज्योतिषी के निर्देशानुसार लवणाधिष्ठित सुस्थित देव की आराधना करने के लिए कृष्ण ने तेला किया। तेले के पूर के दिन सुस्थित देव उपस्थित हुआ और आकाश में रहा हुआ कृष्ण से आदरपूर्वक पूछा--"कहिये, क्या सेवा करूँ ?" कृष्ण ने कहा--

"हे देव ! पूर्व के वासुदेव की जो द्वारिका नगरी थी, वह तो जल-मग्न हो गई। अब मेरे लिए नगर बसाने का कोई योग्य स्थान बताओ।'

देव ने स्थान बताया और कृष्ण को पंचजन्य शंख, बलदेव को सुघोष नामक शंख, दिव्य-रत्नमाला और वस्त्र प्रदान कर चला गया। देव ने इन्द्र के सामने उपस्थित होकर कृष्ण सम्बन्धी निवेदन किया। इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी नगरी का निर्माण किया। वह नगरी स्वर्ण के प्रकोट से सुरक्षित बनी। प्रकोट के कंगुरे विविध प्रकार की मणियों से सुशोभित थे। उसमें सभी प्रकार की सुख-सुविधा थी। विशाल भवन, अन्तःपुर, आमोद-प्रमोद और खेल-कूद के स्थान, बाजार, हाटें, दुकानें, सभागृह, नाट्यगृह, अखाड़े, अश्वशाला, गजशाला, रथशाला, शस्त्रागार, और जलाशय आदि सभी प्रकार की सुन्दरतम व्यवस्था उस नगरी में निर्मित्त की गई। वन, उद्यान, बाग-बगीचे, पुष्करणियें आदि से नगरी का बाह्य भाग भी सुशोभित किया गया। यह नगरी इस पृथ्वी पर इन्द्रपुरी के समान अलौकिक एवं आल्हादकारी थी। देव ने एक ही रात्रि में इसका निर्माण किया था। इसकी पूर्व-दिशा में रैवतगिरि, दक्षिण में माल्यवान् पर्वत, पश्चिम में सौमनस और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।

प्रातःकाल होते ही देव, कृष्ण के समीप उपस्थित हुआ और दो पिताम्बर, नक्षत्र-माला, हार, मुकुट, कौस्तुभ महामणि, शार्ङ्ग धनुष, अक्षयबाणों से भरे हुए तूणीर, नन्दक खड्ग, कौमुदी गदा और गरुड़-ध्वज रथ भेंट में दिये और बलराम को वनमाला, मूसल,

दो नीलवस्त्र, तालध्वज-रथ, अक्षय बाणों से भरे तूणीर, धनुष और हल दिए और दशार्ह को रत्नाभरण दिए।

कृष्ण को शत्रुजीत जान कर यादवों ने समुद्र के किनारे उनका राज्याभिषेक किया। इसके बाद वलराम, सिद्धार्थ-सारथि चालित रथ पर और कृष्ण, दारुक सारथि वाले रथ पर आरूढ़ हुए। दशार्ह आदि भी नक्षत्र-गण के समान वाहनारूढ़ हो कर चले। सभी यादवों ने जयघोष करते हुए द्वारिका में प्रवेश किया। कुवेर के निर्देशानुसार, कृष्ण की आज्ञा से सभी को अपने-अपने आवास बता कर निवास कराया गया। देव ने द्वारिका पर स्वर्ण, रत्न, धन, वस्त्र और धान्यादि की प्रचुर वर्षा की, जिससे सभी जन समृद्ध हो गए।

रुक्मिणी-विवाह

कृष्ण-वासुदेव सुखपूर्वक द्वारिका में रहने लगे और श्री समुद्रपालजी आदि दशार्ह के निर्देशानुसार शासन का संचालन करने लगे। द्रव्य-तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमिजी भी सुखपूर्वक बढ़ने लगे। श्री राम-कृष्ण आदि वन्धु, श्री अरिष्टनेमिजी से बड़े थे, फिर भी वे श्री अरिष्टनेमिजी के साथ बराबरी जैसा व्यवहार करते हुए खेलते, क्रीड़ा करते और उद्यान आदि में विचरण करते थे। भगवान् अरिष्टनेमिजी यौवनवय को प्राप्त हुए, किन्तु ये जन्म से ही कामविजयी थे। काम-भोग के उत्कृष्ट साधनों के होते हुए भी इन का मन अविकारी रहता था। उनके माता-पिता और राम-कृष्णादि वन्धुगण, उनसे विवाह करने का आग्रह करते, किंतु वे स्वीकार नहीं करते थे। इधर राम-कृष्ण के पराक्रम से वहुत-से राजा इनके वश में हो गए। दोनों वन्धु शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के समान प्रजा का पालन करते थे।

एकवार नारदजी घूमते-घामते द्वारिका की राज-सभा में आये। राम-कृष्ण ने उनका आदर-सत्कार किया। नारदजी राजसभा से निकल कर अन्तःपुर में आये। वहाँ भी रानियों ने वहुत आदर-सत्कार किया। वे रानी सत्यभामा के भवन में गए। उस समय सत्यभामा शृंगार कर रही थी। वह दर्पण के सामने खड़ी रह कर वाल संवार रही थी। शृंगार में व्यस्त रहने के कारण वह नारदजी का आदर-सत्कार नहीं कर सकी। अपना अनादर देख कर नारदजी क्रोधित हुए और उल्टे पाँव लौटते हुए सोचने लगे— "सत्यभामा अपने रूप-सौंदर्य के गर्व में विवेकहीन हो गई है। अब इससे भी अधिक

त्रिखण्डाधिपति कृष्ण की पटरानी होगी।" महात्मा की बात सुन कर मैंने उनसे पूछा था कि--'हम कृष्ण को कैसे पहिचानेंगे ?" महात्माजी ने कहा --"जो समुद्र के किनारे द्वारिका नगरी बसा कर अपना राज्य स्थापित करे, वही कृष्ण होगा।" परंतु आज कृष्ण की माँग को तुम्हारे भाई ने अपमानपूर्वक ठुकरा दिया और दमघोष राजा के पुत्र शिशु-पाल को तुम्हें देने की इच्छा प्रकट की। यह ठीक नहीं हुआ।"

रुक्मिणी यह बात सुन कर खिन्न हो गई। कुछ काल चिन्ता-मग्न रहने के बाद पूछा--

"क्या महात्मा के वचन भी निष्फल होते हैं ?"

—"नहीं, जिस प्रकार प्रातःकाल में हुई घन-गर्जना निष्फल नहीं जाती, उसी प्रकार महात्मा के वचन भी निष्फल नहीं होते। किंतु कुछ उपाय तो करना ही होगा।"

बूआ ने गुप्त रूप से एक विश्वस्त दूत द्वारिका भेज कर कृष्ण को सन्देश दिया कि--'मैं माघशुक्ला अष्टमी को नागपूजा के मिस से रुक्मिणी को लेकर नगर के बाहर उद्यान में आऊँगी। हे महाभाग ! यदि आपको रुक्मिणी प्रिय हो, तो उस समय वहाँ आ कर उसे ग्रहण कर लें। अन्यथा शिशुपाल उसे ले जाएगा।"

उधर राजकुमार रुक्मि ने शिशुपाल को अपनी बहिन ब्याहने के लिए बुलाया। शिशुपाल बरात ले कर, रुक्मिणी से लग्न करने के लिए जाने की तैयारी करने लगा। नारदजी, शिशुपाल के पास पहुँचे और पूछा --"यह हलचल और तैयारी क्यों हो रही है ? क्या किसी शत्रु पर चढ़ाई हो रही है ?"

"नहीं महात्मन् ! कुण्डनपुर बरात जा रही है। राजकुमारी रुक्मिणी के साथ मेरा लग्न होगा।'

नारदजी आँखें मूँद कर स्तब्ध रहे और फिर पलकें उठा कर मस्तक हिलाया। शिशुपाल ने नारदजी को सिर हिलाते देख कर पूछा--

"क्यों, क्या बात है ? आपने मस्तक क्यों हिलाया ?

"मुझे इस कार्य में कुछ विघ्न उत्पन्न होता दिखाई दे रहा है। सोच-समझ कर कार्य करो।'

शिशुपाल बोला—"मैं विघ्न से नहीं डरता। यदि कोई बाधा उत्पन्न होगी, तो उसी समय उसका प्रतिकार किया जायगा।"

शिशुपाल ने बड़ी भारी सेना के साथ प्रयाण किया। कलह-प्रिय नारदजी द्वारिका पहुँचे। उन्होंने कृष्ण से कहा—"रुक्मिणी को ब्याहने के लिए शिशुपाल, कुण्डिनपुर

कृष्ण ने रुक्मिणी के भवन में अन्य सभी का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। एकदिन सत्यभामा ने कहा--"आपकी नई रानी को हमें नहीं दिखाएँगे ?" कृष्ण ने कहा—"अवश्य दिखाऊँगा।" उन्होंने नीलोद्यान स्थित श्रीदेवी के मन्दिर में से, गुप्त रूप से देवी की प्रतिमा हटा दी और निपुण कलाकारों से श्रीदेवी का चित्रपट तैयार करवा कर लगाया। इसके बाद उन्होंने रुक्मिणी को चित्रपट के पीछे बिठा कर कहा--'यहाँ मेरी अन्य रानियें आएगी, उस समय तुम मौन एवं निश्चल रहना।" इसके बाद कृष्ण, सत्यभामा के भवन में गए। पति को देखते ही सत्यभामा ने कहा--

"आपकी नयी प्राणवल्लभा को कब तक छुपाये रखेंगे ? क्या हमारी नजर लगने का डर है--आपको ?"

"आपसे कैसा छुपाना ? आप जब चाहें, तब देख सकती हैं, मिल सकती हैं और अपना स्नेहदान कर सकती हैं। आप तो सब में ज्येष्ठ हैं"--कृष्ण ने हँसते हुए व्यंग में कहा।

"ज्येष्ठता और श्रेष्ठता में बहुत अन्तर होता है—स्वामिन्"--सत्यभामा ने हृदयस्थ वेदना व्यक्त की।

"आप ऐसा क्यों सोचती हैं ? आप में ज्येष्ठता और श्रेष्ठता दोनों हैं। आप-से छुपाना कैसा ? चलिये आप सभी चलिये—नीलोद्यान में। वहीं आप उनसे मिलिये। वे भी आपसे मिलने के लिये उत्सुक हैं।"

सत्यभामा अपनी सपत्नियों के साथ उद्यान में गई। श्रीदेवी के मन्दिर में जा कर उन्होंने देवी को प्रणाम किया और प्रार्थना की कि—"हे माता ! कृपा कर मुझे ऐसा रूप दो कि जिससे मैं अपनी नयी सोत से भी श्रेष्ठ लगूँ। यदि ऐसा हुआ, तो मैं आपकी महापूजा करूँगी।"

देवी के दर्शन कर के सभी रानियाँ कृष्ण के समीप आई। सत्यभामा ने पूछा—

"कहाँ है आपकी नई रानी ?" कृष्ण ने कहा—"अरे, आपने नहीं देखी ? वहीं तो है, चलिये मैं मिलाऊँ"—कह कर कृष्ण, उन सभी को मन्दिर में ले गए। उसी समय रुक्मिणी प्रकट हो कर सामने आई और पति से पूछा—"मैं किन महाभागा को प्रणाम करूँ ?" कृष्ण ने सत्यभामा की ओर संकेत किया। तब सत्यभामा बोली—

"अब ये मुझे क्या नमस्कार करेगी। आपकी कृपा से इसने मुझ-से पहले ही अपने चरणों में नमस्कार करवा लिया है। आप भी यही चाहते थे।"

--"अरे, आप छोटा मन क्यों करती हैं ? यह तो आपकी बहिन हैं"--कृष्ण ने

सत्यभामा को सान्त्वना देने के लिए कहा। किंतु सत्यभामा ने अपने को अपमानित माना। वह खेदित हो कर तत्काल वहाँ से लौटी और अपने भवन में चली आई। रुक्मिणी को कृष्ण ने बहुत-से दास-दासी और विपुल धन-सम्पत्ति प्रदान की और उसके साथ भोग-निमग्न रहने लगे।

कृष्ण के जाम्बवती आदि से लग्न

कालान्तर में इधर-उधर घूमते हुए नारदजी द्वारिका आये। कृष्ण ने उनका सत्कार किया और पूछा—"कहिये कोई अद्भुत वस्तु कहीं देखने में आई ?" नारदजी ने कहा—"मैं एक अद्भुत वस्तु देख कर ही आ रहा हूँ। वैताढ्य पर्वत के खेचरेन्द्र जाम्ववन्त की पुत्री जाम्ववती इस युग का स्त्री-रत्न है। ऐसी अनुपम सुन्दरी विश्व में अन्य कोई नहीं हो सकती। जाम्ववती जल-क्रीड़ा करने के लिए प्रतिदिन गंगा नदी पर आती है। मैं उसे तुम्हारे अनुरूप देख कर ही यहाँ आया हूँ।

कृष्ण के मन में चाह उत्पन्न कर नारदजी चल दिये। कृष्ण भी आवश्यक साधन ले कर गंगा तट पर पहुँचे। उन्होंने सखियों के साथ जल-क्रीड़ा करती हुई जाम्ववती को देखा। वास्तव में वह वैसी ही विश्व-सुन्दरी थी, जैसी नारदजी ने बताई थी। उन्होंने उसे उठाया और ले चले अपनी नगरी की ओर। सखियों और संरक्षकों में भयपूर्ण कोलाहल उत्पन्न हुआ। राजा जाम्ववंत और उसका पुत्र विश्वक्सेन तत्काल शस्त्र ले कर आये। अनाधृष्णि— जो कृष्ण के साथ आया था —बीच में ही रोक कर भिड़ गया और कुछ देर लड़ने के बाद उन्हें बाँध कर कृष्ण के पास ले आया। जाम्ववंत ने अपनी पुत्री कृष्ण को दी और स्वयं विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया। कृष्ण, जाम्ववती और उसके भाई को ले कर द्वारिका में आये। जाम्ववती को रुक्मिणी के भवन के पास ही एक भवन दिया और सभी प्रकार की सुख-सामग्री दे कर सुखपूर्वक रहने लगे। जाम्ववती के और रुक्मिणी के परस्पर स्नेह हो गया। वे दोनों सहेलियों के समान रहने लगी।

राजा श्लक्षणरोमा, कृष्ण की आज्ञा नहीं मानता था। उसकी पुत्री लक्ष्मणा भी अपूर्व सुन्दरी थी और वह सेनापति के संरक्षण में समुद्र पर जल-क्रीड़ा करने आई थी। कृष्ण, राम को साथ ले कर समुद्र पर गए और सेनापति को मार कर लक्ष्मणा को ले आए। जाम्ववती के समान लक्ष्मणा से भी गन्धर्व-लग्न किये और जाम्ववती के भवन के निकट उसे भी भव्य भवन दे कर सभी प्रकार की सुविधा कर दी।

कृष्ण के सुसीमा आदि से लग्न

आयुस्खरी नगरी में सौराष्ट्र का राजा राष्ट्रवर्धन राज करता था। नमुचि उसका महा बलवान पुत्र और सुसीमा नाम की रूप-सम्पन्न पुत्री थी। नमुचि अस्त्र-विद्या में सिद्धहस्त था। वह कृष्ण का अनुशासन नहीं मानता था। एकदा वह सुसीमा को साथ लेकर, सेना सहित प्रभास तीर्थ गया और डेरा डाल कर ठहरा। कृष्ण को यह माहिती मिली। वे बलराम को साथ ले कर प्रभास आये और नमुचि को मार कर तथा सेना को छिन्नभिन्न कर के सुसीमा को ले आये। उससे लग्न करके एक पृथक् भवन और सभी प्रकार की सुख-सामग्री प्रदान की। राजा राष्ट्रवर्धन ने सुसीमा के लिए विपुल दहेज और कृष्ण के लिए हाथी आदि भेंट भेजे। इसके बाद कृष्ण ने वीतभय नरेश की पुत्री गौरी के साथ लग्न किये और हिरण्यनाभ राजा की पुत्री पद्मावती के स्वयंवर में राम और कृष्ण, अरिष्टपुर गए। हिरण्यनाभ वसुदेवजी का साला (रोहिणी रानी का भाई) था। उसने अपने भानेज राम-कृष्ण का प्रेमपूर्वक सत्कार किया। राजा हिरण्यनाभ का रैवत नामक ज्येष्ठ बन्धु था, वह भ. नमिनाथ के तीर्थ में अपने पिता के साथ दीक्षित हो गया था। उसके रेवती, रामा, सीता और बन्धुमती पुत्रियाँ थीं। उनका बलरामजी के साथ लग्न किया था। स्वयंवर मण्डप में से कृष्ण ने पद्मावती का हरण किया और जो राजा युद्ध करने को तत्पर हुए, उन्हें जीत कर पद्मावती को प्राप्त की। फिर बलरामजी की पत्नियों को लेकर द्वारिका आये और पूर्व की भाँति पद्मावती को सभी प्रकार की सुख-सम्पत्ति प्रदान कर सुख-पूर्वक रहने लगे।

गांधार देश की पुष्कलावती नगरी में नग्नजित् राजा का पुत्र चारुदत्त राज करता था। नग्नजित की मृत्यु के बाद उसके भाइयों ने चारुदत्त से राज्य छिन लिया। चारुदत्त के गान्धारी नाम की बहिन थी। वह रूप और गुणों की खान थी। चारुदत्त ने महाराजा कृष्ण की शरण ली और उनकी सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर, शत्रुओं को नष्ट कर दिया। चारुदत्त ने अपनी बहिन गान्धारी के लग्न कृष्ण से कर दिये।

इस प्रकार कृष्ण के सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारी —ये आठ पटरानियाँ हुई।

सौतिया-डाह

एकदिन रुक्मिणी के भवन में महात्मा अतिमुक्त कुमार श्रमण पधारे। उन्हें रुक्मिणी के भवन में प्रवेश करते देख कर, महारानी सत्यभामा वहाँ आई। रुक्मिणी ने महात्मा

से पूछा—"मेरे पुत्र होगा ?" महात्मा ने कहा —"तेरे कृष्ण जैसा पराक्रमी पुत्र होगा ।" सत्यभामा वहाँ आ पहुँची । उसने समझा—मुनि ने मेरे पुत्र होने का कहा है।' 'मुनि के लौट जाने के बाद सत्यभामा ने रुक्मिणी से कहा —" मुनि के कथनानुसार मेरे पुत्र होगा । वह अपने पिता जैसा पराक्रमी होगा ।" रुक्मिणी ने कहा—"महात्मा ने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया है । आप अपने लिए माने, तो आपकी इच्छा ।" दोनों अपनी-अपनी बात पर बल देती हुई श्रीकृष्ण के पास आई । उस समय सत्यभामा का भाई दुर्योधन भी वहाँ आया हुआ था । बात-बात में सत्यभामा ने भाई से कहा —'मेरे पुत्र होगा, वह तुम्हारा जामाता होगा ।" रुक्मिणी ने भी ऐसा ही कहा, तब दुर्योधन ने कहा—"तुम दोनों में से जिसके पुत्र होगा, उसे मैं अपनी पुत्री दे दूंगा ।" सत्यभामा ने तमक कर कहा—

"जिसके पुत्र का लग्न पहले हो, उसके विवाह में दूसरी को अपने मस्तक के बाल कटवा कर देने होंगे । हम यह दाँव (शर्त) लगाती हैं । इसमें हमारे पति, ज्येष्ठ और भाई दुर्योधन साक्षी और जामीन रहेंगे ।" दोनों ने इस दाँव को स्वीकार किया ।

कुछ काल बीतने पर रात्रि के समय रुक्मिणी ने स्वप्न देखा । उसने अपने को 'श्वेत वृषभ के ऊपर रहे हुए विमान में बैठी हुई' अनुभव किया । जाग्रत हो कर वह पति के पास आई और स्वप्न सुनाया । कृष्ण ने कहा—"तुम्हारे विश्व में अद्वितीया ऐसा पुत्र होगा ।" स्वप्न की बात, वहाँ सेवा में उपस्थित दासी ने सुनी । दासी ने जा कर सत्यभामा को कह सुनाई । सत्यभामा ने—'मैं पीछे नहीं रह जाऊँ'—इस विचार से उठी और पति के पास पहुँच कर एक मनःकल्पित स्वप्न सुनाया—"मैंने स्वप्न में ऐरावत हाथी देखा है ।" कृष्ण ने सत्यभामा की मुखाकृति देख कर जान लिया कि इसकी बात में तथ्य नहीं है। फिर भी उसे प्रसन्न रखने के लिए कहा—"तुम्हारे एक उत्तम पुत्र का जन्म होगा ।"

आपको भी बधाई है।" सत्यभामा बधाई सुन कर उदास हो गई और तत्काल पलट कर अपने भवन में आई। थोड़ी देर बाद उसने भी पुत्र को जन्म दिया।

कृष्ण, पुत्र-जन्म की बधाई से हर्षित हो कर रुक्मिणी के मन्दिर में आये और बाहर के कक्ष में बैठ कर, पुत्र को देखने के लिए मँगवाया। पुत्र की देह-कांति से दिशाएँ उद्योत युक्त हुई देख कर उन्होंने पुत्र का नाम 'प्रद्युम्न' रखा। वे कुछ देर तक पुत्र को निरख कर स्नेहपूर्वक छाती से लगाये रहे।

प्रद्युम्न का धूमकेतु द्वारा संहरण

प्रद्युम्न का पूर्वभव का वैरी धूमकेतु नामक देव, अपने शत्रु से बदला लेने के लिए, रुक्मिणी का रूप धर कर, कृष्ण के सामने आया और उनसे बालक को ले कर वैताढ्य-गिरि पहुँचा। पहले तो उसने बालक को पछाड़ कर मार डालने का विचार किया, किन्तु बाद में बाल-हत्या के पाप से बचने के लिए, वह एक पत्थर की शिला पर रख कर चल दिया। उसने सोचा—'भूख-प्यास से यह अपने-आप ही मर जायगा।'

धूमकेतु के लौट जाने के बाद बालक हिला, तो शिला से नीचे गिर पड़ा। नीचे सूखे हुए पत्तों का ढेर था, इसलिए उसे चोट नहीं लगी। चरम-शरीरी एवं निरुपक्रम आयु वाले जीव को कोई अकाल में नहीं मार सकता। कुछ समय बाद 'कालसंवर' नामक विद्याधर उधर से निकला। उस स्थान पर आते ही उसका विमान रुका। नीचे उतर कर उसने बालक को उठाया और राजभवन में ला कर पत्नी को दिया। फिर रानी के गूढ़-गर्भ से पुत्र-जन्म की बात राज्य में चला कर जन्मोत्सव करने लगा।

कुछ समय बाद रुक्मिणी ने पुत्र को मँगवाया, तो कृष्ण ने कहा—"तुम खुद अभी मुझ-से ले गई हो। वह तुम्हारे पास ही है।" जब बालक नहीं मिला, तो कृष्ण समझ गए कि किसी के द्वारा मैं छला गया हूँ। पुत्र-हरण के आघात ने रुक्मिणी को मूर्च्छित कर दिया। सत्यभामा को छोड़ कर शेष सभी रानियों, यादव-परिवार के सदस्यों और सेवकों में शोक एवं विषाद व्याप्त हो गया। कृष्ण ने बालक का पता लगाने के लिए चारों ओर सेवकों को भेजा, परंतु कहीं पता नहीं लगा। रुक्मिणी की मूर्च्छा दूर होने पर उसने पति से कहा—"आप जैसे समर्थ पुरुष के पुत्र का भी पता नहीं लगे, तो दूसरे समान्य व्यक्ति की सुरक्षा कैसे हो ?" कृष्ण और यादव-परिवार हताश हो कर चिन्तामग्न

रहने लगे। इतने में नारदजी आ पहुँचे। उन्हें देख कर कृष्ण को प्रसन्नता हुई उन्होंने उनका वहुत आदर-सत्कार किया और अपने पुत्र-हरण की वात कर के उपाय पूछा। नारदजी सोच कर वोले—

"महात्मा अतिमुक्त मुनि की मुक्ति हो गई, अन्यथा उनसे पूछते। अब कोई वैसा ज्ञानी भारत में नहीं रहा। मैं पूर्व-महाविदेह जा कर भ. सीमन्धर स्वामी से पूछूँगा और आप-से कहूँगा। आप निश्चत रहें।"

कृष्ण और अन्य स्वजनों ने नारदजी को अत्यंत आदर के साथ विदा किया। वे वहाँ से उड़ कर महाविदेह आये, भ. सीमन्धर स्वामी को वन्दना की और पूछा— "भगवन्! कृष्ण का वालक कहाँ है?" प्रभु ने कहा —

"वालक के पूर्वभव के वैरी धूमकेतु देव ने वालक का छलपूर्वक हरण किया है। अव वह वालक कालसंवर विद्याधर के यहाँ सुखपूर्वक है।"

प्रद्युम्नकुमार और धूमकेतू के पूर्वभव का वृत्तांत

भगवान् सीमन्धर प्रभु ने कहा; —

इसी भरत-क्षेत्र के मगध-देश में शालिग्राम नाम का एक ऐश्वर्य पूर्ण ग्राम है। उसके मनोरम उद्यान का स्वामी सुमन नामक यक्ष था। उस ग्राम में सोमदेव नामक ब्राह्मण रहता था। उसके अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो पुत्र थे। वे कुशल वेदज्ञ ब्राह्मण-पुत्र यौवन के आवेग में मदोन्मत्त हो कर भोगासक्त रहते थे। आचार्य श्री नन्दी-वर्द्धन स्वामी मनोरम उद्यान में पधारे। लोग उन महात्मा के धर्मोपदेश से लाभान्वित हो रहे थे। किसी समय वे दोनों वेदज्ञ युवक गर्विष्ट हो, आचार्य के समीप आये और वोले,—

"कुछ पढ़े-लिखे हो, या यों ही डपोरशंख हो? यदि शास्त्र जानते हो, तो शास्त्रार्थ के लिए तत्पर हो जाओ।"

"तुम कहाँ से आये हो"—आचार्य के सत्यव्रत नामक शिष्य ने पूछा।

"इन पास वाले शालिग्राम गांव से।"

"अरे भाई! मनुष्यभव में किस भव से आये हो?"

"हम नहीं जानते कि पूर्वभव में हम कौन थे।"

"सुनो, तुम पूर्वभव में जम्बुक थे और इसी ग्राम की वनस्थली में रहते थे। एक कृषक ने अपने खेत में चमड़े की रस्सी रख छोड़ी थी। रात्रि में वर्षा होने से वह भींज कर नरम बन गई। तुमने वह चर्मरज्जु खा ली। उसके उग्र विकार से मर कर तुम सोमदेव के पुत्र हुए। वह कृषक मर कर अपनी पुत्रवधू के उदर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने अपने ज्ञान से जाना कि मेरी पुत्र-वधू ही मेरी माता बन गई और मेरा पुत्र ही मेरा पिता हो गया है। 'अब मैं इन्हें किस सम्बोधन से पुकारूँ ?' —इस विचार से उसने मौन रहना ही पसंद किया, जो अब तक मौन ही है। यदि तुम्हें मेरी बात में विश्वास नहीं है, तो जाओ और उस किसान से पूछो। वह स्वयं बोल कर अपना वृत्तांत सुना देगा।"

दोनों भाई और उपस्थित लोग, उस किसान के घर गए और उस गूंगे कृषक को मुनिराज के पास ले आये। महात्मा ने उससे कहा, —

"तुम अपने पूर्वभव का वृत्तांत कहो। लज्जित क्यों होते हो ? कर्म के वशीभूत हो कर जीव, पिता से पुत्र और पुत्र से पिता होना असंभव नहीं है। संसार-चक्र में जीवों के ऐसा होता ही रहता है, अनादि से होता आया है।"

इतना कहने पर भी कृषक नहीं बोला, तो मुनिश्री ने उसका पूर्वभव सुनाया। सत्य वर्णन सुन कर कृषक प्रसन्न हुआ और मौन छोड़ कर मुनिजी को वन्दन-नमस्कार किया और अपना पूर्वभव कह सुनाया। कृषक की बात और मुनिराज का उपदेश सुन कर उपस्थित लोगों में से कई विरक्त हो कर सर्वविरत बने और कई ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। कृषक भी धर्म के संमुख हुआ। किन्तु अग्निभूति और वायुभूति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। वे लोगों के द्वारा उपहास्य के पात्र बने। उनकी द्वेषाग्नि भड़की। वे अपमानित हो कर लौट गए और रात के अन्धेरे में, मुनिराज को मारने के लिए खड्ग ले कर आये। सुमन यक्ष ने उन्हें स्तंभित कर दिया। प्रातःकाल जब लोगों ने उन्हें इस स्थिति में देखा तो उनकी सभी ने भर्त्सना की। उनके माता-पिता और परिवार रोने और आक्रन्द करने लगा। उस समय यक्ष ने प्रकट हो कर कहा —"ये पापी, रात को मुनिराज को मारने के लिये आये थे इसलिए मैंने इन्हें यहाँ स्तंभित कर दिया। अब ये इन महात्मा से क्षमा माँग कर शिष्यत्व स्वीकार करें, तो इन्हें मुक्त किया जा सकता है। अन्यथा ये अपने कुकृत्य का फल भोगते रहें।" यक्ष की बात सुन कर वे दोनों भाई बोले—

"हमसे श्रमण-धर्म का पालन नहीं हो सकता। हम श्रावकधर्म का पालन करेंगे।"

यक्ष ने उन्हें छोड़ दिया। वे दोनों श्रावकधर्म का यथाविधि पालन करने लगे,

परंतु उनके माता-पिता को यह रुचिकर नहीं हुआ। वे अपने आचार-विचार में पूर्ववत् स्थिर रहे।

अग्निभूति और वायुभूति मर कर सौधर्म देवलोक में छह पल्योपम की आयु वाले देव हुए। वहाँ की आयु पूर्ण कर के हस्तिनापुर में अर्हद्दास व्यापारी के पुत्र —पूर्णभद्र और माणिभद्र हुए और पूर्व परिचित श्रावकधर्म का पालन करने लगे। कालान्तर में सेठ अर्हद्दास, महात्मा महेन्द्रमुनि के पास दीक्षित हो गए। पूर्णभद्र और माणिभद्र, मुनियों की वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक चाण्डाल और एक कुतिया, साथ ही दिखाई दी। उन दोनों जीवों को देख कर, दोनों बन्धुओं के मन में प्रीति उत्पन्न हुई। उन्होंने महर्षि के समीप पहुँच कर वन्दना की और पूछा —

"भगवन्! मार्ग में चाण्डाल और कुतिया को देख कर हमारे मन में उनके लिए स्नेह क्यों उत्पन्न हुआ ?"

महात्मा ने कहा—"वह चाण्डाल तुम्हारे पूर्वभव का पिता और कुतिया माता थी। तुम्हारा पिता सोमदेव मृत्यु पा कर शंखपुर का राजा हुआ। वह पर-स्त्री लम्पट था। तुम्हारी माता उसी नगर में सोमभूति ब्राह्मण की रुक्मिणी नामकी सुन्दर पत्नी थी। एकबार वह राजा की दृष्टि में आ गई। राजा उस पर आसक्त हो गया। उसने सोमभूति पर अपराध मढ़ कर बन्दी बना लिया और उसकी पत्नी को अपने अन्तःपुर में मँगवा

कुतिया शंखपुर में सुदर्शना नाम की राजकुमारी हुई। कालान्तर में महर्षि महेन्द्र मुनि विचरते हुए वहाँ आये, तब उन दोनों भाइयों ने उस चाण्डाल और कुतिया के विषय में प्रश्न पूछा। महात्मा ने उन दोनों की सद्गति बतलाई। वे श्रेष्ठिपुत्र, शंखपुर गए और राजकुमारी सुदर्शना को प्रतिबोध दिया। सुदर्शना संसार से विरक्त हो कर प्रव्रजित हुई और संयम पाल कर देवलोक में गई। पूर्णभद्र और माणिभद्र भी श्रावक-धर्म का पालन कर सौधर्म कल्प में इन्द्र के सामानिक देव हुए। वहाँ का आयु पूर्ण कर के हस्तिनापुर के नरेश विश्वक्सेन के 'मधु' और 'कैटभ' नामक पुत्र हुए। वह नन्दीश्वर देव, भवभ्रमण करता हुआ वटपुर नगर में कनकप्रभ राजा की चन्द्राभा रानी हुई। राजा विश्वक्सेन ने मधु का राज्याभिषेक किया और कैटभ को युवराज पद दे कर प्रव्रजित हो गया। कालान्तर में मृत्यु पा कर ब्रह्मदेवलोक में ऋद्धि-सम्पन्न देव हुआ।

मधु और कैटभ ने राज्य का बहुत विस्तार किया। कई राजाओं को उन्होंने अपने अधीन कर लिया था, किंतु भीम नाम का पल्लिपति उनके राज्य में उपद्रव करता रहा। उसको नष्ट करने के लिए राजा मधु, सेना ले कर चला। मार्ग में वटपुर के राजा कनकप्रभ ने राजा मधु का स्वागत किया। भोजनादि के समय राजा की चन्द्राभा रानी भी सम्मिलित थी। रानी को देख कर मधु मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया। किंतु मन्त्री के समझाने से वह मान गया। पल्लिपति को जीत कर लौटते हुए मधु ने बलपूर्वक रानी चन्द्राभा का ग्रहण कर लिया और अपने साथ ले आया। असहाय कनकप्रभ हताश हो गया और विक्षिप्त हो कर उन्मत्त के समान भटकने लगा।

एकसमय राजा मधु को राजसभा में बहुत देर लग गई। जब वह चन्द्राभा के भवन में पहुँचा, तो रानी ने विलम्ब का कारण पूछा। मधु ने कहा—"एक विषय का निर्णय करने में विलम्ब हो गया।"

"ऐसा जटिल विषय क्या था"—रानी ने पूछा।

"व्यभिचार का अभियोग था—" राजा ने कहा।

"व्यभिचारी को आपने निर्दोष ठहरा कर सम्मानपूर्वक मुक्त कर दिया होगा"—रानी ने पूछा।

"नहीं, कठोर दण्ड दिया है उसे। नीति और सदाचार की रक्षा के लिए ऐसे अपराधियों को विशेष दण्ड दिया जाता है"—राजा ने कहा।

"आपका यह न्याय दूसरों के लिए ही है। आप के लिए किसी न्याय, नीति और

राजा, रानी का व्यंग समझ गया और लज्जित हो कर नीची दृष्टि कर ली। रानी ने कहा—

"जो स्वयं दुराचार का सेवन करता हो, उसे न्याय करने का क्या अधिकार है? राजा तो आदर्श होना चाहिए। राजा का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है। कदाचित् उस अपराधी ने आपका अनुकरण किया होगा?"

राजा बहुत लज्जित हुआ। उसी समय विक्षिप्त कनकप्रभः मधु को गालियाँ देता हुआ उधर आ निकला। चन्द्राभा ने अपने पति की दुर्दशा बताते हुए मधु से कहा—

"देख लीजिए। आपके दुराचार से मेरे पति की क्या दुर्दशा हुई। इसके सुखी जीवन को आपने दुःखी बना दिया, और सारा जीवन ही नष्ट कर दिया। यह कितना भला और सुशील पति था। शक्ति के ऐसे दुरुपयोग का भावी परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

मधु को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह संसार से विरक्त हो गया और 'धुंधु' नामक पुत्र को राज्य दे कर महात्मा विमलवाहन के पास दीक्षा ले ली। उसका भाई युवराज कैटभ भी प्रव्रजित हो गया। वे बहुत लम्बे काल तक ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना करते हुए आयु पूर्ण कर महाशुक्र देवलोक में महर्द्धिक देव हुए। कनकप्रभः भी अपना लम्बा जीवन, वैर और द्वेष में ही गँवा कर ज्योतिषी का धूमकेतु देव हुआ। उसने अपने वैरी की खोज की, परंतु वह उसकी अवधी के बाहर होने से दिखाई नहीं दिया। वह वहां से मर कर मनुष्य हुआ और बालतप कर के वैमानिक देव हुआ। उसने फिर अपने शत्रु की खोज की, किंतु फिर भी वह उसे नहीं पा सका। वह संसार परिभ्रमण करता हुआ पुनः धूमकेतु देव हुआ। वहाँ उसने अपने वैरी को कृष्ण की गोद में देखा और कोपानल में जलता हुआ हरण कर गया। प्रद्युम्न चरम-शरीरी और पुण्यवान् है। इसलिए वह उसे मार नहीं सका। अब वह कालसंवर विद्याधर के यहाँ सुखपूर्वक पल रहा है। रुक्मिणी से उसका मिलना सोलह वर्ष के बाद होगा।

रुक्मिणी के पूर्व-भव

सर्वज्ञ भगवान् से प्रद्युम्न और धूमकेतु के पूर्वभव का चरित्र और वैरोदय का वर्णन सुन कर नारद ने रुक्मिणी के पुत्र-वियोग का कारण पूछा। भगवान् ने कहा;—

थी। एकदा उसने उपवन में मयूरी का अण्डा देखा और अपने कुंकुम-लिप्त हाथ में ले कर पुनः रख दिया। जब मयूरी आई और उसने अण्डे के वर्ण-गन्धादि परिवर्तित देखे, तो शंकित हो गई और अण्डे से दूर रही। अण्डा बिना सेये सोलह घड़ी तक रहा। फिर वर्षा होने से अण्डे पर लगा हुआ कुंकुम और उसकी गन्ध धुल कर पुनः वास्तविक दशा प्रकट हो गई। इसके बाद मयूरी ने अण्डा सेया और उसमें से बच्चा निकला। कालान्तर में लक्ष्मीवती फिर उस उपवन में गई और मयूर के सुन्दर बच्चे पर मोहित हो कर पकड़ लाई। बिचारी मयूरी रोती कलपती रही, पर लक्ष्मीवती ने उसके दुःख की उपेक्षा कर दी। अब वह उस बच्चे को एक सुन्दर पींजरे में रख कर खिलाने-पिलाने और सुखपूर्वक रखने तथा नृत्य सिखाने लगी। उधर मयूरी को पुत्र-वियोग का दुःख बढ़ता रहा। वह सदैव अपने बच्चे को खोजने के लिए चिल्लाती हुई उस उपवन में भटकने लगी। ग्रामवासियों से मयूरी की दशा नहीं देखी गई, तो किसी ने लक्ष्मीवती से मयूरी के दुःख की बात कही। लक्ष्मीवती का हृदय पसीजा। उसने बच्चे को ले जा कर उसकी माँ के पास छोड़ दिया। बच्चे को माता का विरह सोलह मास रहा। प्रमाद के वशीभूत हो कर लक्ष्मीवती ने, पुत्र-विरह का सोलह वर्ष की स्थिति का, असातावेदनीय कर्म उपार्जन कर लिया।

एकबार लक्ष्मीवती अपना विभूषित रूप, दर्पण में तल्लीनतापूर्वक देख रही थी। उस समय समाधिगुप्त नामक तपस्वी संत भिक्षा के लिए उसके घर में आए। सोमदेव कार्यवश बाहर जा रहा था। उसने पत्नी से कहा--'इन तपस्वी मुनि को भिक्षा दे दे।' लक्ष्मीवती ने तपस्वी को देख कर घृणापूर्वक थूक दिया और गालियाँ देती हुई उन्हें घर से बाहर निकाल कर द्वार बन्द कर दिया। तपस्वी संत की तीव्र जुगुप्सा के पाप-कर्म से उसे सातवें दिन कोढ़ का रोग हो गया, जिसे वह सहन नहीं कर सकी और अग्नि में जल कर मर गई। मनुष्य-देह छोड़ कर वह उसी गाँव में एक धोबी के यहाँ गधी के रूप में उत्पन्न हुई। गधी मर कर उसी गाँव में डुक्करी (भंडुरी) हुई। फिर कुतिया हुई और दावानल में जली। उस समय मन में कुछ शुभ भाव उत्पन्न हुआ, जिससे मनुष्यायु का बन्ध किया और मर कर नर्मदा नदी के पास भृगुकच्छ नगर में मच्छीमार की 'काणा' नामकी पुत्री हुई। वह दुर्भागिनी थी। उसकी देह से दुर्गन्ध निकलती थी। असह्य दुर्गन्ध से त्रस्त हो कर उसके माता-पिता ने उसे नर्मदा के किनारे रख किया। वय प्राप्त होने पर वह नदी पार जाने-आने वालों को नौका से पहुँचाने लगी। दैवयोग से समाधिगुप्त मुनि, नदी के उसी तट पर आ कर ध्यानस्थ रहे। शीतकाल था, और सर्दी का जोर था। काणा ने मुनि को देखा और विचार करने लगी--"ये महात्मा इस असह्य सर्दी को कैसे सहन कर

सकेंगे ?" उसके हृदय में दया उमड़ी। उसने वहाँ पड़ी हुई घास उठा कर, मुनि को ठीक प्रकार से ढक दिया। प्रातःकाल होने पर वह महात्मा के निकट आई और प्रणाम किया। मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनते-सुनते काणा के मन में विचार हुआ—'मैंने इन महात्मा को कहीं देखा है।' किन्तु उसे स्मृति नहीं हुई। उसने महात्मा से कहा—"मैंने आपको पहले देखा अवश्य है, परन्तु अभी याद नहीं आ रहा है।" मुनिजी ने ज्ञानोपयोग से उसके पूर्वभवों को जान कर लक्ष्मीवती के भव की घटना और बाद के भव कह सुनाये। महात्मा से अपने पूर्वभव का वर्णन सुनते और चिन्तन करते काणा को जातिस्मरण हो आया। अपने पूर्वभव में महात्मा की की हुई भर्त्सना की उसने क्षमा याचना की और परम श्राविका बन गई। फिर महासतीजी का योग पा कर वह उन्हीं के साथ विचरने लगी। चलते-चलते वह एक ग्राम में 'नायल' नाम के श्रावक के आश्रय में रह कर एकान्तर तप करने लगी। बारह वर्ष तक तपपूर्वक श्राविका-पर्याय पाली और अनशन करके इशान देवलोक में देवी हुई ×। वहाँ का आयु पूर्ण करके वह रुक्मिणी हुई है।"

इस प्रकार भ. सीमन्धर स्वामी से रुक्मिणी का पूर्वभव सुन कर नारदजी ने भगवान् की वन्दना की और वहाँ से चल कर वैताढ्यगिरि के मेघकूट नगर आये। उन्होंने विद्याधरराज संवर से कहा—"तुम्हें पुत्र प्राप्ति हुई, यह अच्छा हुआ।" संवर राजा ने नारद का बहुत सम्मान किया और प्रद्युम्न को ला कर दिखाया। नारद ने देखा कि वह बालक, रुक्मिणी के अनुरूप है। वहाँ से चल कर वे द्वारिका आये और कृष्ण आदि को प्रद्युम्न तथा अपनी खोज सम्बन्धी पूरा वृत्तान्त सुनाया। रुक्मिणी को उन्होंने उसके पूर्व के लक्ष्मीवती आदि भवों का वर्णन सुनाया। अपने पूर्वभवों का वृत्तांत सुन कर रुक्मिणी ने वहाँ रहे हुए ही भगवान की वन्दना की। सोलह वर्ष के पश्चात् पुत्र का मिलन होगा,—इस भविष्यवाणी से उसे इतना संतोष हुआ कि पुत्र जीवित है और सोलह वर्ष बाद उसे अवश्य मिलेगा।

पाण्डवों की उत्पत्ति

भगवान् आदिनाथ स्वामी के 'कुरु' नाम का पुत्र था। इस कुरु के नाम से ही

× 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' में 'अच्युतेन्द्र की इन्द्राणी' होना और आयु 'पचपन पल्योपम' बतलाया है। यह सिद्धांत के विरुद्ध है। क्योंकि ईशानेन्द्र तक ही देवांगना होती है। अच्युत कल्प में नहीं होती, तथा इन्द्रानी की आयु भी नौ पल्योपम से अधिक नहीं होती। पचपन पल्योपम उत्कृष्ट आयु ईशान कल्प की अपरिग्रहिता देवी की होती है।

कुरुक्षेत्र विख्यात है। कुरु का पुत्र हस्ति हुआ। हस्तिनापुर नगर उसका वसाया हुआ है। हस्ति के अनन्तवीर्य नाम का पुत्र हुआ। इसका पुत्र कृतवीर्य और कृतवीर्य का पुत्र सुभूम चक्रवर्ती सम्राट हुआ। इसके वाद असंख्य राजा हुए। इसी वंश-परंपरा में शान्तनु नाम का राजा हुआ। इसके गंगा और सत्यव्रती—ये दो रानियाँ थीं। गंगा का पुत्र 'भीष्म' हुआ, जो भीष्म पराक्रमी था। सत्यवती के चित्रांगद और चित्रवीर्य—ये दो पुत्र थे। चित्रवीर्य के अंविका, अम्वालिका और अंवा—ये तीन स्त्रियाँ थीं। इन तीनों के क्रमशः धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर नामक पुत्र हुए। पाण्डु, मृगया में विशेष लीन रहने लगा और धृतराष्ट्र राज्य का संचालन करने लगा। धृतराष्ट्र ने गान्धार देश के राजा शकुनि की गान्धारी आदि आठ वहिनों के साथ विवाह किया, जिससे दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। पाण्डु राजा के रानी कुंती से युधिष्टिर, भीम और अर्जुन, तथा शल्य राजा की वहिन माद्री से नकुल और सहदेव—ये पाँच पुत्र हुए। ये पाँचों भाई विद्या वुद्धि और वल में सिंह के समान थे। विद्याधरों के लिए भी ये अजेय थे। इन पाँचों भाइयों में परस्पर प्रेम भी वहुत था। उत्तम गुणों से युक्त ये अपने ज्येष्ठ-वन्धु के प्रति आदर एवं विनय युक्त रहते थे।

द्रौपदी का स्वयंवर और पाण्डव-वरण

कांपिल्यपुर के द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी के लिए स्वयंवर का आयोजन हुआ था। द्रुपद राजा ने पाण्डु राजा को भी कुमारों सहित आमन्त्रित किया। वे अपने पाँचों पुत्रों के साथ काम्पिल्यपुरी पहुँचे। अन्य वहुत-से राजा और राजकुमार भी वहाँ एकत्रित हुए थे। स्वयंवर के समय द्रौपदी, पूर्वकृत निदान के तीव्र उदय वाली थी। उसने पति प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा लिये हुए स्नानादि किया, फिर देव-पूजा और शृंगारादि कर, हाथ में वरमाला लिये, सखियों के समूह में चलती हुई मण्डप में आई। उसकी मुख्य सखी उसे प्रत्येक राजा और राजकुमार का परिचय दे रही थी। जव द्रौपदी परिचय सुन कर नमस्कार करती, तो सखी आगे वढ़ कर अन्य का परिचय देती। इस प्रकार चलते-चलते वह पाँचों पाण्डव-वन्धुओं के निकट पहुँची। उन्हें देखते ही उसके मन में उन पर तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ और उसने अपने हाथ की वड़ी-सी वरमाला उनके गले में आरोपित कर दी। पाँचों वन्धुओं के गले में वरमाला देख कर सभा चकित रह गई और चारों ओर से एकसाथ आवाजें उठी—"यह क्या? ऐसा क्यों हुआ? क्या पाञ्चाली के पाँच पति

होंगे ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता," आदि । सारी सभा चकित थी । एक-दूसरे से इस घटना पर कानाफुसी कर रहे थे । उसी समय दैवयोग से एक चारण मुनि आकाश-पथ से वहाँ आ उतरे । महात्मा को देख कर श्रीकृष्ण आदि ने वन्दना की और पूछा,— "महात्मन् ! आप विशिष्टि ज्ञानी हैं । कृपया वताइए कि द्रौपदी के पाँच पति होंगे ? ऐसा होने का क्या कारण है ? क्या यह आश्चर्यजनक घटना हो कर ही रहेगी ?"

—"हां राजन् ! ऐसा ही होगा । द्रौपदी ने पूर्वभव में निदान किया था । वह अब उदय में आया है और अनिवार्य है ।"

सभाजनों के मन कुछ शान्त हुए, उतेजना मिटी, परंतु जिज्ञासा जगी और प्रश्न हुआ,—

"भगवन् ! द्रौपदी के पूर्वभव में किये निदान सम्वन्धी वर्णन सुनाने की कृपा करें"—सभाजनों की ओर से श्रीकृष्ण ने निवेदन किया ।

द्रौपदी-चरित्र × × नागश्री का भव

मुनिराज द्रौपदी के पूर्वभवों का वर्णन सुनाने लगे; —

"चम्पा नगरी में सोमदेव, सोमदत्त और सोमभूति नाम के तीन ब्राह्मण-बन्धु हते थे । वे धनधान्यादि से परिपूर्ण थे । उनके क्रमशः—नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री नाम की पत्नियाँ थीं । वे तीनों पृथक-पृथक् रहते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे । तीनों भाइयों में स्नेह-सम्वन्ध विशेष था । उन्होंने निश्चय किया था कि 'तीनों भाई क्रमशः वारी-वारी से एक-एक दिन, एक-एक के घर साथ ही भोजन करते रहेंगे ।' इस प्रकार करते हुए कालान्तर में सोमदेव के घर भोजन करने की वारी थी । नागश्री ने रुचिपूर्वक उत्तम भोजन वनाया । उस भोजन में तुम्बी-फल का शाक भी वनाया, जिसमें अनेक प्रकार के मसाले आदि डाले गये थे । परन्तु वह तुम्वीफल कडुआ था । शाक वनने के वाद उसने चखा, तव उसे उसका कडुआपन मालूम हुआ । वह वहुत खेदित हुई और उस कड़ुए शाक को छुपा कर रख दिया । फिर दूसरा शाक वना कर सव को भोजन कराया ।

उस समय उस नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में आचार्य 'धर्मघोष' नामके स्थविर, वहुत-से शिष्यों के परिवार से पधार कर ठहरे हुए थे । उनके साथ 'धर्मरुचि' नाम के

कुरुक्षेत्र विख्यात है। कुरु का पुत्र हस्ति हुआ। हस्तिनापुर नगर उसका बसाया हुआ है। हस्ति के अनन्तवीर्य नाम का पुत्र हुआ। इसका पुत्र कृतवीर्य और कृतवीर्य का पुत्र सुभूम चक्रवर्ती सम्राट हुआ। इसके बाद असंख्य राजा हुए। इसी वंश-परंपरा में शान्तनु नाम का राजा हुआ। इसके गंगा और सत्यवती—ये दो रानियाँ थीं। गंगा का पुत्र 'भीष्म' हुआ, जो भीष्म पराक्रमी था। सत्यवती के चित्रांगद और चित्रवीर्य—ये दो पुत्र थे। चित्रवीर्य के अंबिका, अम्बालिका और अंबा—ये तीन स्त्रियाँ थीं। इन तीनों के क्रमशः धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर नामक पुत्र हुए। पाण्डु, मृगया में विशेष लीन रहने लगा और धृतराष्ट्र राज्य का संचालन करने लगा। धृतराष्ट्र ने गान्धार देश के राजा शकुनि की गान्धारी आदि आठ बहिनों के साथ विवाह किया, जिससे दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। पाण्डु राजा के रानी कुंती से युधिष्टिर, भीम और अर्जुन, तथा शल्य राजा की बहिन माद्री से नकुल और सहदेव--ये पाँच पुत्र हुए। ये पाँचों भाई विद्या बुद्धि और बल में सिंह के समान थे। विद्याधरों के लिए भी ये अजेय थे। इन पाँचों भाइयों में परस्पर प्रेम भी बहुत था। उत्तम गुणों से युक्त ये अपने ज्येष्ठ-बन्धु के प्रति आदर एवं विनय युक्त रहते थे।

द्रौपदी का स्वयंवर और पाण्डव-वरण

कांपिल्यपुर के द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी के लिए स्वयंवर का आयोजन हुआ था। द्रुपद राजा ने पाण्डु राजा को भी कुमारों सहित आमन्त्रित किया। वे अपने पाँचों पुत्रों के साथ काम्पिल्यपुरी पहुँचे। अन्य बहुत-से राजा और राजकुमार भी वहाँ एकत्रित हुए थे। स्वयंवर के समय द्रौपदी, पूर्वकृत निदान के तीव्र उदय वाली थी। उसने पति प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा लिये हुए स्नानादि किया, फिर देव-पूजा और शृंगारादि कर, हाथ में वरमाला लिये, सखियों के समूह में चलती हुई मण्डप में आई। उसकी मुख्य सखी उसे प्रत्येक राजा और राजकुमार का परिचय दे रही थी। जब द्रौपदी परिचय सुन कर नमस्कार करती, तो सखी आगे बढ़ कर अन्य का परिचय देती। इस प्रकार चलते-चलते वह पाँचों पाण्डव-बन्धुओं के निकट पहुँची। उन्हें देखते ही उसके मन में उन पर तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ और उसने अपने हाथ की बड़ी-सी वरमाला उनके गले में आरोपित कर दी। पाँचों बन्धुओं के गले में वरमाला देख कर सभा चकित रह गई और चारों ओर से एकसाथ आवाजें उठी—"यह क्या ? ऐसा क्यों हुआ ? क्या पान्चाली के पाँच पति

होंगे ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता," आदि। सारी सभा चकित थी। एक-दूसरे से इस घटना पर कानाफुसी कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से एक चारण मुनि आकाश-पथ से वहाँ आ उतरे। महात्मा को देख कर श्रीकृष्ण आदि ने वन्दना की और पूछा,—"महात्मन् ! आप विशिष्ट ज्ञानी हैं। कृपया बताइए कि द्रौपदी के पाँच पति होंगे ? ऐसा होने का क्या कारण है ? क्या यह आश्चर्यजनक घटना हो कर ही रहेगी ?"

—"हां राजन् ! ऐसा ही होगा। द्रौपदी ने पूर्वभव में निदान किया था। वह अब उदय में आया है और अनिवार्य है।"

सभाजनों के मन कुछ शान्त हुए, उत्तेजना मिटी, परंतु जिज्ञासा जगी और प्रश्न हुआ,—

"भगवन् ! द्रौपदी के पूर्वभव में किये निदान सम्बन्धी वर्णन सुनाने की कृपा करें"—सभाजनों की ओर से श्रीकृष्ण ने निवेदन किया।

द्रौपदी-चरित्र × × नागश्री का भव

मुनिराज द्रौपदी के पूर्वभवों का वर्णन सुनाने लगे;—

"चम्पा नगरी में सोमदेव, सोमदत्त और सोमभूति नाम के तीन ब्राह्मण-बन्धु रहते थे। वे धनधान्यादि से परिपूर्ण थे। उनके क्रमशः—नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री नाम की पत्नियाँ थीं। वे तीनों पृथक-पृथक् रहते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। तीनों भाइयों में स्नेह-सम्बन्ध विशेष था। उन्होंने निश्चय किया था कि 'तीनों भाई क्रमशः बारी-बारी से एक-एक दिन, एक-एक के घर साथ ही भोजन करते रहेंगे।' इस प्रकार करते हुए कालान्तर में सोमदेव के घर भोजन करने की बारी थी। नागश्री ने रुचिपूर्वक उत्तम भोजन बनाया। उस भोजन में तुम्बी-फल का शाक भी बनाया, जिसमें अनेक प्रकार के मसाले आदि डाले गये थे। परन्तु वह तुम्बीफल कड़ुआ था। शाक बनने के बाद उसने चखा, तब उसे उसका कड़ुआपन मालूम हुआ। वह बहुत खेदित हुई और उस कड़ुए शाक को छुपा कर रख दिया। फिर दूसरा शाक बना कर सब को भोजन कराया।

उस समय उस नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में आचार्य 'धर्मघोष' नामके स्थविर, बहुत-से शिष्यों के परिवार से पधार कर ठहरे हुए थे। उनके साथ 'धर्मरुचि' नाम के

तपस्वी महात्मा भी थे। वे सतत मासखमण की तपस्या करते थे। उस दिन उनके मासोपवास का पारणा था। वे भिक्षाचारी के लिए भ्रमण करते हुए सोमदेव ब्राह्मण के घर पहुँचे। उस समय सोमदेवादि सभी ने भोजन कर लिया था। नागश्री मुनि को देख कर प्रसन्न हुई। उसने सोचा 'अच्छा हुआ जो यह साधु आ गया। अब मुझे उस कड़ुए तुम्बे के शाक को फेंकने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ेगा। मैं इसीको यह सब शाक दे दूं।' इस प्रकार सोच कर उसने तपस्वी मुनि के पात्र में सारा शाक डाल दिया। पर्याप्त आहार जान कर महात्मा लौट कर गुरुदेव के समीप आये और आहार दिखाया। आचार्य ने वह शाक देखा और उसकी गन्ध से प्रभावित हो कर उसका एक बूंद अपनी हथेली पर ले कर चखा। उन्हें उसकी वास्तविकता मालूम हो गई। उन्होंने तपस्वी से कहा—

"देवानुप्रिय! इस शाक को तुम मत खाओ। यह प्राण-हारक है। इसे यहाँ से ले जा कर निर्दोष स्थान पर डाल दो और अपने लिए दूसरा आहार ला कर पारणा कर लो।"

धर्मरुचि अनगार पात्र ले कर स्थण्डिल भूमि पर आये। भूमि की प्रतिलेखना की और अपनी आशंका दूर करने के लिए, शाक का एक बूंद भूमि पर डाला। थोड़ी ही देर में शाक की गन्ध से आकर्षित हो कर हजारों चिंटियाँ वहाँ आ पहुँची और शाक खा-खा कर मरने लगी। यह देख कर तपस्वी धर्मरुचि के मन में विचार हुआ कि—

"एक बूंद से हजारों चिंटियाँ मर गई, तो सारा शाक खा कर कितने प्राणियों का मरण हो जायगा? इसलिए इस शाक को मुझे ही खा लेना चाहिए। मेरे लिए यही हितकर और श्रेयस्कर है। यह शाक मेरे शरीर में ही समाप्त हो जाओ। यही स्थान इसके योग्य है।"

इस प्रकार विचार कर तपस्वी संत, वह सभी शाक खा गए। थोड़ी ही देर में वह शाक उन महात्मा के शरीर में परिणम कर वेदना उत्पन्न करने लगा। महात्मा अंतिम आराधना करने को तत्पर हुए और पात्र आदि एकान्त निर्दोष स्थान में रख कर विधिपूर्वक संथारा किया। आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधिभाव युक्त धर्म-ध्यान करते हुए देह त्यागी। वे 'सर्वार्थसिद्ध' महा विमान में अहमिन्द्र हुए।

तपस्वी धर्मरुचिजी को गये बहुत काल व्यतीत होने पर, आचार्यश्री धर्मघोष अनगार को चिन्ता हुई। उन्होंने साधुओं को सम्बोधित कर कहा—"आर्यो! तपस्वी को अनिष्ट आहार परठाने गये बहुत काल बीत गया, वे नहीं लौटे। तुम जाओ खोज करो। उन्हें इतना विलम्ब क्यों हुआ?" गुरु-आज्ञा सिरोधार्य कर श्रमण-निर्ग्रंथ खोज करने गए। खोज करते उन्हें धर्मरुचि तपस्वी का सोया हुआ निश्चेष्ट देह दिखाई दिया।

संभाल करने पर उन्हें विश्वास हो गया कि तपस्वी का देहावसान हो गया है। उनके हृदय को आघात लगा और सहसा मुँह से निकल गया--"हा, हा, यह अकार्य हुआ।" वे सँभले और तत्काल धर्मरुचि तपस्वी का परिनिर्वाण (देहावसान) कायोत्सर्ग किया। इसके बाद तपस्वीजी के पात्रादि ले कर वे आचार्यश्री के समीप आये और गमना-गमन का प्रतिक्रमण कर निवेदन किया---"भगवन् ! तपस्वी संत का देहावसान हो गया है। यह उनके पात्रादि हैं।"

"तपस्वी का देहावसन कैसे हो गया ? क्या निमित्त हुआ मृत्यु का ?' आचार्य ने पूर्वगत उपयोग लगाया और कारण जान लिया। उन्होंने साधु-साध्वियों को सम्बोध कर कहा—

"आर्यो ! मेरा अंतेवासी प्रकृति से भद्र विनीत तपस्वी धर्मरुचि अनगार, नागश्री ब्राह्मणी के दिये हुए, विष के समान तुम्बे के शाक को परठने गये थे। उन्होंने एक बूंद भूमि पर डाल कर देखा और जीवों की विराधना बचाने के लिए उन्होंने वह सारा शाक खुद खा लिया। इससे उन्हें महान् वेदना हुई और वे संथारा करके कालधर्म को प्राप्त हुए। वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव हुए हैं। वहाँ तेतीस सागर की आयु पूर्ण कर के वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर मुक्त होंगे।"

"हे आर्यो ! उस पापिनी नागश्री ब्राह्मणी को धिक्कार है, जिसने तपस्वी संत को विष के समान आहार दे कर मार डाला। वह धिक्कार के योग्य है। अधन्या, अपुण्या एवं कड़वी निंबोली के समान दुत्कार के योग्य है।"

नागश्री को तपस्वीघातिनी जान कर श्रमणनिर्ग्रंथ क्षुब्ध हुए। वे नगर में आ कर स्थान-स्थान पर बहुत-से लोगों में, नागश्री के तपस्वी-घातक दुष्कर्म को प्रकट करते हुए उसे धिक्कारने लगे। साधुओं की बात सुन कर लोग परस्पर नागश्री की निन्दा करते हुए धिक्कार देने लगे। यह बात सोमदेव आदि ब्राह्मण-बन्धुओं ने भी सुनी। वे अत्यन्त कुपित हुए और नागश्री के पास आकर उसे धिक्कारी, अपमानित की और मार-पीट कर घर से निकाल दिया। घर से निकाली हुई नागश्री, नगरजनों द्वारा निन्दित, तिरस्कृत और प्रताड़ित होती हुई इधर-उधर भटकने लगी। सुख के सिंहासन से गिर कर दुःख के गड्ढे में पड़ी हुई नागश्री अनेक प्रकार की व्याधियों की पात्र हो गई। शीत-ताप, भूख-प्यास तथा प्रतिकूल संयोग और पापप्रकृति के तीव्र उदय से कई प्रकार के महारोग उसके शरीर में उत्पन्न हुए। वह महान् संक्लिष्ट भावों में---रौद्र-ध्यान में, लीन रहती हुई मर कर छठी नरक में उत्पन्न हुई। वहाँ उसकी आयु बाईस सागरोपम की थी। वहाँ के महान्

दुःखों को भोगती हुई काल कर के वह जलचर में + उत्पन्न हुई। वहाँ भी शस्त्रघात और दाहज्वर से मर कर सातवीं नरक में गई। वहाँ की तेतीस सागर प्रमाण आयु की महानतम वेदना भोग कर फिर जलचर में गई। वहाँ से फिर सातवीं नरक में उत्कृष्ट आयु तक तीव्रतम दुःख भोग कर फिर जलचर में गई। जलचर से मर कर दूसरी वार छठी नरक में गई। इस प्रकार प्रत्येक नरक में दो-दो वार जा कर और तीर्यंच-योनि के दुःख भोग कर वह असंज्ञी पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय में लाखों वार उत्पन्न हुई और छेदन-भेदन और जन्म-मरण के दुःख भोगती हुई चम्पानगरी के सागरदत्त सेठ की भद्रा भार्या की कुक्षि से पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। वह अत्यन्त रूपवती सुकोमल सुन्दर और आकर्षक थी। उसका नाम 'सुकुमालिका' था। यौवन-वय प्राप्त होने पर वह उत्कृष्ट रूप-लावण्य से अत्यन्त शोभायमान लगने लगी।

सुकुमालिका के भव में

उसी नगर में जिनदत्त नाम का धनाढ्य सेठ था। उसका 'सागर' नामक पुत्र था। एकबार जिनदत्त सेठ सागरदत्त सेठ के भवन के निकट हो कर कहीं जा रहा था। उस समय सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका शृंगार कर के अपनी दासियों के साथ भवन की छत पर, सोने की गेंद खेल रही थी। जिनदत्त की दृष्टि सुकुमालिक पर पड़ी। वह सुकुमालिका का रूप-लावण्य और यौवन देख कर चकित रह गया। उसने अपने सेवक को बुला कर उस युवती का परिचय पूछा। परिचय जान कर जिनदत्त अपने घर आया और अपने मित्र-बन्धु सहित सागरदत्त के घर गया। सागरदत्त ने जिनदत्त आदि का आदर-सत्कार किया और आने का कारण पूछा। जिनदत्त ने सुकुमालिका की, अपने पुत्र सागर के लिए याचना करते हुए कहा—

"आप यदि उचित समझें, तो अपनी सुपुत्री मेरे पुत्र को दीजिये। मैं अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूँ। यदि आप स्वीकार करें, तो कहिये, मैं उसके प्रतिदान (शुल्क) में आपको क्या दूं?"

+ यह ज्ञातासूत्र का विधान है। त्रि. श. पु. चरित्र में छठी नरक से निकल कर चाण्डाल जाति में उत्पन्न होना, फिर सातवीं में जाना और वहाँ से म्लेच्छ जाति में उत्पन्न होना लिखा है, जो उचित प्रतीत नहीं लगता। सातवीं से निकल कर तो मनुष्य होता ही नहीं हैं।

जिनदत्त की माँग सुन कर सागरदत्त ने कहा—

"देवानुप्रिय ! सुकुमालिका मेरी इकलौती पुत्री है और अत्यंत प्रिय है। मैं उसे एक क्षण के लिए भी दूर करना नहीं चाहता और न पराई करना चाहता हूँ। यदि आपका पुत्र मेरा घरजामाता रहना स्वीकार करे और आप देना चाहें, तो मैं घरजामाता बना कर उसके साथ अपनी सुपुत्री का लग्न कर सकता हूँ।"

सागरदत्त की शर्त सुन कर जिनदत्त अपने घर आया और पुत्र को बुला कर सुकुमालिका के लिए सागरदत्त की शर्त सुनाई और पूछा—"बोल तू घर जामाता रहना चाहता है ?" सागर मौन रहा। जिनदत्त ने सागर के मौन को स्वीकृति रूप मान कर सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया और शुभ तिथि-नक्षत्रादि देख कर दिन निश्चित किया। फिर सगा-सम्बन्धियों को आमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और सब के साथ, सुसज्जित सागर को शिविका में बिठा कर, समारोहपूर्वक सागरदत्त के घर ले गया। सागरदत्त ने जिनदत्त आदि का बहुत आदर-सत्कार किया और अपनी पुत्री का सागर के साथ लग्न-विधि करने लगा। पाणिग्रहण की विधि करते समय सागर के हाथ में सुकुमालिका का हाथ दिया, तो सागर को ऐसा स्पर्श लगा मानो हाथ में उष्ण तलवार, छुरी अथवा आग रख दी गई हो। वह विवश हो कर चुपचाप उस दुखद स्पर्श को सहता रहा और लग्न-विधि पूर्ण की। लग्न हो जाने के बाद सागरदत्त सेठ ने जिनदत्त आदि वरपक्ष को भोजन-पान और वस्त्रादि से सम्मानित कर विदा कर दिया।

वर-वधू शयनगृह में आये और शयन किया। इस समय भी सागर को सुकुमालिका का स्पर्श आग के समान असह्य एवं दुःखदायी लगा, किंतु वह मन मसोस कर सोया रहा। जब सुकुमालिका निद्रा में लीन हो गई, तो सागर चुपचाप उठ कर चला गया और अन्यत्र भिन्न शय्या में सो गया। कुछ देर बाद सुकुमालिका जगी, तो वह अपने को पतिविहिन अकेली जान कर चौंकी। वह उठी और सागर की शय्या थी वहाँ आ कर उसके पास सो गई। सागर को पुनः सुकुमालिका का असह्य स्पर्श सहना पड़ा। जब वह पुनः सो गई, तो उठ कर उस घर से ही निकल कर अपने घर चला गया। उसके जाने के कुछ समय बाद सुकुमालिका जाग्रत होकर फिर पति को खोजने लगी। घर के द्वार खुले देख कर वह समझ गई कि 'वह मुझे छोड़ कर चला गया है।' वह खिन्न चिन्तित और भग्नमनोरथ हो कर शोक-मग्न बैठी रही। प्रातःकाल उसकी माता ने हाथ-मुँह धुलाने के लिए दासी को भेजी। दासी ने सुकुमालिका को शोकाकुल देख कर पूछा—"इस हर्ष के समय तुम शोकमग्न क्यों हो ?"

"मेरा पति मुझे सोती हुई छोड़ कर चला गया है।" सुकुमालिका की यह बात सुन कर दासी ने सागरदत्त सेठ से जामाता के चले जाने की बात कही। दासी की बात सुन कर सागरदत्त क्रोधित हुआ और जिनदत्त सेठ के पास जा कर कहने लगा।

"देवानुप्रिय ! तुम्हारा पुत्र, मेरी पुत्री को छोड़ कर यहाँ चला आया है। यह उचित और उत्तम कुल के योग्य नहीं है। मेरी पतिव्रता निर्दोष पुत्री को त्याग कर वह क्यों चला आया ? क्या अपराध हुआ था मेरी पुत्री से ?"

बहुत ही दुखित मन और भग्न स्वर से कही हुई सागरदत्त की बात को सुन कर जिनदत्त अपने पुत्र सागर के पास आया और बोला—"पुत्र ! तुमने बहुत बुरा किया, जो सुकुमालिका को छोड़ कर यहाँ आए। अब तुम अभी इसी समय वहाँ जाओ। तुम्हें ऐसा नहीं करना था।"

पिता की बात सुन कर सागर ने कहा—

"पिताजी ! मुझे पर्वत-शिखर से गिर कर, वृक्ष पर फाँसी लटक कर, विष खा कर, कूएँ में डूब कर और आग में जल कर मरना स्वीकार है, विदेश चला जाना और साधु बन जाना भी स्वीकार है, परंतु सागरदत्त के घर जाना स्वीकार नहीं है। मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगा।"

सागरदत्त प्रच्छन्न रह कर अपने जामाता की बात सुन रहा था। उसने समझ लिया कि अब यह नहीं आएगा। वह निराश हो कर वहाँ से निकला और घर आ कर पुत्री को सान्त्वना देते हुए कहने लगा —

"पुत्री ! तू चिन्ता मत कर। सागर गया, तो गया। मैं अब तुझे ऐसे पुरुष को दूँगा, जो तुझे प्रिय होगा और तेरे अनुकूल रहेगा।"

भिखारी का संयोग और वियोग

सागरदत्त ने पुत्री को आश्वासन दे कर संतुष्ठ किया। एक दिन सागरदत्त अपने भवन के गवाक्ष में बैठा, राजमार्ग पर होता हुआ गमनागमन का दृश्य देख रहा था। उसकी दृष्टि ने एक ऐसे भिखारी को देखा, जिसके हाथ में एक फूटे घड़े का टिवड़ा और सिकोरा था, कपड़े फटे हुए और अनेक टुकड़ों से जोड़े हुए थे, मक्खियाँ उस पर भिनभिन रही थी। उस मैलेकुचैले जवान भिखारी को देख कर सागरदत्त ने अपने सेवकों से कहा— "देखो वह भिखारी जा रहा है, उसे भोजन का लोभ दे कर यहाँ ले आओ। उसके फटे

टूटे कपड़े उतार दो, उसके बाल बनवा कर और स्नान करवा कर स्वच्छ बनाओ। फिर अच्छे वस्त्र एवं अलंकार पहिनाओ और भोजन करा कर मेरे पास लाओ।"

सेवक गए और उस भिखारी को भोजन कराने का लोभ बता कर घर ले आए। उसका ठिवड़ा और सिकोरा ले कर एक ओर डालने लगे, तो वह जोर से चिल्लाया और रोने लगा, जैसे उसे कोई लूट रहा हो। उसे आश्वस्त किया। इसके बाद उसका क्षौर-कर्म कराया, उत्तम तेल की मालिश की और सुगन्धित द्रव्य से उबटन कर स्नान कराया। फिर उत्तम वस्त्र पहिना कर आभूषणों से अलंकृत किया। इसके बाद स्वादिष्ट भोजन कराया और मुखवास दे कर, सेठ सागरदत्त के पास लाये। सागरदत्त ने सुकुमालिका को सुसज्जित कर उस भिखारी को देते हुए कहा—"यह मेरी एकमात्र सुन्दर पुत्री है। मैं इसे तेरी पत्नी बनाता हूँ। तू इसके साथ यहाँ सुख से रह और इसे सुखी कर।"

भिखारी सुकुमालिका के साथ रह गया। जब वह उसके साथ शय्या पर सोया, तो उसके अंग स्पर्श से ही वह जलने लगा‡। वह भी सुकुमालिका को सोती छोड़ कर उठा और सेठ के दिये वस्त्रालंकार, वहीं डाल कर अपने फटे कपड़े और ठिकरा ले कर, ऐसे भागा जैसे वधिक के द्वारा होती हुई मृत्यु से बच कर भागा हो। सुकुमालिका फिर भग्न-मनोरथ हो कर चिन्ता-मग्न हो गई। जब सागरदत्त को भिखारी के भाग जाने की बात मालूम हुई, तो वह स्तब्ध रह गया और पुत्री के पास आ कर कहने लगा।

"पुत्री! तू अपने पूर्वकृत पापकर्म के उदय का फल भोग रही है। अब तू पति

---

‡ सुकुमालिका का शरीर उष्ण नहीं था। उसके माता-पिता, धाय आदि भी उसका स्पर्श करते थे, तो उन्हें उष्ण नहीं लगता था। किन्तु पति के स्पर्श करते ही उष्ण हो जाता। यह उसके अशुभ कर्म का उदय था। लगता है कि उसमें पति का संयोग पा कर, वेदमोहनीय का तीव्र उदय होता था और उस उदय के साथ ही उसके शरीर में तीव्र उष्णता उत्पन्न हो जाती थी। जैसे तीव्र क्रोधोदय में शरीर धूजने लगता है, घबडाहट और पसीना हो जाता है। इसी प्रकार उसके पापोदय से उसका शरीर ऐसे ही पुद्गलों से बना कि जिसमें काम के साथ उष्णता उत्पन्न होती थी। इस कर्म का विचित्र विपाकोदय समझना चाहिए।

कुछ विचारक इसे सुकुमालिका का 'पुनर्विवाह' बता कर श्रेष्ठिकुल में पुनर्विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित होना सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि सुकुमालिका का सागर के साथ ही विधिवत् विवाह हुआ था, भिखारी के साथ नहीं। सागरदत्त ने पुत्री को संतुष्ट करने के लिए भिखारी का संयोग मिलाया था। जिस प्रकार कामातुर स्त्री-पुरुष अवैध सम्बन्ध बनाते हैं। कहीं-कहीं तीसरा व्यक्ति भी सहायक बन जाता है। उसी प्रकार इस घटना में भी हुआ है। यहां पुत्री के मोह से प्रेरित हो कर पिता ने सम्बन्ध जुड़वाया। इसे 'विवाह' नहीं कह सकते।

द्वारा प्राप्त सुख का विचार त्याग कर, दान-पुण्य में मन लगा और अपनी भोजनशाला में बने हुए विपुल आहारादि का, भोजनार्थियों को दान कर के पुण्य-कर्म का संचय कर।"

सुकुमालिका ने पिता की बात मानी और भोजनार्थियों को दान देती हुई जीवन बिताने लगी।

त्यागी श्रमण, भोग-साधन नहीं जुटाते

उस समय 'गोपालिका' नामक बहुश्रुत आर्या, अपनी शिष्याओं के साथ ग्रामानुग्राम विचरती हुई चम्पानगरी पधारीं और भिक्षा के लिए भ्रमण करती हुई सागरदत्त के घर में प्रवेश किया। सुकुमालिका ने आहार-दान के पश्चात् आर्यिकाजी से पूछा;—

"हे श्रेष्ठ आर्या! आप बहुश्रुत हैं। ग्रामानुग्राम विचरने से आप में अनुभवज्ञान भी विशाल होगा। आप मुझ दुखिया पर अनुग्रह करें। मेरे पति सागर ने लग्न की रात्रि को ही मेरा त्याग कर दिया। वह मेरा नाम लेना भी नहीं चाहता। मैंने भिखारी से स्नेह जोड़ा, तो वह भी मुझे छोड़ कर चला गया। मैं दुखियारी हूँ। आप मुझ पर दया कर के कोई मन्त्र, तन्त्र, जड़ी-बूंटी या विद्या का प्रयोग बता कर कृतार्थ करें। आपका मुझ पर महान् उपकार होगा। मुझे दुःखसागर से उबारिये।"

महासतीजी ने अपने दोनों कानों में अंगुली डाल कर कहा—"शुभे! हम संसार-त्यागिनी साध्वियाँ हैं, निर्ग्रंथधर्म का पालन करती हैं। तुम्हारे मोहजनित शब्द सुनना भी हमारे लिए निषिद्ध है, तब योग-प्रयोग बताने की तो बात ही कहाँ रही? यदि तुम चाहो, तो हम तुम्हें निर्ग्रथधर्म सुना सकती हैं।"

महासतीजी ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर सुकुमालिका श्राविका बनी। वह श्रावक-व्रत का पालन करती हुई साधु-साध्वियों को आहारादि से प्रतिलाभित करने लगी।

सुकुमालिका साध्वी बनती है

कुछ दिन बाद रात्रि के समय वह शय्या में पड़ी हुई अपने दुर्भाग्य पर चिन्ता करने लगी। अंत में उसने इस स्थिति से उबरने के लिए प्रव्रजित हो कर साध्वी बनने का निश्चय किया। प्रातःकाल उसने माता-पिता के सामने अपने विचार प्रस्तुत किये और

अंत में गोपालिका महासतीजी की शिष्या हो गई। अब सुकुमालिका साध्वी, संयम के साथ उपवासादि तपस्या भी करने लगी। कालान्तर में उस आर्या ने, नगर से बाहर उद्यान के एक भाग में, आतापना लेते हुए बेले-बेले का तप करते रहने का संकल्प किया और अपनी गुरुणी से आज्ञा प्रदान करने का निवेदन किया। गोपालिकाजी ने कहा; —

"हम निर्ग्रंथिनी हैं। हमें खुले स्थान पर आतापना नहीं लेना चाहिए। यह हमारे लिए निषिद्ध है। हम सुरक्षित उपाश्रय में, साध्वियों के संरक्षण में रह कर और वस्त्र से शरीर को ढके हुए, सम्मिलित पाँवों से युक्त आतापना ले सकती हैं। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो वैसा कर सकती हो। नगर के बाहर खुले स्थान में आतापना नहीं ले सकती।"

आर्या सुकुमालिका को गुरुणीजी की बात नहीं रुचि। वह अपनी इच्छा से नगर के बाहर जा कर तपपूर्वक आतापना लेने लगी।

पाँच पति पाने का निदान

सुकुमालिका आर्या उद्यान में आतापना ले रही थी। उस समय चम्पा नगरी में पाँच कामी-युवकों की एक मित्र-मंडली थी, जो नीति, सदाचार और माता-पितादि गुरुजनों से विमुख रह कर स्वच्छन्द विचरण कर रही थी। उनका अधिकांश समय वेश्याओं के साथ बीतता था। वे एक देवदत्ता वेश्या के साथ उस उद्यान में आये। एक युवक वेश्या को गोदी में लिये बैठा था, दूसरा उस पर छत्र लिये खड़ा था, तीसरा गणिका के मस्तक पर फूलों का सेहरा रच रहा था, चौथा उसके पाँवों को गोदी में ले कर रंग रहा था और पाँचवाँ उस पर चामर डुला रहा था। इस प्रकार गणिका को पाँच प्रेमियों के साथ आमोद-प्रमोद करती देख कर, सुकुमालिका आर्या के मन में मोह का उदय हुआ। उसकी निष्फल हो कर दबी हुई भोग-कामना जगी। उसने सोचा—

"यह स्त्री कितनी सौभाग्यवती है। इसने पूर्वभव में शुभ आचरण किया था, जिसका उत्तम फल यहाँ भोग रही है। इसकी सेवा में पाँच पुरुष उपस्थित हैं। यह पाँच सुन्दर, स्वस्थ एवं स्नेही युवकों के साथ उत्तम कामभोग भोग कर सुख का अनुभव कर रही है। यदि मेरे तप, व्रत और ब्रह्मचर्यमय उत्तम आचार का कोई उत्तम फल हो, तो मैं भी आगामी भव में इसके समान उत्तम भोगों की भोक्ता बनूँ।"

इस प्रकार निदान कर लिया। फिर वह आतापना-भूमि से पीछे हटी और उपाश्रय में आई। उसके भाव शिथिल हो गए। वह अपने मलिन हुए हाथ, पाँव, मुंह आदि

शरीर बार-बार धो कर सुशोभित रखने लगी। वह उठने-बैठने और सोने के स्थान पर पानी छिड़कने लगी। इस प्रकार देहभाव में आसक्त हो कर वह यथेच्छ विचरने लगी। सुकुमालिका साध्वी का यह अनाचार देख कर आर्या गोपालिकाजी ने उसे समझाते हुए कहा--

"देवानुप्रिये! तुम यह क्या कर रही हो? हम निर्ग्रंथधर्म की पालिका हैं। हमें अपना चारित्र निर्दोष रीति से पालना चाहिए। देह-भाव में आसक्त हो कर शरीर की शोभा बढ़ाना और हाथ-पाँवादि अंगों को धोना तथा पानी छिड़क कर बैठना-सोना आदि क्रियाएँ हमारे लिए निषिद्ध हैं। इससे संयम खंडित होता है। अब तुम इस प्रवृति को छोड़ो और आलोचना यावत् प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध बनो।"

सुकुमालिका आर्या को गोपालिकाजी की हितशिक्षा रुचिकर नहीं हुई। उसने गुरुणीजी की आज्ञा का अनादर किया और अपनी इच्छानुसार ही प्रवृत्ति करने लगी। उसकी स्वच्छन्दता से अन्य साध्वियें भी उसकी आलोचना करनी लगी और उसे उस दूषित प्रवृत्ति से रोकने लगी। साध्वियों की अवहेलना एवं आलोचना से सुकुमालिका विचलित हो गई। उसके मन में विचार हुआ—"मैं गृहस्थ थी, तब तो स्वतन्त्र थी और अपनी इच्छानुसार करती थी। मुझे कोई कुछ नहीं कह सकता था, परन्तु साध्वी हो कर तो मैं बन्धन में पड़ गई। अब ये सभी मेरी निन्दा करती हैं। अतएव अब इनके साथ रहना अच्छा नहीं है।" इस प्रकार विचार कर वह गुरुणी के पास से निकल कर दूसरे उपाश्रय में चली गई और बहुत वर्षों तक शिथिलाचारयुक्त जीवन व्यतीत किया। फिर अर्धमास की संलेखना की और अपने दोषों की आलोचनादि किये बिना ही काल कर के ईशानकल्प में देव-गणिकापने उत्पन्न हुई। उसकी आयुस्थिति ९ पल्योपम की थी।

देवभव पूर्ण कर के सुकुमालिका का जीव इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में पञ्चाल जनपद के पाटनगर कम्पिपुर के द्रुपद नरेश की चुल्लनी रानी की कुक्षी से पुत्रीपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'द्रौपदी' रखा गया। द्रुपद नरेश के धृष्टद्युम्न कुमार युवराज था। अनुक्रम से द्रौपदी यौवनवय को प्राप्त हुई। जब वह द्रुपद नरेश के चरणवन्दन करने आई, तो नरेश ने उसे गोदी में बिठाया और उसके रूप-यौवन और अंगोपांग को विकसित देखा, तो उसके योग्य वर का चुनाव करने का विचार उत्पन्न हुआ। सोचविचार के पश्चात् राजा ने द्रौपदी से कहा--

"पुत्री! तेरे योग्य वर का चुनाव करते हुए मेरे मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि कदाचित् मेरा चुना हुआ वर तुझे सुखी कर सकेगा या नहीं? इसलिए मैंने

निश्चय किया है कि मैं तेरे लिए स्वयंवर का आयोजन करूँ। उसमें सम्मिलित होने वाले राजाओं और राजकुमारों में से अपने योग्य वर का तू स्वयं चुनाव कर ले। तू जिसके गले में वरमाला पहिनाएगी, वही तेरा पति होगा।"

पुत्री को अन्तःपुर में भेजने के बाद द्रुपद नरेश ने राजाओं, राजकुमारों और सामन्तादि को आमन्त्रण दे कर स्वयंवर का आयोजन किया। इस सभा में राजकुमारी द्रौपदी ने जो पाँच पाण्डवों को वरण किया, यह इसके पूर्वोपार्जित निदान का फल है। यह अन्यथा नहीं हो सकता। अतः आश्चर्यान्वित या विस्मित नहीं होना चाहिए।"

मुनिराजश्री के कथन से सभा आश्वस्त हुई और द्रौपदी का पाण्डवों के साथ समारोहपूर्वक लग्न हो गया।

राजकुमारी गंगा का प्रण

गन्धर्व नगर के राजा 'जन्हु' की पुत्री गंगा, विदुषी और गुणवती थी। वह संसार-व्यवहार और धर्माचार की भी ज्ञाता थी। यौवनवय में उसके योग्य वर के विषय में राजा चिन्तित हुआ। राजा ने एकबार पुत्री के सामने अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा—

"पुत्री ! मैं तेरे योग्य वर की खोज में हूँ। परन्तु मेरे मन में शंका उठ रही है कि कदाचित् मेरा चुना हुआ वर तेरे उपयुक्त होगा, या नहीं ? इसलिए अच्छा होगा कि तू शान्ति से विचार कर के अपना अभिप्राय बतला दे।"

राजकुमारी नीचा मस्तक किये खड़ी रही। राजा के चले जाने के बाद राजकुमारी की सखी ने कहा—"अब तुम्हें अपनी इच्छा बतला देनी चाहिए, जिससे अपनी इच्छानुसार वर प्राप्त कर सको।"

—"मैं पिताश्री के सामने अपने वर के विषय में कैसे कह सकती हूँ ? परन्तु मैं चाहती हूँ कि मेरा पति सद्गुणी हो, सुशील हो, शूरवीर हो और मेरी इच्छा के अनुकूल रहने वाला हो, तभी मेरा वैवाहिक जीवन सुखी हो सकता है। मैं देखती हूँ कि अनुकूलता के अभाव में कई राजकुमारियाँ दुखी रह रही है। इसलिए मैं तो सद्गुणी, सच्चरित्र एवं मेरी इच्छा के अनुकूल रहने की प्रतिज्ञा करने वाले को ही वरण करूँगी। तू मेरी यह इच्छा पिताश्री से निवेदन कर दे।"

राजा को पुत्री का अभिप्राय उचित लगा। उसने कई शूरवीर राजाओं और राजकुमारों को आमन्त्रित कर, अपनी पुत्री को प्राप्त करने की शर्त बतलाई। आगंतुक राजादि

देवकन्या के समान रूप-गुण सम्पन्न राजकुमारी को प्राप्त करना तो चाहते थे, परन्तु उसके अधीन रहने की प्रतिज्ञा करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। राजा और गंगा निराश हुए। गंगा का निश्चय दृढ़ था। अपनी इच्छानुसार वर नहीं मिले, तो जीवनपर्यन्त कुमारिका रहने के लिए वह तत्पर थी। अनुकूल वर के अभाव में उसने गृह-त्याग कर वन में साधना-रत रहने का निश्चय किया और एक उद्यान की उत्तम वाटिका में जा कर रह गई। वह अपना मनोरथ सफल करने के लिए साधना करने लगी।

राजा शान्तनु का गंगा के साथ लग्न

भगवान् आदिनाथ के 'कुरू' नाम का पुत्र था*। उसका वंश 'कौरव वंश' कहलाया। कुरू के पुत्र हस्ती ने हस्तिनापुर बसाया। हस्ती नरेश की वंश-परम्परा में लाखों राजा हुए। उसमें अनन्तवीर्य नाम का एक राजा हुआ। उसके कृतवीर्य नामक पुत्र था। उसका पुत्र सुभूम नाम का चक्रवर्ती महाराजा हुआ। उसने जमदग्नि के पुत्र परशुराम के साथ युद्ध किया था। इसके बाद कितने ही शूरवीर नरेश इस वंश-परम्परा में हुए। उन्हीं में 'शान्तनु' नाम का एक वीर प्रतापी एवं सद्गुणी राजा हुआ। यह न्यायी, प्रजाप्रिय और कुशल शासक था। इतने सद्गुणों के साथ उसमें मृगया का व्यसनरूपी एक अवगुण भी था। वह अश्वारूढ़ हो, धनुष-बाण ले कर शिकार खेलने के लिए वन में चला जाता।

एक दिन शान्तनु आखेट के लिए निकला। उसने एक मृग-युगल पर अपना बाण फेंका, किंतु मृग-युगल भाग कर दूर निकल गया। उसे खोजता हुआ शान्तनु उस उद्यान में पहुँच गया, जिसकी एक वाटिका में राजकुमारी गंगा थी। शान्तनु ने एक सुन्दर युवती को देखा, जिसके शरीर पर सादे वस्त्र के अतिरिक्त कोई अलंकार नहीं थे, फिर भी वह देवांगना के समान सुशोभित दिखाई दे रही थी। उसका युवक-हृदय आकर्षित हुआ और उसने घोड़े पर से उतर कर आश्रम में प्रवेश किया। राजकुमारी की दृष्टि शान्तनु पर पड़ी। उसने देखा कि एक प्रभावशाली वीर युवक आ रहा है। वह संभ्रमयुक्त खड़ी हो गई और शान्तनु का स्वागत करती हुई एक आसन की व्यवस्था की। शान्तनु को देख कर उसने सोचा—'यह कोई कुलीन एवं प्रभावशाली युवक है।' वीर भी है। उसके हृदय में स्नेह

---

* इसका संक्षिप्त उल्लेख पृष्ठ ४०३ में द्रौपदी के वर्णन में किया जा चुका है। यहाँ 'पाण्डव चरित्र' ग्रंथ के आधार से कुछ विस्तारपूर्वक लिखा जा रहा है।

का आविर्भाव हुआ। शान्तनु भी राजकुमारी के सौंदर्य पर मोहित हो गया। उसने पूछा;–

"भद्रे! क्या मैं देवी का परिचय जान सकता हूँ?" मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जो महिलारत्न किसी भव्य राज-प्रासाद को सुशोभित कर सकती थी, वह इस वय में, निर्जन वन में रह कर तपस्विनी क्यों हुई?" यह वय परलोक साधना के उपयुक्त नहीं है।

राजा का प्रश्न सुन कर राजकुमारी ने अपनी सखी की ओर देखा। सखी ने राजा से कहा—

"महानुभाव! यह रत्नपुर के विद्याधरपति महाराज जन्हु की सुपुत्री राजदुलारी गंगा है। यह विदुषी है, विद्याविलासिनी है और सभी कलाओं में प्रवीण है। जब महाराजा ने इसके लिए योग्य वर का चयन करने के विषय में अभिप्राय पूछा, तो इसने स्पष्ट कहला दिया कि—"जो पुरुष सर्वगुण-सम्पन्न होने के साथ ही, सदैव मेरी इच्छा के अधीन रहने की प्रतिज्ञा करे, वहीं मेरा पति हो सकता है। यदि ऐसा वर नहीं मिले, तो मैं जीवनभर कुमारिका रह कर तपस्या करती रहूँगी।" अनेक राजा और राजकुमार इसे प्राप्त करना चाहते थे, परंतु इसकी अधीनता में रहने की प्रतिज्ञा करने के लिए कोई तत्पर नहीं हुआ। इसीलिए निराश होकर यह आश्रमवासिनी हुई है। मैं इसकी सखी हूँ और इसकी परिचर्या करती हूँ।"

सखी के वचन सुन कर शान्तनु प्रसन्न एवं उत्साहित होकर बोला—

"सुन्दरी! देवांगना को भी लज्जित करने वाले तुम जैसे अद्वितीय स्त्री-रत्न का दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ। अच्छा हुआ कि मैं उस मृग की खोज करते हुए यहाँ आ पहुँचा। यदि मेरा बाण नहीं चूकता और मृग इधर नहीं आता, तो मैं इस सुयोग से वञ्चित ही रहता। वह मृग मेरा उपकारी ही हुआ है।"

"भद्रे! मैं तुम्हारा प्रण सहर्ष पूर्ण करता हूँ और यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं सदैव तुम्हारे अधींन रहूँगा। मैं अपनी इस प्रतिज्ञा से कभी विमुख नहीं बनूँगा। यदि दैवयोग से कभी मुझसे तुम्हारे वचनों और अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन हो जाय, तो तुम मुझे त्याग देना। मैं तुम्हारे उस दण्ड का पात्र बनूँगा।"

राजा स्वयं प्रसन्न था। राजकुमारी भी—मनोकामना पूर्ण होती जान कर—प्रसन्न हो रही थी। उसी समय महाराज जन्हु वहां आ पहुँचे। उन्होंने शान्तनु को देखा। शिष्टाचार का पालन हुआ। राजकुमारी लज्जित हो कर एक ओर खड़ी हो गई। सखी मनोरमा ने जन्हु को शान्तनु के अभिप्राय का परिचय दिया। जन्हु प्रसन्न हुआ और उस आश्रम में ही, बड़े सामारोह के साथ उन दोनों का लग्न कर दिया।

गांगेय का जन्म और गृह-त्याग

शान्तनु राजा, गंगा को ले कर अपनी राजधानी में आये और सुखोपभोग में समय व्यतीत करने लगे। कालान्तर में गंगा रानी गर्भवती हुई और उसके एक सुन्दर पुत्र हुआ। राजा ने पुत्र का नाम, रानी के नाम के अनुसार 'गांगेय' रखा। राजा को मृगया का व्यसन था। उसके मन में आखेट पर जाने की लालसा उठी। रानी ने पहले भी राजा को मृगया से रोकने का प्रयत्न किया था, किन्तु राजा को रानी की हितशिक्षा रुचिकर नहीं हुई। मोह के तीव्रतर उदय से राजा अपने को रोक नहीं सका। उसने आखेट पर जाने का निश्चय कर लिया और शिकारी का वेश धारण कर, शस्त्र-सज्ज हो कर रानी के पास आया। रानी ने राजा की वेशभूषा देख कर समझ लिया कि शिकार पर जाने की तैयारी हुई है। उसने पूछा;—

"महाराज ! आज यह तैयारी किस लिए हुई है ?"

"प्रिये ! मैं आखेट के लिए जा रहा हूँ। बहुत दिनों के बाद आज मन नहीं माना, तो थोड़ी देर के लिए मनोरञ्जनार्थ जा रहा हूँ। शीघ्र ही लौट आऊँगा।"

"नहीं आर्यपुत्र ! आप नरेन्द्र हैं। उत्तम आचार एवं श्रेष्ठ मर्यादा के स्थापक हैं। आप प्रजा के पालक और रक्षक हैं। आपके राज्यान्तर्गत वनों में रहने वाले पशुपक्षी भी आपकी प्रजा है। आपको इनका भी रक्षण करना चाहिए। इन निरपराधी जीवों को अपने व्यसन-पोषण के लिए मारना आपके लिए उचित नहीं है, अधर्म है। आपको अधर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। प्रजा आपका अनुकरण करती है। आपको अपने आदर्श से प्रजा को प्रभावित करना चाहिए। मेरी प्रार्थना है कि आप इस दुर्व्यसन से दूर ही रहें।"

"शुभे ! तुम्हारा कहना यथार्थ है। परन्तु आज तो मैं निश्चय कर के ही आया हूँ। अवश्य जाऊँगा। मुझे रोकने की चेष्टा मत करो।"

"प्राणनाथ ! आपको अपना वचन तो याद ही होगा—जो विवाह के पूर्व मुझे दिया था ? अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मृगया खेलना सर्वथा त्याग दें। वचन का पालन नहीं करने पर मुझे कदाचित् दूसरा निर्णय करना पड़े।"

"हां, देवी ! मेरा वचन मुझे याद है। मैं उसका पालन करता आया हूँ। किन्तु इस प्रसंग पर तुम मुझे मत रोको। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा"—कहता हुआ राजा चल दिया।

राजा के व्यवहार से गंगा महारानी को आघात लगा। उसने गृह-त्याग कर पीहर जाने का निश्चय कर लिया और पुत्र को ले कर चल निकली। शिकार से लौटने पर अन्तःपुर सुना देख कर राजा को क्षोभ हुआ। दासियों से पूछने पर उसे मालूम हो चुका

कि मेरे वचन-भंग से क्षुब्ध हो कर रानी चली गई। रानी ने मेरा त्याग कर के मेरे वचन का निर्वाह किया है। राजा को रानी का विरह, शूल के समान खटकने लगा। वह शोकातुर हो कर तड़पने लगा। पहले तो वह अपना ही दोष देख कर पश्चात्ताप करने लगा और भविष्य में शिकार नहीं खेलने का निश्चय कर के रानी को मना कर लाने का विचार किया। किन्तु बाद में विचार पलटा। उसने सोचा—'रानी ने मेरे प्रेम का कुछ भी विचार नहीं किया। यदि वह मेरे लौटने तक रुक जाती, तो कौन-सा अनर्थ हो जाता। मैं उसे संतुष्ठ कर देता। मेरे लौटने के पूर्व ही—मेरी अवज्ञा कर के—वह चली गई। अब मैं उसे मनाने क्यों जाऊँ और क्यों अपने गौरव को घटाऊँ।' इस विपरीत विचारधारा ने उसे रोका। उसने निश्चय कर लिया कि वह विरह-वेदना सहन करेगा, किंतु रानी को मनाने नहीं जायगा। राजा ने अपना मन मोड़ लिया। मनोरञ्जन के लिए वह फिर शिकार खेलने जाने लगा।

सत्यवती

यमुना नदी के किनारे पर एक नाविक घूम रहा था। उसकी नौका यमुना तट से लगी पानी में डोल रही थी और वह इधर-उधर घूम कर प्रातःकालीन मनोरम समय का आनन्द ले रहा था। वह टहलता हुआ आगे बढ़ा और एक अशोक-वृक्ष की सघन छाया में बैठ कर शान्त सुरम्य प्रकृति की छटा का अवलोकन करने लगा। इतने में एक मनुष्य आकाश मार्ग से आया और एक सुन्दर बालक को उस अशोक वृक्ष की छाया में रख कर चला गया। नाविक यह दृश्य देख कर चकित रह गया। वह उठा और बालक के पास आया। वह एक सुन्दर कान्तिवाली बालिका थी। उस सुन्दर बच्ची को देख कर नाविक प्रसन्न हुआ। उसे विचार हुआ—'यह उच्च-कुलोत्पन्न बालिका है, परन्तु है किसकी? ऐसी दुर्लभ्य सन्तान यहाँ क्यों? यहाँ ला कर छोड़ने वाला वह मनुष्य कौन था?' ऐसे कई प्रश्न उसके मन में उठे। अन्त में उसने सोचा—'यह किसी की भी हो, मुझे तो कन्या-रत्न के रूप में प्राप्त हुई है। अब मेरी पत्नी पर लगा 'बाँझ' का दोष दूर हो जायगा और हमारा घर बच्चे की बाललीला से रमणीय बन जाएगा। वह बालिका को गोद में ले कर सुखमय भविष्य के मनोरथ कर ही रहा था कि आकाश में से एक ध्वनि निकल कर उसके कानों में पड़ी;—

"रत्नपुर नरेश रत्नांगद की रत्नवती रानी से उत्पन्न यह पुत्री है। कोई दुष्ट पुरुष इसे यहाँ रख गया है। हे नाविक ! तू इस बालिका का पालन-पोषण करना। यह राजकुमारी है और यौवन-वय प्राप्त होने पर, हस्तिनापुर नरेश शान्तनु की रानी होगी।"

उपरोक्त वाणी ध्यानपूर्वक सुन कर, नाविक प्रसन्न हुआ और पुत्री को घर ला कर पत्नी को दिया। वह भी बहुत प्रसन्न हुई। उसका लालन-पालन बड़ी सावधानी से होने लगा। वह दिनोदिन बढ़ने लगी। उसकी आभा, कान्ति, सौन्दर्य और स्त्रियोचित गुणों में वृद्धि होने लगी। नाविकों के परिवार-समूह में वह अनोखी सुन्दरी थी। उस सारी जाति में उसके सदृश एक भी युवती नहीं थी। वह उस नाविक जाति के, अन्धेरी रात समान कुरूप मनुष्यों में चाँद के समान प्रकाशित हो रही थी। वह जिधर भी जाती, लोगों में हलचल मच जाती। लोग उसे घेरे रहते। उसका आकर्षण चारों ओर व्याप्त था। नाविक को उसका विवाह करने की आवश्यकता अनुभव हुई। यद्यपि वह सत्यवती का विरह नहीं चाहता था, तथापि विवाह तो करना ही होगा, यह बात वह समझता था। उसको वह भविष्य-वाणी याद थी, जिसमें कहा गया था कि--'यह कन्या हस्तिनापुर के नरेश शान्तनु की रानी होगी।' इसलिए वह आश्वस्त था। समय बीत रहा था।

गंगा और गांगेय का वनवास

पति से विरक्त हो कर, गृह-त्याग करने के बाद महारानी गंगा अपने पीहर रत्नपुरी गई। वहाँ धर्मसाधना और पुत्र-पालन में समय व्यतीत करने लगी। गांगेय कुमार ने पाँच वर्ष तक अपने मामा विद्याधरपति पवनवेग के सान्निध्य में रह कर विद्या और कला का अभ्यास किया। वह विद्याधरों के बालकों के साथ खेलता था, किन्तु उसका तेज उन सभी बालकों से निराला और अद्वितीय था। उसने सभी विद्याएँ सरलतापूर्वक प्राप्त कर ली। गांगेय ने अपने मामा से धनुर्विद्या में ऐसी निपुणता प्राप्त की कि जिसे देख कर वह महान् धनुर्धर भी चकित रह गया। वय के साथ बलवृद्धि होती गई और कार्यकलाप बढ़ते गये। उसकी चेष्टाओं और प्रभाव से परिवार के समवयस्क बालक ही नहीं, बड़े लोग भी आशंकित रहने लगे। यह देख कर उसकी माता गंगारानी, पुत्र सहित भवन छोड़ कर उपवन में-- उसी स्थान पर आ कर रहने लगी--जहाँ विवाह के पूर्व रहती थी। वह आश्रम फिर से बस गया। अब गांगेय, वन के पशुओं और पक्षियों के साथ खेलने और

दौड़ने लगा। उस उपवन में कभी-कभी चारण निर्ग्रंथ विचरण करते हुए आ जाते थे। उस समय रानी उन महात्माओं से स्वयं धर्मोपदेश सुनती और कुमार को भी साथ रख कर सुनवाती। महात्माओं के उपदेश से प्रभावित हो कर कुमार ने निरपराधी जीवों की हिंसा का त्याग कर दिया। उसने आश्रम की सीमा बढ़ा कर, उतनी लम्बी-चौड़ी कर ली कि जितने में उसके पालतु मृग आदि निर्भय हो कर सूखपूर्वक विचरण कर सके। उस सीमा में कोई शिकारी प्रवेश नहीं कर सकता था। उस उपवन के पशुओं को वह अपने आत्मीय-जन के समान मानता था। पशु-पक्षी भी उससे प्रेम करते थे। स्वच्छ एवं निर्मल वायु-मंडल में उसके आरोग्य और वल में भी वृद्धि हो गई थी। उसका शस्त्राभ्यास भी वढ़ रहा था।

एकदा शिकारियों ने आ कर उस उपवन को घेर लिया। मृग आदि पशु भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे। गांगेय ने देखा--रथारूढ़ एक भव्य पुरुष, धनुष-वाण लिये शिकार की ताक में लगा है। अन्य मनुष्य, पशुओं को डरा कर उसके निकट--उसके निशाने की परिधि में ला रहे हैं। वह शंकित हुआ और धनुष-वाण लिए रथ की ओर जाता हुआ, दूर से ही बोला; —

"सावधान ! यहाँ शिकार नहीं खेला जाता। अपना वाण उतार कर तरकश में रखिए।"

राजा ने देखा—एक दिव्य-प्रभा वाला किशोर उनकी ओर चला आ रहा है। उसका मस्तक शिखर के समान उन्नत, चेहरा तेजस्वी और आकर्षक, वक्षस्थल विशाल, भुजाएँ पुष्ट और घुटने तक लम्वी यावत् सभी अंगोपांग शुभ लक्षण से युक्त हैं। ऐसा प्रभावशाली भव्य किशोर उसने आज तक नहीं देखा था। उसे देखते ही वह शिकार को भूल कर उसी को निरखने लग गया। उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई। कुछ समय वह स्तब्ध रहने के वाद सम्भला।

गांगेय का पिता से युद्ध और मिलन

"मैं यहाँ शिकार खेल रहा हूँ। तुम मुझे रोकने वाले कौन हो"—राजा ने कहा।

"आपको ऐसा क्रूर और हिंसक खेल नहीं खेलना चाहिए। अपने खेल के लिए गरीव पशुओं की हत्या करना, मनुष्यता के विरुद्ध—राक्षसी-कृत्य है"—गांगेय ने कहा।

—"तू मुझे उपदेश देने वाला कौन है ?"

—"मैं आपसे विनयपूर्वक निवेदन कर रहा हूँ--महानुभाव ! उपदेश नहीं देता। मेरी प्रार्थना है कि इन मूक-पशुओं पर दया कीजिये"—गांगेय विनयपूर्वक बोला।"

—"मैं यहाँ मृगया के लिये आया हूँ। मैं क्षत्रीय हूँ। मृगया क्षत्रीय के लिए कला, शक्ति, उत्साह और आल्हादवर्द्धक खेल है। इसका निषेध करना मूर्खता है। तुम्हें किसी पाखण्डी ने भरमाया होगा। तुम दूर से मेरा खेल देखते रहो और यदि नहीं देख सकते, तो चले जाओ। मेरा अवरोध मत करो।"

"—महानुभाव ! आपके विचार मुझे उचित नहीं लगते। शक्ति और कला के अभ्यास के लिए मृगया आवश्यक नहीं है। किसी निर्जीव वस्तु को लक्ष्य बना कर भी अभ्यास हो सकता है। मैंने ऐसा ही किया है। मृगया से तो क्रूरता में वृद्धि होती है, पाप बढ़ता है और शिकारी अनेक जीवों की दृष्टि में एक काल—राक्षस के रूप में दिखाई देता है। उसकी आंहट पा कर ही जीव भयभीत हो जाते हैं। यदि वह हिंसा त्याग कर प्रेम एवं वात्सल्य का व्यवहार करे, तो ये पशु, उस मनुष्य के परिजन के समान बन जाते हैं। मेरे साथ इनका ऐसा ही सम्बन्ध है। इस उपवन में रहने वाले पशु मुझसे भयभीत नहीं होते, वरन् प्रेमपूर्वक मेरे साथ खेलते हैं। यदि आप यहाँ किसी को मारेंगे, तो इन पशुओं के प्रति मेरा अर्जित प्रेम नष्ट हो जायगा। मैं स्वयं इनके लिए शंकास्पद बन जाऊँगा। नहीं, नहीं, आप यहाँ पशुओं पर शस्त्र-प्रहार नहीं कर सकेंगे। मैं अपने आत्मीयजनों को आपके शस्त्र का लक्ष्य नहीं बनने दूंगा"—कुमार ने दृढ़ता से कहा।

कुमार की वाणी, ओज और भव्यतादि से राजा प्रभावित अवश्य था, परन्तु बिना आखेट किये लौटना उसे अपमानकारक लगा। उसने कहा; —

"लड़के ! तुझे बोलना बहुत बढ़चढ़ कर आता है। चल हट यहाँ से"—कहते हुए राजा ने तरकश से बाण निकाला।

कुमार ने देखा कि राजा अपने हठ पर ही दृढ़ है, तो वह क्रुद्ध हो गया। उसने आँखें चढ़ाते हुए कहा —

"मैंने कहा—आप यहाँ शिकार नहीं खेल सकते। मैं आपको यहाँ शर-संधान नहीं करने दूंगा। कृपया मान जाइए।"

राजा ने अंगरक्षक की ओर संकेत किया। वह कुमार की ओर बढ़ा और उसे हाथ पकड़ कर हटाने की चेष्टा करने लगा, तो कुमार ने कहा—'मेरे उपवन में ही तुम मेरी अवज्ञा करना चाहते हो ? चलो हटो—यहाँ से। अन्यथा पछताओगे।"

सुभट बलप्रयोग करने लगा, किन्तु एक क्षण में ही उसने अपने को पृथ्वी पर पड़ा

पाया। कुमार का एक धक्का भी वह सह नहीं सका। उसकी सहायता में एकसाथ तीन-चार सुभट आये, परन्तु उन्हें भी मार खा कर भूमि का आश्रय लेना पड़ा। राजा खड़ा-खड़ा यह दृश्य देख कर चकित हो रहा था। अपने सैनिकों की एक छोकरे द्वारा पराजय, राजा सहन नहीं कर सका। वह क्रुद्ध हो गया और स्वयं धनुष पर बाण चढ़ा कर कुमार पर प्रहार करने को उद्यत हुआ। कुमार भी सतर्क था। उसने सोचा—'यदि विना किसी पर प्रहार किये ही शान्ति हो सकती हो, तो रक्तपात करने की आवश्यकता नहीं।' उसने राजा के रथ की ध्वजा गिरा दी। इससे राजा का क्रोध विशेष उभरा। प्रेम को क्रोध ने दवा दिया। राजा ने कुमार पर वाण छोड़ा। कुमार ने उसे काट कर रथ के सारथी पर सम्मोहक प्रहार किया, जिससे रथी मूर्च्छित हो कर गिर गया। अव राजा, कुमार पर भीषण वाण-वर्षा करने लगा। कुमार राजा के समस्त वाणों को निष्फल करने लगा। राजा का प्रयत्न निष्फल देख कर उसके सभी सुभटों ने आकर कुमार को घेर लिया और प्रत्येक सुभट प्रहार करने लगा। कुमार की चपलता वढ़ी और वह चारों ओर से अपनी रक्षा करता हुआ प्रहार करने लगा। थोड़े ही समय में उसने राजा के सैनिकों को घायल कर के एक ओर हटा दिया। अव राजा के कोप की सीमा नहीं रही। वह कुमार पर संहारक प्रहार करने के लिए सन्नद्ध हुआ। वह शर-सन्धान कर ही रहा था कि कुमार ने राजा के धनुष की प्रत्यञ्चा ही काट दी। राजा हताश हो कर व्याकुल हो गया। यह सव दृश्य गंगादेवी अपने आश्रम से देख रही थी। अपने पुत्र का अद्भूत पराक्रम देख कर वह प्रसन्न हुई। पिता से भी पुत्र सवाया जान कर उसे गौरवानुभूति हुई। क्षणभर वाद ही उसका हृदय दहल गया। 'क्रोध और अहंकार में कहीं कुछ अनिष्ट नहीं हो जाय'—वह सँभली और तत्काल आगे वढ़ी और पुत्र को सम्वोध कर वोली;—

"पुत्र! यह क्या? तू किसके साथ युद्ध कर रहा है? वत्स! पिता, पूज्य होते हैं। तुम्हें इनके सम्मुख शस्त्र उठाना नहीं चाहिए। झुक कर प्रणाम करना चाहिए।"

इन वचनों ने गांगेय को स्तम्भित कर दिया। वह सोचने लगा;—क्या यह शिकारी मेरा पिता है? उसने माता से पूछा—"आपकी वात मेरी समझ में नहीं आई। हम वनवासी हैं और ये कोई नरेश दिखाई देते हैं। यदि मैं इनका पुत्र हूँ और आप रानी हैं, तो हम वनवासी क्यों हैं?"

"पुत्र! मैं सत्य कहती हूँ। ये तुम्हारे पिता महाराजा शान्तनु हैं। तू इन्हीं का पुत्र है और मैं इनकी पत्नी हूँ। इनके शिकार के व्यसन के कारण ही मैं वनवासिनी वनी हूँ।"

गांगेय बोला—जो व्यक्ति दुर्व्यसनी हो, क्रूर हो, जिसके हृदय में दया नहीं हो, जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकता हो और जिसके सुधरने की आशा नहीं हो, ऐसे से सम्बन्ध-विच्छेद करना ही उचित है। आपने सम्बन्ध विच्छेद कर के अच्छा ही किया है। मुझे ऐसे अन्यायी, अधर्मी और दुर्व्यसनी राजा को पिता कहने और सत्कार करने में संकोच होता है।

पुत्र के वचन सुन कर गंगादेवी, पति के समीप गई और प्रणाम कर के कहने लगी;—

"महाराज ! आपको अपने पुत्र पर क्रोध करना और निर्दय होना उचित नहीं है। पिता-पुत्र का युद्ध मैं कैसे देख सकती हूँ। पशुओं के शिकार ने आपका हृदय इतना कठोर और पाषाण तुल्य बना दिया कि मनुष्य पर भी दया नहीं रही। अपने पुत्र को मारने के लिए आपका हृदय कैसे तत्पर हुआ—प्राणेश ! यदि बालक से कोई अपराध हुआ भी तो वह क्षमा करने योग्य है और आप क्षमा प्रदान करने योग्य हैं।"

अपने सामने अचानक गंगा महारानी—वर्षों से बिछुड़ी हुई हृदयेश्वरी—को देख कर शान्तनु स्तब्ध रह गया। वह रथ से नीचे उतरा और धनुष-बाण एक ओर डाल कर हर्षयुक्त दौड़ता हुआ प्रिया के निकट आया। उसके हर्ष का पार नहीं था। वह रानी को हृदय से लगाना चाहता था, परन्तु सुभटों और कुमार की उपस्थिति से रुक गया। दोनों के हृदय एवं नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे और हर्षाश्रु बह रहे थे। वर्षों के वियोग के बाद मिलन की आनन्दानुभूति अवर्णनीय होती है। कुछ समय बाद राजा सम्भला और अपने कुल-दीपक वीरशिरोमणि पुत्र के प्रति उमड़े हुए वात्सल्य भाव से प्रेरित हो कर दूर खड़े हुए गांगेय की ओर बढ़ा। गांगेय ने पिता का अभिप्राय समझा। वह धनुषबाण छोड़ कर आगे बढ़ा और पिता के चरणों में झुका। पिता ने उसे भुजाओं में भर कर छाती से चिपका लिया। शान्तनु राजा के हर्ष का पार नहीं था। उसे बिछुड़ी हुई प्रिया और वीर-शिरोमणि, प्रतिभा का धनी पुत्र प्राप्त हो गया था। राजा ने हर्षावेश में रानी से कहा;—

"प्राणवल्लभे ! तुम्हें और इस देवोपम पुत्र को पा कर, मैं आज अपने को परम सौभाग्य सम्पन्न समझता हूँ। मेरे हृदय में अपने दुष्कृत्य के प्रति पश्चात्ताप है। मैं आज सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब आजीवन आखेट नहीं करूँगा। अब चलो और विलुप्त हुई अन्तःपुर की शोभा को फिर से जगमगा दो,"—शान्तनु ने आग्रहपूर्वक कहा—

"आर्यपुत्र ! मैं अब संसार से विरक्त हो चुकी हूँ। अब मैं प्रव्रजित हो कर मनुष्य-भव को सफल करना चाहती हूँ। इस पुत्र के कारण ही मैं रुकी हुई थी। अब पुत्र को आप ले जाइए और मुझे निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण करने की आज्ञा प्रदान कीजिए।"

"वत्स ! तुम अपने पिता के साथ जाओ। इनकी आज्ञा का पालन करते हुए सुख से रहो। धर्म को मन से कभी दूर मत होने देना। मैं अब अपनी आत्मा का उत्थान करने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी।"

पुत्र को मातृवियोग का आघात लगा और शान्तनु को प्राप्त हर्ष में पुनः विषाद की ठेस लगी। शान्तनु और गांगेय ने गंगादेवी को बहुत समझाया, किन्तु उसकी विरक्ति ठोस थी। वह विचलित नहीं हुई। अंत में राजा शान्तनु को विवश हो कर अनुमति देनी पड़ी। वह पुत्र को साथ ले कर राजधानी की ओर चला गया।

गांगेय की भीष्म-प्रतिज्ञा

एकबार महाराजा शान्तनु वनचर्या करते हुए यमुना नदी के तीर पर आ पहुँचे। वे सरिता की शोभा देख रहे थे। नदी में नौकाएँ तैर कर लोगों को एक तीर से दूसरे तीर पर ले जा रही थी। उनकी दृष्टि सत्यवती पर पड़ी और उसी पर अटक गई। वे उसके रूप यौवन लावण्य एवं कान्ति देख कर स्तंभित रह गए। उनका मोह प्रबल हुआ। वे उसके निकट आये और पूछा--

"शुभे ! तुम किसकी पुत्री हो ? तुम्हारा शुभ नाम और परिचय क्या है ?"

"महानुभाव ! मैं नविकों के नायक की पुत्री हूँ। मेरा नाम सत्यवती है।"

"लगता है कि अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ।"

"मैं अपने माता-पिता की पुत्री ही हूँ।"

"तुम मुझे अपनी नौका में बिठा कर उस पार ले चलोगी ?"

"नहीं, मैं यह कार्य नहीं करती। अपने मनोरंजन के लिए नौका-विहार कर लेती हूँ। मेरे पिता आपको पार पहुँचा देंगे।"

"तुम्हारे पिता कहाँ है ?"

सत्यवती ने अपने पिता को बुलाया। केवट आया और राजेन्द्र का अभिवादन करता हुआ बोला--

"पृथ्वीनाथ ! आज इस गरीब के घर यह सोने का सूरज कैसे उदय हो गया ? मेरी छाती हर्ष को नहीं संभाल रही है--प्रभो ! दास अनुग्रहित हुआ। आज्ञा कीजिए स्वामिन् ! सेवा का लाभ प्रदान कीजिए।"--केवट अत्यधिक नम्र हो कर बोला।

"नाविकराज ! यदि तुम अपनी यह पुत्री मुझे दे सकते हो, तो मैं इसे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ"—राजा ने अपनी अभिलाषा व्यक्त की।

"महाराज ! यह तो मेरे और सत्यवती पर ही नहीं, मेरे वंश पर ही देव की महान् कृपा हुई। मेरी पुत्री राजरानी बने और महाराज का मैं श्वशुर बनूं ? महाराजाधिराज मुझसे याचना करे, इससे बढ़ कर और क्या सौभाग्य हो सकता है ? परन्तु महाराज ! ....

"परंतु ! परंतु क्या केवटराज ? शीघ्र कहो। क्या चाहते हो"—महाराज ने परंतु के अवरोध से चौंक कर पूछा—

"राजेश्वर ! सत्यवती मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है। मैं इसे सदैव हँसती-खेलती और सुखी देखना चाहता हूँ। यह राजेश्वरी बन कर भी क्लेशित रहे, इसका जीवन शोक-संतापमय बन जाय, तो वह राजवैभव भी किस काम का—महाराज ! इससे तो वह गरीबी ही भली कि जिसमें किसी प्रकार की उपाधि और क्लेश नहीं हो। प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत होता हो। सत्ता और वैभव आत्मा को सुख नहीं दे सकते महाराज !"—नाविकराज बड़ा चतुर एवं चालाक था। उसे विश्वास हो गया था कि राजा सत्यवती पर आसक्त है। आकाशवाणी का स्मरण भी उसे था ही। अतएव अधिकाधिक लाभान्वित होने की नीति अपना कर उसने राजा से कहा।

"स्पष्ट बोलो—नायक ! तुम किस क्लेश और संताप की बात कर रहे हो ? हस्तिनापुर और विशाल राज्य की राजमहिषी के लिए किस बात की कमी और दुःख की कल्पना कर रहे हो—तुम ! मेरे होते हुए भी इसे दुःख हो सकता है क्या ?"

"स्वामिन् ! मेरी आशंका दूसरी है। संसार में सौत के झगड़े प्रसिद्ध हैं। कहावत है कि—'सौत तो मिट्टी की भी बुरी होती है'। अपार वैभव में रहती हुई भी वह सौतिया-डाह में जलती रहती है। मैं जानता हूँ कि महारानी गंगादेवी, गंगा के समान पवित्र हैं और वे संसार से उदासीन हैं। फिर भी महाराज ! मेरा मन कुछ निश्चिंत नहीं हो पा रहा है।"

"केवटराज ! सत्यवती को न तो सपत्नी का क्लेश होगा और न मेरी ओर से किसी प्रकार का खेद होगा। इसका जीवन सुखी और आनन्दित रहेगा। तुम किसी प्रकार की आशंका मन में मत रखो और मुझ पर विश्वास रख कर सत्यवती को मुझे दे दो"—राजा आतुर हो रहा था।

"पृथ्वीनाथ ! मुझे विश्वास है कि सत्यवती को सौत का कोई भय नहीं रहेगा।

परंतु जरा दीर्घ-दृष्टि से देखिये महाराज ! यदि सत्यवती के पुत्र हुआ, तो क्या उसका राज्याभिषेक हो सकेगा ? गांगेय जैसे आदर्श एवं वीर-सिरोमणि युवराज के होते हुए, मेरा दौहित्र राजा नहीं हो सकेगा। उस समय सत्यवती के मन में संताप होगा। वह यह सोच कर जलती रहेगी कि—'महाराजाधिराज राजराजेश्वर का पुत्र हो कर भी यह राज्यहीन मात्र सेवक ही रहा।' यह चिन्ता उसे सुखी नहीं रहने देगी--स्वामिन् !"

—"हं..... राजा कुण्ठित हो गया। कुछ क्षण सोचने के बाद बोला--"नहीं, केवट ! इसका उपाय मेरे पास नहीं है। मैं गांगेय के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। यदि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो मैं लौट जाता हूँ। अन्याय का कार्य मुझ-से नहीं होगा"—कहते हुए महाराज शान्तनु निराशापूर्वक लौट गए। नाविक खड़ा-खड़ा देखता रहा।

राजा अपनी शैय्या पर सोये हुए करवट बदल रहे हैं। उनकी निद्रा लुप्त हो चुकी है। मुख म्लान और निस्तेज हो गया है। भूख-प्यास मिट गई है। वे न किसी से मिलते और न राज-काज की ओर ध्यान देते हैं। सत्यवती ही उनके मानस-भवन में उद्वेग मचा रही थी। महाराजा की दशा देख कर पितृ-भक्त गांगेय को चिन्ता हुई। उसने पिता से चिन्ता का कारण पूछा, परंतु राजा बता नहीं सका। कुमार ने महामात्य से कहा। महामात्य के पूछने पर राजा ने कहा—

"मुझे कहते संकोच होता है, परंतु तुम मेरे मित्र भी हो। तुम से छिपाना कैसा ? नाविकों के नायक की पुत्री सत्यवती ने मेरा मन हर लिया है। मैंने उसके लिए नाविक से माँग की। नाविक सत्यवती को देने को तय्यार है। परंतु उसकी एक शर्त ऐसी है कि जिसे मैं स्वीकार नहीं कर सका। फलतः मैं निराश हो कर लौटा। वही सुन्दरी मुझे तड़पा रही है। उसी के विचारों ने मेरी यह दशा बना दी है। इसके सिवाय मुझे और कोई दुःख नहीं है।"

'वह कौनसी शर्त है—स्वामिन् ! जो पूरी नहीं की जा सकती'--मन्त्रीवर ने पूछा।

"मित्र ! केवट बड़ा चालाक है। वह कहता है कि 'मेरी पुत्री के पुत्र हो, तो आपका उत्तराधिकार उसी को मिलना चाहिए।' यह शर्त मानने पर ही वह अपनी पुत्री मुझे दे सकता है। ऐसी शर्त मानना तो दूर रहा, मैं उस पर विचार ही नहीं कर सकता।"

महामन्त्री भी अवाक् रह गया। वह क्या बोले। फिर भी केवट को समझाने का आश्वासन देकर महामन्त्री चले आये और राजकुमार गांगेय को सारा वृत्तान्त सुनाया। गांगेय ने विचार कर कहा—

"आपके समझाने से काम नहीं बनेगा। मैं स्वयं जा कर समझाऊँगा और उसका समाधान करूँगा। आप निश्चिंत रहिए।"

राजकुमार रथारूढ़ हो कर यमुना के तीर पर पहुँचा। केवट ने राजकुमार का स्वागत किया और आगमन का कारण पूछा। राजकुमार ने कहा—

"नाविकराज ! आपकी पुत्री के लिए महाराज ने स्वयं आपसे याचना की, फिर भी आपने स्वीकार नहीं की। यह अच्छा नहीं किया। महाराजा किसी से याचना नहीं करते। एक आप ही ऐसे सद्भागी हैं कि आपके सामने वे याचक बने। अब भी आप स्वीकार कर के अपनी भूल सुधार लें। मैं यही कहने आया हूँ।"

नाविक ने कहा—"महानुभाव ! मुझे भी इस बात का खेद हो रहा है कि मैंने ऐसे महायाचक को खाली-हाथ लौटाया। किंतु आप भी सोचिये कि मैं उनकी माँग कैसे स्वीकार करता ? जब मेरी प्राणों से भी अत्यधिक प्रिय पुत्री का जीवन क्लेशित और दुःखमय होने की आशंका हो ? मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं केवल यही चाहता हूँ कि इसके जीवन में कभी खेद या दुःख का अनुभव नहीं हो।"

"आपकी पुत्री को दुःख होगा ही कैसे ? यदि राजरानी भी दुःखी हो, तो फिर इतनी श्रेष्ठ सामग्री और वैभव कहाँ मिलेगा ? आप निश्चिंत रहिए। आपकी पुत्री को किसी की ओर से कोई कष्ट नहीं होगा। मैं आपको इसका वचन देता हूँ।"—गांगेय ने विश्वास दिलाया।

—"युवराज ! आपका कहना ठीक है। आप सत्पुरुष हैं, परंतु जब मेरी पुत्री के पुत्र होगा, तो वह राज्य का स्वामी नहीं हो सकेगा। राज्य के स्वामी आप होंगे और वह आपका सेवक होगा। महाराजाधिराज का पुत्र हो कर राज्य का सेवक बने, राज-महिषी का पुत्र राजा नहीं हो कर सेवक बने, तो उस समय उसे कितना दुःख होगा ? वह जीवनभर दुःख एवं क्लेश में ही घुलती रहेगी। यह आशंका रहते हुए भी मैं अपनी प्रिय पुत्री कैसे दे सकता हूँ"—नाविक ने भावी दुःख का शब्द-चित्र खिंच कर राजकुमार को प्रभावित किया।

—"नायकजी ! आपकी आशंका निर्मूल है। आपकी पुत्री जब महारानी होगी, तो वे मेरी भी माता होगी। मैं उसको अपनी जनेता से भी अधिक मानूँगा। मेरे छोटा भाई हो, तो यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी। मैं बिना भाई के अभी एक शून्यता का अनुभव कर रहा हूँ। मेरी यह शून्यता दूर हो जाय, तो इससे मुझे आनन्द होगा। वह मेरा प्राणप्रिय बन्धु होगा। मुझसे उसे कष्ट होने या उसका अनादर होने की

आप कल्पना ही क्यों करते हैं ?" मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मेरे छोटे भाई का जन्म हुआ, तो राज्य का अधिपति वही होगा, और मैं उसकी रक्षा में तत्पर रहूँगा। कहिये, अब तो आपको विश्वास हुआ ?"

राजकुमार की प्रतिज्ञा सुन कर नाविक स्तम्भित रह गया। वह गांगेय के गुणों की प्रशंसा सुन चुका था। वह राजकुमार को नीतिमान् और धर्मात्मा समझता था। परंतु अपना राज्याधिकार छोड़ने जितनी तत्परता की उसे आशा नहीं थी। इतना सब होने पर भी नाविक पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हुआ था। उसकी पैनी दृष्टि में एक आशंका फिर भी शेष रह गई थी। उसने कहा--

--"गांगेयदेव ! आपकी प्रतिज्ञा पर मुझे विश्वास है। मुझे यह तो संतोष हो गया कि आपकी ओर से मेरी पुत्री और उसकी सन्तान को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। परंतु आपकी सन्तान होगी, वह इस बात को कैसे सहन कर सकेगी कि अपने अधिकार के राज्य का दूसरा अनधिकारी उपभोग करे। उनकी ओर से तो भय शेष रह ही जाता है"--केवट अधिकाधिक पाने की आशा से बोला।

--"नाविक राज ! आपकी इस आशंका को समाप्त करके, आपको निःशंक बनाने के लिए, धर्म की साक्षी से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। स्वर्ग के देवगण मेरे साक्षी रहें। अब आपकी समस्त आशंकाएँ निर्मूल हो गई। अब विलम्ब मत करिये और इस रथ में अपनी पुत्री को बिठा कर मेरे साथ भेजिए।"

नाविक अवाक् रह गया। उसके मुँह से 'धन्य-धन्य' की ध्वनि निकल गई। आकाश में रहे हुए देवों ने कुमार पर पुष्प-वर्षा की और जय-जयकार किया, तथा कुमार की इस प्रतिज्ञा को "भीष्म प्रतिज्ञा" बतलाया। नाविक ने गांगेय से कहा; —"वीरवर ! सत्यवती मेरी औरस पुत्री नहीं है। यह भी राजकुमारी है।" उसने उसका सारा वृत्तांत सुनाया और सत्यवती को बुला कर प्रेमालिगन करते हुए कहा—

"पुत्री ! इस भव्यात्मा राजकुमार के साथ राज-भवन में जाओ और राजरानी बनो। सुखी रहो। मुझसे तुम्हारा वियोग सहन करना कठिन होगा। किन्तु प्रसन्नता इस बात की है कि तू सुखी रहेगी। महाराजाधिराज का मैं श्वशुर और वे मेरे जामाता होंगे। वीर-शिरोमणि राजकुमार गांगेय मेरे दोहित्र होंगे। जा पुत्री ! सुखी रह और अपने इस गरीब पिता को भी कभी-कभी याद करती रहना। सत्यवती का हृदय भर आया। उसने पिता को प्रणाम किया। गांगेयकुमार ने नाविकराज को और सत्यवती को प्रणाम कर के कहा—"माता ! इस रथ में बैठो।" सत्यवती रथ में बैठी। राज-भवन में पहुँचने पर

सत्यवती को अन्तःपुर में पहुँचा दिया। महाराजा शान्तनु, मन्त्रीगण और प्रजा ने गांगेय की भीष्म-प्रतिज्ञा सुन कर आश्चर्य माना। शुभ मुहूर्त में शान्तनु और सत्यवती का लग्न हुआ और वे भोग में आसक्त हो कर जीवन व्यतीत करने लगे।

शान्तनु का देहावसान

माहाराजा शान्तनु सत्यवती के साथ कामभोग में आसक्त हो कर जीवन व्यतीत करने लगे और गांगेयकुमार धर्म-चिन्तन और राज्य-व्यवस्था में समय बिताने लगे। महाराजा और सत्यवती का भीष्म पर अत्यधिक प्रेम था। कालान्तर में सत्यवती गर्भवती हुई। उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। वह रूप-कांति में उत्तम और आकर्षक था। उसका नाम 'चित्रांगद' रखा। भीष्म को लघुभ्राता पा कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका भ्रातृ-प्रेम उमड़ा। वह बालक को प्रेमपूर्वक छाती से लगा कर हर्षित हुआ। कालान्तर में एक पुत्र और हुआ, उसका नाम 'विचित्रवीर्य' रखा। वह भी आकर्षक और रूपवान् था। दोनों बन्धुओं की शिक्षा पर भीष्म ने विशेष ध्यान दिया। वे सभी कलाओं में प्रवीण हो कर युवावस्था को प्राप्त हुए। गांगेय, चित्रांगद और विचित्रवीर्य का पारस्परिक स्नेह और सद्भाव देख कर राजा और रानी, सन्तुष्ट थे। राजा शान्तनु वृद्धावस्था प्राप्त कर चुके थे। उनके मन में अब संसार से विरक्ति बढ़ रही थी। वे अपने पिछले जीवन को धिक्कार रहे थे। अपने शिकारी-जीवन में पशुओं की हुई हिंसा और विषय-लोलुपता का पश्चात्ताप कर रहे थे। उनकी इच्छा अब त्यागमय श्रमण-साधना स्वीकार करने की हो रही थी। वे यही भावना रखते थे। उसी समय उन्हें एक भयंकर व्याधि उत्पन्न हुई और थोड़े ही समय में उनका देहावसान हो गया।

चित्रांगद का राज्याभिषेक और मृत्यु

शान्तनु के अवसान के बाद गांगेय ने अपने छोटे भाई चित्रांगद का राज्याभिषेक करवाया और स्वयं राज्य और प्रजा की हित-साधना में तत्पर रहने लगा। चित्रांगद स्वयं राज्यभार लेना नहीं चाहता था और अपने ज्येष्ठ-भ्राता गांगेय को ही राज्याभिषेक के लिए मना रहा था। परन्तु गांगेय अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा और चित्रांगद को ही

राजा बनाया। चित्रांगद विनयपूर्वक गांगेय के निर्देशानुसार शासन करने लगा। कालान्तर में चित्रांगद को भी विजय-यात्रा करने की इच्छा हुई। उसने अपने से विमुख राजाओं के राज पर चढ़ाई की और एक के बाद दूसरे राज्य पर विजय पाता गया। इन विजयों से उसमें से नम्रता एवं विनयशीलता निकल गई और अभिमान जागा। वह अपने ज्येष्ठ एवं हितैषी की भी उपेक्षा करने लगा। एकबार नीलांगद नाम के एक राजा ने चित्रांगद पर चढ़ाई की। चित्रांगद अपनी पूर्व की विजयों से घमण्डी बन गया था। उसने भीष्म (गांगेय) को पूछा भी नहीं और सहसा नीलांगद के साथ युद्ध में उलझ गया। नीलांगद की युद्ध-चाल, चित्रांगद को घेर कर मारने की थी। उसने चालाकी से चित्रांगद को घेर लिया। वह उसकी सेना का संहार करता हुआ चित्रांगद के निकट पहुँचा और शस्त्र प्रहार से उसका मस्तक काट कर विजयोत्सव मनाने लगा। जब भीष्म ने चित्रांगद की मृत्यु का समाचार सुना, तो क्रोधित हुआ और युद्धभूमि में आ कर नीलांगद को ललकारा। नीलांगद का विजयोल्लास और उत्सव बन्द हो गया। पुनःयुद्ध छिड़ा और थोड़ी ही देर में नीलांगद धराशायी हो गया। नीलांगद के मरते ही युद्ध रुक गया। भीष्म, चित्रांगद का मस्तक ले कर हस्तिनापुर आया और शव की उत्तर क्रिया की।

विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक और लग्न

चित्रांगद का उत्तराधिकार विचित्रवीर्य को दिया गया और भीष्मदेव पूर्व की भांति राज्यहित में संलग्न हो गए। विचित्रवीर्य प्रकृति से विनम्र एवं विनयशील था। वह भीष्म के प्रति पूज्यभाव रखता था और उनकी आज्ञानुसार कार्य करता था। भीष्म के प्रभाव से विचित्रवीर्य का राज्य निष्कंटक हो गया। उसका कोई विरोधी नहीं रहा। अब भीष्म के मन में राजा विचित्रवीर्य का लग्न करने का विचार हुआ। वह किसी योग्य राजकुमारी की खोज में रहने लगा।

काशीपुर नरेश के तीन पुत्रियां थीं—१ अम्बा २ अम्बिका और ३ अम्बालिका। तीनों रूप लावण्य और उत्तम गुणों से समृद्ध थी। उनके लग्न के लिए राजा ने स्वयंवर का आयोजन किया। मण्डप में अनेक राज्याधिपति और राजकुमार एकत्रित थे। तीनों राजकुमारियाँ, सखीवृन्द के साथ स्वयंवर-मण्डप में आईं। उनके हाथ में वरमाला झूल रही थी। वे एक के बाद दूसरे राजा को छोड़ कर आगे बढ़ती जाती थी। दर्शकों की भीड़ जमी हुई थी। उस भीड़ में भीष्म भी छद्मवेश में आ कर मिल गया था। काशीपुर

नरेश ने इस आयोजन में हस्तिनापुर नरेश को आमन्त्रण नहीं दिया था। भीष्म ने इसे राज्य का अपमान माना और राजकुमारियों का हरण करने के विचार से, गुप्तवेश में आया। उसका रथ इस मण्डप के बाहर ही खड़ा था। जब राजकुमारियें निकट आईं, तो भीष्म ने भीड़ में से निकल कर उनको उठाया और ले जा कर रथ में बिठाया। कन्याएँ भयभीत हो गई थी। भीष्म ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"तुम निर्भय रहो। मैं कोई डाकू नहीं हूँ। हस्तिनापुर नरेश का भाई हूँ। हस्तिनापुर का राज्य बहुत बड़ा है। नरेश रूप गुण और कला में अद्वितीय हैं। मैं तुम्हें उनकी रानियाँ बनाऊँ गा। उन देव के समान प्रभावशाली के आगे यहाँ बैठे हुए सभी राजा किंकर के समान लगते हैं। तुम जीवनभर आनन्द करोगी।"

भीष्म ने सोचा—'यदि बिना युद्ध के यों ही ले जाऊँ गा, तो लोगों में मैं 'डाकू' या 'उठाईगीर समझा जाऊँगा।' उन्होंने उद्घोषणा की;—

"ओ राजा-महाराजाओ! मैं हस्तिनापुर के महाराजाधिराज विचित्रवीर्य के लिए, इन राजकुमारियों का संहरण कर के ले जा रहा हूँ। यदि किसी में साहस हो, तो गांगेय के सम्मुख आ कर युद्ध करे और कन्याओं को मुक्त करावें।"

राजकुमारियों का हरण होते ही मण्डप में एक हलचल मच गई। काशी नरेश अपने योद्धाओं को सम्बोध कर—"पकड़ो, मारो" आदि आदेश देने लगे और स्वयं शस्त्र-सज्ज होने लगे। अन्य नरेश आश्चर्यान्वित हो एक-दूसरे से पूछने लगे—"कौन था वह, कहाँ ले गया? हमें क्या करना चाहिए? अभी काशी के योद्धा उसे पकड़ लेंगे, वह अकेला ही है। हमें जाने की आवश्यकता ही क्या है?"

वे सब विचार ही कर रहे थे कि भीष्म की सिंह-गर्जना सुनाई दी। अब तो सभी राजाओं को भी सन्नद्ध हो कर युद्ध के लिए आना ही पड़ा। कुछ तो भीष्म की भीम-गर्जना से ही भयभीत हो गए, कुछ भीष्म के पराक्रम से परिचित थे, वे पीछे खिसकने लगे। लेकिन कायरता के कलंक और अपमान के भय से, अन्य साहसी राजाओं और काशी नरेश के साथ उन्हें भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। एक ओर भीष्म अकेले और दूसरी ओर शस्त्रसज्ज सेना सहित अनेक राजा। भयंकर संग्राम हुआ। बाणवर्षा से भीष्म का सारा रथ आच्छादित हो गया, फिर भी उनका अमोघ प्रहार शत्रुओं को घायल कर के उनके साहस को समाप्त कर रहा था। शत्रुओं में शिथिलता व्याप्त हुई देख कर महाबली भीष्म ने काशीराज को सम्बोधित कर कहा—

"राजेन्द्र! शान्ति से मेरी बात सुनो। मैं हस्तिनापुर नरेश महाराजाधिराज

विचित्रवीर्य का ज्येष्ठ-भ्राता हूँ। आपने इस समारोह में हमारे महाराजाधिराज को आमन्त्रण नहीं दे कर गम्भीर भूल की। इसी से मुझे आपके आयोजन में विघ्न उत्पन्न कर के यह कार्य करना पड़ा। मैंने जो कुछ किया, वह आपको अत्याचार लग सकता है, किन्तु इसे वीरोचित–क्षत्रियोचित तो आप को भी मानना पड़ेगा। राजा, स्वामी या पति बलवान ही हो सकता है। बलवान इन्हें शक्ति से प्राप्त करते एवं रक्षण करते हैं। मैंने भी यही किया है। आप क्षोभ एवं विषाद को छोड़ कर प्रसन्न होइए और अपनी पुत्रियों को प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीजिए। मैं आप से आत्मीय मधुर सम्बन्ध की आशा रखता हूँ।"

गांगेयदेव का परामर्श काशीराज ने स्वीकार किया और अपनी तीनों पुत्रियों को अत्यन्त आदरपूर्वक और विपुल दहेज के साथ गांगेयदेव को अर्पित की। तीनों राजकुमारियाँ हर्षित थीं। हस्तिनापुर आने के बाद तीनों का लग्न, राजा विचित्रवीर्य के साथ हो गया। विचित्रवीर्य अप्सरा जैसी तीन रानियाँ एक साथ प्राप्त होने से प्रसन्न था। वह कामभोग में निमग्न रहने लगा और राज-काज भीष्मदेव चलाते रहे।

धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर का जन्म

विचित्रवीर्य के रानी अम्बिका की कुक्षी से पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'धृतराष्ट्र' रखा गया। धृतराष्ट्र जन्मान्ध था। कालान्तर में अम्बालिका के भी पुत्र हुआ, जिसका नाम 'पाण्डु' रखा और उसके बाद अम्बा के भी पुत्र का जन्म हुआ, उसका नाम 'विदुर' रखा गया।

विचित्रवीर्य कामान्ध था। वह राजकाज और अन्य लोक-व्यवहार भूल कर काम-भोग में ही लुब्ध रहने लगा। इस भोगासक्ति से उसकी शरीर-शक्ति क्षीण होने लगी। उसकी दुर्बलता देख कर भीष्म को चिन्ता हुई। भीष्म ने माता सत्यवती से विचित्रवीर्य की विषय-लुब्धता छुड़ाने का यत्न करने के लिए कहा। सत्यवती भी चिन्तित थी। उसने और भीष्मदेव ने विचित्रवीर्य को समझाया और उसका प्रभाव भी हुआ, किन्तु अस्थायी। कुछ दिन वह बरबस भोग विमुख रहा। किन्तु शक्ति संचय होते ही वह पुनः भोगासक्त हो गया। प्राप्त शक्ति क्षीण होने लगी। उसे क्षय रोग हो गया और क्रमशः क्षीण होते-होते जीवन ही क्षय हो गया।

पाण्डु को राज्याधिकार

विचित्रवीर्य के मरणोपरान्त हस्तिनापुर के राज्याधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। अब भीष्मदेव को राज-सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न होने लगा। किन्तु वे इस सुझाव पर विचार भी नहीं करना चाहते थे। विचित्रवीर्य के तीनों पुत्रों की शिक्षा भीष्मदेव के सान्निध्य में हुई थी। धृतराष्ट्र सब से बड़ा था। भीष्मदेव ने उससे राजा बनने का कहा, तो उसने कहा—"पूज्य ! मैं तो अन्धा हूँ। आप पाण्डु को राज्यभार दीजिये। वह योग्य भी है।" पाण्डु का राज्याभिषेक किया गया। भीष्मदेव को राज्य का संचालन पूर्ववत् करना पड़ा। वे धृतराष्ट्र से परामर्श कर राज्य-कार्य करने लगे। पाण्डु भी राज्य का कार्य करता और अपना अनुभव बढ़ा रहा था।

कालान्तर में गान्धार देश के राजा सुबल का पुत्र शकुनी अपनी आठ बहिनों को साथ ले कर हस्तिनापुर आया और उन आठों का लग्न धृतराष्ट्र के साथ कर दिया।

पाण्डु का कुन्ती के साथ गान्धर्वलग्न

धृतराष्ट्र का विवाह होने के बाद पाण्डु का विवाह करना था। भीष्मदेव किसी योग्य राजकुमारी की शोध में थे। वे एक दिन पाण्डु राजा के साथ नगरचर्या कर रहे थे कि उन्हें एक विदेशी चित्रकार मिला। उन्होंने उसके चित्रपट्ट देखे। उनमें देवांगना जैसी एक अनुपम सुन्दरी का चित्र भी था। भीष्म ने चित्रकार से उसका परिचय पूछा। चित्रकार बोला—

"मथुरा नगरी के राजा अन्धकवृष्णि के समुद्रविजयादि दस दशार्ह पुत्र हैं और उन दस बन्धुओं के एक छोटी बहिन राजकुमारी कुन्ती है। उस परम सुन्दरी का यह चित्र है। इस सुन्दरी का जन्म-लग्न देख कर किसी ज्योतिषी ने कहा था कि यह कन्या चक्रवर्ती के समान पुत्र को जन्म देगा। यह राजकुमारी विदुषी, कलाओं से परिपूर्ण एवं सद्गुणी है। युवावस्था प्राप्त होने पर राजारानी को इसके योग्य वर की चिन्ता हुई। राजा अन्धकवृष्णि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय को पुत्री के उपयुक्त वर खोजने की आज्ञा दी। समुद्रविजयजी ने अपने विश्वस्त सेवकों को वर की खोज करने विभिन्न दिशाओं में भेजा, उनमें से एक मैं भी हूँ। मैं चित्रकार भी हूँ। सफलता प्राप्त करने के लिए मैंने राजकुमारी का रूप आलेखित किया और घर से निकल पड़ा। अपने मार्ग में आती हुई राजधानियों में होता हुआ और राजवंशों तथा राजकुमारों का परिचय प्राप्त करता हुआ मैं यहाँ आ

पहुँचा हूँ। आपकी और पाण्डु नरेश की कीर्ति सुन कर मैं यहाँ टिक गया। आज सुयोग से आपके दर्शन हुए। मुझे पाण्डु नरेश, राजकुमारी के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त लगे हैं। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप यह सम्वन्ध स्वीकार कर लीजिए। राजकुमारी कुन्ती के 'माद्री' नाम की एक छोटी वहिन भी है। उस पर चेदी नरेश दमघोषजी मुग्ध हैं। किन्तु उसका लग्न बड़ी वहिन कुन्ती के लग्न के बाद ही करना है। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये।"

भीष्मदेव को यह सम्वन्ध योग्य लगा। उन्होंने स्वीकृति देने के साथ ही अपने एक विश्वस्त अनुचर को मथुरा भेजा। अनुचर ने अन्धकवृष्णि राजा के सामने भीष्मदेव का अभिप्राय व्यक्त किया। अन्धकवृष्णि ने उस समय उसको कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु दूसरे दिन राजा ने चित्रकार के साथ दूत को कहला भेजा कि--'पाण्डु राजा रोगी हैं, इसलिए यह सम्वन्ध स्वीकार करने योग्य नहीं है।' अनुचर हस्तिनापुर लौट आया।

कुन्ती का चित्र देख कर पाण्डु भी उस पर मुग्ध हो गया। उसके हृदयपट्ट पर कुन्ती ने आसन जमा लिया। पाण्डु इतना विमोहित हो गया कि वह उचित अनुचित का विचार किये विना ही गुप्त रूप से मथुरा पहुँचा और कुन्ती से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करने लगा। उधर कुन्ती भी चित्रकार से पाण्डु की प्रशंसा सुन कर उसी पर मुग्ध हो गई और मन ही मन पाण्डु को वरण कर लिया। परन्तु पिता का उत्तर जान कर वह हताश हो गई। वह चिन्ता-सागर में गोते लगाने लगी। खान-पान और हास्य-विनोद छूट गए। उसकी उदासी, उसकी प्रिय सखी चतुरा से छुपी नहीं रह सकी। सखी के आगे मन का भेद खोलते हुए कुन्ती ने कहा—"सखी! यदि मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ, तो मुझे अपने जीवन का अन्त करना पड़ेगा।" सखी उसे सान्त्वना देती रही, परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। एकवार उद्विग्नता वढ़ने पर वह सखी के साथ पुष्प-वाटिका में चली गई और वाटिका से आगे वढ़ कर उद्यान में पहुँच गई। कुन्ती को एक वृक्ष के नीचे विठा कर उसकी सखी कुछ पुष्प-फलादि लेने के लिए चली गई। उस समय कुन्ती ने सोचा-- 'आत्म-घात का ऐसा अवसर फिर मिलना कठिन होगा।' उसने अपनी साड़ी को वृक्ष की डाली से वाँध कर फाँसी का फन्दा वनाया और गले में डाल कर झूल गई। किन्तु उसी समय एक युवक ने खड्ग के वार से उसका फन्दा काट कर कुन्ती को वाहों में थाम लिया। कुन्ती युवक के वाहुपाश में झूल गई। वह युवक पाण्डु नरेश ही था। उसने तलवार का प्रहार करते हुए कहा—"मुग्धे! इतना दुःसाहस क्यों कर रही हो?" कुन्ती धक से रह गई। उसने सोचा—'मेरी दुःख-मुक्ति में यह विघ्न कहाँ से आ गया? यह पुरुष कौन?'

वह चिल्लाई—"मुझे छोड़ दो। मैं तुम्हारा स्पर्श करना भी पाप समझती हूँ। हस्तिनापुर नरेश के सिवाय मेरे लिए सभी पुरुष, पिता और बन्धु के तुल्य हैं। तुम कौन हो? छोड़ दो मुझे।" उसने उस युवक के मुँह की ओर देखा। उसे लगा कि ये प्रिय पाण्डु नरेश होंगे। चित्रकार के किये हुए वर्णन और बताये हुए लक्षण इनमें मिलते हैं और मेरा मन भी शान्त एवं प्रफुल्ल लगता है। फिर भी सन्देह होता है कि वे अचानक इतनी दूर से यहाँ कैसे आ सकते हैं? वह तड़प कर पृथक् होने के लिए जोर लगाने लगी, तब युवक बोला—"प्राणवल्लभे! मैं तेरे मोह में मुग्ध हो कर हस्तिनापुर से यहाँ आया हूँ। मैं स्वयं तुम्हारी प्रीति का प्यासा पाण्डु, तुम्हें पाने की आशा से यहाँ आ कर प्रतीक्षा में छुपा हुआ था। अब तुम प्रसन्न हो कर मुझ पर अनुग्रह करो।"

कुन्ती की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। वह पाण्डु से लता की भाँति लिपट गई। इतने में उसकी सखी पुष्पादि ले कर वहाँ आई। उसने कुन्ती को एक पुरुष के बाहुपाश में आबद्ध देखा, तो विचार में पड़ गई। सखी को आती देख कर कुन्ती सम्भली और दोनों पृथक् हो कर नीची दृष्टि किये बैठ गए। सखी ने युवक के चेहरे पर राजतेज देख कर समझ लिया कि राजकुमारी का मनोरथ सफल हुआ। कुन्ती ने उठ कर सखी को आलिंगन में भर लिया और उसकी अनुपस्थिति में बनी हुई घटना सुना दी। दोनों सखियों की प्रसन्नता का पार नहीं था।

"अब क्या किया जाय?" कुन्ती के प्रश्न के उत्तर में सखी ने कहा—"गन्धर्व-विवाह। अभी यही ठीक रहेगा।" सखी ने वहीं उन्हें सूर्य-साक्षी से वचनबद्ध कर हस्त-मिलाप कराया और लाये हुए पुष्पों की माला से एक-दूसरे का लग्न हो गया।

सखी ने पूछा—"आप यहाँ कैसे आये?"

—भद्रे! मैं तुम्हारी सखी का चित्र देख कर विमोहित हो गया। मुझे आशा थी कि पूज्य पितृव्य की माँग आपके महाराज स्वीकार कर लेंगे। किन्तु हमारा दूत हताश हो कर लौटा, तो मैं क्षुब्ध हो गया। मेरी शान्ति लुप्त हो गई। मैं विक्षिप्त-सा इधर-उधर भटकने लगा। कभी वाटिका में, कभी उद्यान में, कभी पर्वत पर और कभी सरिता के किनारे जा कर शान्ति की खोज करने लगा। एकबार मैं पर्वत की उपत्यका में घूम रहा था कि मेरी दृष्टि एक खेर के वृक्ष पर पड़ी, जिसके तने पर एक पुरुष बड़े-बड़े कीलों से विधा हुआ तड़प रहा था। उसे देख कर मुझे दया आई। मैंने उसके शरीर से कीलें निकाल कर उसे भूमि पर लिटाया। वह मूच्छित हो गया था। मैंने निकट के जलाशय से पानी ला कर छिड़का। उसकी मूर्च्छा दूर की और उसकी दुर्दशा का कारण पूछा। उसने कहा;—

"मैं वैताढ्य पर्वत के हेमपुर नगर का राजा हूँ। मेरा नाम विशालाक्ष है। मैंने अनेक विद्याधर राजाओं को अपने अधीन किये। एकवार मैं देशाटन करने निकला। मेरे शत्रु राजा, अवसर की ताक में थे। जब मैं यहाँ पहुँचा, तो अचानक हमला करके मुझे पकड़ लिया और इस वृक्ष के साथ मेरे शरीर में कीलें ठोक कर चले गये। मैं उग्र वेदना से तड़पता हुआ मूर्च्छित हो गया। मुझे जीने की आशा बिलकुल नहीं थी। मैं मृत्यु की कामना कर रहा था, परन्तु सद्भाग्य से आपका पुण्य-पदार्पण हुआ और मैं बचा लिया गया। आपने मुझे जीवन-दान दिया है। आप मेरे प्राणों के स्वामी हैं। कृपया मेरी यह अंगूठी लीजिये और इसे पानी में धो कर, वह पानी मेरे शरीर पर छिड़कने की कृपा कीजिये।" मैंने वैसा किया, जिससे उसके शरीर के घाव भर गए और वह स्वस्थ हो गया। इसके बाद उसने मेरी उदासी का कारण पूछा। मैंने अपनी व्यथा कह सुनाई। उसने अपनी अंगूठी मुझे देते हुए कहा;—

"आप यह अंगूठी लीजिये। इससे आपकी मनोकामना पूर्ण होगी। यह मुद्रिका मुझे वंश-परम्परा से मिली है। इसके प्रभाव से आपका इच्छित कार्य सिद्ध होगा और आप अदृश्य भी रह सकेंगे। वशीकरण, विषापहार और शरीर पर के घावों को भर कर स्वस्थ करने का गुण भी इसमें है। इससे शरीर में इतनी लघुता आ जाती है कि जिससे आकाश में गमन भी सहज हो जाता है। यह मुद्रिका आप लीजिये और साहस के साथ यत्न कीजिये। आप सफल मनोरथ होंगे।"

"मैं अंगूठी लेकर इस ओर आया और वह विद्याधर अपने स्थान पर गया।"

पाण्डु राजा, कुन्ती और उसकी सखी चतुरा, थोड़ी देर वहीं बातें करते रहे। इसके बाद दोनों सखियाँ अन्तःपुर में आई और पाण्डु भी अदृश्य रूप से कुन्ती के शयन-कक्ष में पहुँच गया। रातभर वह कुन्ती के साथ रहा और प्रातःकाल चल कर अपनी राजधानी में आ पहुँचा।

कुंती के पुत्र-जन्म और त्याग

कुछ कालोपरान्त कुन्ती की शारीरिक दशा बिगड़ी। उसका जी मिचलाने लगा, वमन होने लगे। गर्भ की आशंका हुई। अब बात छुपी रहना असंभव हो गया। कुन्ती की दशा देख कर उसकी माता सुभद्रा चिन्तित हुई। अन्त में चतुरा द्वारा पाण्डु के समा-

गम की बात जान कर रानी सुभद्रा चौंकी। रानी चतुर थी। उसने स्थिति सँभाली। पुत्री को सान्त्वना दे कर गुप्त रूप से गर्भ का पालन करने लगी। गर्भस्थ जीव कोई प्रभावशाली था। उसके प्रभाव से कुन्ती में भी साहस का संचार हुआ। वह निर्भय हुई। उसके हृदय में उदारता का भाव भी वृद्धिगत हुआ। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म के पूर्व ही रानी ने कुन्ती के लोकापवाद को मिटाने के लिए, पुत्र को त्यागने की योजना बना ली थी। कुन्ती को अपने सद्यजात सुन्दर एवं तेजस्वी पुत्र का त्याग करते समय बहुत शोक हुआ। किन्तु लोकापवाद से बचने के लिए हृदय कड़ा कर के वह दुष्कृत्य भी स्वीकार करना पड़ा। पुत्र को वस्त्र और आभूषण पहिना कर पेटी में सुलाया और पेटी बन्द करके चुपके से नदी में बहा दी।

कालान्तर में कुन्ती स्वस्थ हुई। महारानी सुभद्रा ने अपने पति से कुन्ती-पाण्डु मिलन से लगा कर पुत्र-विसर्जन तक की सारी कथा कह सुनाई और कुन्ती का पाण्डु राजा से प्रकट रूप में लग्न कर देने की विनती की। राजा अन्धकवृष्णि के सामने अब कोई अन्य मार्ग था ही नहीं। उसने अपने पुत्र युवराज धरण के साथ कुन्ती को हस्तिनापुर भेजने का निश्चय किया।

शुभ मुहूर्त में राजकुमार धरण ने अपनी बहिन कुन्ती और हाथी, घोड़े, रत्न, आभूषण आदि विपुल दहेज ले कर, विशाल सेना के साथ प्रस्थान किया। उन्होंने एक सन्देशवाहक पहले ही हस्तिनापुर भेज दिया था। हस्तिनापुर की सीमा पर युवराज धरण और राजकुमारी कुन्ती का, राज्य की ओर से भव्य स्वागत हुआ। उन्हें आदरयुक्त नगर के बाहर उद्यान में ठहराया गया, फिर शुभ मुहूर्त में पाण्डु का कुन्ती के साथ लग्न-समारंभ किया गया। विवाहोपरांत युवराज धरण को सम्मानपूर्वक विदा किया गया। दम्पति सुखोपभोग में समय बिताने लगे।

युधिष्ठिरादि पाण्डवों की उत्पत्ति

कालान्तर में कुन्ती गर्भवती हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर कुन्ती ने एक तेजस्वी सौम्य प्रकृति वाले वीर बालक को जन्म दिया। इस पुत्र का नाम 'युधिष्ठिर' दिया गया।

इसके बाद कालान्तर में कुन्ती रानी ने फिर गर्भ धारण किया। स्वप्न में उसने देखा—आकाश-मण्डल में भयंकर आंधी चल रही है, बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ कर उड़ रहे हैं।

इनमें से कल्पवृक्ष का एक सुन्दर पेड़ उड़ कर कुन्ती की गोदी में समा गया। वह स्वप्न देख कर जाग्रत हुई। गर्भ के प्रभाव से कुन्ती के मन में अपूर्व साहस उत्पन्न होने लगा। वह सोचती कि—'मैं इन पर्वतों को उखाड़ कर फेंक दूँ।' उसके तन में भी अपूर्व बल का संचार हुआ। वह वज्ररत्न को भी चुटकी में मसल कर चूर्ण कर देती। गर्भकाल पूर्ण होने पर कुन्ती ने एक तेजस्वी वज्रदेही पुत्र को जन्म दिया। आकृति में भयोत्पादकता होने के कारण इसका नाम 'भीम' रखा। गर्भ में आने पर माता को स्वप्न में, पवन के उग्र वेग से कल्पवृक्ष उखड़ कर माता की गोदी में आया, इसलिए भीम का दूसरा नाम 'पवनतनय' भी रहा। भीम की जठराग्नि बहुत तेज थी। उसके पेट में गया हुआ आहार शीघ्र ही पच जाता था और वह भूखा ही रहता था। आहार बढ़ने के साथ उसका शरीर भी सुदृढ़ एवं कठोर होने लगा। यदि बालक भीम को भोजन कम मिलता, तो वह दूसरे से छिन कर खा जाता। उसकी वय एवं बल के साथ पराक्रम भी बढ़ने लगे। जब भीम छः मास का था, तब राजा-रानी वन-विहार के लिए निकट के पर्वत पर गए। वे पर्वत शिखर पर एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। हठात् बालक भीम, अपनी हलचल से रानी की गोद से फिसला और भूमि पर लुढ़कता हुआ, ढलान से पर्वत के नीचे तलहटी तक पहुँच गया। राजा-रानी का हृदय धक से रह गया। अंगरक्षक दौड़े। उन्होंने देखा—जिधर भीम लुढ़कता गया। उधर के पत्थर टूट कर बिखरे हुए पड़े हैं और नीचे जहाँ बालक ने जोर से पछाड़ खाई, वहाँ की शिला चूर्णविचूर्ण हो गई। एक सैनिक बालक के सुरक्षित एवं अक्षत होने की सूचना देने दौड़ा। पुत्र के गिरि-पतन से धसका खा कर कुन्ती मूच्छित हो गई थी। पाण्डु राजा उसे चेतना लाने का प्रयत्न कर रहे थे। रानी सावधान हो कर "हा, पुत्र ! हा वत्स !" पुकार-पुकार कर रोने लगी। इतने में सैनिक ने जा कर बच्चे के सुरक्षित होने का समाचार सुनाया। राजा-रानी उठे और बड़ी उत्सुकता के साथ तलहटी पर पहुँचे। उन्होंने देखा—बालक उनकी ओर देख कर हँस रहा है। उन्होंने उसके अंग-प्रत्यंग को ध्यानपूर्वक देखा, दबाया, परन्तु कहीं कुछ क्षति दिखाई नहीं दी। जब मुख्य सैनिक ने, टूट कर विचूर्ण हुई शिला की ओर राजा-रानी का ध्यान आकर्षित किया, तो वे चकित रह गए। उन्हें विश्वास हो गया कि बालक भीम कोई विशिष्ठ आत्मा है। यह बालक महाबली और संसार में हमारे कुल की पताका लहराने वाला होगा।

कुछ काल व्यतीत होने पर कुन्ती पुनः गर्भवती हुई। उसने स्वप्न में ऐरावत पर आरूढ़ इन्द्र को अपने में समाते देखा। राजा ने कहा—"प्रिये ! तुम्हारे गर्भ में इन्द्र के समान प्रतापी आत्मा आई है।" कुन्ती के मन में दोहद उठने लगे। उसके मन में धनुष

धारण कर पृथ्वी पर शासन करने की भावना उठने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक देदीप्यमान बालक का जन्म हुआ। इसका नाम 'अर्जुन' रखा और स्वप्न में इन्द्र का दर्शन होने से दूसरा नाम 'इन्द्रपुत्र' भी कहा जाने लगा।

पाण्डु राजा के 'माद्री' नाम की दूसरी रानी के गर्भ से युगल पुत्र का जन्म हुआ। इनका नाम 'नकुल' और 'सहदेव' हुआ। ये भी सुन्दर, प्रभावशाली और वीर हुए।

इस प्रकार पाण्डु राजा के पाँच पुत्र 'पाण्डव' के नाम से विख्यात हुए। पाँचों बन्धु, परस्पर स्नेह रखते थे। छोटे-वड़े का आदर, विश्वास और अभेद भावना से पाँचों का काल निर्गमन होने लगा।

कौरवों की उत्पत्ति

धृतराष्ट्र की रानी गान्धारी भी गर्भवती हुई। जब कुन्ती के गर्भ में युधिष्ठिर उत्पन्न हुआ, तब गान्धारी के भी गर्भ रहा था। किन्तु गान्धारी के गर्भ को तीस मास होने पर भी उसके बाहर आने के कोई चिन्ह दिखाई नहीं दे रहे थे। इससे गान्धारी बड़ी दुःखी थी। उसे शारीरिक दुःख के साथ मानसिक क्लेश भी था। वह सोचती थी कि— "यदि उसके पुत्र पहले होता, तो वह पाण्डु के बाद राजा होता। मेरा दुर्भाग्य कि कुन्ती के साथ ही गर्भवती होने पर भी कुन्ती के एक पुत्र हो गया और दूसरे का जन्म होने वाला है, तब यह प्रथम गर्भ भी अभी मेरा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। इस पत्थर के कारण मेरा शरीर-स्वास्थ्य और रूप-रंग बिगड़ा, मेरी प्रतिष्ठा गिरी और मैं क्लेशित हुई। अब भी यह पत्थर मेरी छाती पर से हटे, तो मैं सुखी बनूं। कैसी दुष्टात्मा है—यह! मैं कैसी हतभागिनी हूं! हा, दैव!" इस प्रकार संताप में दग्ध होती हुई गान्धारी ने मुक्के मार कर अपना पेट कूट डाला। पेट कूटते ही गर्भ छूट कर बाहर आ गया। वह अपरिपक्व था। गान्धारी को उस पर द्वेष हो गया। उसने दासी से कहा—'इसे यहाँ से ले जा और फेंक आ।" दासी वृद्ध एवं अनुभवी थी। उसने कहा—

"स्वामिनी! आपने यह क्या कर डाला? अब भी यह केवल मांस का निर्जीव लोथड़ा नहीं है, यह जीवित है और यत्नपूर्वक पालन करने से जीवित रह कर एक होनहार पुत्र हो सकता है। आपको इस प्रथम फल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अब भी इसका गर्भ के समान ही पालन किया जा सकता है।"

गान्धारी को दासी की वात उपयुक्त लगी। उसने दासी से गर्भ-पालन का उपाय पूछा। दासी ने घृत में लिप्त रुई में उस गर्भ को लपेटा और सँभाल कर रख दिया और गान्धारी से बोली—

"स्वामिनी ! आप विश्वास रखें, यह जीव, गर्भ के समान सुरक्षित रह कर आपकी पुत्रेच्छा पूर्ण करेगा। मेरी नम्र प्रार्थना है कि आप मन को शान्त रखें। रानी कुन्ती पर द्वेष नहीं करें। यह तो अपने-अपने कर्मों का फल है। आप भी कुन्तीदेवी के समान धर्म का आचरण करें, तो आपके शुभ कर्मों की पूँजी वढ़ेगी। पाप से सदैव वचती रहें, तो कभी दुःख देखने की स्थिती ही नहीं वने।"

दासी समझदार और धर्मिष्ठ थी। उसकी वात गान्धारी ने स्वीकार की। पतित गर्भ का पालन सावधानीपूर्वक होने लगा। जिस दिन गांधारी के गर्भपात हुआ, उसी दिन तीन प्रहर बीतने के वाद कुन्ती के गर्भ से भीम का जन्म हुआ। गांधारी का गर्भपात हुआ, तव ग्रहस्थिति अशुभ थी और भीम का जन्म शुभलग्न में हुआ था। महाराजा पाण्डु ने दोनों वालकों का जन्मोत्सव मनाया। गान्धारी के पुत्र का नाम 'दुर्योधन' रखा। दुर्योधन और भीम वढ़ने लगे।

धृतराष्ट्र के गांधारी के अतिरिक्त सात रानियाँ और थीं। उसके दुर्योधन के वाद ९९ पुत्र हुए। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं;—

दुःशासन, दुःसह, दुःशल, रणश्रांत, शमाढ्य, विन्द, सर्वसह, अनुविन्द, सुभीम, सुवाहु, दुःप्रधर्षण, दुर्मर्षण, सुगात्र, दुःकर्ण, दुःश्रवा, वैरवंश, विकीर्ण, दीर्घदर्शी, सुलोचन, उपचित्र, विचित्र, चारुचित्र, शरासन, दुमर्द, दुःप्रगाह, युयुत्सु, विकट, उर्णनाभ, सुनाभ, नन्द, उपनन्द, चित्रवाण, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन, अयोवाहु, महावाहु, श्रुतवान्, पद्म-लोचन, भीमवाहु, महावल, सुषेण, पंडित, श्रुतायुध, सुवीर्य, दण्डधार, महोदर, चित्रायुध, निषंगी, पाश, वृन्दारक, शत्रुंजय, शक्रशह, सत्यसंध, सुदुःसह, सुदर्शन, चित्रसेन, सेनानी, दुःपराज्य, पराजित, कुंडशायी, विशालाक्ष, जय, दृढ़हस्त, सुहस्त, वातवेग, सवर्चस, आदित्य-केतु, वह्वासी, निवन्ध, प्रमादी, कवची, रणशौंड, कुंडधार, धनुर्धर, उग्ररथ, भीमरथ, शूर-वाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्म, दृढ़रथ, अनाधृष्य, कुंडभेदी, विराजी, दीर्घलोचन, प्रथम, प्रमादी, दीर्घालाप, वीर्यवान, दीर्घवाहु, महावृक्ष, दृढ़वृक्ष, सुलक्षण, कनक, कांचन, सुध्वज, सुभुज और विरज।

गांधारी के दुःशल्या नाम की एक पुत्री हुई। धृतराष्ट्र के ये सभी पुत्र 'कौरव' कहलाये। ये सभी कला-निपुण, वलवान् और पराक्रमी थे। पाण्डव और कौरव सभी

साथ-साथ खेलते, शिक्षा ग्रहण करते और बढ़ते थे।

दुर्योधन जब युवावस्था में आया, तब धृतराष्ट्र के मन में उसका भविष्य जानने की इच्छा हुई। एकबार राजसभा में कुछ ज्योतिषी आये। वार्तालाप के बाद धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के भविष्य के विषय में पूछा। धृतराष्ट्र के प्रश्न करते ही कुछ अपशकुन हुए। भविष्यवेत्ताओं ने विचार कर विदुर से धीरे से कहा—

"दुर्योधन राज्याधिपति होगा अवश्य, परन्तु इसके निमित्त से आपके कुल का संहार होगा, इतना ही नहीं, एक महायुद्ध होगा, जिसमें करोड़ों मनुष्यों का संहार हो जायगा। दुर्योधन का राज्यकाल महान् अनिष्टकारी होगा।"

विदुर ने यह बात गुप्त नहीं रखी और सभा में सब के सामने कह डाली। इससे धृतराष्ट्र के मन को आघात लगा। उसने उन ज्योतिषियों से अरिष्ट-निवारण का उपाय पूछा, तो उन्होंने कहा—"यदि दुर्योधन इस राज्य को छोड़ कर अन्यत्र चला जाय, तो रक्षा हो सकती है।"

धृतराष्ट्र मौन रहा। धृतराष्ट्र को मौन देख कर पाण्डु नरेश बोले;—

"भाई विदुर! पुत्र से कुल की वृद्धि होती है, क्षय नहीं। दुर्योधन भी पुण्यात्मा है। यद्यपि युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ, परन्तु गर्भ में तो दुर्योधन ही पहले आया था। यह ज्येष्ठ है और उत्तम है। युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ, इसलिए वह राज्याधिकारी हुआ, किन्तु उसके बाद तो दुर्योधन ही राज्यासीन होगा। मेरे लिए तो दोनों समान हैं।"

पाण्डुराजा के वचनों से धृतराष्ट्र के हृदय में तत्काल तो शान्ति हुई, परन्तु मन ही मन उसके मन में भेद एवं द्विभाव उत्पन्न होने लगा। वह पुत्र दुर्योधन को शीघ्र ही राज्याधिकारी देखना चाहता था। उसके सौ पुत्र थे। उसकी पुत्री दुःशल्या, सिन्धुराज जयद्रथ को ब्याही थी। उसका जामाता भी शक्तिशाली था। कौरवों के मन में पाण्डवों के प्रति विद्वेष का बीज पनपने लगा।

दुर्योधन का डाह और वैरवृद्धि

सौ कौरव और पांच पाण्डव, ये १०५ युवक बड़े ही वीर पराक्रमी और प्रभावशाली थे। सभी साथ-साथ नगर के विभिन्न बाजारों, उद्यानों और रम्य स्थानों पर जाते हँसते, खेलते और विचरते रहते। विद्या और कला का विकास भी उनमें हो चुका था

भीष्मदेव के अधीन रह कर वे सभी कुशल कलाविद हो गए थे। इतना होते हुए भी क्षयोपशम की विशेषता से पाण्डवों में कला विशेष रूप से विकसित हुई थी। वे ज्येष्ठजनों के प्रति आदर-सम्मान रखते थे। न्याय, नीति और धर्म में उनकी निष्ठा थी। लोकव्यवहार में वे सब के साथ मधुर सम्बन्ध रखते थे।

कौरव-पाण्डव बन्धुओं का शारीरिक विकास भी अद्‌भुत हुआ था। वे परस्पर मल्ल-युद्ध करते, विविध प्रकार के दावँ-पेंच लगा कर पटकनी देने की चेष्टा करते, किन्तु इस कला में भीमकुमार सर्वोपरि रहते। मल्ल-युद्ध में उनसे कोई नहीं जीत सकता था। भीम की इस विशेषता से दुर्योधन जलता था, परन्तु भीम की प्रीति तो सब के साथ समान रूप से थी। भीम असाधारण बलवान था। वह अनेक युवकों के हाथ-पाँव पकड़ कर या बगल में दबा कर जोरदार चक्कर देता, कभी बगल में दबाये हुए या कन्धे पर उठा कर लम्बी दौड़ लगाता, पर्वत पर चढ़ जाता। एक झटके में बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता। भीम की इस विशेषता ने दुर्योधन के मन में ईर्षा एवं द्वेष उत्पन्न किया। भीम के बल की प्रशंसा, दुर्योधन की ईर्षाग्नि में घृत हो गई। वह भीम के साथ-साथ पाण्डवों का भी वैरी हो गया।

भीम को मारने का षड्यन्त्र

दुर्योधन, भीम को अपना वैरी समझ कर समाप्त करना चाहता था। वह अवसर की ताक में था। किन्तु भीम सरल हृदयी, निष्कपट एवं भद्र युवक था। उसके मन में किसी के प्रति दुर्भावना नहीं थी। परन्तु जब वह कसरत, बल-प्रयोग या मल्ल-द्वंद में प्रवृत्त होता, तब अपने-आप उसमें इतनी शक्ति स्फूर्ति एवं निपुणता प्रकट हो जाती कि फिर उससे कोई पार नहीं पा सकता था। ईर्षाग्नि में जल कर एकबार दुर्योधन ने भीम को चुनौती देते हुए कहा; —

"भीम ! यदि तुझे अपने बल का गर्व है, तो मुझसे मल्लयुद्ध कर। मैं तेरा गर्व चूर चूर कर दूंगा। तू मेरे छोटे भाइयों को दबा कर घमण्डी बन गया है, परन्तु मैं तेरे बल का मद उतार दूंगा।"

"भाई ! आप यह क्या कहते हैं ? मैं, आप पर और मेरे इन भाइयों पर घमण्डी हूँ क्या ? नहीं, नहीं, ऐसा मत कहिये। कुश्ती और द्वंद के समय की बात छोड़िये। उस समय तो अपनी सफलता के लिये चेष्टा करता हूँ। यह स्वभाव से ही होता है, द्वेष या इर्षा से

नहीं। आपको ऐसा सोचना ही नहीं चाहिए। वैसे आप की इच्छा हो, तो मैं मल्ल-युद्ध के लिए तत्पर हूँ।"

दुर्योधन तो भड़का हुआ ही था, वह उठ खड़ा हुआ। युधिष्ठिर ने उसे समझाया, परन्तु वह नहीं माना और उलझ गया। दर्शकों की भीड़ एकत्रित हो गई। बहुत देर तक दोनों का द्वंद्व चलता रहा। अंत में दुर्योधन थक कर जोर-जोर से हाँफने लगा। उसका चेहरा मुरझा गया, पसीना झरने लगा, शरीर शिथिल हो गया और कुश्ती की चेष्टा ही रुक गई। भीम ने उसे छोड़ दिया। इस हार ने दुर्योधन को पाण्डवों का शत्रु बना दिया। अब वह भीम का जीवन ही समाप्त करने के अवसर की ताक में रहने लगा। उसने समझ लिया था कि महाबली भीम और महाधनुर्धर अर्जुन के रहते मैं राज्याधिपति नहीं हो सकूँगा। ये युधिष्ठिर की सुदृढ़ भुजाएँ हैं। ये टूटी कि फिर युधिष्ठिर से राज्य हड़पना सरल हो जायगा। सब से पहले भीम का काँटा तोड़ना चाहिए।

भीम गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था कि दुर्योधन ने उस पर कई विषधर छुड़वा दिये। नागों ने उसके शरीर पर कई दंस दिये, परन्तु भीम की वज्र देह पर कुछ भी असर नहीं हुआ। भीम ने जाग्रत हो कर उन भयंकर सर्पों को पकड़ कर झुलाते हुए एक ओर डाल दिये। इस निष्फलता के बाद भीम के भोजन में तीव्र विष मिला कर खिलाया गया, परंतु वह भी उसके शरीर के लिए गुणकारी रसायन के रूप में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार दुर्योधन के अन्य षड्यन्त्र भी, भीम के प्रबल पुण्य के शान्त किन्तु प्रखर तेज से, सहज ही नष्ट-भ्रष्ट हो गए और भीम, दुर्योधन की दुष्टता जान कर भी उन्हें विनोदी रूप दे कर टालता रहा। उसने अपना सहज सवभाव नहीं छोड़ा।

कृपाचार्य और द्रोणाचार्य

कौरव और पाण्डव के शिक्षा-गुरु थे—कृपाचार्य। कृपाचार्य, कौरव-पाण्डव और अन्य राजवंशी कुमारों को शिक्षा दे रहे थे। शब्द-शास्त्र, साहित्य, काव्य, गणित, अर्थ-शास्त्र लक्ष्यवेध, शस्त्र-प्रयोग, मल्ल-युद्ध, राजनीति, आदि विविध प्रकार की विद्या सिखा कर छात्रों को निपुण बना रहे थे। एकदिन सभी विद्यार्थी गेंद खेल रहे थे। खेल-खेल में गेंद कूएँ में गिर गई और उसे निकालने के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए। कन्दुक नहीं निकलने से खेल रुक गया। छात्र चिन्तित-से खड़े थे। इतने में वहाँ एक भव्य आकृति वाले वृद्ध

पुरुष आये। उनके साथ एक तरुण पुरुष था। उन्होंने सारी स्थिति समझी और बोले —
"युवकों ! तुम राजवंशी कला-प्रवीण हो कर भी कुएँ में से कन्दुक नहीं निकाल सके ? लो
देखो, कन्दुक इस प्रकार निकलता है।" इतना कह कर वृद्ध ने एक पतली सलाई उठा
कर कन्दुक को ताक कर फेंकी। सलाई कन्दुक में प्रवेश कर गई, फिर दूसरी सलाई फेंकी।
उसकी नोक पहली सलाई की पीठ में गढ़ गई। इस प्रकार तीसरी, चौथी, यों सलाइयों
को जोड़ते हुए किनारे तक एक के पीछे दूसरी जुड़ गई। इस प्रकार उन्होंने कन्दुक निकाल
कर खिलाड़ियों की ओर उछाल दिया। युवक-समूह वृद्ध की यह कला देख कर मन्त्र-
मुग्ध हो गया। सभी ने वृद्ध के चरणों में प्रणिपात किया और परिचय पूछा। वृद्ध ने
कहा—"तुम्हारे आचार्य मेरे सम्वन्धी हैं। मैं उन्हें मिलना चाहता हूँ। मुझे उनके पास
ले चलो।" वृद्ध और उनका तरुण साथी, युवक-समूह से घिरे हुए कृपाचार्य के निवास
पर पहुँचे। द्रोणाचार्य को आया देख कर कृपाचार्य अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने आगे वढ़
कर द्रोणाचार्य को नमस्कार किया और आदरपूर्वक उच्चासन पर विठाया। द्रोणाचार्य
के पुत्र अश्वत्थामा ने कृपाचार्य को प्रणाम किया। धनुर्विद्या में द्रोणाचार्य उस समय के
अजोड़ एवं अद्वितीय आचार्य थे। कृपाचार्य ने भीष्म-पितामह से द्रोणाचार्य का
साक्षात्कार कराया। भीष्म-पितामह ने आदर एवं आग्रहपूर्ण द्रोणाचार्य को, राजकुमारों को
शिक्षित करने के लिए रख लिए। द्रोणाचार्य ने सभी राजकुमारों के अभ्यास को देखा-
परखा और जान लिया कि सभी योग्य हैं, किंतु अर्जुन सर्वोपरी है। एक और युवक भी
तेजस्वी दिखाई दिया। किंतु वह राजकुमार नहीं होकर एक साधारण व्यक्ति का पुत्र
था। द्रोणाचार्य ने उसका परिचय पूछा। कृपाचार्य ने कहा —"यहाँ एक विश्वकर्मा नाम का
अभ्यागत था। उसके राधा नाम की पत्नी थी। वे सदाचारी थे। उनका यह पुत्र है। इसका
नाम "कर्ण" है। यह एक ही छात्र ऐसा है जो राजवंशी नहीं है, फिर भी यहाँ अध्ययन
करता है। यह इसकी विद्यारुचि का परिणाम है। द्रोणाचार्य ने देखा कि कर्ण भी योग्य
पात्र है। वह अर्जुन की समानता तो नहीं कर सकता, परंतु अन्य सभी राजकुमारों से श्रेष्ठ
है। अर्जुन के वाद दूसरा स्थान कर्ण का ही है। शेप सभी उसके पीछे हैं। अभ्यास आगे
वढ़ने लगा। द्रोणाचार्य उत्साहपूर्वक अभ्यास करवाते थे और सभी छात्र उतने ही उत्साह
से अभ्यास करते थे। अर्जुन का विनय और शीघ्र ग्राहक-वुद्धि से द्रोणाचार्य प्रसन्न थे।
उन्होंने अर्जुन को अद्वितीय योग्य पात्र माना। अर्जुन पर आचार्य की कृपा वढ़ती गई।
परन्तु अर्जुन पर गुरु की विशेप कृपा, दुर्योधन के मन में खटकी। वह मन ही मन जलने
लगा। उसने कर्ण से मैत्री-सम्वन्ध जोड़ा। कर्ण को अर्जुन के समान धनुर्धर मान कर,

उससे मैत्री जोड़ना दुर्योधन को आवश्यक लगा ।

अभ्यास आगे बढ़ने लगा । अन्य छात्र लगनपूर्वक अभ्यास करने लगे, किन्तु दुर्योधन के अभ्यास में अर्जुन के प्रति जलन बनी ही रहती थी । अर्जुन ऐसे क्षुद्र विचार वाला नहीं था । उसका अभ्यास पूर्ण मनोयोग के साथ चल रहा था ।

एकलव्य की विद्या-साधना

हस्तिनापुर के वन में रुद्रपल्ली नाम का एक आदिमजाति का छोटा-सा गाँव था । वहाँ हिरण्यधनुष का एक कोली जाति का मनुष्य रहता था । उसके पुत्र का नाम 'एकलव्य' था । वह युवक बलिष्ट था और अपनी धुन का पक्का था । वह एकबार हस्तिनापुर आया । उसने नगर के बाहर राजकुमारों को धनुर्विद्या की साधना करते देखा । सभी छात्र लक्ष्य-वेध कर रहे थे और द्रोणाचार्य उन्हें निर्देश दे रहे थे । एकलव्य एकओर खड़ा रह कर देखने लगा । वह वनवासी था । वन में रहने वाले क्रूर एवं हिंस्र पशुओं और दस्युओं से अपनी, परिवार की तथा पशुधन की रक्षा करने के लिए धनुष-बाण परम उपयोगी अस्त्र था । एकलव्य धनुष चलाना तो जानता था, परंतु उसी ढंग से—जिससे कि उसके सहवासी अपना काम चला रहे थे । एकलव्य एकटक देखता रहा । उसकी रुचि बढ़ी । उसने द्रोणाचार्य को प्रणाम कर के विद्यादान करने की प्रार्थना की । आचार्य ने एकलव्य को देखा, कुल-जाति आदि पूछी और निषेध कर दिया । एकलव्य निराश हो कर एक ओर जा कर खड़ा-खड़ा देखने लगा । थोड़ी देर में उसने निराशा छोड़ कर साहस सँभाला । वह आचार्य के निर्देश और तदनुसार छात्रों की प्रवृत्ति देख कर उत्साहित हुआ । आचार्य के अस्वीकार से उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ । वह अर्जुन की लक्ष्य की ओर एकाग्रता और शारीरिक प्रवृत्ति हृदयंगम करता रहा । उसके हाथ-पाँव भी वैसी चेष्टा करने लगे । जब समय पूरा होने पर छात्रगण अपने स्थान की ओर जाने लगे, तब वह भी वहाँ से चला और अपने घर आया । उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बना कर एक शिलाखंड पर रखी और प्रणाम कर के लक्ष्य-वेध का अभ्यास, उसी प्रकार करने लगा जिस प्रकार उसने राजकुमारों को देखा था । बीच-बीच में वह नगर में आ कर छात्रों का अभ्यास देख कर हृदयंगम कर लिया करता और अपना अभ्यास तदनुरूप चलाता रहता । क्षयोपशम की तीव्रता से वह निष्णात बन गया ।

एकबार अर्जुन बन-विहार करने अकेले ही चल दिये। हटात् उनकी दृष्टि एक कुत्ते पर पड़ी, जिसका मुंह वाणों से भरा हुआ था। उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उसने सोचा—"ऐसा निष्णात धनुर्धर कौन है, जो कुत्ते के मुँह खोलते ही ठीक उसके मुंह में वाण मारे, वाणों से मुँह भर दे और फिर भी कुत्ता जीवित रहे? गुरुदेव तो कहते थे कि तू सृष्टि में अद्वितीय धनुर्धर होगा, किंतु यह तो मुझसे भी अधिक निपुण लगता है। अवश्य ही वह गुरुदेव का ही कोई शिष्य होगा। परंतु गुरुदेव ने अपने ऐसे निपुण शिष्य को मुझसे गुप्त क्यों रखा और मुझे अद्वितीय क्यों बताया?" वह विचारों में उलझ गया। फिर सावधान हो कर सोचा—"वह कहीं निकट ही होगा।" वह कुत्ते के आगमन की दिशा में चला। थोड़ी ही दूर उसे धनुर्धर एकलव्य दिखाई दिया। उसने उसका परिचय पूछा। एकलव्य ने अपना परिचय देने के साथ गुरु का नाम भी बताया। अर्जुन वहाँ से चल कर स्वस्थान आया। उसके मन में एकलव्य और गुरुदेव का ही चिन्तन चल रहा था। उसने आते ही गुरुदेव से पूछा। द्रोणाचार्य ने कहा—"वत्स! मैं अब भी यही कहता हूँ कि मेरे शिष्यों में तेरे जैसा कोई लक्ष्य-वेधी नहीं है। तू सन्देह क्यों करता है? तेरा मुख निस्तेज क्यों है?"

—"गुरुदेव! मैंने आज एक ऐसे व्यक्ति को देखा है जो धनुर्विद्या में मुझ-से भी अधिक निपुण है। उसने भोंकते हुए कुत्ते के मुँह को वाणों से भर दिया और कुत्ता घायल भी नहीं हुआ, और वह युवक अपने को आपका ही शिष्य बतलाता है।"

द्रोणाचार्य स्तब्ध रह गए। उन्होंने कहा—"मैं उसे देखना चाहता हूँ।" आचार्य और अर्जुन, एकलव्य के पास पहुँचे। एकलव्य प्रसन्न हुआ और आचार्य के चरणों में प्रणिपात किया। कुशलक्षेम के पश्चात् पूछने पर एकलव्य ने अपने शिक्षागुरु के विषय में कहा—"मेरे गुरु आप ही हैं। इन पवित्र चरणों की कृपा से ही मैंने कुछ सीखा है।"

—"परन्तु मैंने तो तुझे सिखाया नहीं, फिर तू मुझे अपना गुरु कैसे बताता है?"

"गुरुदेव! आपके निषेध करने पर पहले तो मैं हताश हुआ, परन्तु फिर सम्भल कर, आप द्वारा राजकुमारों को दी जाती हुई शिक्षा और राजकुमारों का अभ्यास देख कर मैंने तदनुसार अपना अभ्यास चलाया। आपने मुझे शिक्षा नहीं दी, फिर भी मैंने आपसे ही शिक्षा प्राप्त की। आप ही मेरे गुरु हैं।"

आचार्य चकित रह गए। उन्होंने कहा—"अब तुझे गुरु-दक्षिणा भी देनी चाहिए।"

—"अवश्य गुरुदेव! आज्ञा कीजिए। मेरा सब कुछ आपके अर्पण है। यह मस्तक भी आपके चरणों में अर्पित है।"

--"नहीं, मस्तक नहीं, तुम्हारे दाहिने हाथ का अंगूठा काट कर मुझे दे दो।"

एकलव्य ने उसी समय छुरी से अंगूठा काट कर गुरु-चरणों में रख दिया। आचार्य प्रसन्न हुए और एकलव्य को वरदान दिया--"अंगूठा कटने पर भी तेरा काम नहीं रुकेगा। अंगुलियों से तू अपना काम चला सकेगा।"

आचार्य और अर्जुन वहाँ से आश्रम में लौट आए और राजकुमारों का अभ्यास पूर्ववत् चलता रहा।

कुमारों की कला-परीक्षा

पाण्डव और कौरव-कुमार विद्याध्ययन कर के निष्णात हो गए। द्रोणाचार्य ने उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया। वे उन्हें वन में ले गए और एक बड़े ताड़-वृक्ष की ऊँची डाल पर, मयूरपंख की चन्द्रिका लटकाई गई। वृक्ष सघन था। वृक्ष से कुछ दूर परीक्षार्थियों के साथ खड़े हो कर द्रोणाचार्य बोले--

"पुत्रों! आज मैं तुम्हारे लक्ष्य-वेध की परीक्षा ले रहा हूँ। वह देखो, उस वृक्ष पर मयूर-चन्द्रिका लटक रही है। तुम्हें उस चन्द्रिका को वेधना है। आज की यह परीक्षा तुम्हारे आगे के अध्ययन की योग्यता सिद्ध करेगी। लक्ष्यवेध करने वाला ही आगे बढ़ सकेगा। तुम्हारा लक्ष्य ठीक होगा, तो उत्तीर्ण हो सकोगे और आगे भी बढ़ सकोगे। हां, अब चालू करो।"

सभी परीक्षार्थी लक्ष्य की ओर टकटकी लगा कर देखने लगे, देखते रहे। आचार्य ने पूछा--"तुम्हें क्या दिखाई देता है?"

--"हमें वृक्ष भी दिखाई देता है, वृक्ष की शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल और मयूरपंख भी दिखाई देता है और आप भी दिखाई दे रहे हैं।"

--"तब हट जाओ तुम! लक्ष्य नहीं वेध सकते"--आचार्य ने आदेश दिया। वह छात्र हट गया। उसके बाद दूसरा, तीसरा, इस प्रकार क्रमशः आते गये। किसी ने कहा--"मुझे वृक्ष का ऊपर का हिस्सा दिखाई देता है, किसी ने कहा--मुझे शाखा और पत्र-पुष्पादि दिखाई देते हैं।" किसी ने--"लक्ष्य के निकट के पत्र-पुष्पादि दिखाई देना बताया। आचार्य को कोई भी उपयुक्त नहीं लगा। अन्त में अर्जुन की बारी आई। उसने कहा--"गुरुदेव! मुझे केवल चन्द्रिका ही दिखाई देती है।"

आचार्य ने उसे राधावेध के उपयुक्त माना।

एकबार आचार्य सभी छात्रों के साथ गंगास्नान करने गये। वे स्वयं गंगा के मध्य में उतर कर नहाने लगे। इतने में एक मगर ने उनका पाँव पकड़ लिया। आचार्य चिल्लाये— "छात्रों ! घड़ियाल ने मेरा पाँव पकड़ लिया है। छुड़ाओ, शीघ्रता करो।" सभी छात्र घबड़ा गए। वे सोचने लगे—"गहरे जल में आचार्य को किस प्रकार बचाया जाय ?" उन्होंने वाण छोड़े, पर सब व्यर्थ। अन्त में आचार्य ने अर्जुन को पुकारा। अर्जुन जानता था कि आचार्य स्वयं ग्राह से मुक्त होने में समर्थ हैं, किन्तु परीक्षा के लिए ही वे अपने को मुक्त नहीं करा रहे हैं। उसने अनुमान से ही लक्ष्य साध कर वाण छोड़ा। बाण ठीक लक्ष्य पर लगा। ग्राह्य छिद गया और आचार्य मुक्त हो गए। आचार्य ने समझ लिया कि राधावेध के लिए एकमात्र अर्जुन ही उपयुक्त है।

एकदिन सभी कुमारों की, सभी लोगों के समक्ष परीक्षा का आयोजन किया गया। एक विशाल मण्डप बनाया गया। जिसमें राजा आदि के लिये योग्य आसन लगाये गये। अन्य राजा, सामन्त, अधिकारी, प्रतिष्ठित नागरिक और दर्शकों के बैठने की उचित व्यवस्था की गई। रानियों और अन्य महिला-वर्ग के लिए पृथक् प्रबन्ध किया गया। सामने अस्त्र-शस्त्रादि साधन व्यवस्थित रूप से रखे गए। पाण्डु नरेश, भीष्म-पितामह, धृतराष्ट्र विदुर, आदि मण्डप में पहुँच कर आसनस्थ हुए। सभी दर्शक-दर्शिकाएँ यथा-स्थान बैठे। मण्डप के सामने की स्वच्छ एवं समतल भूमि ही परीक्षा का स्थान था। द्रोणाचार्य अपने शिष्य-समूह के साथ उपस्थित हुए। राजाज्ञा से परीक्षा प्रारंभ हुई। छात्र अपनी-अपनी कला-निपुणता का प्रदर्शन करने लगे। कोई धनुष-बाण ले कर स्थिर लक्ष्य को वेधता तो कोई चल को, कोई ध्वनि का अनुसरण करके बाण फेंकता, कोई बाणों से आकाश को आच्छादित करता। द्वंद्व-युद्ध, गदा-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, मल्लयुद्ध आदि अनेक प्रकार का कला-प्रदर्शन होने लगा। छात्रों की निपुणता देख कर दर्शक हर्षनाद एवं करस्फोट कर संतोष व्यक्त करने लगे। युधिष्ठिर रथारूढ़ हो कर युद्ध कर करने में सर्वोपरि सिद्ध हुआ। इसके बाद दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ। दोनों इस कला के पंडित थे। दोनों की चपलता और हस्तकौशल बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि दर्शक चकित रह गए। दर्शकों का एक वर्ग भीम की प्रशंसा करता हुआ—'धन्य धन्य' कह कर प्रोत्साहित करता, तो दूसरा वर्ग दुर्योधन की। भीम के प्रशंसक अधिक थे। उसकी प्रशंसा का घोष अत्यधिक गंभीर हो रहा था। यह देख कर दुर्योधन की ईर्षा बढ़ी। उसने क्रोधित हो कर भीम को मारने के लिए बलपूर्वक गदा प्रहार किया, परंतु भीम अविचल रहा। दर्शकगण दुर्योधन की दुष्टता देख कर क्षुब्ध हुए। दुर्योधन के गदा-प्रहार का उत्तर भीम

ने भी वैसा ही दिया, किंतु दुर्योधन भीम की मार से तिलमिला गया। उसके मन में शत्रुता उभरी और वह भीम को समाप्त कर देने के उद्देश्य से पुनःप्रहार करने को तत्पर हुआ। भीम तो शांत ही था, परंतु दुर्योधन की खेल में भी दुर्भावना एवं दुष्टता देख कर वह भी क्रोधाभिभूत हो कर भयंकर बन गया। उसने भी दुर्योधन को दण्ड देने के लिए गदा उठाई। यह देख कर राजा और भीष्मपितामह तथा आचार्य ने निकट आ कर उसे शांत किया। दोनों की परीक्षा समाप्त कर दी गई।

इसके बाद अर्जुन की परीक्षा प्रारंभ हुई। उसने अपनी कला-निपुणता का प्रदर्शन करना प्रारंभ किया। स्थिरलक्ष्य, चललक्ष्य, स्थूललक्ष्य आदि सूक्ष्मलक्ष कलाओं में प्रवीणता देख कर दर्शक-समूह चकित रह गया। सारी सभा हर्षविभोर हो गई। अर्जुन का एक भी लक्ष्य व्यर्थ नहीं गया, सभी अचूक रहे। उसकी चपलता चमत्कारिक थी। वह एक क्षण में सिकुड़ कर संकुचित हो जाता, तो दूसरे ही क्षण विस्तृत, क्षणभर में पृथ्वी पर चिपट कर बाण चलाता, तो दूसरे ही क्षण आकाश में उछल कर लक्ष्य वेधता। चलते, दौड़ते, कूदते हुए निशान को अचूक वेधना उसकी विशेषता थी। अग्न्यास्त्र, वरुणास्त्र आदि दिव्य अस्त्रों के प्रयोग में भी वह सर्वश्रेष्ठ रहा। अर्जुन की सर्वोपरि सफलता देख कर उसके विरोधियों और ईर्षा करने वालों के मन में खलबली मच गई। महारानी कुन्ती अपने पुत्रों के श्रेष्ठ गुणों से हर्ष-विभोर थी, तो गान्धारी अपने पुत्र दुर्योधन की निम्नता से उदास थी। अर्जुन की जय-जयकार, दुर्योधन सहन नहीं कर सका। उसका क्रोध मुँह, नेत्र और भृकुटी पर स्पष्ट रूप से अंकित हो गया। उसके बन्धुगण भी आवेशित हो गए। उसके मित्र, कर्ण को भी अर्जुन की सर्वोपरिता अखरी। कर्ण भी वीर योद्धा और कला-निपुण था। वह अपने आसन से उठा और सिंह के समान गर्जना करता हुआ सन्नद्ध होकर रंगभूमि में आया। इस समय पाँचों पाण्डव और द्रोणाचार्य एक ओर और सौ कौरव, अश्वत्थामा तथा कर्ण दूसरे दल में थे। कर्ण की विकराल आकृति देख कर सभी सभाजन चिन्तित हो गए। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और सभा को सम्बोधित कर कर्ण कहने लगा —

"गुरुदेव, आप्तजन और सभासद ! संसार में एक अर्जुन ही सर्वोपरि नहीं है। आपने उसकी कला-निपुणता देखी, अब मेरी भी देखिये।"

इस प्रकार गर्वोक्ति प्रकट कर के कर्ण ने अपना कौशल बताया। जितनी कलाएं अर्जुन ने बतलाई थी, उतनी और वैसी ही और कोई विशिष्ट भी कर्ण ने प्रदर्शित की। कर्ण को अद्भुत क्षमता और श्रेष्ठता देख कर दुर्योधन की उदासीनता दूर हो गई। उसने

हर्षातिरेक से कर्ण को छाती से लगा लिया और कहा—

"वीर कर्ण ! वास्तव में तू सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय कलाविद् है। तेरी समता करने वाला संसार में कोई नहीं है। शत्रुओं के गर्व को दूर करने वाले हे वीर ! मैं तेरा अभिवादन करता हूँ। तू मेरा परम मित्र है। मेरा सर्वस्व तेरा है।"

दुर्योधन की आत्मीयता और प्रशंसा सुन कर कर्ण बोला—

"आपकी आत्मीयता का मैं पूर्ण आभारी हूँ। जब आपने मैत्री-सम्बन्ध जोड़ा है, तो इसे विकसित कर के जीवन-पर्यन्त निभाना होगा।"

—"मित्र ! मैं वचन देता हूँ कि तुम्हारी और मेरी मैत्री जीवन-पर्यन्त अटूट रहेगी। मैं इसे शुद्ध अन्तःकरण से स्वीकार करता हूँ।"

दुर्योधन के उद्गार सुन कर कर्ण बोला—

"मित्रराज ! अब मैं निश्चिन्त हुआ। मैं स्वयं अर्जुन की प्रशंसा सहन नहीं कर सका था। इसीलिए मैंने प्रदर्शन किया। मेरे मन का भार तो तब तक हलका नहीं होगा, जब तक कि मैं अर्जुन को युद्ध में पराजित नहीं कर दूँ।"

कर्ण भी दुर्योधन के दल में सम्मिलित हो गया। वे सभी कर्ण की प्रशंसा और अर्जुन की निन्दा करने लगे। अर्जुन से यह अपमान सहन नहीं हुआ। उसने सिंहगर्जना करते हुए कहा;—

"कर्ण ! लगता है कि तेरी मृत्यु निकट ही आ गई है। मैं चेतावनी देता हूँ कि तू मेरी कोपज्वाला में आहुति मत बन और मुझसे बच कर रहा कर।"

अर्जुन के वचनों ने कर्ण के अहंकार पर चोट की। वह आवेशपूर्वक बोला—

"अर्जुन ! तू किसे डराता है ? यदि मन में अपने बाहुबल का घमण्ड है, तो उठ, आ सामने। मैं तेरे अहंकार रूपी पर्वत को चूर्ण-विचूर्ण करने के लिए तत्पर हूँ।"

कर्ण के वचनों ने अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर बना दिया। उसने आचार्य की आज्ञा ले कर युद्ध के लिए रंगभूमि में प्रवेश किया। सभासद अब भी दो पक्ष में थे। एक पक्ष अर्जुन की विजय चाहता था, तो दूसरा कर्ण की। सभा स्तब्ध, शान्त और गंभीर होकर उनकी भिड़न्त देखने लगी।

कर्ण का जाति-कुल

अर्जुन और कर्ण दोनों वीर अखाड़े में आमने-सामने खड़े हो गये। दोनों हुंकार

करते हुए भिड़ने ही वाले थे कि कृपाचार्य ने कर्ण को सम्बोधित कर कहा;—

"हे कर्ण ! अर्जुन उच्चकुलोत्पन्न है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष की उत्पत्ति सुमेरु पर्वत से होती है, उसी प्रकार अर्जुन की उत्पत्ति पाण्डु नरेश से हुई है। जिस प्रकार मोती की उत्पत्ति शीप में से होती है, उसी प्रकार अर्जुन, महारानी कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है और साथ ही यह वीरोत्तम भी है, किन्तु तू वैसा कुलोत्तम नहीं है। बता तेरी उत्पत्ति किस कुल से हुई है ? जब तक यह स्पष्ट नहीं हो जाय, तब तक अज्ञातकुल-शील वाले के साथ अर्जुन का युद्ध नहीं हो सकता। तुझे अपना कुल-शील इस सभा में बताना होगा।"

कृपाचार्य की उठाई हुई बाधा का निवारण करने के लिए दुर्योधन ने कहा;—

"आचार्यश्री ! मनुष्य ख्यातिप्राप्त कुल, जाति अथवा पद से बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है गुणों से। कमल की उत्पत्ति कीचड़ से होती है, तथापि वह अपनी उत्तम सुगन्ध से लोकप्रिय होता है। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष नीचकुलोत्पन्न है, तो भी वह अपने पराक्रम एवं सद्गुणों से उच्च स्थान प्राप्त करता है। कर्ण भी सद्गुणी और वीरोत्तम है। इसलिये यह अर्जुन से युद्ध करने में समर्थ है। इस पर भी यदि आप कहें कि— 'यह राजा या राजकुमार नहीं है, इसलिए अर्जुन की बराबरी नहीं कर सकता, तो मैं आज ही इसे अंग देश के राज्य का अभिषेक कर के वहाँ का अधिपति बनाता हूँ।" इतना कह कर उसने पुरोहित को बुलाया और तीर्थोदक से कर्ण का राज्याभिषेक कर दिया ※।

अपमान के स्थान पर अपना सम्मान और राज्यदान ने कर्ण को दुर्योधन का अत्यंत उपकृत बना दिया। वह भावाभिभूत हो कर बोला —

"मित्रवर ! आपने मुझ पर बड़ा भारी उपकार किया। मैं आपका अत्यंत ऋणि हूँ। आपके लिए मेरे प्राण भी सदैव प्रस्तुत रहेंगे। अधिक क्या कहूँ ?"

"मित्र कर्ण ! मैं तुमसे यही वचन प्राप्त करना चाहता हूँ कि अपना मैत्रीसम्बन्ध जीवनपर्यन्त अक्षुण्ण रहे।"

कर्ण ने वचन दिया। इसके बाद राज्याभिषेक पूर्ण होने पर कर्ण, अर्जुन से युद्ध करने के लिए तत्पर हुआ। उस समय कर्ण का पिता विश्वकर्मा अत्यंत हर्षित हो कर उठा और कर्ण को आलिंगन-बद्ध कर चूमने लगा। लोगों ने देखा कि कर्ण, सारथि का पुत्र है। यह देख कर भीम गर्जना करता हुआ बोला—

※ दुर्योधन को राज्याभिषेक करने का अधिकार ही क्या था ? उसका खुद का राज्य नहीं, तो वह ऐसा कैसे कर सकता था ?—सं.।

"अरे सारथिपुत्र ! धनुष एक ओर रख दे। तेरे हाथों में घोड़े की लगाम होनी चाहिए। चल हट यहाँ से। तू अंगदेश का राज्य पाने का अधिकारी नहीं है। एक जम्बूक, बनराज नहीं हो सकता।"

भीम की गर्जना सुन कर विश्वकर्मा सारथि बोला;—

"सभाजनों ! कर्ण की कुलीनता के विषय में व्याप्त प्रसिद्धि असत्य है, भ्रममात्र है। वास्तव में यह मेरा पुत्र नहीं है। यह दैवयोग से ही मेरे हाथ लगा है। मैं इसका पालक एवं पोषक अवश्य हूँ, जनक नहीं। घटना यह घटी कि—मैं प्रातःकाल स्नान करने के लिए गंगा के तीर पर गया था। वहाँ मैंने एक पेटी वहती हुई अपनी ओर आती देखी। मैंने वह पेटी निकाल ली और अपने घर ले गया। पेटी खोलने पर उसमें मुझे एक तेजस्वी बालक दिखाई दिया। उसके कानों में देदीप्यमान कुंडल पहने हुए थे। सन्तान-सुख से वंचित मेरी पत्नी, उस बालक को देख कर बहुत प्रसन्न हुई। उसकी मनोकामना पूरी हुई। बालक कुंडल पहने हुए था और पेटी में भी वह अपना हाथ, कान पर रखे हुए था, इसलिए हमने उसका नाम "कर्ण" रख दिया। जिस दिन वह बालक हमें मिला, उस रात्रि को स्वप्न में सूर्य के दर्शन हुए। इसलिए इसका दूसरा नाम 'सूर्यपुत्र' भी प्रसिद्ध हुआ। इसके लक्षण बचपन से ही असाधारण दिखाई देने लगे थे। यह देख कर मैं विचार करता कि इसका जन्म किसी उच्च कुल में हुआ होगा। आज मैं इसके पराक्रम देखता हूँ तो मेरी यह धारणा दृढ़ हो रही है। आपको इसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।"

विश्वकर्मा का वक्तव्य सुन कर सभाजन आश्चर्य करने लगे।

महारानी कुंती यह सब सुन कर अवाक् रह गई। उसके हृदय में कर्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। उसे विश्वास हो गया कि यह मेरा ही पुत्र है। मैंने ही लोक-निन्दा के भय से इसे पेटी में वन्द करवा कर गंगा में बहा दिया था और कुण्डल की जोड़ी भी पहिनाई थी। अहा ! मैं कितनी भाग्यवती हूँ। अब मुझे इस गुप्त-भेद को प्रकट कर देना चाहिए। फिर विचारों ने पलटा खाया और उचित समय आने पर पति के सामने यह भेद खोलने का निश्चय कर वह मौन रह गई।

'कर्ण सारथि-पुत्र नहीं, किसो उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है,'—यह जान कर दुर्योधन ने कहा—

"कर्ण उत्तम कुल का है। अब अर्जुन को इसके साथ युद्ध करना चाहिए।"

दुर्योधन के वचन निकलते ही पाँचों पांडव शस्त्र ले कर युद्ध के लिए आ खड़े हुए।

उस समय पाण्डु नरेश ने द्रोणाचार्य से कहा—

"आचार्यवर्य ! यह सभा परीक्षा लेने के लिए जुड़ी है और अव यह कार्यक्रम पूरा हो चुका है। युद्ध करने का कोई कार्यक्रम नहीं है। अतएव आप अव इस कार्यक्रम को समाप्त कीजिए। समय भी वहुत हो चुका है।"

आचार्य ने खड़े हो कर छात्रों से कहा—"अव कोई कार्यक्रम शेष नहीं रहा। युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं आज्ञा देता हूँ कि अव स्वस्थान चलने के लिए तत्पर हों।

आचार्य की आज्ञा सुनते ही कौरव और पांडव शान्त हो गए और अपने अस्त्र-शस्त्र संभाल कर चलने लगे। सभा भी विसर्जित हो गई।

राधावेध और द्रौपदी से लग्न

कम्पिलपुर के द्रुपद नरेश ने अपनी पुत्री द्रौपदी के पति-वरण के लिए नगर के बाहर एक विशाल एवं भव्य मंडप बनवाया। वह मण्डप सुसज्जित था। उसमें आगत नरेशों और राजकुमारों के लिए आसनों की समुचित व्यवस्था की गई थी। मंडप के मध्य में स्वर्णमय एक विशाल स्तंभ वनाया गया था। उसके वाईं और दाहिनी ओर चार-चार चक्र चल रहे थे। उस स्तंभ के ऊपर रत्नमय पुतली अधोमुख किये खड़ी की गई थी। स्तंभ के पास भूमि पर एक ओर एक धनुष रखा हुआ था और मध्य में एक वड़े कड़ाव में तेल भरा हुआ था। मण्डप के आसपास दर्शकों की विशाल भीड़ थी। यथासमय द्रुपद नरेश और युवराज धृष्टद्युम्न आये और आगत नरेशों और राजकुमारों का स्वागत कर यथास्थान विठाने लगे। सभी के आ कर वैठ जाने के वाद राजकुमारी द्रौपदी अपनी सखियों और अन्त:पुर-रक्षकों के साथ गजगति से चलती हुई सभा में उपस्थित हुई। द्रौपदी का सौंदर्य अत्युत्तम था। शरीर का प्रत्येक अंग आकर्षक था। उसका शरीर एक प्रकार की आभा से देदीप्यमान हो रहा था। जिसने भी द्रौपदी को देखा, मोहित हो गया और प्राप्त करने के लिये लालायित हुआ। द्रौपदी के आते ही धृष्टद्युम्न ने उठ कर सभा को सम्वोधित करते हुए कहा;—

"आदरणीय सभाजनों ! आपमें से जो कलाविद् वीर पुरुष, इस धनुष से स्तंभ पर रही हुई पुतली की परछाईं, इस तेल में देख कर अपने वाण से पुतली की बाईं आंख

वेध देगा, उसी भाग्यशाली को मेरी वहिन वरण करेगी। जो इतनी कुशलता रखता हो, वह यहाँ आ कर अपना पराक्रम दिखलावे।"

सर्वप्रथम हस्तिशीर्ष नगर का राजा दमदंत उठा, किंतु उसी समय किसी ने छींक दिया। वह इस अपशकुन से शंकित हो कर वैठ गया। इसके वाद मथुरा नरेश उठ कर चले, किंतु अन्य राजाओं के हँसने और मखोल करने के कारण वे भी पुनः आसनस्थ हो गए। फिर विराट देश के राजा उठे, किंतु धनुष, तेल, पुतली आदि देख कर और सफलता में सन्देह होने पर लौट गए। इसी प्रकार नन्दीपुर नरेश शल्य, जरासंघ का पुत्र सहदेव आदि भी विना ही प्रयत्न किये लौट गए। चेदी नरेश शिशुपाल ने प्रयत्न किया, परंतु वह निष्फल हो गया। अव दुर्योधन से प्रेरित कर्ण उपस्थित हुआ। कर्ण को देख कर द्रौपदी चिंतित हुई—"कहीं यह हीन-कुलोत्पन्न सफल हो गया, तो क्या होगा। सुना है—यह उच्च कोटि का धनुर्धर है।" वह अपनी कुलदेवी को मना कर कर्ण के निष्फल होने की कामना करने लगी। द्रौपदी को चिन्तातुर देख कर प्रतिहारिणी बोली —"चिन्ता मत करो। कर्ण राधावेध की कला नहीं जानता है।" कर्ण भी निष्फल हुआ। अन्य कई प्रत्याशियों की निष्फलता के वाद दुर्योधन भी आया और निष्फल हो कर चला गया। अन्य नरेश राधावेध की कला नहीं जानते थे, सो वे उठे ही नहीं। इसके वाद पाण्डवों की वारी आई। पाण्डवों को देखते ही द्रौपदी मोहित हो गई। वह उनकी सफलता की कामना करने लगी। प्रतिहारी की प्रशंसा ने द्रौपदी का मोह विशेष वढ़ाया और वह आशान्वित हुई। अर्जुन ने धनुष को उठा कर चढ़ाया। युधिष्टिरादि चारों भाई अर्जुन के चारों ओर अपने शस्त्र ले कर रक्षा करने के लिए खड़े हो गए। अर्जुन धनुष पर वाण लगा कर तेलपात्र में पुतली को वायीं आँख से देखने लगा और दृष्टि स्थिर कर के वाण छोड़ दिया। पुतली की वायीं आँख विध गई। सभासदों ने अर्जुन की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। युधिष्टिरादि वन्धु, अर्जुन को छाती से लगा कर हर्षोद्गार व्यक्त करने लगे। उस समय द्रौपदी की पहिनाई हुई वरमाला पाँचों वन्धुओं के गले में आरोपित हो गई †।

पाण्डवों की प्रतिज्ञा

विवाहोपरान्त द्रौपदी को ले कर पाण्डव हस्तिनापुर आये और हस्तिनापुर में

† द्रौपदी के पूर्वभव, निदान तथा लग्न का वर्णन पृ. ४०४ से ४१५ तक भी हुआ है।

विवाहोत्सव होने लगा। उसी समय नारदजी उपस्थित हुए। प्रासंगिक बातचीत के बाद नारदजी ने पाँचों बन्धुओं को उपदेश देते हुए कहा;--

"मैं तुम पाँचों बन्धुओं का एक द्रौपदी के साथ लग्न होना सुन कर ही यहाँ आया हूँ। भवितव्यतावश अनहोनी घटना हो गई। किन्तु इससे कोई अनर्थ खड़ा नहीं हो जाय, इसका तुम सब को पूरा ध्यान रखना है। सभी प्रकार के अनर्थों का मूल मोहकर्म है। मोह के वशीभूत हो कर मनुष्य भान भूल जाता है। स्त्री के निमित्त से वैर की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। रत्नपुर नगर के श्रीसेन राजा के दो पुत्र थे--इन्दुसेन और बिन्दुसेन। दोनों का परस्पर गाढ़ स्नेह था। यौवनवय प्राप्त होने पर राजा ने दोनों का लग्न कर दिया। दोनों भ्राता सुखपूर्वक रहते थे। उस नगर में अनंगसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। उसकी रूप-सुधा देख कर दोनों राजकुमार मोहित हो गए। एक ही स्त्री पर दो राजकुमारों का मुग्ध होना और स्नेह-शांति बनी रहना असंभव था। साधारण मनुष्य भी एक वस्तु पर अपना एकाधिकार चाहता है, तब एक अनुपम स्त्री-रत्न पर राजकुमार जैसे अभिमानी व्यक्ति अपना पूर्ण एकाधिपत्य नहीं रख कर, दूसरे का साझा कैसे सहन कर सकते थे? उन दोनों का स्नेह, द्वेष रूपी आग में जल गया। एक-दूसरे के शत्रु बन गए। राजा ने जब यह बात जानी, तो अत्यन्त दुखी हुआ। उसने दोनों पुत्रों को बुला कर समझाया, परन्तु मोह-मुग्ध पुत्रों पर पिता के उपदेश का उलटा प्रभाव हुआ। वे एक-दूसरे को सोम्य-दृष्टि से देख भी नहीं सकते थे। पिता के सामने ही दोनों झगड़ने लगे। राजाज्ञा से उन्हें उस समय बलात् पृथक्-पृथक् कर के झगड़ा टाला गया। किन्तु राजा के हृदय पर इस घटना ने भयंकर आघात लगाया। उसे जीवन भारभूत लगने लगा। राजकुल की बदनामी उससे नहीं देखी जा सकी। वह विष-पान कर के मर गया। राजा की मृत्यु के शोक में निमग्न हो कर दोनों रानियाँ भी मर गईं और निरंकुश दोनों कुमार आपस में लड़ कर कट मरे × स्त्री-मोह ने दो भाइयों के स्नेह में आग लगा कर पाँच मनुष्यों के प्राण लिये। फिर तुम तो एक स्त्री पर पाँच बन्धु अधिकार रखते हो तुम्हें आज से ही प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना चाहिए। जब एक व्यक्ति द्रौपदी के अन्तःपुर में हो, तब दूसरे को प्रवेश ही नहीं करना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक दिन के बारे से दौपदी के पास जाना चाहिए। यदि तुम इस प्रकार मर्यादा में रहोगे, तो तुम्हारा

× यह कथा भ. शांतिनाथ के चरित्र भाग १ पृ. ३०४ में भी है, परंतु दोनोंमें कु अन्तर है। उसमें युद्ध-विरत हो, प्रव्रजित होकर मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है।

परस्पर स्नेह बना रहेगा। कुटुम्ब में शान्ति रहेगी, राज्य का हित होगा और धार्मिक मर्यादा का पालन करने के कारण व्रतधारी भी हो जाओगे।"

नारदजी के उपदेश का श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भी समर्थन किया। पाँचों पाण्डव प्रतिज्ञा-बद्ध हो गए द्रौपदी भी पाँचों के साथ समभावपूर्वक बरतने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हुई। नारदजी ने कहा—"मैं इसी विचार से यहाँ आया था कि तुम्हारे भ्रातृ-प्रेम में द्रौपदी का निमित्त कहीं बाधक नहीं बन जाय, इसका उपाय करना चाहिए।"

—"आप सम्प और शान्ति के उपासक कब से बने? स्नेह एवं सम्प में संताप उत्पन्न कर के प्रसन्न होते हुए तो मैंने आपको कई बार देखा है, परंतु आज की आपकी बात मुझे तो अनहोनी ही घटित हुई लगी। कदाचित् पाण्डवों का भाग्य प्रबल है, जिससे आपको सद्बुद्धि सुझी। अन्यथा आपके मनोरञ्जन का तो यह एक नया साधन मिल गया था" —श्रीकृष्ण ने व्यंगपूर्वक नारदजी से कहा।

—"जब ऐसी इच्छा होगी, तब वैसा भी किया जा सकेगा। वैसे पाण्डव मुझे प्रिय हैं। मैं इनका अहित नहीं चाहता। वैसे मुझे अपनी विद्या का प्रयोग करने के लिए तो सारा संसार है। इसकी चिन्ता मत कीजिए"—कह कर नारदजी चले गए।

पाँचों पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मर्यादा में रह कर द्रौपदी के साथ सुख-पूर्वक रहने लगे और द्रौपदी भी निष्ठापूर्वक बिना किसी भेदभाव के पाँचों पाण्डवों के साथ व्यवहार करने लगी। जिस दिन जिसका बारा होता, वही वह रात द्रौपदी के आवास में जाता, दूसरा कोई भी वहाँ नहीं जाता। पाँचों बन्धु राजकाज में भी यथायोग्य कार्य करते थे। उन सब का जीवन शांतिपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

अर्जुन द्वारा डाकुओं का दमन और विदेश-गमन

रात को सभी शयन कर रहे थे कि नगर में कोलाहल हुआ। राजभवन में पुकार हुई—"हमारा गोधन डाकू ले गए। स्वामिन्! हम लूट गए। रक्षा करो भगवन्! हम बिना मृत्यु के मर गए। हमारा क्या होगा? डाकू-दल हमारे प्राण के समान आधारभूत गोधन हरण कर गए।" लोगों का झुंड रोताचिल्लाता पुकार करने लगा। अर्जुन ने लोगों की पुकार सुनी और तत्काल उठ कर बाहर आया। उसने लोगों को सान्त्वना देते हुए कहा—

मणिचूड़ की कथा

अर्जुन अपनी विदेश-यात्रा में आगे बढ़ता हुआ एक विशाल वन-प्रदेश के मध्य-भाग में पहुँच गया। जहाँ चारों ओर हिंसक-पशुओं का कोलाहल सुनाई दे रहा था। मनुष्य का तो वहाँ दूर-दूर तक मिलना ही कठिन था। अर्जुन वन की शोभा देखता हुआ चला ही जा रहा था कि उसके कानों में किसी स्त्री-पुरुष की बातचीत के शब्द पड़े। वे शब्द भी दुःख, संताप और वेदना से भरपूर लगे। अर्जुन शब्द की दिशा में आगे बढ़ा। उसने देखा— एक पुरुष आत्म-घात करने के लिए तत्पर है और स्त्री उसे रोक रही है। अर्जुन उनके पास गया और पूछा; —

"भद्र ! तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? लगता है कि तुम जीवन से निराश हो कर मरने का कायर जैसा कुकृत्य कर रहे हो। क्या दुःख है—तुम्हें ? यदि बताने योग्य हो, तो कहो। मैं यथाशक्ति तुम्हारी सहायता करूँगा।"

अर्जुन की भव्य आकृति, निर्भयता एवं शौर्यता देख कर पुरुष आकर्षित हुआ। उसे लगा—'यह पुरुष मेरा दुःख दूर करेगा। दैव मेरे अनुकूल हुआ लगता है। इस वीर पुरुष के सामने अपना हृदय खोलना अनुचित नहीं है।' उसने कहा—

"महानुभाव ! मैं हतभागी हूँ। मेरी घोर विपत्ति की कथा आपके हृदय को भी खेदित करेगी। किन्तु आप वीर क्षत्रीय हैं और परोपकार-परायण हैं। आपके दर्शन से ही मुझे विश्वास हो गया कि आप मेरा दुर्भाग्य पलटने में समर्थ होंगे। मुझ दुर्भागी की दुःखगाथा सुनिये। मैं रत्नपुर नगर के महाराज चन्द्रावतंश और महारानी कनकसुन्दरी का पुत्र हूँ। मणिचूड़ मेरा नाम है। प्रभावती मेरी बहिन का नाम है, जिसे हिरण्यपुर नरेश हेमांगद को व्याही है। मेरा विवाह मेरे पिताजी ने चन्द्रपीड़ राजा की पुत्री चन्द्रानना के साथ किया। हम विद्याधर हैं। मेरे पिता ने मुझे कई विद्याएँ सिखाई। पिताजी के स्वर्गवास के बाद मैं राजा बना और पिताजी की परम्परानुसार नीतिपूर्वक राज्य करने लगा। अचानक मेरा पितृव्य—भाई विद्याधरों की बड़ी सेना ले कर मुझ पर चढ़ आया। मुझे तत्काल युद्ध करना पड़ा। उसके संगठित बल के आगे मेरी पराजय हुई। मैं राज्यभ्रष्ट हो कर वन में चला आया। यह मेरी रानी है। मैं राजा के उच्च पद से गिर कर एक रंक से भी हीन स्थिति में पहुँच गया हूँ। ऐसी हीनतम दशा में जीवित रहना मुझे नहीं सुहाता। मैं आत्म-घात करना चाहता हूँ। परन्तु यह मेरी रानी मुझे रोक रही है। इसका दुःख मैं जानता हूँ। परन्तु मैं इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को सहन नहीं कर सकता। इसीलिए मर रहा हूँ।"

"विद्याधरराज ! धैर्य धारण करो। इतने हताश मत बनो। मैं तुम्हारी सहायता

कर के तुम्हारी लूटी हुई राज्यश्री तुम्हें पुनः प्राप्त कराऊँगा। तुम विश्वास करो। मैं पाण्डु-पुत्र अर्जुन हूँ। कायरता छोड़ कर साहस अपनाओ तुम पुनः अपना राज्य प्राप्त करोगे"—अर्जुन ने मणिचूड़ को आश्वासन दिया।

अर्जुन का परिचय और आश्वासन सुन कर मणिचूड़ प्रसन्न हुआ। उसने अर्जुन की यशोगाथा सुन रखी थी। ऐसे महान् धनुर्धर की सहायता प्राप्त होना ही सद्भाग्य का सूचक है। उसे विश्वास हो गया कि अब राज्य प्राप्ति दुर्लभ नहीं होगी। उसने अर्जुन की प्रशंसा करते हुए कहा—

"महानुभाव! आपके दर्शन ही मेरे दुर्भाग्य रूपी अन्धकार का विनाश करने वाले हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी कृपा से मैं अपनी विलुप्त राज्यश्री पुनः प्राप्त कर सकूंगा। परंतु हम विद्याधर जाति के हैं। हमारे पास वह विद्या होती है कि जिससे विजय वही प्राप्त कर सकता है जो विशेष विद्या सम्पन्न हों। बिना विद्या या अल्प विद्या वाले से विशेष विद्या वाले को जीतना महा कठिन होता है। इसलिए पहले आप मुझसे विद्याधरी-विद्या सीख लीजिये। इससे शत्रु पर विजय पाना सरल हो जायगा।"

अर्जुन ने विद्या सीखना स्वीकार किया। मणिचूड़ ने अपनी पत्नी को समझा कर पीहर भेज दिया। वह अर्जुन की सहायता पा कर आश्वस्त हो चुकी थी। उसने भी अर्जुन से, बहिन की सोहाग-रक्षा का वचन ले कर प्रयाण किया। इसके बाद अर्जुन एकाग्र हो कर विद्या सिद्ध करने में लग गया। उसकी साधना भंग करने के लिए कई प्रकार के दैविक उपसर्ग हुए, परन्तु वह निश्चल रहा। छह मास की साधना से वह विद्याधरी महाविद्या सिद्ध कर सका। विद्या की अधिष्टात्री देवी प्रत्यक्ष हुई और अर्जुन से वर माँगने का कहा। अर्जुन ने कहा—"जब मैं स्मरण करूँ, तब उपस्थित हो कर कार्य-सिद्ध करना।' "तथास्तु"—कह कर देवी अदृश्य हो गई।

धनंजय (अर्जुन) विद्यासिद्ध हो गए। वे विश्राम कर रहे थे। इतने में आकाश-मार्ग से दो विमान आये और उनके निकट ही उतरे। उनमें से मणिचूड़ की रानी चन्द्रानना और कई विद्याधर योद्धा उतरे। कुछ गन्धर्व भी साथ थे। उन्होंने आते ही वहीं मणिचूड़ को स्नानादि करवा कर राज्याभिषेक किया, गायन-वादिन्त्रादि से उत्सव मनाया और अर्जुन सहित सभी विमान में बैठ कर रत्नपुर नगर के बाहर आये। एक दूत विद्युत्वेग के पास भेजा और कहलाया—

"महाबाहु अर्जुन की आज्ञा है कि तुम मेरे मित्र मणिचूड़ का राज्य छिन कर स्वयं राजा बन बैठ हो। यह तुम्हारा अत्याचार है। यदि तुम्हें अपना जीवन प्रिय है, तो इसी

समय राज्य छोड़ कर निकल जाओ और राज्य की सीमा से वाहर चले जाओ। यदि तुम्हें युद्ध करना है, तो अविलम्व सामने आओ। परन्तु स्मरण रहे कि मेरा अमोघ-वाण तुम्हें जीवित नहीं रहने देगा और तुम्हारा परिवार भी तुम्हारे पाप का फल भोगेगा।"

दूत की बात सुन कर विद्युत्वेग क्रोधाभिभूत हो गया और दूत से बोला —

"अरे ओ धृष्ट ! क्यों बढ़चढ़ कर बोलता है। जा तेरे स्वामी से कह कि तेरा बल मनुष्य पर चल सकता है, विद्याधर पर नहीं। क्यों सोये हुए सिंह को जगा कर मृत्यु को न्योता दे रहा है ?"

विद्युत्वेग की गर्वोक्ति सुन कर अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हो गया। उधर विद्युत्-वेग भी आया और युद्ध छिड़ गया। घमासान युद्ध के चलते ही मणिचूड़ की सेना के पाँव उखड़ गए। वह विद्युत्वेग की सेना के भीषण-प्रहार को सहन नहीं कर सकी और रण-क्षेत्र छोड़ कर भाग गई। अपने पक्ष की दुर्दशा देख कर अर्जुन आगे आया और अपने बाणों की अनवरत वर्षा से विद्युत्वेग को घायल करने लगा। विद्युत्वेग समझ गया कि अर्जुन के प्रहार के आगे मेरा जीवित रहना असंभव है। वह भाग गया और उसकी सेना अर्जुन की शरण में आई। इसके वाद अर्जुन ने मणिचूड़ के साथ नगर में प्रवेश किया। नागरिकों ने अपने राजा और अर्जुन का अपूर्व सत्कार किया। पुनः राज्यारोहण का भव्य उत्सव हुआ और मणिचूड़ पूर्ववत् राजा हो गया। वह अर्जुन को अपना महान् उपकारी मानने लगा।

हेमांगद और प्रभावती का उद्धार

थोड़े दिन ठहर कर अर्जुन वहाँ से चल दिया और विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से यात्रा करने लगा। चलता-चलता वह एक निर्जन वन में पहुँचा। उसने एक महात्मा को वहाँ ध्यानस्थ देखा। वह नमस्कार कर के उनके समीप बैठ गया। ध्यान पूर्ण होने पर महात्मा ने अर्जुन को धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुआ और महात्मा को वन्दना-नमस्कार कर वाहनारूढ़ हो कर आगे वढ़ा। चलते-चलते वह एक वन में पहुँचा। वहाँ उसे किसी का आक्रन्द सुनाई दिया। वह रुका और अपने दूत को जानकारी लेने के लिए उधर भेजा। दूत ने लौट कर कहा—

"हिरण्यपुर के हेमांगद राजा की रानी प्रभावती के रूप में आसक्त हो कर किसी

दुष्ट ने उसका हरण कर लिया है। रानी की चिल्लाहट सुन कर राजा, नींद से जागा और रानी को छुड़ाने के लिए खड्ग ले कर दौड़ा। उसके सैनिक भी दौड़े, किन्तु रानी का कहीं पता नहीं लगा। राजा खोज करता हुआ यहाँ आया। उसे रानी की वेणी के फूल आदि मिले। वह निराश हो कर आक्रन्द करता हुआ भटक रहा है।"

दूत की बात सुन कर अर्जुन ने सोचा—"प्रभावती तो मेरे मित्र मणिचूड़ की बहिन है। उसकी खोज अवश्य करनी चाहिये।" अर्जुन हेमांगद के निकट आया और रानी को खोजने का आश्वासन दे कर धैर्य बँधाया। फिर आप विद्या के प्रभाव से आकाश-मार्ग से उस ओर गया, जिस ओर प्रभावती ले जाई गई थी। हेमांगद आश्वस्त हो कर वहीं रहा। थोड़ी देर में एक घुड़सवार उसके निकट आ कर बोला—"आपको एक ऋषिश्वर बुलाते हैं और आपकी रानी भी वहीं है, चलिये। राजा उत्साहित हो कर उठा और उसके साथ चला। उसने ऋषि के आश्रम में प्रभावती को देखा। हर्षावेश में वह प्रभावती की ओर दौड़ा। इतने में प्रभावती चिल्लाती हुई बोली—"हे प्राणनाथ! बचाओ।" वह भूमि पर गिर कर मूर्च्छित हो गई। उसके पास से एक विषधर निकल कर बिल में घुस गया। प्रभावती के शरीर का रंग नीला होता जा रहा था। राजा के हृदय को असह्य आघात लगा। शोक के आवेग से वह भी मूर्च्छित हो गया। आश्रम के तपस्वियों ने मूर्च्छा दूर करने का प्रयास किया, जिससे हेमांगद तो सावधान हो गया, परंतु प्रभावती वैसी ही रही। हेमांगद प्रिया-वियोग के असह्य दुःख से अभिभूत हो गया, और रानी के शव को बाहों में भर कर जोर-जोर से आक्रन्द करने लगा। उसका करुण-विलाप श्रोताओं के हृदय को भी द्रवीभूत कर रहा था। राजा के अनुचर भी रुदन कर रहे थे। अनुचरों ने राजा को ढाढ़स बँधाने की चेष्टा की, परन्तु राजा का शोक कम नहीं हुआ। राजा, पत्नी के साथ जीवित ही जल-मरने को तत्पर हो गया। उसने किसी की बात नहीं मानी। चिता रची गई। रानी के शव को गोद में ले कर राजा चिता पर बैठ गया। अनुचरगण आक्रन्द कर रहे थे। उन्होंने भी जल-मरने के लिये एक चिता बनाई। राजा और रानी की चिता में अग्नि प्रज्वलित की गई। धूम्रस्तंभ आकाश में ऊँचा उठ रहा था। उधर अर्जुन प्रभावती को मुक्त करा कर आकाश-मार्ग से इस ओर ही आ रहा था। उसने चिता में राजा-रानी और आसपास रोते हुए अनुचरों को देख कर आश्चर्यपूर्वक पूछा—"यह क्या हो रहा है?"

अनुचरों ने कहा—"महारानी मिल गई, किन्तु सर्प के काटने से वह मृत्युवश हो गई। अब महाराज, महारानी के साथ ही जल कर मर रहे हैं।"

अर्जुन ने हेमांगद को चिता में से खिंच कर बाहर निकाला और उसे वास्तविक प्रभावती दिखाई। अपनी प्रिया को देखते ही हेमांगद उससे लिपट गया। उसे अर्जुन का उपकार मानने का भान ही नहीं रहा। चिता बुझा दी गई। अर्जुन चिता पर पड़ी उस छलनामयी प्रभावती को देखने लगा। इतने में वह चिता पर से उठी और दौड़ कर वन में चली गई। सभी लोग इस दृश्य को देख कर चकित रह गए। हेमांगद तो प्रभावती में ही मग्न था। प्रभावती के सावधान करने पर हेमांगद उसे छोड़ कर अर्जुन के चरणों में झुका और फिर बाहों में भर कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने लगा। उसने प्रभावती प्राप्त करने का वृत्तांत पूछा। अर्जुन के दूत ने कहा—

"वैडूर्यपुर के राजा मेघनाद ने रानी का हरण किया था। वह रानी को हेमकूट पर्वत पर ले गया और प्रेम-याचना करने लगा। इसे महारानी बनाने का प्रलोभन दिया। किन्तु सती प्रभावती ने उसकी बहुत भर्त्सना की और अपने से दूर रहने की चेतावनी दी। मेघनाद रानी को अनुकूल बनाने के लिए भाँति-भाँति से अपना स्नेह जताने लगा और प्रलोभन देने लगा, किन्तु रानी उसकी भर्त्सना ही करती रही। इतने में हम पहुँच गए। मेरे स्वामी ने प्रभावती की दृढ़ता और सतीत्व देख कर मेघनाद को ललकारा। दोनों का द्वंद्व युद्ध हुआ। अन्त में मेघनाद घायल हो कर गिर पड़ा और मूच्छित हो गया। स्वामी ने उसका उपचार कर के सावधान किया। स्वामी का परिचय पा कर मेघनाद चरणों में झुका और रानी को बहिन बना कर परस्त्री-गमन के त्याग की प्रतिज्ञा की। साथ ही उसने कहा—"आप शीघ्र ही जाइए। हेमांगद को छल कर मारने के लिए मैंने प्रतारिणी विद्या के बल से कृत्रिम प्रभावती भेजी है। विलम्ब होने पर कहीं अनिष्ट नहीं हो जाय।" मेघनाद की बात सुन कर हम उसी समय लौटे और यहाँ आये। यदि हमें विलम्ब हो जाता, तो महान् अनर्थ हो जाता। आप छले गये थे।"

अर्जुन के उपकार के भार से हेमांगद पूर्णरूप से दब गया। उसने अर्जुन से निवेदन किया—

"महाराज ! मेरा जीवन ही अब आपका है। मेरा समस्त राज्य आपके चरणों में अर्पित है। इसे स्वीकार कर के मुझे कुछ अंशों में उपकृत करने की कृपा करें। मैं जीवन-पर्यन्त आपका अनुचर रहूँगा।"

"भद्र ! तुम्हारे राज्य की मुझे आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं सुखपूर्वक न्याय-नीति से राज करो। प्रभावती मेरी धर्म की बहिन है। मेरे मित्र मणिचूड़ की बहिन, मेरी भी बहिन हुई। मैंने तो अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। तुम सब सुखी रहो।"

सुभद्रा के साथ लग्न और हस्तिनापुर आगमन

अर्जुन, हेमांगद आदि उस वन में ही हर्षानुभूति में मग्न थे कि वहिन के अपहरण और बहनोई के वन-गमन के दुःखद समाचार सुन कर, मणिचूड़ भी खोज में भटकता हुआ वहीं आ पहुँचा। अर्जुन द्वारा वहिन की प्राप्ति आदि सभी वर्णन सुन कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। स्नेहालिंगन के वाद सभीजन हेमांगद के साथ उसके राजभवन में आये। राजधानी में उत्सव मनाया जाने लगा। राजा और प्रजा सभी आनन्दोल्लास में मग्न थे। इतने में द्वार-पाल ने आ कर सूचना दी—"हस्तिनापुर से एक राजदूत आया है। वह तत्काल दर्शन करना चाहता है।" हस्तिनापुर का नाम सुन कर अर्जुन चौंका और दूत को बुलाया। दूत ने प्रणाम कर निवेदन किया;—

"वीरशिरोमणि धनंजयदेव ! महाराजाधिराज, महारानी और सारा परिवार आपके विरह से दुखी हैं। महाराजा की वृद्ध अवस्था है। आपके विरह ने उनकी सुख-शांति हर ली। सभी चाहते हैं कि आप शीघ्र लौट कर उनकी लुप्त प्रसन्नता को पुनः प्राप्त कराएँ। आपके वान्धव आपके विना एक प्रकार की शून्यता अनुभव कर रहे हैं। आपके प्रस्थान के साथ ही हस्तिनापुर के त्योहार और उत्सव भी विदा हो गए। राज-परिवार ही नहीं, प्रजा भी चिन्तित रहती है। आपकी खोज के लिए कई दूत भेजे गए। मेरा सद्भाग्य है कि मैं आपके दर्शन कर कृतार्थ हुआ। अव शीघ्र पधार कर हस्तिनापुर को कृतार्थ करें।"

दूत का निवेदन सुन कर अर्जुन ने कहा—

"भाई ! मैं आ रहा हूँ। तुम शीघ्र आगे पहुँच कर माता-पितादि ज्येष्ठजनों से मेरा प्रणाम निवेदन करो और मेरे आने की सूचना दे कर उन्हें प्रसन्न करो।"

दूत लौट गया। अर्जुन ने राजा हेमांगद की अनुमति ले कर मणिचूड़ के साथ आकाश-मार्ग से प्रस्थान किया। मार्ग में सौराष्ट्र देश की द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण-वासुदेव से मिलने के लिए ठहरे। कुछ दिन वहाँ रुके। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ अपनी वहिन सुभद्रा के लग्न कर दिये। कुछ दिन वहाँ ठहर कर विपुल दहेज और विशाल सेना के साथ प्रस्थान कर हस्तिनापुर आये। माता-पिता और भ्रातृजनादि राजपरिवार ही नहीं, सारे नगर और दूर-दूर तक की जनता ने अर्जुन का भव्य स्वागत कर के नगर-प्रवेश कराया। हर्षोल्लास का वेग राज्यभर में व्याप्त हो गया। सभी ओर उत्सव मनाये जाने लगे।

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

अर्जुन के लौट आने और उत्सवों का कार्यक्रम कुछ कम होते ही पाण्डु नरेश ने भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र और विदुर आदि के समक्ष, राज्यभार से निवृत्त होकर धर्मसाधना में शेष जीवन व्यतीत करने की अपनी भावना व्यक्त की। उन्होंने कहा--

"अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरा शरीर भी शिथिल हो चुका है। राज्यभार को वहन करने जितनी शक्ति मुझ में नहीं रहीं। इतना जीवन राज-भोग में बिताया। अब जीवन के किनारे आ कर, मुझे इस भार से निवृत्त हो कर धर्मसाधना करनी है। मेरी इच्छा है कि राज्यभार युधिष्ठिर के कन्धों पर रख कर निवृत्त होजाऊँ और आत्मोन्नति का मार्ग अपनाऊँ।"

सभी ने नरेश के विचारों का समर्थन किया और राज्य-व्यापी उत्सवपूर्वक युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया। राज्याधिकार प्राप्त करने के बाद गुरुजनों की अनुमति से, पहली ही सभा में युधिष्ठिर नरेश ने दुर्योधन को इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे कर सम्मानित किया और उसके अन्य बन्धुओं को भी विभिन्न देशों का राज्य दे कर सन्तुष्ठ किया। अन्य राजाओं और सामन्तों को भी यथायोग्य सम्मानित किया गया। महाराजा युधिष्ठिर। बड़ी कुशलता एवं न्याय-नीति पूर्वक राज करने लगे। प्रजाहित को वे प्राथमिकता देते थे। भीम अर्जुन आदि बन्धुओं के पराक्रम से उनके राज्य में वृद्धि भी हुई। आसपास के राज्यों में वे सर्वोपरि माने जाने लगे। उनकी कीर्ति अन्य राज्यों में भी व्याप्त हो गई। वे सुख-पूर्वक राज्य का सञ्चालन करने लगे।

दुर्योधन की जलन

पाण्डवों का अभ्युदय, श्रीवृद्धि और यश-कीर्ति, दुर्योधन के हृदय में जलन उत्पन्न कर रही थी। वह ईर्षा की आग में जल रहा था। उसकी उद्विग्नता बढ़ रही थी और सुखशांति नष्ट हो चुकी थी। वह पाण्डवों के पतन का उपाय खोजने लगा। किंतु वैसा कोई उपाय उसे दिखाई नहीं दे रहा था। पाण्डवों के पराक्रम एवं शौर्य से वह परिचित था। उनमें चारित्रिक त्रुटि भी नहीं थी। पाँचों बन्धुओं के विरुद्ध ऐसा एक भी छिद्र उसे नहीं मिल रहा था कि जिससे वह अपनी जलन को शान्त कर सके। वह हर समय ईर्षा चिंता में रहने लगा।

पाण्डवों की ओर से दुर्योधन को किसी प्रकार का भय नहीं था। वे उसे अपना

भाई ही मान रहे थे और उसका भला चाहते थे । परन्तु दुर्योधन उनसे डाह रखता था और उनका विनाश चाहता था । वह इसी चिंता में रहता था । उसके सोचने-विचारने का प्रमुख विषय पाण्डव ही थे ।

पाण्डवों की दिग्विजय और दुर्योधन की वैरवृद्धि

पाण्डवों का प्रताप वृद्धिगत था । भीम आदि बन्धुओं के आग्रह से युधिष्ठिर नरेश ने दिग्विजय करने का अभियान प्रारम्भ किया । पूर्वदिशा में भीमसेन सेना ले कर गया और अंग, वंग, कलिग, कामरू देश आदि पर विजय प्राप्त कर महाराजा युधिष्ठिरजी की आज्ञा के आधीन किये । दक्षिण में अर्जुन ने द्रविड़, महाराष्ट्र, कर्णाटक, लाट, तैलंग आदि से अधिनता स्वीकार कराई । पश्चिम में सौराष्ट्र आदि पर नकुल ने सत्ता जमाई और उत्तर में कम्बोज, नेपाल आदि पर सहदेव के पराक्रम से विजयश्री प्राप्त हुई । दिग्विजय प्राप्त कर के लौटे हुए वीरों का भव्य स्वागत किया गया । हस्तिनापुर में विजयोत्सव का आयोजन हुआ । सभी राजाओं, सामन्तों और स्वजनों को निमन्त्रित किया गया । राज्य-भवन ही नहीं, सारा नगर और राज्य के अन्य जनपदों, नगरों और गाँवों में भी महोत्सव मनाया जाने लगा । हस्तिनापुर में राजाओं, रानियों, राजकुमारों आदि का समूह एकत्रित हो गया । सभी अपने-अपने देश की वेशभूषा में सुसज्जित थे । अपने-अपने साजसज्जा, अलंकार, सम्मान एवं राजचिन्हों से सुशोभित हो रहे थे । दुर्योधन भी अपने परिवार एवं परिकर के साथ आया हुआ था ।

महोत्सव प्रारम्भ होते ही हर्षोल्लास में एक विशेष वृद्धि हुई । अर्जुन की रानी सुभद्रा ने पुत्र को जन्म दिया । अब दोनों उत्सव साथ ही मनाये जाने लगे । महोत्सव के दिन बालक का नाम 'अभिमन्यु प्रसिद्ध किया गया ।

सारे राज्य से नगरों गांवों और वहाँ के वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि भी महोत्सव में महाराजाधिराज युधिष्ठिरजी का अभिनन्दन करने आये थे । हस्तिनापुर, इन्द्रपुरी के समान और चारों बन्धु चार लोकपाल के समान लग रहे थे । राजभवन के कक्ष की भित्तियाँ विविध प्रकार के जड़े हुए रत्नों और मणिमुक्ताओं से सुशोभित हो रही थी । छतें विविध मणियों से खचित थी, मानों आकाश में विविध प्रकार के नक्षत्र चमक रहे हों । आँगन एक प्रकार के रत्नों से जड़े हुए थे । कोई लाल सरोवर जैसा लगता, कोई नीला सरो-

वर-सा। कलाकारों की कला का उत्कृष्ट रूप भित्तिचित्रों से प्रत्यक्ष हो रहा था। महोत्सव उत्कृष्ट रूप से मनाया गया था। आगत नरेशों, सामन्तों और जनप्रतिनिधियों ने महाराजाधिराज का अभिनन्दन एवं अभिवन्दन किया और भेटें समर्पित की। महाराजा ने भी सभी का यथोचित आदर किया और सिरोपाव आदि दे कर विदा किया।

दुर्योधन भी साम्राज्य का अधिनस्थ राजा था और उसे भी महाराजाधिराज का यथोचित अभिवन्दन करना ही पड़ा। किंतु महाराजा और भीमसेन आदि ने उसके साथ अपने बन्धु जैसा ही व्यवहार किया। उसे राजभवन में अपने साथ ही रखा और आग्रह कर विशेष दिन रोका। दुर्योधन, पाण्डवों के बढ़े हुए प्रभाव एवं अपार सम्पदा को देख कर मन ही मन विशेष जलने लगा। वह अपने भाग्य को धिक्कारते हुए कहता--'हा, मैं पहले क्यों नहीं जन्मा ? युधिष्ठिर बड़ा कैसे हो गया ? पहले जन्मा, तो मरा क्यों नहीं ? यदि यह नहीं होता, तो यह सारा राज्य मेरा ही होता। आज युधिष्ठिर के स्थान पर मैं होता और मेरी ही जयजयकार होती। यद्यपि हृदय से वह पाण्डवों का शत्रु था, तथापि ऊपर से तो उसे भी स्नेहशील ही रहना था और वह इस व्यवहार का पालन करता भी था।

दुर्योधन की हास्यास्पद स्थिति

महोत्सव का वेग अब उतर चुका था। फिर भी उत्सव के मंगलगान का दौर चल रहा था। सभा जुड़ी हुई थी। रंगशाला के ऊपर के गवाक्षों में रानियाँ बैठी हुई थी। गायिकाएँ गा रही थी, नर्तकियाँ नाच रही थी और सभी दर्शक देख-सुन रहे थे। उस समय दुर्योधन आया। नीलमणियों से खचित आँगन, शान्त सरोवर का आभास दे रहा था। दुर्योधन ने उसे जलाशय समझा और घुटने से ऊपर धोती उठा कर चलने लगा। उसकी भ्रमित चेष्टा ने सब को हँसा दिया। इसके बाद विश्राम-कक्ष के चौक में आने पर उसने देखा--वह स्वच्छ रजत से बना हुआ आँगन है। और वह निःसंकोच चलने लगा, किंतु उसका पाँव भवन-कुण्ड के पानी की पंक्ति पर पड़ा। उसकी धोती भींग गई और चारों ओर हँसाई हुई। दुर्योधन लज्जित तो हुआ ही, परन्तु क्रोध में आगबबूला भी हो गया। उसका मुख विकृत हो गया। वह कुण्ड को पार कर विश्राम-कक्ष तक पहुँच कर उसका द्वार खोलने लगा, किंतु वहाँ भी ठगाया। कलाकार ने भींत पर द्वार का तादृश्य आकार ऐसा बनाया था कि दर्शक को साक्षात द्वार का ही भ्रम हो और वह प्रवेश करने लगे। दुर्योधन प्रवेश करने गया, तो भींत से अथड़ाया। उसके क्रोध का पार नहीं रहा।

तीसरी बार की हँसी के तीव्र प्रवाह और महिला-कक्ष से आये हुए इस वाक्बाण कि— 'अन्धे की सन्तान अन्धी ही होती है'—ने उसके धैर्य का किनारा ला दिया। महाराजा युधिष्ठिरजी के संकेत से हँसी का दौर रुका और अर्जुन ने उठ कर दुर्योधन को आदर सहित ला कर योग्य आसन पर बिठाया। किन्तु उसका हृदय अपनी हास्यास्पद स्थिति और ईर्षा से अत्यधिक जलने लगा। नींद उससे सर्वथा रूठ गई थी। वह शीघ्र ही वहाँ से हट कर अपनी राजधानी जाना चाहता था। दूसरे दिन महाराजाधिराज से प्रस्थान की आज्ञा माँगी। महाराजा ने रुकने का प्रेमपूर्ण आग्रह किया, किंतु उसने आवश्यक कार्य होने का मिस बना कर विवशता बताई और आज्ञा प्राप्त कर चल दिया।

षड्यन्त्र

दुर्योधन अपने कक्ष में उदास एवं चिन्तामग्न बैठा था कि उसके मामा शकुनि ने प्रवेश किया। भानेज को चिन्ता-मग्न देख कर शकुनि बोला—

"वत्स! मैं तुझे कई दिनों से चिन्तित देख रहा हूँ। हस्तिनापुर से आने के बाद तेरी चिन्ता में वृद्धि ही हुई है। ऐसी कौनसी वेदना है तुझे? कौन सता रहा है, तुझे? किसके कारण दुःखी हो रहा है तू? बोल, अपनी समस्या बता, तो सुलझाने का विचार करें।"

—"मामाजी! मेरी चिन्ता जीवन के साथ ही बनी रहेगी। मैं दुर्भागी हूँ। मेरी वेदना दूर होने का संसार में कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता"—खिन्न-वदन दुर्योधन बोला।

—"यदि तेरी चिन्ता लौकिक है, तो उसका उपाय भी कुछ न कुछ होगा ही। अलौकिक चाह का उपाय नहीं हो सकता। यदि तू भेद की बात कहे, तो विचार किया जाय" —शकुनि ने कहा।

—"बात हृदय-कोष में ही दबाये रखने की है, परन्तु आपका आग्रह है और आप मेरे परमहितैषी पितातुल्य हैं। इसलिये आपके सामने भेद खोलता हूँ।"

"मामाजी! हस्तिनापुर पर पाण्डवों का अधिपत्य रहेगा और मैं उनका अधिनस्थ आज्ञाकारी रहूँगा, तब तक मेरी चिन्ता बनी ही रहेगी। पाण्डवों का पतन ही मेरी चिन्ता नष्ट होने का उपाय है, और कुछ नहीं"—दुर्योधन ने मामा के सामने हृदय खोला।

—"वत्स ! तेरी यह चाह उचित नहीं है। पाण्डव तेरे भाई हैं और न्यायी हैं। तेरे साथ वे वैर नहीं रखते। राज्य प्राप्ति के साथ ही युधिष्ठिर ने तुझे इन्द्रप्रस्थ का बड़ा राज्य दिया और तेरे भाइयों को भी पृथक्-पृथक् राज्य दे कर सन्तुष्ट किया। यह उनका स्नेह और उदारता है। तुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए"—शकुनी ने सच्ची बात कही।

—"मामा ! आपकी बात मेरा समाधान नहीं है। मेरी चिन्ता तभी दूर हो सकती है जब कि पाण्डवों का पतन हो। वे राज्यविहीन, मेरे दास बन कर रहें, या भटकते भिखारी हो जायँ और मैं उनके समस्त राज्य का स्वामी बनूँ। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।"

शकुनि विचारों में डूब गया। उसे विचार-मग्न देख कर दुर्योधन बोला—"मामाजी ! छोड़ो इस बात को। वास्तव में पाण्डव बड़े पराक्रमी हैं। उनका भाग्य-सूर्य मध्यान्ह में प्रखर तेज से तप रहा है। मैं हतभागी हूँ। मेरे भाग्य में क्लेश एवं संताप ही बदा है। आप इस चिन्ता को छोड़ दीजिए"—दुर्योधन ने हताश हो कर कहा।

"नहीं, राजन् ! उपाय तो है, परन्तु पापयुक्त है। धोखा दे कर उन्हें अपने जाल में फँसाना होगा, तभी तुम्हारा मनोरथ सफल हो सकेगा।"

"हें, है कोई उपाय ? क्या है वह ? मामा शीघ्र कहो, बोलो, बोलो, वह कौनसा उपाय है, जिससे मेरा मनोरथ सफल हो सके"—उत्साहित हो कर दुर्योधन पूछने लगा।

"—तुम उन्हें अपनी राजधानी में प्रेमपूर्वक आमन्त्रित करो। उनका अपूर्व सत्कार-सम्मान करने के बाद उसके साथ चौसर खेलने का आयोजन करो। युधिष्ठिर को दाँव लगा कर पाशा खेलने का व्यसन है। वह खेलेगा। मेरे पास दैविक पासे हैं, और उनसे मनचाहा हो सकता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।"

दुर्योधन सन्तुष्ट हुआ। अब उन्हें धृतराष्ट्र की अनुमति लेनी थी। वो दोनों धृतराष्ट्र के पास आये और अपनी योजना बताई। धृतराष्ट्र ने विरोध किया और पराक्रमी पाण्डवों से वैर नहीं रख कर स्नेह-सम्प से रहने तथा प्राप्त राज्य-वैभव में ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश दिया। किन्तु दुर्योधन कब मानने वाला था ? उसने अन्त में यही कहा—"पिताजी ! आप यदि मुझे जीवित देखना चाहते हैं, तो आज्ञा दीजिए। मैं जीवित रहते पाण्डवों का अभ्युदय नहीं देख सकता। बस, आपको दो में से एक चुनना होगा।"

शकुनी ने समर्थन करते हुए कहा—"मैंने भी इसे खूब समझाया, किन्तु अन्त में

भानेज के हित के लिए मुझे सहयोग देना स्वीकार करना पड़ा। आपको भी स्वीकृति दे देनी चाहिए।"

"अच्छा भाई! तुम कहते हो, तो मैं तुम्हें निराश नहीं करता, परन्तु विदुर को तो हस्तिनापुर से आने दो"—धृतराष्ट्र ने हताश होते हुए स्वीकृति दी।

दुर्योधन स्वीकृति पा कर प्रसन्न हुआ।

व्यसन का दुष्परिणाम

दुर्योधन ने जयद्रथ को भेज कर युधिष्ठिरादि पाण्डव-परिवार को आमन्त्रित किया। वे द्रौपदी सहित आये और भीष्मपितामह आदि भी आये। मायावी दुर्योधन ने सीमा पर पहुँच कर उन सब का स्वागत किया और बड़ी धूमधाम से नगर-प्रवेश करा कर राज्य-प्रासाद में लाया। अनेक प्रकार के उत्सवों का आयोजन हुआ। खेल-तमाशे, नृत्य-नाटक आदि का आयोजन किया। दर्शनीय स्थानों का अवलोकन कराया और पाण्डवों का हृदय अपने प्रति विश्वस्त एवं निःशंक बना दिया। कई प्रकार के खेल खेलने के बाद जुआ के खेल का आयोजन हुआ। एक ओर दुर्योधन, शकुनि और उनकी विश्वस्त धूर्त्त-मण्डली थी और दूसरी ओर युधिष्ठिरादि पाँचों बन्धु थे। खेल युद्धिष्ठिर और दुर्योधन में होने लगा। अन्य दर्शक रहे। प्रारम्भ में छोटी-छोटी बाजी लगने लगी और दोनों ओर हार-जीत होने लगी। खेल जमने के बाद शकुनी ने अपनी माया चलाई और युधिष्ठिर की हार होने लगी। अब बड़ी-बड़ी रकमें दाँव पर लगने लगी। भीष्मपितामह आदि रोकते, पर युधिष्ठिर नहीं मानते और हार को जीत में परिवर्तित करने के लिए अधिकाधिक दाँव लगाते। होते-होते गाँव, नगर आदि दाँव पर लगने लगे। युधिष्ठिर हारता जा रहा था और ज्यों-ज्यों हारता, त्यों-त्यों अधिकाधिक मूल्यवान वस्तु दाँव पर लगाता। युधिष्ठिर का हार का ही दौर चल रहा था। होते होते उन्होंने अपना समस्त राज्य होड़ पर लगा दिया। भीमसेन आदि अपने ज्येष्ठ-भ्राता के अनुगामी थे। वे हार से चिंतित होते हुए भी चुप थे। युधिष्ठिरजी को समस्त राज्य जुए पर लगाया देख कर भीष्मपितामह आदि हितैषीजन चिन्तित हुए। उन्होंने खेल रोक कर पहले यह निर्णय किया कि यदि युधिष्ठिर राज्य भी हार जाय, तो वह राज्य दुर्योधन के अधिकार में कब तक रहे? विचार करने के बाद बारह वर्ष की अवधि निश्चित की गई। इसके

बाद पासा फेंका गया और युधिष्ठिर हार गये। इसके बाद युधिष्ठिर ने अपने भीमसेन आदि बन्धुओं को, खुद को और अन्त में द्रौपदी को भी दाँव पर लगा कर हार गया। खेल समाप्त हो गया। स्वयं को हार कर पाण्डव, दुर्योधन के दास बन गए। अब दुर्योधन अधिनस्थ से अधिकारी बन गया था। पाण्डवों ने दिग्विजय से प्राप्त किया हुआ साम्राज्य, दुर्योधन ने मात्र पासे के बल से अधिकार में कर लिया। दुर्योधन के मनोरथ सफल हुए। उसने अपने अधिकारियों को भेज कर युधिष्ठिर के राज्य पर अधिकार जमाया। इधर दुर्योधन के आदेश से पाण्डवों से अलंकार और मूल्यवान् वस्त्र उतरवा कर दासों के योग्य वस्त्र दिये गये।

दुर्योधन की दुष्टता

दुर्योधन ने अपने भाई दुःशासन को आज्ञा दी कि वह अन्तःपुर से द्रौपदी को पकड़ कर राज-सभा में लावे। दुःशासन ने अन्तःपुर में जा कर द्रौपदी को आदेश सुनाया। द्रौपदी भौचक्की रह गई। उसने कहा--"मैं अभी ऋतुस्नाता हूँ। सभा में नहीं आ सकती।" दुःशासन भी दुर्योधन-सा दुष्ट और पाण्डव-द्वेषी था और उसे अपने द्वेष को सफल करने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ था। वह क्यों चूकता? उसने द्रौपदी को पकड़ा। वह चिल्लाती रही, परन्तु दुःशासन उसे घसीटता हुआ राजसभा में ले ही आया। द्रौपदी ने भीष्मपितामह और धृतराष्ट्रादि आप्तजनों से, दुःशासन के नीचतापूर्ण व्यवहार से अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा करने की प्रार्थना की। वे सभी दुर्योधन और दुःशासन को धिक्कार रहे थे। किन्तु वे तो अपनी सफलता एवं सार्वभौमता के मद में चूर थे। उन्हें आप्तजनों की आज्ञा और मर्यादा की अपेक्षा भी नहीं रही थी। पाण्डव, दास स्थिति को प्राप्त हो अधोमुख बैठे थे।

द्रौपदी को देख कर दुर्योधन बोला--

द्रौपदी! अब तू पाण्डवों की नहीं रही, मेरी हुई। अब तक तुझे पाँच भाइयों को रिझाना पड़ता था। उस झंझट से तू छूट गई। अब तू केवल मेरी ही रहेगी। पाण्डवों ने हार कर तुझे दासी बना दिया, परन्तु मैं तेरा रानी का पद अक्षुण्ण रखूंगा। तू अब मेरी हुई। आ, मेरे पास आ और मेरी गोदी में बैठ जा।"

दुर्योधन के नीचतापूर्ण वचन सुन कर द्रौपदी क्रुद्ध हो गई और रक्तलोचन हो बोली--

"अरे, निर्लज्ज, कुरुकुल-कलंक, कुलांगार ! तेरा यह पापी-जीवन, इसके पूर्व ही समाप्त क्यों नहीं हो गया ? नीच ! इन शब्दों के उच्चारण के पूर्व तेरी जीभ ही क्यों न कट गई ? इस सभा में इतने पूज्य एवं आप्तजन बैठे हैं, तो क्या कोई इस अत्याचार को रोक भी नहीं सकता ? आज सभी पाप के पक्षधर हो गए हैं क्या ? यदि यहाँ कोई मेरा हितैषी होता, तो इस नीच का और इसके भाई दुःशासन का जीवन कभी का समाप्त हो गया होता ।"

कर्ण बोला—"द्रौपदी ! तू इतनी लाल-पीली क्यों होती है ? तू कितनी कुलीन है, यह सभी जानते हैं । कुलीन स्त्रियों का तो एक ही पति होता है । तू तो वैश्या के समान है । तेरे पाँच पति तो थे ही, अब एक और हो जाय तो बुराई क्या हो गई ? महाराजा दुर्योधनजी ने कोई अनुचित बात तो नहीं कही । तू रोष क्यों करती है ?"

द्रौपदी की फटकार सुन कर दुर्योधन भड़का । उसने दुःशासन को आज्ञा दी;—

—"दुःशासन ! इस दासी की वाचालता अब तक बन्द नहीं हुई । यह अब तक अपने को महारानी एवं सम्राज्ञी ही मान रही है । इसका वस्त्र खिच कर उतार ले, जिससे इसका सारा घमण्ड चूर हो जाय ।"

द्रौपदी चिल्लाती रही, आप्तजन दिग्मूढ़ हो देखते और शब्दों से वारण करते रहे । द्रौपदी ने कातर दृष्टि से पाण्डवों की ओर देखा । अपनी लाज बचाने की प्रार्थना की । किंतु वे तो वचनबद्ध हो कर दास-भावना से दबे हुए थे । द्रौपदी ने दूसरों की आशा छोड़ कर धर्म का आश्रय लिया और एकाग्रतापूर्वक महामन्त्र का चिन्तन करने लगी । आत्मा में सतीत्व का बल था ही । वह देहभाव से परे हो कर स्मरण करने लगी । दुःशासन उठा और द्रौपदी के शरीर पर लिपटी हुई साड़ी का छोर पकड़ कर खिचने लगा । द्रौपदी ध्यान में मग्न थी । चीर खिचता गया, परंतु शरीर नग्न नहीं हो सका । खिचते-खिचते साड़ी के ढेर लग गये, परंतु द्रौपदी के शरीर पर उतना वस्त्र लिपटा ही रहा, जितना वह पहिने हुए थी । सतीत्व का तेजपूर्ण चमत्कार देख कर सभी जन प्रभावित हुए । कोई प्रकट रूप से और कोई मन ही मन द्रौपदी के सतीत्व की प्रशंसा औ दुष्टों की निन्दा कर दुत्कारने लगे । भीमसेन, कौरवों की कुटिलता को अधिक सहन नहीं कर सका । वह क्रोधाभिभूत हो कर भूमि पर भुजदण्ड फटकारता हुआ बोला;—

"सभाजनों ! जो दुष्ट अस्पृश्य दौपदी को जिन हाथों से घसीट कर सभा में लाया और उसे नग्न करने के लिए वस्त्र खिचा, उसके अपवित्र हाथों को मैं जड़ से नहीं उखाड़ डालूं और जिस अधम ने अपनी जंघा पर बिठाने का दुःसाहस बताया, उस जंघा को चूर्ण-

विचूर्ण कर, उसके रक्त से पृथ्वी का सिंचन नहीं करूँ, तो मैं पाण्डु-पुत्र नहीं।"

भीमसेन की भीषण प्रतिज्ञा सुन कर सभाजन क्षुब्ध हो गए। इस के बाद विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा;—

"भाई! आपके इस दुरात्मा पुत्र ने अपने कुरुवंश की प्रतिष्ठा, गौरव, सुख-शांति और समृद्धि में आग लगा दी। इसके जन्म के समय ही यह ज्ञात हो गया था कि यह दुरात्मा कुलांगार होगा और इसके द्वारा कौरव-कुल विनष्ट होगा। आज से इस भविष्यवाणी की सफलता का आधार लग गया है। भीमसेन की प्रतिज्ञा सफल होगी और कौरव-पाण्डव के वैर की ज्वाला भयंकर रूप धारण कर के सर्वनाश कर देगी। भाई! यदि इस एक दुष्ट के ही विनाश से सर्वनाश रुकता हो, तो वही करना चाहिए। यदि तू पुत्र-मोह में वैसा नहीं कर सकता हो, तो इस अनर्थ को रोक। अपने दुष्ट पुत्र पर अंकुश रख।"

इतना कह कर विदुर विचार-मग्न हो गए। कुछ देर सोचने के बाद बोले—

"भाई! अब और कोई उपाय काम नहीं आ सकता। पाण्डव, द्रौपदी सहित बारह वर्ष वनवास रहेंगे। इसके बाद उनका राज्य उन्हें लौटा देना होगा। यह निर्णय तुम्हें स्वीकार है?"

धृतराष्ट्र भी क्षुब्ध हो रहा था। उसने दुर्योधन की भर्त्सना करते हुए कहा—

"अरे नीच दुर्योधन! तू इतना अधम हो जायगा—इसकी सम्भावना भी मुझे नहीं थी। कुलांगार। तू इन्हें दासत्व से मुक्त कर दे, अन्यथा तेरा या मेरा—दोनों में से किसी का जीवन आज समाप्त हो जायगा।"

पिता की क्रोधपूर्ण फटकार से दुर्योधन दबा। उसने विचार कर के कहा—"आपके बारह वर्ष वनवास का निर्णय स्वीकार है, साथ ही मेरी ओर से एक वर्ष का अज्ञातवास भी स्वीकार होना चाहिये। बारह वर्ष के वनवास के बाद एक वर्ष अज्ञात वास रहे। यदि एक वर्ष के गुप्तवास में ये प्रकट हो जायँ और मुझे इनका पता लग जाय, तो फिर से बारह वर्ष वनवास में रहना पड़ेगा।'

दुर्योधन का निर्णय कठोरतम होते हुए भी पाण्डवों ने स्वीकार किया और वे दासत्व से मुक्त हो गए। पाँचों पाण्डव और द्रौपदी ने भीष्मपितामह आदि को प्रणाम कर, इन्द्रप्रस्थ के राजभवन से निकले। उनको विदाई देने के लिए भीष्म आदि आप्तजन और अन्य स्नेहीजन साथ चले। नगर के बाहर कुछ दूर चलने के बाद युधिष्ठिर ने आग्रह-पूर्वक सब को लौटाया। सभी की आँखें अश्रुपूर्ण थी। वे सभी खिन्न-वदन नगर में आये।

उनकी आत्मा दुर्योधन को धिक्कार रही थी। पाँचों बन्धु और द्रौपदी वन में आगे बढ़े। आज वे राजाधिराज से राँक एवं निराधार बन कर वन में जा रहे थे।

पाण्डवों की हस्तिनापुर से बिदाई

इन्द्रप्रस्थ से चल कर वनवासीदल हस्तिनापुर आया और हस्तिनापुर से अपने अस्त्र-शस्त्रादि ले कर वन में जाने लगा। पाण्डु, भीष्म, विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र, राजमाता कुन्ती, माद्री आदि सम्बन्धीजन और नागरिकजनों का समूह भी उनके साथ चलने लगा। नगर के बाहर आ कर, युधिष्ठिर ने गुरुजनों को प्रणाम कर लौट जाने का आग्रह किया, किंतु किसी ने स्वीकार नहीं किया। सभी की आँखों में अश्रु-धारा वह रही थी। नागरिकजन अपनी श्रद्धा एवं भक्ति के केन्द्र, प्रजावत्सल महाराजाधिराज का वियोग सहन नहीं कर सकते थे। सारी प्रजा महाराज युधिष्ठिरजी के पक्ष में, दुर्योधन से विरोध करने और उसे युद्ध में कुचल देने पर तत्पर थी। किन्तु युधिष्ठिरजी नहीं माने। उन्होंने धर्म का बोध दे कर समझाया और कहा—

"आपका स्नेह हम पर अपार है। यह स्नेह हमारे लिये कवच बन कर रक्षा करेगा। राजा तो बदलते रहते हैं। एक के बाद दूसरा होता है, परन्तु राज्य स्थायी होता है। दुर्योधन भी हमारा भाई है। वह आपका योग्य शासक सिद्ध होगा। आप चिन्ता नहीं करें। बारह वर्ष के बाद हम फिर आपके दर्शन करेंगे। अब प्रसन्नतापूर्वक हमें विदा दे कर लौट जाइए।"

युधिष्ठिर का अनुरोध किसी ने नहीं माना और सब साथ ही चलते रहे। पहली रात काम्यवन में रहे। यहाँ सब के लिये भू-शैय्या ही थी। आधी रात के लगभग एक भयंकर राक्षस आया और द्रौपदी के निकट गर्जना करने लगा। द्रौपदी भयभीत हो कर चिल्लाई। भीम गदा ले कर राक्षस पर झपटा और एक ही प्रहार में उसको भूशायी कर दिया। वह दुष्ट राक्षस, दुर्योधन का मित्र था और उसी की प्रेरणा से, पाण्डवों का विनाश करने आया था। भीम का पराक्रम देख कर सभी प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि भीम और अर्जुन की प्रबल शक्ति के कारण सारा परिवार सुरक्षित रहेगा।

प्रातःकाल भोजन की समस्या थी। नागरिकजनों को तो समझा कर लौटा दिया गया। परन्तु कौटुम्बिकजन रुके रहे। अर्जुन ने 'आहार आहरक' विद्या का स्मरण किया। तत्काल भोज्य-सामग्री प्राप्त हुई और द्रौपदी ने भोजन बना कर सब को

खिलाया। भोजनोपरान्त सब विश्राम कर के बातचीत कर रहे थे कि द्रौपदी का भाई धृष्टद्युम्न वहाँ आ पहुँचा। प्रणाम-नमस्कार के पश्चात् उसने निवेदन किया—

"हमारे गुप्तचरों द्वारा आपके वनवास का दुःखद समाचार जान कर, पूज्य पिताश्री ने मुझे आप सब को अपने यहाँ लाने के लिए भेजा है। वह घर भी आप ही का है। पधारिये वहाँ और सुखपूर्वक रहिये। दुष्ट दुर्योधन का पराभव कर पुनः राज्य प्राप्ति के लिए मैं स्वयं युद्ध में उतरूँगा। आप निश्चिन्त रहिये और मेरे साथ चलिये।"

"महाशय ! यह समय हमें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वन और विदेश-भ्रमण में ही बिताना है। राज्य प्राप्ति उद्देश्य होता, तो हम स्वयं ही ले-लेते। आप अपनी बहिन और भानजों को ले जा सकते हैं। वे हमारे साथ रहने के लिए बाध्य नहीं हैं।"

धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी से भी बहुत आग्रह किया, परन्तु उसने एक ही उत्तर दिया;—

"भाई ! पति के साथ रह कर मैं भयंकर विपदाओं में भी सुखी रहूँगी और पृथक् रह कर राजसी-वैभव में भी, दिन-रात मन-ही-मन सुलगती रहूँगी। मैं तो इनके साथ ही रहूँगी। तुम अपने इन पाँचों भानजों को ले जाओ।"

धृष्टद्युम्न अपने पाँचों भानजों को ले कर चला गया। दूसरे दिन द्वारिकापति श्रीकृष्ण उन्हें मिलने आये। पाण्डवों ने श्रीकृष्ण का आदर-सत्कार किया। पाण्डवों से मिल कर श्रीकृष्ण अपनी बूआजी राजमाता कुन्ती देवी के पास आये और प्रणाम किया। वृद्धा बूआ ने उन्हें आशीर्वाद दिया। फिर वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। श्रीकृष्ण ने कहा;—

"राजन् ! दुष्ट दुर्योधन ने कपटपूर्वक जूआ खेल कर आपसे राज्य ले लिया। उसकी ठगाई की बात मुझे मालूम हो गई। उसके इस मायाचार में सहायक हुए—कर्ण और शकुनी। भवितव्यता ही कुछ ऐसी थी कि उस समय आपके पास मैं नहीं था, अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता। ये भीम और अर्जुन भी आपके अनुवर्ती हो कर रहे। अन्यथा ये ही उस दुष्ट को समाप्त कर सकते थे। अब भी आपके शत्रु का संहार करना कठिन नहीं है। यदि आप निषेध नहीं करें, तो अब भी उस बिगड़ी बाजी को सुधारा जा सकता है। उन दुष्टों की अधमता पर तो मैं भी क्षुब्ध हूँ—जो उन्होंने ऋतुस्नाता द्रौपदी के साथ भरी सभा में की। उस पाप का फल तो उन्हें मिलना ही चाहिए। मैं उसे इसका दण्ड देने को तत्पर हूँ।"

"महाराज ! आप वासुदेव हैं और समर्थ हैं। आपके कोपानल से बचने में कोई समर्थ नहीं है और आपकी हम पर पूरी कृपा है। किन्तु मैं वचनबद्ध हूँ। तेरह वर्ष के पूर्व

इसी प्रकार द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों को प्रणाम कर और उनका विदाई उपदेश प्राप्त कर, धृतराष्ट्र के समीप गए और प्रणाम कर बोले---

"काका ! हम आपको प्रणाम करते हैं। आप हम पर अपना स्नेह बनाये रखें और हमारी ओर से भाई दुर्योधन से कहें कि---

"भाई ! अपने कुरुवंश की प्रतिष्ठा बढ़े, वैसे कार्य करना और उसी प्रकार से प्रजा का पालन करना।"

धृतराष्ट्र अपने पुत्र की अधमता से मन ही मन खिन्न थे और पाण्डवों की महानता वे जानते थे। किन्तु कुपुत्र के कारण उनका सिर झुका हुआ था। वे नीचा मुँह किये मौन ही रहे।

वृद्ध पाण्डु राजा और कुन्तीदेवी की दशा तो अत्यन्त दयनीय थी। उनका तो सर्वस्व जा रहा था। वे किस के सहारे लौटें। माता कुन्ती तो शोक की असह्यता से मूच्छित ही हो गई। ऐसी स्थिति में विदुर ने रास्ता निकाला।

"भ्रातृवर ! पाण्डुदेव वृद्ध हैं, रोगी भी हैं। ये बन के कष्ट सहन नहीं कर सकेंगे। फिर भी पुरुष हैं, पुत्र-विरह का दुःख सहन कर सकेंगे। मैं, छोटी भाभी और सुभद्रादेवी इनकी सेवा करेंगे। सुभद्रा का पुत्र छोटा है, इसे भी साथ नहीं जाना चाहिए। भाभी कुन्तीदेवी पुत्रों का विरह सहन नहीं कर सकेगी। इन्हें जाने देना चाहिये। ये सब इन्हें सम्भाल सकेंगे।"

विदुर का परामर्श सब ने स्वीकार किया। कुन्ती द्विविधा में पड़ गई। वह पति को छोड़ना भी नहीं चाहती थी और पुत्र-विरह भी सहन नहीं कर सकती थी। अब वह क्या करे ? अन्त में भीष्मपितामह आदि से प्रेरित पाण्डु ने उसे भरी छाती और रुँधे हुए कण्ठ से पुत्रों के साथ जाने की आज्ञा दी। कुन्ती ने भीष्मपितामह आदि ज्येष्ठजनों और पति के चरणों में सिर झुका कर, माद्री को छाती से लगाई और पति की अनवरत सेवा करती रहने की सूचना कर के कहा---"बहिन ! नकुल और सहदेव मेरे पुत्रों से भी अधिक हैं। तुम उनकी चिन्ता मत करना।"

माद्री ने कहा---"कैसी बात करती हो बहिन ! वे तो तुम्हारे ही हैं। उनका हिताहित आज तक तुम्हीं ने सोचा है। मैं तो तुम्हारा अनुसरण करने वाली रही हूँ। न तुमने कभी भेद माना, न मैंने, और भाइयों में कभी भिन्नता न रही। फिर उनकी चिन्ता मैं क्यों करूँ ? मुझे केवल यही विचार होता है कि इतने दिन मैं तुम्हारा अनुसरण करती हुई निश्चिन्त थी। अब मैं तुम्हारी शीतल छाया से वञ्चित रहूँगी।"

"धर्मावतार ! मेरे स्वामी महाराजाधिराज दुर्योधनजी को आपके पधारने के बाद अत्यन्त खेद हुआ। वे आपको महान् उदार, गम्भीर, आदर्श, नीतिवान्, धर्मप्राण और पुण्यात्मा मानते हुए अपने-आपको अत्यन्त तुच्छ, हीन, क्षुद्र एवं पापात्मा मानते हैं। ग्लानि से उनकी आत्मा, संताप की अग्नि में जलती रहती है। उन्होंने आपकी सेवा में निवेदन कराया है कि आप सत्वर हस्तिनापुर पधार कर अपना राज्य सम्भालें और मुझे इस भार से मुक्त कर दें। यह आपका मुझ पर उपकार होगा। यदि आप, अपनी प्रतिज्ञा के कारण उस अवधि तक राज्यभार ग्रहण नहीं कर सकें, तो यहाँ पधार कर सुखपूर्वक रहें, जिससे माहाराज आपकी सेवा कर के अपने पाप का प्रायश्चित्त कर सकें। प्रजा भी आपके दर्शन कर संतुष्ठ रहेगी और वृद्ध भीष्मपितामह, महाराज पाण्डुजी आदि को भी शान्ति मिलेगी। अब आप हस्तिनापुर पधारने की स्वीकृति प्रदान कर कृतार्थ करें।"

पुरोचन पुरोहित द्वारा दुर्योधन का उपरोक्त अनपेक्षित सन्देश पा कर सभी पाण्डव प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—'कदाचित् दुर्योधन में सुमति उत्पन्न हुई हो? अथवा आप्तजनों तथा प्रजा की ओर से होती हुई आलोचना से उसे अपने कुकृत्य का भान हुआ हो और वह अपनी भूल सुधारना चाहता हो? कुछ भी हो, वह आग्रहपूर्वक हमें आमन्त्रित कर रहा है, तो हमें चलना चाहिए। हम वहाँ रह कर भी अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर सकेंगे और अवधि पूरी होने तक पृथक् आवास में रहेंगे।"

सभी ने हर्षपूर्वक युधिष्ठिरजी की बात स्वीकार की। युधिष्ठिरजी ने पुरोहित से कहा;—

"भाई दुर्योधन का स्नेह-सन्देश पा कर हम सब प्रसन्न हैं। हम उसके आमन्त्रण को स्वीकार करते हैं और यहाँ से हस्तिनापुर की ओर ही आवेंगे। परन्तु हम अपनी स्वीकृत अवधि के पूर्वकाल तक पृथक् आवास में ही रहेंगे।"

दूत प्रणाम कर लौट गया और प्रवासी पाण्डव भी हस्तिनापुर चलने की तैयारी कर के चल निकले। जब वे हस्तिनापुर के निकट पहुँचे, तो दुर्योधन उनको बड़ी भक्ति एवं आदर के साथ बधा कर लाया और उनके लिये ही विशेषता से बनाये हुए भव्य भवन में ठहराया। वह भवन भव्यता, विशालता और सभी प्रकार की उत्तम सामग्री से युक्त था। सेवक-सेविकाएँ भी सेवा में उपस्थित रहते थे और दुर्योधन स्वयं आ-आ कर, प्रेम-पूर्वक व्यवहार से सभी को संतुष्ठ करता रहता था। इससे भीष्मपितामह आदि भी संतुष्ठ थे। श्रीकृष्ण भी इस परिवर्तन से प्रसन्न थे। जब वे द्वारिका लौटने लगे, तो युधिष्ठिरजी की आज्ञा से सुभद्रा भी माता को मिलने के लिए, उनके साथ द्वारिका चली गई। कुछ

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का दिन आया। दैवयोग से उसी दिन बाहर से एक वृद्धा अपने पाँच पुत्रों और एक पुत्रवधू के साथ वहाँ आई और उसी भवन में रही। कुन्तीदेवी ने प्रेमपूर्वक उनको ठहराया और भोजन कराया। वे मार्ग के श्रम से थके हुए थे सो शीघ्र ही सो गए। अर्ध-रात्रि होने आई कि योजनानुसार, भीमसेन को छोड़ कर कुन्ती और द्रौपदी सहित चारों भाई सुरंग के मार्ग से चले गए। भीमसेन द्वार के समीप छुप कर टोह ले रहा था कि थोड़ी ही देर में पुरोचन पुरोहित आया और द्वार पर आग लगाई। छुप कर देख रहे भीमसेन ने झपट कर उसे पकड़ लिया और मुष्टि-प्रहार से प्राण-रहित कर वहीं पटक दिया और वह सुरंग से निकल कर बाहर चला गया। चलते समय वे सभी उन आगत यात्रियों को भूल गये। वे सभी प्राणी उग्र रूप से जलते हुए उस भवन में ही जल कर मर गए। भवितव्यता ही ऐसी थी। किन्तु इससे दुर्योधन और अन्य लोगों को यह जानने का कारण मिल गया कि प्रवासी पाण्डव-परिवार ही इस भवन में जल मरा है। पुरोचन पुरोहित का शव भी द्वार के निकट ही पड़ा था। वह पहिचान में आ गया। जनसमूह पाण्डव-परिवार को ही षड्यन्त्र का ग्रास होना मान कर शोकपूर्ण हृदय से आक्रन्द करने लगा और साथ ही दुर्योधन और पुरोचन को धिक्कारने लगा।

पाण्डव-परिवार सुरंग-मार्ग से निकल कर बन में आगे बढ़ा। चलते-चलते कुन्ती और द्रौपदी थक कर भूमि पर गिर पड़ी। यह देख कर युधिष्ठिर दुखित हो कर अपने दुर्भाग्य को धिक्कारने लगा और सारा दोष अपना ही मान कर संताप की ज्वाला में जलने लगा। यह देख कर भीम ने आश्वासन देते हुए कहा —

"पूज्य! आप खेद नहीं करें। मैं इन्हें उठा लेता हूँ।" इतना कह कर उसने माता कुन्ती और द्रौपदी को अपने कन्धों पर बिठा लिया और आगे चलने लगा। कुछ दूर चलने के बाद नकुल और सहदेव भी थक कर बैठ गए। भीम ने अपने चारों भाइयों को पीठ पर लाद लिया और आगे चलने लगा। बलवान भीमदेव, हाथी के समान सब का वाहन बन गया। सूर्यास्त होने पर वे एक वृक्ष के नीचे रात्रिवास करने के लिए ठहर गए।

भीम के साथ हिडिम्बा के लग्न

पाण्डव-परिवार, भयंकर वन में भटकता और थक कर श्रांत-क्लांत बना हुआ एक वृक्ष की छाया में बैठा। वन-फल खा कर क्षुधा शान्त की। किन्तु जलाशय निकट नहीं होने से प्यास नहीं बुझाई जा सकी। भीमसेन पानी की खोज में निकला। खोज करते

हिडिम्बा की याचना ने भीमसेन को विचार-मग्न बना दिया। थोड़ी देर विचार कर वह बोले —

"सुन्दरी! तेरे प्रेम को मैं समझ गया हूँ। मैं तुम्हारी इच्छा की अवहेलना नहीं करता, किन्तु मैं विवश हूँ। ये सोये हुए पुरुष मेरे भाई हैं, यह मेरी माता है और यह हम पाँचों की पत्नी है। मैं इससे संतुष्ट हूँ। इसके सिवाय मुझे किसी अन्य प्रियतमा की आवश्यकता नहीं है। मैं इसकी उपेक्षा कर के दूसरी पत्नी करने का विचार भी नहीं कर सकता। तुम मुझे क्षमा कर दो।"

उनकी बात चल ही रही थी कि हिडिम्ब राक्षस, क्रोध में उत्तप्त होता हुआ और दाँत पीसता हुआ वहाँ आया। अपनी बहिन को एक पुरुष से प्रेमालाप करते देख कर गर्जता हुआ बोला; —

— "पापिनी, दुष्टा! मैं वहाँ भूख के मारे तड़प रहा हूँ और तू यहाँ कामान्ध बन कर प्रेमालाप कर रही है? ठहर! सब से पहले मैं तुझे ही अपना भक्ष बनाता हूँ। इसके बाद इस पापी से अपना पेट भरूँगा।"

इतना कह कर हिडिम्ब अपनी वहिन पर झपटने लगा, तव भीमसेन ने कहा—

"राक्षस ! अरे तू अपनी निरपराधिनी वहिन को ही खाना चाहता है ? मेरे देखते तेरी यह नीचता नहीं चल सकती। यदि तू नहीं मानेगा, तो आज तेरा अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा। चल हट यहाँ से, और लड़ने का विचार हो, तो सावधान हो कर आ। मैं तुझसे लड़ने को तत्पर हूँ।"

भीमसेन के शब्दों ने राक्षस की क्रोधाग्नि को भड़का कर दावानल जितनी विकरालबना दिया। वह बहिन की उपेक्षा कर के भीमसेन पर झपटा। भीमसेन ने एक बड़े वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर प्रहार किया। प्रथम प्रहार में ही राक्षस भूशायी हो कर मूर्च्छित हो गया। थोड़ी ही देर में वह सचेत हुआ और एक भयंकर गर्जना की। उसकी गर्जना से युधिष्ठिरादि सभी जाग्रत हो गए। कुन्ती ने अपने निकट खड़ी हिडिम्बा से पूछा—"भद्रे ! तुम कौन हो और यह लड़ने वाला कौन है ?' हिडिम्वा ने अपना वृत्तांत कह सुनाया। इतने में हिडिम्ब के वज्र-प्रहार से भीमसेन मूर्च्छित हो गया। भीम को मूर्च्छित देख कर युधिष्ठिर ने अर्जुन को भीम की सहायता करने का आदेश दिया। अर्जुन सन्नद्ध हो कर पहुँचे, उतने में तो भीम सावधान हो कर राक्षस से भीड़ गया। दोनों वीरों का मल्लयुद्ध और घात-प्रतिघात चलने लगा। कभी किसी का पलड़ा भारी लगता, तो कभी किसी का। अन्त में भीमसेन ने राक्षस का गला पकड़ कर मरोड़ दिया और वह मर गया।

भीमसेन की विजय होते ही युधिष्ठिरजी ने प्रसन्न हो कर भाई को छाती से लगाया और उसके धूलभरे शरीर को अपने वस्त्र से पोंछने लगे। शेष तीनों भाई, वस्त्र से हवा कर ठण्डक पहुँचाने लगे। कुन्तीदेवी अपने विजयी पुत्र का माथा चूमने लगी। इस विपत्ति के समय भी द्रौपदी की प्रसन्नता का पार नहीं था। वह अपने वीर-शिरोमणि पति पर मन ही मन न्योछावर हो रही थी।

भीमसेन पर किये गये आक्रमण से हिडिम्वा अपने भाई पर क्रुद्ध हो गई थी। वह मन ही मन भीमसेन की विजय और भाई की पराजय की कामना कर रही थी और हिडिम्ब के धराशायी होने पर वह प्रसन्न भी हुई थी। किंतु जव उसने भाई को मरा हुआ देखा, तो उसका भ्रातृ-स्नेह उमड़ा और वह रुदन करने लगी। कुन्तीदेवी ने उसे सान्तवना दे कर अपने पास विठाई। भीमसेन ने भी हिडिम्वा को समवेदना के साथ सान्तवना दी और आत्मीयता प्रकट की।

रात्रि व्यतीत होने के वाद यह प्रवासी दल आगे बढ़ा। हिडिम्वा ने कुन्ती और

द्रौपदी की सिंह और सर्प से रक्षा

द्रौपदी भटकती हुई भयानक अटवी में चली गई। उसने देखा—एक सिंह उसके सामने चला आ रहा है। हठात् वह भयभीत हो गई, किन्तु शीघ्र ही सावधान हो कर, अपने आसपास भूमि पर वर्तुलाकार रेखा बनाई और सिंह को सम्बोध कर बोली—

"वनराज! मेरे स्वामी ने अपने जीवन में सत्य की सीमा का उल्लंघन कभी नहीं किया। उनके सत्य के प्रभाव से तुम भी इस सीमा-रेखा का उल्लंघन कर के मेरे पास नहीं आ सकोगे।"

द्रौपदी की खिंची हुई कमजोर रेखा, सिंह के लिए अनुलंघ्य बन गई। वह निमेष मात्र एकटक द्रौपदी को देख कर अन्यत्र चला गया। द्रौपदी आगे बढ़ी, तो एक भयानक विषधर, पृथ्वी से हाथभर ऊँचा फण उठाये दिखाई दिया। द्रौपदी को लगा कि वह उसी को क्रूर दृष्टि से देख रहा है। थोड़ी देर में वह फणिधर द्रौपदी की ओर सरकने लगा। द्रौपदी सावचेत हुई और अपने आसपास भूमि पर रेखा खिंचती हुई बोली;—

"मैंने अपने पाँचों पति के प्रति, मन, वचन और काया से कभी भेदभाव नहीं रखा हो और सरलभाव से व्यवहार किया हो, तो हे फणिधर! तुम इस रेखा के भीतर प्रवेश नहीं कर सकोगे।"

राक्षस से नगर की रक्षा

पाण्डव-परिवार ब्राह्मण के वेश में नगर में फिर रहा था कि उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण मिला। देवशर्मा अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था। अतिथि-सत्कार उसका विशेष गुण था। उसकी पत्नी भी उसके अनुरूप थी। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। देवशर्मा, पाण्डव-परिवार को प्रवासी विप्र-परिवार जान कर आग्रहपूर्वक अपने घर ले आया और घर के एक भाग में ठहरा दिया। देवशर्मा की पत्नी भी अपने पति के साथ उनकी सेवा में लग गई। कुन्ती और द्रौपदी ने ब्राह्मणी और उसके पुत्र-पुत्री को अपनी मिलनसारिता से मोह लिया। सारा पाण्डव-परिवार एक प्रकार से देवशर्मा का परिवार ही बन गया। किसी के मन में कोई भेद नहीं, कोई द्विधा नहीं। समय शान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा।

उस नगरी पर एक राक्षस कुपित था। वह पत्थर-वर्षा से नगर को नष्ट करने लगा। तब राजा और प्रजा ने मिल कर राक्षस से दया की याचना की। राक्षस ने अपनी ओर से शर्त रखी कि—

"यदि भैरव-बन में मेरे लिए एक भव्य प्रासाद बनाया जाय और प्रतिदिन उत्तम खाद्य एवं पेय पदार्थों के साथ एक मनुष्य मेरे भक्षण के लिए भेजा जाय, तो मेरा उपद्रव रुक सकता है। अन्यथा इस नगर के बराबर महाशिला गिरा कर, सभी नागरिकों का एक साथ संहार कर दूंगा।"

राजा ने राक्षस की मांग स्वीकार कर ली और राज्य की ओर से भैरव-बन में एक भव्य प्रासाद बनाया गया। फिर प्रजा में से क्रमानुसार प्रतिदिन एक घर से एक मनुष्य और खाद्य और पेय पदार्थ उस भवन में पहुँचाया जाने लगा। इस प्रकार राक्षस को संतुष्ठ कर के महाविनाश से बचा गया। फिर भी राक्षस को प्रतिदिन एक जीवित-मनुष्य खाने के लिए देना सब को दुःखदायक बन रहा था। एकबार नगर के बाहर उद्यान में एक केवलज्ञानी भगवंत पधारे। नागरिकों ने भगवान् से पूछा—"इस संकट से उबरने का शुभ दिन कब आएगा—प्रभो।' भगवान् ने कहा—"पाण्डव राज्यच्युत हो कर घूमते हुए इस नगर में आएँगे, तब राक्षसी-उपद्रव मिटेगा।" पुरजन पाण्डवों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

एकदिन देवशर्मा का परिवार शोकाकूल हो कर विलाप करने लगा। उसे राक्षस का भक्ष बनने के लिए जाने की राजाज्ञा मिल चुकी थी। यह मृत्यु-सन्देश ही उनके महाशोक का कारण था। चारों जीव परस्पर लिपट कर रो रहे थे। देवशर्मा स्वयं राक्षस का भक्ष बनने के लिए जाना चाहता था, उसकी पत्नी खुद जाने को तत्पर

थी और पुत्र-पुत्री भी उसी प्रकार अपने को भक्ष्य बना कर कुटुम्ब की रक्षा करना चाहते थे और सभी आपस में रो रहे थे। विलाप सुन कर कुन्तीदेवी उनके पास आई और रोते हुए परिवार को ढाढ़स बँधा कर कारण पूछा। ब्राह्मणी ने विपत्ति का कारण बताया। कुन्तीदेवी ने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा; —

"आप निश्चिन्त रहें। आपमें से किसी को भी राक्षस के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। मेरा पुत्र जाएगा। अब आप शोक छोड़ कर प्रसन्न हो जाइए।"

देवशर्मा बोला—"नहीं, नहीं। ऐसा कदापि नहीं हो सकता। मेरी विपत्ति, मेरे आदरणीय अतिथियों पर नहीं डाल सकता। मैं स्वयं जाऊँगा। मेरा भार में स्वयं उठाऊँगा।"

"भाई! आप क्यों हठ कर रहे हैं? यह निश्चित्त समझिये कि आपमें से कोई भी नहीं जा सकेगा। जाएगा मेरा पुत्र, और वह इस राक्षसी संकट को सदैव के लिए समाप्त कर देगा"—कुन्तीदेवी ने दृढ़ता के साथ आगे कहा—"आप सब यहाँ से उठो और सदा की भाँति अपने-अपने काम में लगो।"

ब्राह्मणी ने कहा— "माता! मैं अपने परिवार को बचाने के लिए आपके पुत्र को मृत्यु के मुख में नहीं भेज सकती। आप तो महान् परोपकारिणी माता हैं। आपके पुत्र भी महान् पराक्रमी हैं। परन्तु राक्षस यों नहीं मर सकता। एक ज्ञानी महात्मा ने कहा था कि राक्षस का संकट, पाण्डव मिटावेंगे, जो राज्य खो कर इस नगर में आवेंगे। सारा नगर पाण्डवों के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। आप हठ छोड़ दें और मुझे ही जाने दें।"

यह बात हो ही रही थी कि इतने में भीमसेन वहाँ आये। उन्होंने सारी बात सुन कर कहा; —

"मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। मैं स्वयं राक्षस का सामना करने जाऊँगा। यदि मैं नहीं जाऊँ, तो मेरी मातेश्वरी का वचन निरर्थक हो जाता है। माता की इच्छा आपके परिवार की रक्षा करने की है। यदि मैं अपनी माता की इच्छा पूरी नहीं करूँ, तो मेरा जीवन ही व्यर्थ हो जाय। इसलिए आप अब इस विषय को छोड़ दें। मैं राक्षस के पास जाता हूँ।"

देवशर्मा ने भीमसेन को रोकते हुए कहा—"आप हठ मत करिये। मैं अपनी विपत्ति का भोग आपको कदापि नहीं होने दूँगा।" इतना कह कर देवशर्मा उठा और अपने इष्टदेव की पूजा-प्रार्थना करने लगा। देवशर्मा के जाने के बाद, भीम उठा और माता आदि को प्रणाम कर चल निकला। वह राक्षस-भवन के निकट जा कर वधशिला

था। पाण्डव जैसे महापुरुष उसके अतिथि रहे थे। राजा-प्रजा ने पाण्डवों का जयजयकार किया और समारोहपूर्वक नगर में ला कर राज्य-प्रासाद में निवास कराया। वहाँ वे सुखपूर्वक रहने लगे।

दुर्योधन की चिन्ता और शकुनि का आश्वासन

एकचक्रा नगरी में बक-राक्षस वध और पाण्डवों का राज्य-व्यापी महा सम्मान की बात जब दुर्योधन तक पहुँची, तो वह चिन्तामग्न हो गया। उसका लाक्षागृह का षड्यन्त्र भी व्यर्थ गया। अब तक वह पाण्डवों को मृत मान कर ही संतुष्ठ था। परन्तु आज प्राप्त हुए विश्वस्त समाचारों ने उसे भयभीत बना कर उद्विग्न कर दिया। उसे भविष्य में राज्य-भ्रष्ट होने की आशंका सता रही थी। वह कोई ऐसा उपाय करना चाहता था कि जिससे उसके शत्रु - पाण्डव — नष्ट हो जायँ। परन्तु उसे ऐसा कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। इतने में उसका मामा और राज्य का मन्त्री शकुनि उसके पास आया और दुर्योधन नरेश को चिन्तित देख कर पूछा—

"क्या कारण है कि आज महाराजाधिराज चिन्तित दिखाई दे रहे हैं ?"

—"मामा ! हम बाजी हार गए। हमारा पाप व्यर्थ गया। हमारे शत्रु बच कर निकल गए।"

—"क्या कह रहे हैं--राज-राजेश्वर ! कहीं कोई स्वप्न तो नहीं देखा ?"

—"नहीं मामा ! हमारे शत्रु निराबाध निकल गए और किर्मिर, हिडिम्ब और बक जैसे महाबली योद्धाओं को मार कर वे एकचक्रा नगरी में, परम आदरणीय बन गए। वहाँ के राजा ने उनका महान् आदर किया और राज्य के महामान्य बना कर रखा है। राज्य की प्रजा उन्हें अपना परम तारक मानती है। ये विश्वस्त समाचार वहाँ से आये एक प्रवासी से मिले हैं। लगता है कि मेरा राज्य अब थोड़े ही दिनों का है। यह महाचिन्ता मुझे खाये जा रही है।"

—"राजेन्द्र ! वे बच कर निकल गए, यह उनके आयु-बल का प्रताप है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे इतनी शक्ति प्राप्त कर लेंगे कि जिससे एक सबल साम्राज्य का सामना कर के विजय प्राप्त कर सकें। वे बलवान् हैं, तो क्या हुआ ? हैं तो पांच भिखारी ही [illegible] और महासेना से जूझने का साहस कैसे कर

सकेंगे ? आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं ? भटक-भटक कर अपनी आयु पूर्ण कर मर जाएँगे। कदाचित् उनके पापों ने उन्हें भटकते-भिखारी अवस्था में तड़प-तड़प कर मरने के लिए उस समय बचाया हो ? अब वे पुनः राज्य प्राप्त कर सकें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। आप निश्चिन्त रहें।"

शकुनि के शब्दों ने उसे कुछ आश्वस्त किया। इतने में दुःशासन और कर्ण भी वहाँ आ उपस्थित हुए। उन्हें भी पाण्डवों के बच निकलने का आश्चर्य तो हुआ, परन्तु उन्होंने भी शकुनि के समान दुर्योधन को निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया। विशेष में दुःशासन ने कहा;--

"बन्धुवर ! आपके उत्तम शासन-प्रबन्ध ने प्रजा के मन को वशीभूत कर लिया है। आपके विशाल साम्राज्य की प्रजा, युधिष्ठिर को भूल गई और आपकी पूजक बन चुकी है। भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य आदि भी आपके वशीभूत हैं। सारे साम्राज्य में आपका कोई विरोधी नहीं है। ऐसी दशा में उन पाँच भिक्षुओं की गिनती ही क्या, जो आपके महाप्रताप को धूमिल या खंडित कर सके ? आप भूल जाइए इस बात को और निश्चिन्त रहिए।"

शकुनि ने कहा--"हां, राजेन्द्र ! आप निश्चिन्त रहें। फिर हम तीनों, पाण्डवों का अस्तित्व मिटाने का उपाय करेंगे ही। अतएव आप इस दुश्चिन्ता को निकाल दीजिए।"

दुर्योधन आश्वस्त हुआ और उठ कर अन्तःपुर में चला गया।

सावधान रहो

एकचक्रा नगरी के राज्य-अतिथि रहने के कुछ दिन बाद ही पाण्डव-परिवार, नगर छोड़ कर चल निकला। उनकी यशोगाथा चारों ओर व्याप्त हो गई थी। युधिष्ठिरजी ने कहा--"हमें जीवित जान कर दुर्योधन फिर कुछ विपत्ति खड़ी करेगा। इसलिए अब अपने को चल देना चाहिए।" वे सब चुपचाप निकल गए और द्वैत वन की ओर बढ़े।

पाण्डवों के प्रबल पराक्रम की यशोगाथा हस्तिनापुर में पहुँच गई और विदुरजी के भी सुनने में आई। विदुरजी को इससे चिन्ता हुई--"कहीं दुर्योधन उन्हें फिर विपत्ति में नहीं डाल दे।" उन्होंने पाण्डवों को सावधान करने के लिए अपने पूर्ण विश्वस्त दूत 'प्रियंवद' के साथ सावधान रहने का सन्देश भेजा। प्रियंवद चलता और पता लगाता हुआ

द्वैत बन में पहुँचा। यह बन वहुत बड़ा और भयानक था। इसमें सभी प्रकार के क्रूर और हिंस्र-पशु रहते थे। उत्तम प्रकार के पुष्पों और फलों से भी यह बन समृद्ध था। इसमें तापसों के आश्रम भी थे, जिनमें रह कर वे विविध प्रकार की तपस्या करते रहते थे। इसी बन के एक भाग में, विशाल वृक्ष के नीचे भूमि स्वच्छ कर के पाण्डव-परिवार रह रहा था। भीमसेन वन में से सभी के लिए खाद्य-सामग्री लाता। नकुल वल्कल के वस्त्र बना कर सब को देता, सहदेव पत्रों के पात्र बनाता और अर्जुन धनुष-बाण ले कर सभी की रक्षा करता, तथा द्रौपदी सब के लिए भोजन बनाने आदि गृहकार्य करती और सभी मिल कर युधिष्ठिर और कुन्तीदेवी की सेवा शुश्रूषा करते।

प्रियंवद खोज करता हुआ उनके पास पहुँचा। उसे देख कर सभी प्रसन्न हुए। युधिष्ठिर आदि ने अपने प्रियजनों के समाचार पूछे। कुशल-क्षेम पृच्छा के बाद प्रियंवद ने कहा; —

"महाराज ! आप पृच्छन्न नहीं रह सके। आपकी ख्याति हस्तिनापुर में सर्वत्र व्याप्त हो गई। इससे आपके पिताश्री और काका विदुरजी वहुत चिन्तित हैं। उन्होंने मुझे आपको सावधान रहने का सन्देश दे कर भेजा है। शत्रु आपका जीवित रहना सहन नहीं कर सकेगा और नई विपत्तियाँ खड़ी कर के आपको संकट में डालने का भीषण प्रपंच करेगा। आपको सदैव सावधान रहना चाहिए।"

—"प्रिय प्रियंवद ! तेरा कहना और पूज्य पिताश्री और काकाजी की सूचना यथार्थ है। हम स्वयं गुप्त रहने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु परिस्थितियाँ ही ऐसी बन जाती है कि जो हमें उजागर कर देती है। हम एकचक्रा में भी ब्राह्मण बन कर गुप्त रहे थे। परन्तु वहाँ की दयनीय स्थिति ने हमें गुप्त नहीं रहने दिया। हमें वहाँ कोई कष्ट नहीं था, परन्तु गुप्त रहने के लिए ही हम राज्य से प्राप्त सुविधा छोड़ कर यहाँ इस वन में आये। अपनी ओर से हम सावधान ही हैं, फिर आगे भवितव्यता बलवान है। पूज्य पुरुषों का आशीर्वाद हमारा कवच बन कर रक्षा करेगा।"

—"महाराज ! अब मुझे आज्ञा दीजिये। वहाँ शीघ्र पहुँच कर उनकी चिन्ता दूर करनी है। फिर मेरा अधिक समय तक अनुपस्थित रहना भी सन्देहजनक बन जाता है।"

—"हाँ भाई ! तुम जाओ और सकुशल शीघ्र पहुँच कर पूज्यजनों की चिन्ता मिटाओ। पिताश्री, माताजी, काकाजी, पितामह और श्री द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि को हमारा सविनय चरण-स्पर्श निवेदन करना और कहना कि आपकी असीम कृपा, हमारी

रक्षक होगी । हमारी चिन्ता नहीं करें।" युधिष्ठिरजी ने प्रियंवद को लौटने की आज्ञा दी ।

प्रियंवद ने सभी को प्रणाम किया । कुन्तीदेवी ने रानी माद्री से विशेष रूप से कहलाया—

"बहिन से कहना कि वह प्रसन्न रहे, स्वामी को भी प्रसन्न और संतुष्ठ रखे और हमारी ओर से निश्चिन्त रहे ।"

द्रौपदी को दुर्योधन पर विशेष रोष था और उसे अपने स्वामियों की उस समय की निष्क्रियता भी खटक रही थी—जब उसे साम्राज्ञी-पद से गिरा कर दासी बना दिया था और भरी सभा में उसका असह्य अपमान किया था । वह उबल उठी और बोली;—

"भाई प्रियंवद ! दुष्ट दुर्योधन ने कपट एवं षड्यन्त्रपूर्वक हमारा राज्य ले लिया। मुझे भरी सभा में अपमानित किया और हमें बनवासी बना दिया । इतना करने के बाद भी वह अधम, अभी तक संतुष्ठ नहीं हुआ और हमें समाप्त करने पर तुला हुआ है । मैं तो स्पष्ट कहूँगी कि यह सारा दोष मेरे स्वामियों का है । दुष्ट दुःशासन ने मुझे केश पकड़ कर घसीटी और भर-सभा में मुझे नंगी करने लगा, और ये सब महाबली, मूर्ति के समान निस्पन्द और शक्तिहीन हो कर देखते रहे । माता को भी सोचना चाहिए कि इनके ये पुत्र कैसे गौरवहीन बन गए--उस दिन, जो अपनी पत्नी की भरी-सभा में लाज लूटते देखते रहे । ऐसी हीनतम स्थिति में तो एक कुलहीन, गौरव-हीन और सत्वहीन पति भी चुप नहीं रहता, तब ये कैसे निस्पन्द बैठे देखते रहे ?"

द्रौपदी की बात सुन कर कुन्तीदेवी बोली—

"बहूरानी ! तुम्हारा कहना यथार्थ है । यह युधिष्ठिर ही ऐसा धर्मात्मा और सत्यनिष्ठा वाला है कि सब कुछ सहन करता है । अन्यथा भीम, अर्जुन आदि चारों भाई, उन दुष्टों को अपनी अधमाधमता का दण्ड उसी सभा में दे-देते । किन्तु इनके लिए भी इस धर्मराज का प्रतिबन्ध बाधक बन गया ।"—इतना कहने के बाद युधिष्ठिर से बोली— "पुत्र ! तुझे इतनी—साधु जैसी—क्षमा और सहनशीलता नहीं रखनी चाहिए । अब भी सोच और अपनी भिखारी जैसी स्थिति देख । तेरी ऐसी वृत्ति के कारण ही ये सब सुखों के शिखर से गिर कर दुःखों के गहरे गड्ढे में पड़े और यह इन्द्रानी के समान गृह-लक्ष्मी भिखारन जैसी बन गई। यह सब देख कर भी तू अपना आग्रह नहीं छोड़ता। ऐसा कैसा धर्मात्मापन ?"

कुन्तीदेवी के मुखकमल पर भी आवेग की लालिमा झलक आई । उसके प्रभाव-

शाली वचनों के समर्थन में पुनः द्रौपदी बोली;--

"नाथ ! उठो, धर्मात्मापन को एकबार एकओर रख कर शस्त्र संभालो। यदि आपको धर्म बाधक बनता हो, तो अपने बन्धुओं को इस बाधा से मुक्त कर दो। अब बिना विलम्ब किये शीघ्र उठो। आपकी अनुज्ञा हम सब के लिए सुखप्रद होगी और दुष्टों को अपनी करणी का फल मिल जायगा।"

द्रौपदी के वचनों ने भीमसेन को मौन तोड़ने पर विवश कर दिया। वह बोल उठा—

"पूज्य ! अब आज्ञा दे दीजिये। आपकी आज्ञा हुई कि हमारी दुर्दशा और दुष्टों के अस्तित्व का अन्त आया। बोलो, बोलो, शीघ्र बोलो।"

किन्तु धर्मराज तो मौन ही रहे। तब भीमसेन फिर बोले;—

"अच्छा, आप हमें शत्रु से लड़ने के लिए जाने की आज्ञा नहीं देते, तो इतनी छूट तो दीजिए कि वह हमारा अनिष्ट करने के लिए आवे, तो हम उसे उसके दुष्कृत्य का दंड दें ? यदि आपने इतनी भी छूट नहीं दी, तो बस, मैं आपकी अवहेलना करने पर विवश हो जाऊँगा और अपने मन की करूँगा।"

भीमसेन की बात का अर्जुन आदि सभी ने समर्थन किया। अब प्रसन्न होते हुए धर्मराज युधिष्ठिरजी बोले;—

"धन्य है। क्षत्रियों के वंशजों में ऐसा ही शौर्य होना चाहिये। परन्तु बन्धुओं ! कुछ दिन और ठहर जाओ। वह दिन भी आने ही वाला है, जब तुम्हें दुष्टों को दमन करने और राज्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा। थोड़े वर्ष और सहन कर लो और मेरा वचन पूरा होने दो। फिर तुम दुर्योधन और दुःशासन से देवी के अपमान का भरपूर बदला लेना। फिर मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा और तुम्हारा सहयोगी रहूँगा। बस, कुछ वर्षों का कष्ट शान्ति से सहन कर लो--मेरे प्रिय बन्धुओं !"

सब शान्त हो गए और अपने-अपने काम में लग गए। प्रियंवद भी विदा हो गया।

अर्जुन द्वारा तलतालव और विद्युन्माली का दमन

द्वैतवन में थोड़े दिन ठहरने के बाद युधिष्ठिर ने कहा—"अब यहाँ अधिक समय रहना उचित नहीं होगा, कदाचित् शत्रु को हमारी टोह लग जाय और वह उपद्रव खड़ा

करे। अब यहाँ से चल ही देना चाहिए।" सारा परिवार चला और गन्धमादन पर्वत पर पहुँच कर उपयुक्त स्थान पर रुका। गन्धमादन पर्वत के पास ही इन्द्रनील पर्वत था। अर्जुन इस पर्वत पर, विद्या सिद्ध करने के लिए पहले भी आया था। इसवार भी अर्जुन युधिष्ठिर की आज्ञा ले कर, इन्द्रनील पर्वत पर, खेचरी-विद्या का पुनरावर्त्तन करने आया। विद्यादेवी प्रकट हुई और प्रसन्न हो कर वर माँगने का कहा। अर्जुन ने कहा--

"जब मुझे शत्रुओं का दमन करते समय आपकी सहायता की आवश्यकता लगे और मैं आपका स्मरण करूँ, तब मुझे सहायता करने के लिए आप पधारने की कृपा करें।"

अर्जुन को वचन दे कर देवी, लौट गई। सफलता से प्रसन्न हुआ अर्जुन, पर्वत के सुन्दर वन की शोभा देखता हुआ विचरण कर रहा था कि उसने एक मोटा और मदोन्मत्त वराह (सूअर) देखा। वह घायल था। उसके शरीर में एक वाण लगा था, और इससे वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया था। अर्जुन ने उस पर अपना वाण छोड़ा और वह वराह, वाण लगते ही गिर कर मर गया। उसके निकट जा कर अर्जुन अपना वाण निकालने लगा। इतने में एक भयंकर आकृति वाला प्रचण्ड पुरुष वहाँ आया और अर्जुन को रोकता हुआ बोला--

"अरे ओ! इस वराह को मैंने मारा है और यह वाण मेरा है। मेरा वाण चुराते तुझे लज्जा नहीं आती?"

—"नहीं, यह वाण मेरा है। मैंने इसे मारा है। मैं अपना ही वाण निकाल रहा हूँ। इसमें चोरी और लज्जा की वात ही क्या है"—अर्जुन ने कहा।

—"नहीं, तू झूठ बोलता है। वाण मेरा है और मैं ही इसे लूंगा। तू यहाँ से टल जा"—आगंतुक ने रोषपूर्वक कहा।

वात बढ़ गई और युद्ध का प्रसंग उपस्थित हो गया। आगंतुक ने धनुष पर वाण चढ़ाया। अर्जुन ने वराह के शरीर में से वाण खिंच कर शत्रु पर तान दिया। आगंतुक अकेला नहीं था। उसके साथ उसकी कुछ सेना भी थी, जो इधर-उधर बिखरी हुई थी। युद्ध में होती हुई गर्जना से वह सेना एकत्रित हो कर युद्ध में जुड़ गई। अर्जुन अकेला था। उसने परिस्थिति देख कर जो वाण-वर्षा की, तो शत्रु की सारी सेना भाग गई। अब दोनों वीर वाण-वर्षा से एक-दूसरे को पराजित करने लगे। किन्तु कोई भी दबने की स्थिति में नहीं था। एक-दूसरे के वाण लक्ष्य पर पहुँचे बिना, मार्ग में ही नष्ट हो जाते। अन्त में अर्जुन ने मुष्ठि-युद्ध चलाया। मुष्ठि-युद्ध में भी शत्रु अणनम रहा, तब अर्जुन ने शत्रु को

कमर में से पकड़ कर ऊपर उठा लिया और चक्र के समान घुमाने लगा। घुमाने के बाद एक शिला पर पछाड़ने की उसकी इच्छा थी। किन्तु इसी समय वह किरात जैसा लगने वाला शत्रु अपना दिव्य रूप प्रकट कर के सम्मुख खड़ा हो गया। अर्जुन स्तब्ध रह कर उसे एकटक देखने लगा। अब वह पुरुष हँसता हुआ बोला;—

"महानुभाव ! मैं महाभाग्य विद्याधर नरेश विशालाक्षजी + का पुत्र चन्द्रशेखर हूँ। बहुत-सी विद्याएँ मैंने सिद्ध की है। मेरे पूज्य पिताश्री को आपके पिताश्री ने जीवन-दान दिया था। मैंने आपका पराक्रम देखने के लिए ही यह माया रची थी और आपसे युद्ध किया था। मैं आपके पराक्रम, भव्यता और परोपकार-परायणता से प्रसन्न हूँ और आपको यथेच्छ पुरस्कार माँगने की अनुमति देता हूँ। साथ ही मैं अपने मित्र के उद्धार के लिए आपकी सहायता लेना चाहता हूँ।"

—"बन्धुवर ! आपका वरदान अभी अपने पास धरोहर के रूप में रहने दें। जब मुझे आवश्यकता होगी, ले लूँगा। पहले आप अपना प्रयोजन बताइये कि आपके किस मित्र को मेरी सहायता की आवश्यकता है और उस पर किसकी ओर से कौनसी विपत्ति आई है'—अर्जुन ने पूछा।

—"वीरवर ! वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नगर है। वहाँ के विद्युत्प्रभ नरेश के दो पुत्र हैं—इन्द्र और विद्युन्माली। राजा विद्युत्प्रभ ने अपने ज्येष्ठ-पुत्र इन्द्र को राज्यासन और कनिष्ट पुत्र विद्युन्माली को युवराज-पद दे कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। राजा इन्द्र और उनका भाई युवराज विद्युन्माली राज्य का संचालन करने लगे। राजा इन्द्र ने भाई पर विश्वास कर, राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था उसे ही सौंप दी और आप विषय-भोग तथा मनोरंजन में ही रहने लगे। राजा को भोगमग्न जान कर विद्युन्माली की दुर्बुद्धि जाग्रत हुई। वह प्रजा की बहू-बेटियों का अपहरण कर के दुराचार करने लगा। उसके दुराचार से नागरिकों में क्षोभ एवं रोष उत्पन्न हुआ। प्रजा के अग्रगण्य महाजन, राजा इन्द्र के पास आये और विद्युन्माली के दुराचार की कहानी सुना कर, उस पर अंकुश लगाने की प्रार्थना की। राजा ने प्रजा के प्रतिनिधि महाजन को आश्वासन दे कर विदा किया और भाई को एकान्त में बुला कर उचित शिक्षा दी। किन्तु दुर्मद विद्युन्माली नहीं माना और राजा से ही ईर्षा रखने लगा। उसने राजा को हटा कर खुद राज्याधिकार हड़पने का षड्यन्त्र रचा। राजा को भाई के विद्रोह का संकेत मिला, तो वह सावधान हो गया। राजा को सावधान देख कर विद्रोही विद्युन्माली वहाँ से निकल कर अन्यत्र चला गया

+ इसका उल्लेख पृ. ४३७ पर हुआ है।

और राजा को किसी प्रकार मरवा कर खुद राजा बनने का मनोरथ करने लगा। अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए वह खर-दूषण के वंशज, सुवर्णपुर के निवातकवच राक्षस से मिला। वह अत्यन्त क्रूर और महाबली था। उसकी सेना भी अपराजेय थी। विद्युन्माली ने उसके साथ मैत्री सम्बन्ध जोड़ा। उस राक्षसराज के लिए कहा जाता था कि यदि कोई लक्ष्यवेधी एक साथ उसके तालु और हाथ को वेध दे, तभी वह मर सकता है, अन्य किसी उपाय से नहीं मर सकता। इस धारणा पर से उसका उपनाम 'तलतालव' प्रसिद्ध हो गया था। इस महाबली राक्षस को सेना सहित साथ ले कर विद्युन्माली ने अपने ज्येष्ठ-बन्धु राजा इन्द्र पर चढ़ाई कर दी और उसके नगर को घेरा डाल दिया। राजा इन्द्र ने राक्षस-राज के भय से नगर के द्वार बन्द करवा दिये और भयभीत तथा चिन्ताग्रस्त रहने लगा। एकबार उसने एक भविष्यवेत्ता को इस विपत्ति के निवारण का उपाय और अपना भविष्य पूछा। भविष्यवेत्ता ने कहा—"राजन् ! तुम्हारे शत्रु का पराभव, पाण्डु-पुत्र वीरवर अर्जुन द्वारा हो सकता है। वही इस दुर्निवार विपत्ति का एकमात्र उपाय है। अभी वे वीरवर इन्द्रनील पर्वत पर विद्या साध रहे हैं। यदि आप उनसे विनम्र प्रार्थना करेंगे, तो वे आपकी सहायता करने को अवश्य ही तत्पर होंगे और आपकी विपत्ति टल जायगी।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर इन्द्र प्रसन्न हुआ और मुझे बुला कर आपको सहायक बनाने के लिए भेजा। मैं भी उत्साहपूर्वक आपके पास आया। मुझे अपने पिता के उपकारी मित्र के पुत्र से, एक बन्धु के नाते मिलना था। आपके हाथ में यह वही अंगूठी है, जिसे मेरे पिता ने आपके पिता को दी थी। आप इस अंगूठी को पानी में प्रक्षाल कर, उस पानी से अपनी देह का सिंचन करें, जिससे ये घाव मिट जावेंगे और शरीर स्वस्थ हो जायगा। फिर आपको इन्द्र की विपत्ति मिटाने चलना होगा।"

अर्जुन ने कहा—"महानुभाव ! आप तो मेरे ज्येष्ठ-बन्धु, महाराज युधिष्ठिरजी के समान हैं। मैं आपकी आज्ञानुसार इन्द्र की सहायता करने को तत्पर हूँ। चलिये, शीघ्र चलिये।"

था कि इन्द्र को भविष्यवेत्ता ने अर्जुन के द्वारा हमारा पराभव होना बताया था। इसलिए उसने अर्जुन को घेर कर शीघ्र मार डालने में ही अपनी भलाई समझी। शत्रु-दल पूरे वेग से अर्जुन के रथ को घेर कर बाण-वर्षा करने लगा। अर्जुन ने भी भीषण बाण-वर्षा की, परन्तु चतुर शत्रु-दल ने उसके सारे बाण बीच में ही काट डाले और शत्रु-दल का एक भी सैनिक घायल नहीं हुआ। अर्जुन चकित रह कर सोचने लगा। उसे द्रोणाचार्य की युक्ति स्मरण हो आई। उसी समय उसने रथ को थोड़ा पीछे हटाने की चन्द्रशेखर को आज्ञा दी। चन्द्रशेखर शंकित हुआ, परन्तु उसे आज्ञा का पालन करना पड़ा। रथ पीछे हटता हुआ देख कर शत्रु-दल अपनी विजय मानता हुआ और मूंछें मरोड़ता हुआ हर्षोन्मत्त हो गया। बस, इसी समय अर्जुन ने लक्ष्यपूर्वक भीषण बाण-वर्षा की, जिससे शत्रुओं के हाथ (मूंछ पर रहे हुए हाथ) और कंठ एक साथ बिंध गए और शत्रु-दल धराशायी हो गया। तलतालव और विद्युन्माली भी मारा गया। राजा इन्द्र विमान में बैठा, आकाश से युद्ध देख रहा था। वह अर्जुन की विजय और शत्रु का विनाश देख कर प्रसन्न हुआ। उसने और अन्य खेचरों ने अर्जुन पर पुष्प-वर्षा की और जय-जयकार किया।

बड़े भारी उत्सव और समारोह के साथ अर्जुन का नगर-प्रवेश कराया। राजा इन्द्र ने अर्जुन से निवेदन किया—"यह सारा राज्य आप ही का है। मैं आपका सेवक हो कर रहूँगा।" अर्जुन ने इस आग्रह को अस्वीकार किया और वह राज्य का अतिथि बन कर रहा। राज्य के बहुत-से युवकों ने अर्जुन से धनुर्विद्या सीखी। अभ्यास पूरा होने पर गुरु-दक्षिणा देने को वे सभी उद्यत हुए, तो अर्जुन ने कहा—"जब मुझे आवश्यकता होगी, तब मैं आपकी सहायता लूँगा।" स्वजनों से मिलने अर्जुन गन्धमादन पर्वत पर गया। पाण्डव-परिवार उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। अर्जुन के आगमन और वियोगकाल की घटनाओं का वर्णन सुन कर सभी प्रसन्न हुए।

कमल-पुष्प के चक्कर में बन्दी

पाण्डव-परिवार गन्धमादन पर्वत पर रह कर अपना समय व्यतीत कर रहा था। एक दिन वे परस्पर वार्तालाप करते हुए बैठे थे कि वायु से उड़ता हुआ कमल का एक फूल द्रौपदी की गोद में आ-गिरा। पुष्प की सुन्दरता और उत्तम सुगन्ध ने द्रौपदी को मोहित कर लिया। द्रौपदी उस एक पुष्प से संतोष नहीं कर सकी। उसने कहा—"ऐसे उत्तम

पुष्प यदि कुछ और मिल जाय, तो मैं आभूषण बना कर पहनूं।" द्रौपदी की इच्छा जान कर भीमसेन उठा—"मैं अभी लाता हूँ"—कहता हुआ उस दिशा में चला गया—जिस ओर से वह फूल आया था। भीमसेन को गये बहुत समय बीत गया, परन्तु वह लौटा नहीं, सभी लोग चिन्ता करने लगे। "अब क्या करें? कैसे पता लगावें? वह कहाँ होगा? किस दशा में होगा और उस पर क्या बीत रही होगी"—इस प्रकार सभी के मन में भाँति-भाँति के विकल्प उठने लगे। अर्जुन ने विद्या का स्मरण कर, जानने की इच्छा व्यक्त की, तो युधिष्ठिर ने कहा—"नहीं, साधारण-सी बात पर विद्या का प्रयोग नहीं होना चाहिए।" तब क्या किया जाय? युधिष्ठिरजी ने हिडिम्बा का स्मरण किया। वह अपने पुत्र को लिये हुए आकाश-मार्ग से आ कर उनके सामने खड़ी हुई। युधिष्ठिर ने देखा कि हिडिम्बा अपने उत्संग में एक सुन्दर और मोहक बालक को लिये उपस्थित है और प्रणाम कर रही है। युधिष्ठिर ने आशीर्वाद देते हुए पूछा—"यह प्यारा-सा बच्चा तुम्हारा ही है क्या?" हिडिम्बा ने पुत्र को युधिष्ठिर की गोदी में देते हुए और नीची दृष्टि किये कहा—"मैं आपकी आज्ञा से अपने भाई के आवास में गई थी, उसके लगभग छह महीने बाद इसका जन्म हुआ है। यह आपके पाण्डव-कुल का है। इसका नाम 'घटोत्कच' है। मैं इसे इसके योग्य शिक्षा भी देती रहती हूँ।" युधिष्ठिर समझ गए कि यह भीमसेन का पुत्र है। उन्होंने और सभी पारिवारिकजनों ने उस बालक को बहुत प्यार किया। हिडिम्बा अपने पति को नहीं देख कर विचार में पड़ गई। यह तो वह पहले से ही समझ चुकी थी कि पाण्डव-परिवार पर किसी प्रकार की विपत्ति आई होगी, तभी मेरा स्मरण किया गया है। अब उसने पूछा—"क्या आज्ञा है? मैं क्या सेवा करूँ आपकी?"

—"भद्रे! तुमने हम पर पहले भी अनेक उपकार किये और अब भी वैसा ही प्रसंग आ गया है। भाई भीमसेन, कमल-पुष्प लेने गया, वह अब तक नहीं लौटा। कहीं किसी विपत्ति में तो नहीं पड़ गया? हम इसी बात से चिन्तित हैं। दूसरा कोई चारा नहीं देख कर मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। अब तुम योग्य समझो वह करो"—युधिष्ठिरजी ने कहा।

हिडिम्बा ने अपनी विद्या का स्मरण किया। तत्काल सभी ने भीमसेन को एक सरोवर में, पुष्प तोड़ कर संग्रह करते हुए देखा। सभी लोग भीमसेन को उसी प्रकार देख कर प्रसन्न होने लगे, जैसे अपने सामने ही फूल तोड़ रहे हों। हिडिम्बा ने उस सरोवर का स्थान और दूरी भी उन्हें बताई। सभी आनन्दित हुए। उनकी चिन्ता दूर हो गई। कुछ समय बाद भीम पुष्प ले कर आ गया। हिडिम्बा भी सबसे मिल कर अपने स्थान लौट गई।

कमल-पुष्पों को पा कर द्रौपदी अत्यन्त प्रसन्न हुई। किन्तु उसी समय उसकी दाहिनी आँख फरकी और वह उदास हो गई। उसने भीमसेन की ओर देखा। उसकी आँखें बार-बार फड़कने लगी। द्रौपदी की उदासी देख कर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव उसका मनोरञ्जन करने के लिए उसे वन के रमणीय प्रदेश में ले गए और उसका खूब मनोरञ्जन कराया। वह भी प्रसन्न हो गई। कालान्तर में द्रौपदी ने पुनः कमल-पुष्पों की माँग की। भीमसेन सारे परिवार को ले कर सरोवर पर आया। परिवार तो किनारे पर एक वृक्ष की छाया में बैठा और भीमसेन सरोवर में उतर कर जल-क्रीड़ा करने में लीन हो गया। उसकी जल-क्रीड़ा से सरोवर का पानी बहुत डोलायमान हुआ। फिर वह फूल तोड़-तोड़ कर, किनारे पर द्रौपदी की ओर फेंकने लगा और द्रौपदी फूलों को एकत्रित करने लगी। भीमसेन तैरता भी जाता था और पुष्प तोड़ कर किनारे भी फेंकता जाता था। अचानक भीमसेन जल में डूब गया—जैसे डुबकी लगाई हो। जब बड़ी देर तक भी वह बाहर नहीं निकला, तो सभी को चिन्ता हुई। कुन्ती और द्रौपदी रोने लगी। कुन्तीदेवी ने अर्जुन को पता लगाने का आदेश दिया और कहा—"शीघ्र जाओ, कहीं किसी ग्राह (मगर) ने तो उसे नहीं पकड़ लिया?" अर्जुन सरोवर में कूद पड़ा और तल की ओर गया, किन्तु वह भी फिर ऊपर नहीं आया। अर्जुन को गये बहुत देर हो गई, तो नकुल उतरा, उसके नहीं लौटने पर सहदेव उतरा, परन्तु वह भी लौट कर नहीं आया। चारों गये सो गये ही। अब कुन्ती ने युधिष्ठिर को कहा—"धर्मराज! तुम देखो भाई! तुम धर्मात्मा हो। तुम्हारा प्रयत्न अवश्य सफल होगा।" माता की आज्ञा पा कर युधिष्ठिर भी सरोवर में उतरे और वे भी नहीं लौटे।

कुन्ती और द्रौपदी ने धर्म का सहारा लिया

ऐसी स्थिति में दोनों अबलाएँ घबड़ाई और रोने लगी। सन्ध्या हो गई, अन्धकार बढ़ने लगा। अब वे क्या करें? कुन्ती सम्भली और द्रौपदी से कहा—"बेटी! हमने कभी अपने धर्म को नहीं छोड़ा। हमने प्राणपण से धर्म का पालन किया। धर्म ही हमारी रक्षा करेगा और तेरा सुहाग सुरक्षित रखेगा। तेरी पुष्पमाला म्लान नहीं हुई। यह संतोष की बात है। अब हमें धर्म का ही सहारा है। ध्यानस्थ हो कर परमेष्ठि महामन्त्र का स्मरण करो। मैं भी यही करती हूँ।" दोनों निश्चल और एकाग्र हो कर महामन्त्र का स्मरण

करने लगी। उनके ध्यान की धारा समस्त आत्म-प्रदेशों में रम कर सबल होती गई। थोड़ी देर में उनके कानों में परिचित शब्द पड़े। एक दिव्यात्मा ने कुन्ती को प्रणाम करते हुए कहा—"माता ! इधर देखो ! आपके पुत्र प्रणाम कर रहे हैं।" दो-तीन बार कहने पर ध्यान भंग हुआ और अपने पाँचों पुत्रों (और द्रौपदी ने अपने पतियों) तथा एक प्रकाशमान दिव्य-पुरुष को देख कर दोनों महिलाएँ प्रसन्न हुई। माता ने पुत्रों को छाती से लगा कर मस्तक चूमा। द्रौपदी पास ही खड़ी उन्हें देख कर प्रसन्न हो रही थी। माता ने पूछा—

"पुत्रो ! तुम कहाँ रुक गये थे और ये दिव्य-पुरुष कौन हैं ?"

—"माता ! हम वन्दी हो गए थे। इन महानुभाव ने ही हमें मुक्त कराया। ये महानुभाव ही आपको हमारे वन्धन और मुक्ति का हाल सुनावेंगे"—युधिष्ठिर ने कहा। कुन्ती ने देव की ओर देखा। देव ने कहा; —

"कल्याणी ! थोड़े समय पूर्व सौधर्मेन्द्र, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे। मैं भी उनके साथ था। यहाँ आने पर अचानक विमान रुक गया। हम सभी ने आपको ध्यानस्थ देखा। देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से आपकी और इन वन्धुओं की विपत्ति जानी और मुझे आदेश दिया कि "इन ध्यानस्थ महिलाओं में एक पाण्डवों की माता कुन्तीदेवी और एक पत्नी द्रौपदी है। पाँचों पाण्डव, इस सरोवर के दोलन और पुष्प-चयन से नागकुमारेन्द्र के कोप-भाजन हो कर वन्दी हुए हैं। तुम उन नीतिमान् धर्मात्मा पाण्डवों को मुक्त करा कर, इन महिलाओं को संतुष्ट करो।" इन्द्र की आज्ञा से मैं नागकुमारेन्द्र के आवास में पहुँचा। वहाँ ये पाँचों वन्धु वन्दी थे। भीमसेन ने सरोवर का खूब दोलन किया और बहुत-से पुष्प तोड़ लिये। यह सरोवर नागकुमारेन्द्र का प्रिय है। इसके दोलन से कुपित हुए नागकुमारेन्द्र के अनुचरों ने भीमसेन और क्रमशः पाँचों वन्धुओं को आकर्षित कर हरण किया और वन्दी वना लिया।"

"पाँचों वन्धुओं को वन्दी वना कर नागेन्द्र के सम्मुख उपस्थित किया, तो इन्हें देख कर नागेन्द्र ने सोचा—"ये बलवान् और तेजस्वी पुरुष कौन हैं ?" जिस समय इनके विषय में इन्द्र विचार कर रहा था, उसी समय मैं पहुँचा और मैंने इनका परिचय देते हुए कहा—"ये मनुष्यों में उत्तम, न्याय-नीति और सदाचार से सम्पन्न तथा उत्तम पुरुष हैं। ये पाण्डु-पुत्र हैं और 'पाण्डव' कहलाते हैं। लोक में इनकी यश-पताका लहरा रही है। ये आदर करने योग्य हैं। सौधर्मेन्द्र ने मुझे इन्हें मुक्त करवाने के लिए आपके पास भेजा है। इनके मन में आपकी अवज्ञा करने का भाव नहीं था और ये यह न जानते थे कि इस जलाशय पर आपकी विशेष रुचि है। अनजान में सहज ही यह घटना घट गई।

इस पर आप स्वयं ही विचार करें।"

मेरे इतना कहते ही नागेन्द्र ने तत्काल इन्हें बन्धन-मुक्त किया और आदर सहित अपने पास बिठाया। इन्हें बन्दी बनाने वाले सेवकों की भर्त्सना कर के निकाल दिया और युधिष्ठिरजी आदि से अपने सेवकों द्वारा हुए अपराध की क्षमा माँगी। इतना ही नहीं, नागेन्द्र ने इन्हें सभी प्रकार के विष को दूर करने वाली मणिमाला प्रदान की और तुम्हारी वधू के कर्णभूषण के लिए एक नीलकमल दिया और कहा कि यह तब तक विकसित रहेगा, जब तक द्रौपदी के पाँचों पति कल्याणवंत रहेंगे। यदि उन्हें किसी प्रकार का संकट होगा, तो कमल मुरझा जायगा।" विदा होते समय युद्धिष्ठिर ने नागेन्द्र से कहा—"देवेन्द्र से मेरी प्रार्थना है कि हमारे निमित्त से जिन देवों को आपने निकाल दिया है, उन्हें क्षमा कर के पुनः अपनी सेवा में रख लीजिए।"

नागेन्द्र ने कहा—"धर्मराज! सरोवर का मुख्य-रक्षक चन्द्रचूड़ है। इसे विवेक से काम लेना था। साधारण-सी बात पर, बिना चेतावनी दिये ऐसा उग्र व्यवहार करना तो अत्याचार है। अब इनको तभी सेवा में लिया जायगा कि भविष्य में, कर्ण के साथ अर्जुन के होने वाले महायुद्ध में चन्द्रचूड़, अर्जुन का सहायक बन कर प्रायश्चित्त कर ले।"

इसके बाद हम आपकी सेवा में आये। देव ने अपने कथन का उपसंहार करते हुए कहा—"माता! आप सब मेरे विमान में बैठिये। मैं आपको यथास्थान पहुँचा दूँगा।"

कुन्ती ने कहा—"अब हमें द्वैत वन में जाना है।"

देव ने उन्हें द्वैत वन में पहुँचा दिया और प्रणाम कर चला गया। पाण्डव-परिवार द्वैत वन में रह कर काल-निर्गमन करने लगा।

पांडवों को मारने दुर्योधन चला और बंदी बना

दुर्योधन को मालूम हुआ कि उसके हृदय का शूल पाण्डव-परिवार द्वैत वन में है, तो वह अपना दलबल ले कर द्वैत वन की ओर चला। साथ में कर्ण, शकुनि और दुःशासनादि भी थे। उसने इसबार पाण्डव-परिवार को अपनी आँखों के सामने समाप्त करने का निश्चय कर लिया था। दुर्योधन के साथ उसकी रानी भानुमती भी थी। उन्होंने गोकुल का निरीक्षण करने के लिए जाने का प्रचार किया था, किन्तु गुप्त उद्देश्य पाण्डव-विनाश का ही था। वे द्वैत वन में पहुँचे। द्वैत वन के एक प्रदेश में अत्यन्त रमणीय स्थान

'केलिवन' था। वहाँ विद्याधर आते और सुखोपभोग करते थे। उस रमणीय केलि वन में विद्याधर नरेश चित्रांगद का एक भव्य भवन था, जो राज्य-प्रासादों से भी अत्यन्त आकर्षक और सभी प्रकार के सुख-साधनों से परिपूर्ण था। कुछ रक्षक उस भवन की रक्षा करने के लिए नियुक्त थे। दुर्योधन के अनुचरों ने उस रमणीय स्थान के विषय में निवेदन किया तो वह उस भवन को प्राप्त करने के लिए ललचाया। दुर्योधन ने रक्षकों को मार-पीट कर भगा दिया और भवन पर अधिकार जमा कर, रानी के साथ सुखोपभोग करने लगा।

उधर अर्जुन को गन्धमादन पर्वत पर पहुँचा कर, विद्याधर-नरेश इन्द्र तथा चित्रांगदादि लौटे और वन-विहार करते हुए स्व-स्थान के निकट जा रहे थे कि चित्रांगद को नारदजी का साक्षात्कार हुआ। प्रणाम और कुशलमंगलादि पृच्छा के वाद नारदजी ने पूछा;—

"वत्स ! तुम कहाँ गए थे ?"

—"मैं अपने विद्यागुरु पाण्डवकुल-तिलक पूज्य अर्जुनजी को पहुँचाने गया था। वहाँ से लौट कर आ रहा हूँ।"

—"तुम्हारे गुरु पर संकट है। दुष्ट दुर्योधन उन्हें मारने के लिए सेना ले कर द्वैत वन में गया है। यदि तुम अपने गुरु के लिए सहायक वन सको, तो यह ऋण-मुक्त होने का शुभ अवसर है"— नारदजी ने कहा।

चित्रांगद ने नारदजी को प्रणाम कर अपने विद्याधर-साथियों और सेना के साथ दुर्योधन पर चढ़ाई कर दी। वे सभी विमानों में बैठ कर प्रस्थान कर रहे थे कि केलिवन-प्रासाद के रक्षक भी आ पहुँचे और दुर्योधन द्वारा भवन पर वलपूर्वक अधिकार कर लेने की घटना कह सुनाई। इस विशेप घटना ने चित्रांगद की क्रोधाग्नि को विशेप भड़काया। उसके मित्र विचित्रांगद चित्रसेन आदि भी अपने परिवल सहित आकाशमार्ग से केलिवन पहुँचे और दुर्योधन को ललकारा। दुर्योधन की सेना शस्त्र ले कर विद्याधरों से भिड़ गई, किन्तु थोड़ी ही

युद्ध हुआ। अन्त में विद्याधर ने घात लगा कर दुर्योधन और उसके प्रमुख सहायकों को बन्दी बना लिया।

दुर्योधन की पत्नी पाण्डवों की शरण में

दुर्योधन के बन्दी होते ही कौरव-शिविर में शोक छा गया। रानी भानुमती पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। शोक का भार उतरने पर रानी ने सोचा—"इस समय वीर-सिरोमणि पाण्डव ही इस संकट से उबार सकते हैं। वे महान् हैं, धर्मात्मा हैं और निकट ही ठहरे हुए हैं। मैं उनकी शरण में जाऊँ।" इस प्रकार सोच कर भानुमती चल दी। पाण्डव-परिवार बैठा बातें कर रहा था। दूर से एक स्त्री को अपनी ओर आती देख कर विचार में पड़ गया—'कौन स्त्री है--यह। यहाँ क्यों आ रही है?' सभी की दृष्टि उसी ओर लग गई। भानुमती नीचा सिर किये हुए और मुँह ढके रोती हुई आई और कुन्तीदेवी के चरणों में प्रणाम कर के युधिष्ठिर के चरणों में झुकी और वहीं गिर गई। उन सब ने भानुमती को पहिचान लिया। कुन्ती और युधिष्ठिर बोले—

"बहुरानी! तुम इस दशा में यहाँ अकेली क्यों आई? बोलो शीघ्र बोलो! तुम्हारी यह दशा किसने की?"

हृदय का आवेग कम होने पर भानुमती बोली—

--'आपके बन्धु को विद्याधरों ने बन्दी बना लिया। वे यहीं निकट केलिवन में हैं। उन्हें छुड़ाइये, शीघ्र छुड़ाइये। मैं हताश हो कर आपके पास यह भीख माँगने आई हूँ। ज्येष्ठ! हमारे अपराधों को भूल कर उन्हें छुड़ाइये। इस संसार में केवल आप ही उन्हें मुक्त करा सकते हैं। आपके सिवाय और कोई बचाने वाला नहीं है।"

—"हां, महारानीजी अपने पति को छुड़ाने धर्मराज के पास पधारी है। परन्तु उस समय कहाँ लुप्त हो गई थी, जब भरी सभा में मेरा घोर अपमान किया था? मेरे बाल पकड़ कर घसीटता हुआ वह मानवरूपी दानव सभा में ले गया था और मुझे नंगी करने लगा था। तब तो तुम सब बहुत प्रसन्न हुए थे। अब किस मुँह से पधारी महारानीजी यहाँ"--द्रौपदी ने व्यंग करते हुए कहा।

--"नहीं बन्धुवर! आप भावुक नहीं बने। उस दुष्ट को मरने दें। उस नीच ने हमारी यह दशा कर डाली। अब भी वह इस वन में हमारा शत्रु बन-कर, हमें मिटाने

के लिए ही आया होगा। अच्छा हुआ जो यहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसे उसके पाप का फल मिल गया"--भीमसेन ने कहा और अर्जुन आदि ने समर्थन किया। द्रौपदी और भीमसेन का विरोध सुन कर भानुमती हताश हो गई। उसने सोचा—"अब धर्मराज से सहायता नहीं मिल सकेगी।" इतने में युधिष्ठिर बोले--

--"बन्धुओं! आवेश छोड़ो और कर्त्तव्य का विचार करो। अब तक हम अपने धर्म का पालन करते रहे। विपत्तियाँ झेली, परन्तु धर्म नहीं छोड़ा। प्राणपण से निभाये हुए धर्म को हम आवेश में आ कर कैसे छोड़ सकते हैं? नहीं, हम अपनी मर्यादा नहीं छोड़ेंगे। भले ही दुर्योधन ने हमारे साथ दुष्टता की और हमारा राज्य हड़प लिया। यह हमारा अपना पारस्परिक विवाद है। इससे कौटुम्बिकता नष्ट नहीं हो सकती। यदि दूसरा कोई हमारे बन्धु को हानि पहुँचाना चाहे, तो हम चुप नहीं रह सकते। दूसरों के लिए हम सब एक हैं। अर्जुन! तुम जाओ भाई! दुर्योधन को मुक्त कराओ।"

"परन्तु बन्धुवर! आप सोचिये"...........

"नहीं, नहीं, विवाद नहीं करना चाहिए। दुर्योधन से हमारा झगड़ा है, तो उसका बदला हम लेंगे। अभी वह विपत्ति में है और हमारा भाई। फिर उसकी रानी--हमारी बहुरानी—हमसे सहायता की याचना कर रही है। हमें इस समय अपने कर्त्तव्य को ही लक्ष्य में रखना है। जाओ, शीघ्र जाओ। विलम्ब नहीं करो। हम सब यहाँ परिणाम जानने के लिए उत्सुकतापूर्वक तुम्हारी राह देखेंगे।"

अर्जुन ने दुर्योधन को छुड़ाया

युधिष्ठिर की आज्ञा होते ही अर्जुन उठा और एकान्त में जा कर, एकाग्रतापूर्वक विद्या का स्मरण कर, विद्याधर नरेश इन्द्र को आकर्षित किया। इन्द्र ने विद्या के द्वारा अर्जुन का अभिप्राय जान कर एक विशाल विमान-सेना के साथ चन्द्रशेखर को, अर्जुन के सहायतार्थ भेजा। अर्जुन सेना सहित केलिवन में पहुँचा। युद्धोपरान्त विद्याधर-गण विश्राम कर रहे थे। अर्जुन ने निकट पहुँच कर ललकार लगाई।

"दुर्योधन को बन्दी बनाने वाले को मैं चुनौती देता हूँ। जो भी हो, शस्त्र-सज्ज हो कर शीघ्र ही सामने आवे।"

दुर्योधन इस ललकार को सुन कर प्रसन्न हुआ और विद्याधर चौंके। दोनों ओर

की सेना लड़ने लगी। यह लड़ाई विद्याधरों में आपस में हो रही थी। दोनों ओर की सेना में शत्रुता का भाव नहीं था, मात्र आज्ञापालन और विजय-श्री पाने के लिए ही वे युद्ध करने लगे थे।

विद्याधर-पति चित्रांगद के मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ--"यह कौन आया--युद्ध करने ? उसकी शक्ति कितनी हैं ?"

उसने आक्रामक को पहिचानने का प्रयत्न किया। उसे अपने विद्यागुरु अर्जुनदेव दिखाई दिये। वह हर्षोन्मत्त हो उठा और युद्ध रोकने की आज्ञा दे कर, अर्जुन के निकट आकर प्रणाम किया। चित्रांगद को देख अर्जुन को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा--"तुम यहाँ कैसे, और दुर्योधन को बन्दी क्यों बनाया ?"

--"महाभाग ! दुर्योधन तो आपका शत्रु है। आपके पूरे परिवार को समाप्त करने के लिए ही वह यहाँ आया और आते ही मेरे इस सुन्दर भवन पर अधिकार कर के क्रीड़ा करने लगा। मुझे नारदजी ने कहा कि--"दुर्योधन पाण्डव-परिवार को समाप्त करने के लिए द्वैत वन में गया है।" तब मैं सेना सहित यहां आया और युद्ध कर के उसे वन्दी बनाया। आप अपने घोर-शत्रु की सहायता करने आये, यह कितने आश्चर्य की बात है ?"

--"मित्र ! मेरे ज्येष्ठ-बन्धु युधिष्ठिरजी के पास दुर्योधन की पत्नी भानुमती आई और रो-रो कर पति को मुक्त कराने की प्रार्थना करने लगी। बन्धुवर तो धर्मावतार हैं। उन्होंने दुर्योधन की दुष्टता भूल कर, एक भाई के नाते उसे छुड़ाने की आज्ञा दी। उसी आज्ञा के अधिन हो कर मैं आया हूँ।"

"आप चाहें, तो दुर्योधन अभी से मुक्त है। चलिये, जरा उसे देख लीजिये। वह भी देख ले कि उसका मुक्ति-दाता कौन हैं ?"

दोनों वन्दी अवस्था में रहे हुए दुर्योधन के निकट आये। अर्जुन को चित्रांगद के साथ देख कर, दुर्योधन का हृदय बैठ गया। वह समझ गया कि अर्जुन ही उसे छुड़ाने वाला है। इस मुक्ति से तो उसे वन्दी बना रहना अच्छा लगा। उसकी दृष्टि झुक गई, मस्तक नीचा हो गया। चित्रांगद ने कहा--

"दुर्योधन ! तुम्हारे मुक्तिदाता ये अर्जुन देव हैं। इनका उपकार मानो। इनकी कृपा से तुम मुक्त हुए। सोचो कि तुम में कितनी क्षुद्रता और अधमता है और इनमें कितनी महानता है। तुम्हारे जैसे घोर-शत्रु को भी ये भाई मान कर मुक्त कराने आये। चलो, अभी हम धर्मराज के पास चलें। वहीं तुम्हें मुक्त कर दिया जायगा।"

अर्जुन और चित्रांगद, दुर्योधन को ले कर युधिष्ठिरजी के पास आये। दुर्योधन मन में बहुत ही अकुलाया। वह इस मुक्ति से मृत्यु को अधिक चाहता था, परन्तु विवश था। युधिष्ठिर के पास आ कर चित्रांगद ने युधिष्ठिरादि को प्रणाम किया और दुर्योधन को उनके समीप मुक्त कर के प्रणाम करने का कहा। किंतु वह नीचा मस्तक किये खड़ा रहा। कुन्ती ने दुर्योधन को आशिर्वाद दिया। युधिष्ठिर ने दुर्योधन का हाथ पकड़ कर समीप बिठाया और मधुर वचनों से बोले;--

"वत्स ! चिन्ता मत कर। परिस्थिति पलटने पर राहु जैसा तुच्छ ग्रह भी चन्द्रमा और सूर्य पर छा जाता है, किंतु इससे राहु का महत्व नहीं बढ़ता। इसी प्रकार तेरे बन्दी होने से इनका महत्व नहीं बढ़ा। तू स्वस्थ हो और शीघ्र ही हस्तिनापुर जा। वहाँ राजधानी सुनी होगी और सभी जन चिन्तित होंगे।"

भानुमती पति को मुक्त देख कर प्रसन्न हुई। दुर्योधन, पत्नी और साथियों सहित चला और अपना पड़ाव उठा कर हस्तिनापुर पहुँचा। निष्फल पराजित एवं लज्जित दुर्योधन की उदासी अधिक बढ़ गई थी।

लज्जित दुर्योधन की लज्जा कर्ण मिटाता है

दुर्योधन गया तो था पाण्डवों को समाप्त करने, परन्तु लौटा अपने पर पाण्डवों के उपकार का भारी बोझ ले कर—खिन्न, म्लान, अपमानित एवं सत्वहीन-सा हो कर। होना था वैर-विरोध त्याग कर भ्रातृभाव, भक्ति तथा प्रत्युपकार की भावना से हृदय परिपूर्ण। किन्तु हुई वैर में अत्यधिक वृद्धि। वह पाण्डवों को नष्ट किये बिना नगर में प्रवेश करना ही नहीं चाहता था और वन के एकान्त प्रदेश में रह कर अपमानित जीवन बिताना तथा पाण्डवों को नष्ट करने की कोई नई युक्ति लगाना चाहता था। बन्दी दशा में उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया था और बेड़ी-बन्धन के कारण पांव भी सूज गये थे। वह हताश हो कर एक वृक्ष के नीचे सोया था। भानुमति उसके पास बैठी पंखा झल रही थी। सेवक गण विविध प्रकार के कार्य कर रहे थे कि इतने में कर्ण आया और दुर्योधन को समझाने लगा;--

"राजेन्द्र ! हताश होना और शोकाकुल रहना व्यर्थ है। भवितव्यता को टालना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है। जय और पराजय तो होती ही रहती है। आज अपना

भाग्य प्रतिकूल है, तो कुछ दिन बाद अनुकूल भी हो सकता है। अपना कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो गया। हम फिर भी अपना कार्य करेंगे। अनेक असफलताओं के पीछे भी आशा बनी रहती है और व्यक्ति को सफल मनोरथ करती है। आपको सामान्य राजा से महाराजाधिराज तथा सम्राट बनाने में जो नियति कार्य कर रही थी, वह आपको भविष्य में निष्कंटक भी बनाएगी। अपना काम आशा-लता के सहारे साहसपूर्वक आगे बढ़ाते रहना है।"

"पाण्डवों ने आपको बन्धनमुक्त कराया, तो इसमें उन्होंने कौनसा उपकार किया? प्रजा की समस्त शक्ति पर राजा का अधिकार होता ही है। प्रजा में से ही सैनिक भर्ती होते हैं और साम्राज्य की रक्षा करते हैं। प्रजा से शक्ति प्राप्त कर के साम्राज्य को सबल परिपूर्ण एवं समृद्ध बनाने का राजा का अधिकार है ही। अतएव आप इस दुश्चिन्ता को छोड़ कर राजधानी में पधारें। विपत्ति का स्मरण कर उदासीन बना रहना तो पलायनवाद है। चलिये, उठिये और प्रयाण की आज्ञा दीजिये।"

कर्ण के वचनों ने दुर्योधन को उत्साहित किया और वह हस्तिनापुर पहुँचा।

पाण्डवों पर भयंकर विपत्ति

पाण्डव-परिवार द्वैत-वन में शान्तिपूर्वक अपना वनवास-काल पूर्ण कर रहा था। उन्हें विश्वास हो गया था कि अब दुर्योधन कोई नया संकट उपस्थित नहीं करेगा। किन्तु उनका अनुमान व्यर्थ रहा। एक दिन अचानक नारदजी आ पहुँचे। कुन्तीदेवी और समस्त पाण्डव-परिवार ने नारदजी का भावपूर्ण आदर-सत्कार किया। नारदजी ने कुशलक्षेम पृच्छा के पश्चात् कहा; —

"धर्मराज! तुमने दुर्योधन पर उपकार कर के उसे बन्धन-मुक्त करवाया और समझते होंगे कि अब दुर्योधन ने तुम्हारे साथ शत्रुता नहीं रखी। किन्तु मैं तुम्हें सावधान करता हूँ। दुर्योधन के मन में अपनी पराजय और तुम्हारे उपकार ने वैर-विष बढ़ाया ही है। उसने नगरभर में ढिंढोरा पिटवाया कि—

"जो कोई व्यक्ति पाण्डवों को अस्त्र, शस्त्र, मन्त्र, तन्त्र या किसी भी प्रयोग से एक सप्ताह में मार डालेगा, उसे आधा राज्य दिया जायगा।"

उद्घोषणा सुन कर पुरोचन पुरोहित का भाई, दुर्योधन के निकट आया और कहने लगा; —

"स्वामिन् ! मैंने कृत्या-राक्षसी की उपासना कर के साध लिया है। उसमें अपार शक्ति है। यदि वह क्रुद्ध हो उठे, तो भयंकर विनाश कर के हजारों-लाखों लोगों को भस्म कर सकती है। मैं आपकी इच्छानुसार सात दिन के भीतर ही पाण्डवों को समाप्त कर दूंगा। और आप का कार्य सिद्ध हो जायगा।"

इस प्रकार तुम्हें मारने का प्रयास किया जा रहा है। मैं तुम्हें सावधान करने आया हूँ। तुम उस भयानक राक्षसी से बचने का उपाय करो। एक सप्ताह में किसी भी समय तुम पर संकट आ सकता है।"

"महात्मन् ! हमारे अशुभ कर्मों का उदय चल ही रहा है। दुर्योधन की कृतघ्नता का प्रमाण हमें भी मिल चुका है। मुक्त होने के बाद उसने अपने बहनोई जयद्रथ को हम पर आक्रमण करने भेजा था और उसने भयंकर आक्रमण किया। जब हम जम्बूक्रीड़ा करने वन में गये, तो द्रौपदी और माताजी आश्रम में थे। उस दुष्ट ने द्रौपदी का हरण किया। द्रौपदी ने आक्रन्द करते हुए हमें पुकारा। द्रौपदी की पुकार भीम और अर्जुन ने सुनी। द्रौपदी का हरण हुआ, तब मातेश्वरी ने जयद्रथ को पहचान लिया था। जब भीम और अर्जुन जयद्रथ के पीछे भागे, तब मातेश्वरी ने कह दिया था कि—"जयद्रथ को मत मारना, उसे मारने से दुःशला विधवा हो जाएगी।" भीम और अर्जुन ने जयद्रथ के निकट पहुँच कर युद्ध किया और द्रौपदी को मुक्त करवा कर जयद्रथ को बन्दी बना लिया। उन्होंने जयद्रथ को मारा तो नहीं, परन्तु उसके मस्तक पर बाण से पाँच लकीरें खिंच कर और पाँच सिखा जैसी बना कर छोड़ दिया और कहा;—

"यदि माता तुम्हें जीवित छोड़ने का आदेश नहीं देती, तो तुम्हारी अन्त्येष्ठि यहीं हो जाती। जाओ और मातेश्वरी का उपकार मानते हुए नीतिपूर्वक जीवन व्यतीत करो।"

जाते-जाते जयद्रथ कहता गया—"तुमने मेरे मस्तक पर पाँच सिखाएँ बना कर मुझे जीवन भर के लिए कुरूप एवं दुर्दृश्य बना दिया है, परंतु याद रखना कि मेरी ये पाँच सिखाएँ तुम पाँचों की मृत्यु का निमित्त बनेगी।"

जयद्रथ गया। उसकी असफलता ने दुष्ट दुर्योधन को नयी विपत्ति खड़ी करने को बाध्य किया। हमारा धर्म हमारे साथ है। आपके प्रताप से यह विपत्ति भी टल जायगी।"

नारदजी चल दिये। युधिष्ठिर ने सब से कहा—'नारदजी ने हमें सावधान किया है। अब कुछ उपाय सोचना चाहिए कि कृत्या-राक्षसी से किस प्रकार रक्षा की जाय।' भीम ने कहा—

"आप चिन्ता नहीं करें। मेरी गदा उस दुष्टा राक्षसी को भी समाप्त कर देगी।"

"मुझे तुम्हारी शक्ति पर पूरा विश्वास है, परन्तु यदि राक्षसी खुली लड़ाई नहीं लड़ कर अदृश्य रही हुई हम पर आक्रमण कर दे, तो उसका निवारण कैसे होगा ?"

युधिष्ठिर की आशंका सभी के समझ में आई। निश्चय हुआ कि सब को तपस्या-पूर्वक नमस्कार महामन्त्र का एकाग्रतापूर्वक स्मरण करना चाहिए। धर्म ही हमारा रक्षक होगा। इससे हमारे अशुभकर्मों की निर्जरा होगी। हमारे पापकर्म ही हम पर विपत्तियाँ लाते हैं। हम उन पापकर्मों को दूर हटाने का प्रयत्न करें, इससे विपत्तियों का मूल ही नष्ट हो जायगा और जो निकाचित—अवश्यंभावी है, वह तो भोगना ही होगा। बस, हमें अभी से सप्ताह भर के लिए अनशन कर के ध्यानारूढ़ हो कर महामन्त्र का स्मरण करना है। सावधान हो जाओ।"

युधिष्ठिरजी के आदेश को सभी ने मान्य किया। सभी ने चतुर्विध आहार का त्याग कर पृथक्-पृथक् आसन लगा कर बैठ गए और महामन्त्र का एकाग्रतापूर्वक स्मरण करने लगे। इस प्रकार साधना करते उन्हें छह दिन व्यतीत हो गए। सातवें दिन उपद्रव होने की सम्भावना थी। वे सभी सावधान थे। उनके शस्त्रास्त्र उनके पास ही रखे हुए थे। यकायक आँधी में उठे हुए धूल के गोल चक्र के समान धूएँ का एक लम्बा-चौड़ा वर्तुल, स्तंभ के समान चक्कर लगाता हुआ दिखाई दिया और थोड़ी ही देर में उस धुम्रमय वर्तुल के पीछे बड़ी भारी अश्व-सेना आती हुई दिखाई दी। निकट आने पर अश्वसेना के अग्रणी ने कहा;—

"अरे ओ भिखारियो! हटो यहाँ से। इस रमणीय वन में महाराजाधिराज धर्मावतंस रहेंगे।"

भीमसेन इसे सहन नहीं कर सका। ध्यान छोड़ कर खड़ा हुआ और बोला—

"अरे धृष्ट! कौन है तू ? तू क्षुद्रतापूर्ण व्यवहार क्यों कर रहा है ? यदि उद्दंडता की, तो जीवन के लाले पड़ जाएँगे।"

वाचालता बढ़ी और युद्ध आरम्भ हो गया। अश्वसेना ने पाँचों पाण्डवों को घेरे में ले लिया। पाण्डवों ने शस्त्र उठा कर भीषण बाण-वर्षा की। अश्वसेना के पाँव उखड़ गए और सारी सेना भाग खड़ी हुई। पाण्डवों ने भागती हुई सेना का पीछा किया। इधर तपस्विनी कुन्ती और द्रौपदी इस उपद्रव से चिन्ताग्रस्त हो कर बैठी थी कि एक राजचिन्ह धारी पुरुष उनके आश्रम में आया और द्रौपदी को उठा कर, उसे अपने अश्व पर लाद कर चल दिया। द्रौपदी उच्च एवं तीव्र स्वर से आक्रन्द करने लगी। द्रौपदी का आक्रन्द पाण्डवों

ने सुना, तो अश्वसेना का पीछा छोड़ कर द्रौपदी को छुड़ाने के लिए चल दिये। पाण्डवों को भुलावे में डाल कर वह पुरुष द्रौपदी को ले कर सेना में आ पहुँचा। अर्जुन ने उसे देखा, तो उस पर भीषण बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी और उसके बाद चारों बन्धु भी उसके निकट आ कर लड़ने को तत्पर हुए। उस पुरुष पर पाण्डवों की मार का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने द्रौपदी पर कोड़े (चाबुक) की मार प्रारम्भ कर दी। इधर पाण्डवों को जोरदार तृषा लगी। प्यास के मारे युधिष्ठिर ने कहा—

"बन्धुओं ! मुझे बहुत जोर की प्यास लगी है। शीघ्रता करो और कहीं से पानी लाओ। प्यास बुझा कर हम इस डाकू से द्रौपदी को छुड़ावेंगे। यह डाकू भी कोई शक्तिशाली है और यहाँ से कहीं जाने वाला नहीं है।"

धर्मराज की आज्ञा का पालन करने के लिए नकुल और सहदेव चले। खोज करने पर थोड़ी दूर पर ही उन्हें एक सुन्दर जलाशय मिला। तरुपत्रों के दोने बना कर उन्होंने उसमें जल भरा और दोनों ने भरपेट जल पिया। इसके बाद वे दोने उठा कर चले। किंतु कुछ चरण चलने के बाद उनके पाँव लड़खड़ाये और वे दोनों चक्कर खा कर गिर पड़े। वे मूच्छित हो कर इस प्रकार पड़े थे कि जैसे मुर्दे पड़े हों।

जब नकुल और सहदेव को लौटने में विशेष विलम्ब हुआ, तो युधिष्ठिर ने अर्जुन को उनकी तथा जल की खोज में भेजा। अर्जुन भी चरण-चिन्हों के सहारे उसी स्थल पर पहुँचा, जहाँ दोनों भाई मूच्छित पड़े थे। उन्हें मूच्छित देख कर अर्जुन शोकमग्न हो गया। थोड़ी देर में उसे भान हुआ। उसने सोचा—पहले ज्येष्ठ-बन्धु को पानी पिलाऊँ, फिर इनकी मूर्च्छा हटाने का प्रयत्न करूँगा। सरोवर के निकट आ कर उसने पानी पिया और कमल-पत्र का दोना बना कर, जल भर कर चला। उसे भी चक्कर आये और लड़खड़ा कर वह भी उन दोनों के निकट गिर गया। अर्जुन को गये विलम्ब हुआ, तो भीमसेन को भेजा गया और युधिष्ठिर, द्रौपदी और उसके हरण करने वाले पर दृष्टि लगाये रहा। भीम की भी वही दशा हुई, जो अन्य तीन भाइयों की हुई थी। वह भी उनके पास ही निश्चेष्ट पड़ा था। अन्त में धर्मराज आये और अपने चारों भाइयों को मूच्छित देख कर विलाप करने लगे। उनका विलाप भावावेग में बढ़ता ही जा रहा था कि उनके सामने एक भील आया और कहने लगा—

"अरे ओ कायर ! यहाँ बैठा स्त्रियों के समान क्यों रो रहा है ? तेरी पत्नी को वह दुष्ट पुरुष निर्वस्त्र कर के कोड़े मार रहा है और वह विचारी—"हा प्राणेश !" "हा

प्राणनाथ !" पुकार कर रो रही है। यहाँ क्यों बैठा है ? ठण्डी हवा चलने पर ये चारों सावचेत हो जावेंगे।"

भील की बात सुन कर युधिष्ठिर शांत हुए और सरोवर में से जल पी कर द्रौपदी को छुड़ाने चले, किंतु उसकी भी वही दशा हुई। पाँचों भाई मूच्छित पड़े थे। कुछ समय के बाद पाँचों सावधान हुए। उन्होंने देखा—द्रौपदी रत्नमाला युक्त कमल-पत्र में पानी ला-ला कर उन पर सिंचन कर रही थी और कुन्तीदेवी अपने आँचल के छोर से पवन चला रही थी। स्वस्थ हो कर युधिष्ठिर ने पूछा—

"प्रिये ! तुम्हारा अपहरण करने वाला दुष्ट कौन था और उससे तुम मुक्त कैसे हुई ?"

"स्वामिन् ! आप पानी पीने पधारे, उसके बाद मैंने अपने अपहरणकर्त्ता और सेना को देखा ही नहीं। आश्चर्य है कि निमेषमात्र में वे कहाँ लोप हो गए। मैं वन में अकेली रह गई। वन-पशुओं की भयानक बोलियाँ सुनाई देने लगी। मैं भयभीत हो कर भटकने लगी।" इतने में मुझे एक वृद्ध भील दिखाई दिया, जो धनुष-बाण ले कर घूम रहा था। उसने कहा;—

"वत्से ! तू इधर-उधर क्यों भटक रही है। वहाँ जा, तेरे पाँचों साथी मूच्छित पड़े हैं। चल मैं तुझे वहाँ पहुँचा दूं।"

"मैं उसके साथ हो गई और मातेश्वरी को भी लेती आई। यहाँ आ कर आप सब को मूच्छित देख कर मैं विलाप करने लगी। कुछ समय बाद एक भयंकर शब्द हुआ और उसके बाद एक पीले केश, पीली आँखें और श्यामवर्णी भयंकर राक्षसी आकाश में उड़ती हुई आई। उसकी भयंकर आकृति देख कर हमने निश्चय किया कि यही कृत्या-राक्षसी होगी। कृत्या ने निकट आ कर आपको देखा और उसके साथ आई पिंगला-राक्षसी से बोली—"अरे ! ये तो मर गए हैं। दुरात्मा ब्राह्मण ने इन मृतकों को मारने के लिए मुझे यहाँ भेजा ? तू देख ! ये वास्तव में मर गए हैं, या ढोंग कर के पड़े हैं"—इतना कह कर कृत्या हट गई। पिंगला आपको देखने के लिए निकट आने लगी, तब वृद्ध भील ने उस से कहा--"शव को स्पर्श करना तुम्हारे लिए अहितकारी होगा। ये तो वैसे ही मृतक दिखाई दे रहे हैं। इन्हें क्या देखना ? कुत्ते, शृगाल आदि नीच जाति के पशु ही शव को स्पर्श करते हैं, किन्तु सिंह कभी वैसे शव को नहीं खाते। यदि ये जीवित होते तो बड़े-बड़े वीर योद्धाओं से लड़ते और विजय प्राप्त करते।"

भील की बात सुन कर पिंगला लौट कर अपनी स्वामिनी कृत्या-राक्षसी के पास

गई। पिंगला की बात सुन कर कृत्या अपने साधक ब्राह्मण पर रुष्ट हुई और उसका विनाश करने के लिए चली गई। उसके जाने के बाद में और मातेश्वरी आपकी मूर्च्छा दूर करने का उपाय सोचने लगी। इतने में मुझे नागेन्द्र की बात स्मरण में आई। मेरे कर्णाभरण का कमल प्रफुल्ल है, इस लिए मेरा सुहाग सुरक्षित है।" इतने में उस भील ने कहा—"भद्रे ! देखती क्या है ? इस पुरुष के गले में रही हुई रत्नमाला निकाल और सरोवर के जल में इसे धो कर उस जल को इन पर छिड़क। इनकी मूर्च्छा दूर हो जायगी।"

"इस प्रयोग से आपकी मूर्च्छा दूर हुई और हमारा संकट टला।" युधिष्ठिर ने पूछा—"वह उपकारी भील कहाँ गया ?" उन्होंने इधर-उधर देखा, तो भील तो क्या, वह सरोवर भी दिखाई नहीं दिया। उसी समय एक दिव्य-पुरुष प्रकट हुआ और प्रसन्नतापूर्वक बोला—

"राजन् ! तुमने एकाग्रतापूर्वक तप सहित महामन्त्र का स्मरण किया, उसी का यह फल है। मैं सौधर्म-स्वर्ग का धर्मावतंस देव हूँ। मैं धार्मिक आत्माओं का सहायक बनता हूँ। मुझे ज्ञान से तुम्हारी विपत्ति ज्ञात हुई। उसका निवारण करने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। तुमने अश्वसेना देखी, वह मेरी ही बनाई हुई थी। द्रौपदी का हरण भी मैंने ही किया था और कोड़े की मार का तो केवल आपको आभास ही कराया गया था। सरोवर को विषमय भी मैंने ही बनाया था और भील भी मैं ही बना था। आपका अनिष्ट टल गया है। अब मैं अपने स्थान पर जाता हूँ। मैं सदैव तुम्हारा सहायक रहूँगा।"

आठवें दिन सभी को तपस्या का पारणा करना था। धान्य और फल आदि से द्रौपदी ने भोजन बनाया। भोजन करते समय धर्मराज के मन में भावना उत्पन्न हुई कि यदि इस समय कोई सुपात्र का योग प्राप्त हो, तो उन्हें प्रतिलाभित किया जाय ! उनकी भावना सफल हुई। एक तपस्वी महात्मा उधर आ निकले। उनके मासखमण का तप था। धर्मराज ने उन्हें उल्लसित भावों से दान दिया। निकट रहे व्यन्तर देवों ने जय-जयकार किया और दान की महिमा गाई। पाण्डव-परिवार द्वैतवन में सुखपूर्वक रहने लगा।

विराट नगर में अज्ञात वास ××× कीचक-वध

पाण्डवों के वनवास के बारह वर्ष पूर्ण हो चुके थे और अब एक वर्ष अज्ञात-वास (गुप्त) रहना था। युधिष्ठिरजी ने अज्ञात-वास की अपनी योजना बताई—

"बन्धुओं ! बीते हुए बारह वर्ष अधिकांश वन में बिताये। अब एक वर्ष हमें

किसी नगर में सेवक के रूप में गुप्त रहना पड़ेगा। मेरा अनुमान है कि हमारा अनिष्ट चाहने वाले हमें वन में ही खोजेंगे। वे सोचेंगे कि 'जब पाण्डव बारह वर्ष तक हमसे छुपे रहने के लिए वन में रहे, तब अज्ञात-वास तो वे किसी गहन और मनुष्य की पहुँच से बहुत दूर गिरी-कन्दरा में ही बितावेंगे और खाने-पीने के लिए फल आदि लेने को रात्रि के समय निकलेंगे,'— इस प्रकार के विचार से वे हमें ढूँढ़ने के लिए वनों, पर्वतों और गुफाओं में भटकते रहेंगे। हमारा निवास किसी नगर में होने का तो वे अनुमान ही नहीं कर सकेंगे। हमें अपने नाम और रूप में परिवर्तन करना होगा। शक्ति का गोपन और कषाय का शमन करना होगा।"

"हम मत्स्य-देश के विराट नगर चलेंगे और अपनी सैनिक विशेषता को छोड़ कर अन्य विशेष योग्यता के कार्यों का परिचय दे कर राज्य में स्थान प्राप्त करेंगे। हमें राजा और राज्याधिकारियों की मनोवृत्ति समझ कर उनके अनुकूल रहना और व्यवहार करना होगा। आवेश की झलक भी नहीं आने पावे, इसकी पूरी सतर्कता रखनी होगी। यह एक वर्ष, गत बारह वर्ष से भी अधिक कठिन रहेगा। यदि हमने अपनी समस्त वृत्तियों को धर्म के अवलम्बन से अंकुश में रखा, तो निश्चय ही सफल होंगे। अब अज्ञात-वास में अपने नये नाम और काम बतलाता हूँ।

(१) मैं 'कंक' नाम का पुरोहित बन कर विराट नरेश के समक्ष जाऊँगा और परामर्शक (सलाहकार) के रूप में अपना परिचय दूंगा।
(२) भीम का नाम 'वल्लव' होगा और यह एक निष्णात रसोइया बनेगा।
(३) अर्जुन का नाम 'बृहन्नट' (बृहन्नला) होगा और इसे संगीतज्ञ बनना होगा, साथ ही अपने को षंड (नपुंसक) प्रसिद्ध करना होगा, जिससे अन्तःपुर में रह सके और द्रौपदी की रक्षा कर सके।
(४) नकुल का नाम 'तुरंगपाल' होगा। यह अश्व-परीक्षक बनेगा।
(५) सहदेव का नाम 'ग्रंथिक' होगा, यह गोपाल होगा।
(६) द्रौपदी का नाम 'सैरंध्री' और काम होगा महारानी की सेविका का।
(७) मातेश्वरी को हम नगर के किसी भाग के एक घर में रखेंगे। ये स्वतन्त्र

के रूप और वेशभूषा भी विभिन्न प्रकार की होगी।"

युधिष्ठिरजी की योजना सभी ने स्वीकार की। वे मत्स्य-देश के विराट नगर में पहुँचे। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र नगर के बाहर एक गुप्त स्थान में छिपा दिये। सर्वप्रथम युधिष्ठिरजी, ब्राह्मण के वेश में राजा विराट के समक्ष पहुँचे। लम्बी शिखा, भव्य ललाट, उन्नत मस्तक, प्रशान्त एवं तेजस्वी मुख-मण्डल और आकर्षक व्यक्तित्व। राजा को गुरु-गंभीर वाणी में आशीर्वाद दे कर कहा--

"राजेन्द्र! मैं हस्तिनापुर का राजपुरोहित हूँ। मेरा नाम "कंक" है। महाराजा युधिष्ठिरजी के वन-गमन के समय में भी राज-सेवा छोड़ कर निकल गया। मैं श्रीमान् की न्यायपूर्ण और सत्याश्रित राजनीति की प्रशंसा सुन कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। चाहता हूँ कि यह जीवन श्रीमन्त की सेवा में लगा दूं। मैं हस्तिनापुर में महाराजा का परामर्शक था। यदि श्रीमान् का अनुग्रह हो जाय तो धन्य हो जाऊँ।"

युधिष्ठिरजी के व्यक्तित्व दर्शन से ही राजा प्रभावित हो गया। उसने उसी समय उन्हें अपनी सभा का सभासद और अपना विशेष परामर्शक (सलाहकार) नियुक्त कर दिया। थोड़ी देर बाद भीमसेन आया। उसके हाथ में एक बड़ा-सा कलछा (कड़छा—चमच) था। उसने आते ही नरेश को अभिवादन किया और बोला—"महाराज! मैं रसोइया हूँ। महाराजाधिराज युधिष्ठिरजी के शासनकाल में मैं हस्तिनापुर राज्य के विशाल भोजनालय के सैकड़ों रसोइयों का अधिकारी था। महाराज बड़े गुणज्ञ एवं कला-मर्मज्ञ थे। उनके राज्य-त्याग को मैं भी सहन नहीं कर सका और किसी वैसे ही स्वामी की सेवा प्राप्त करने के लिए भटकता रहा। अब तक मुझे वैसा कोई पारखी नहीं मिला। श्रीमन्त की यशोगाथा सुन कर मैं श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूँ। श्रीमन्त के दर्शन से ही मुझे विश्वास हो गया कि यहाँ मेरी कला का आदर होगा।"

राजा को भीम का प्रचण्ड शरीर और पुष्ट एवं सुदृढ़ बाहु देख कर आश्चर्य हुआ। वह बोला—

"तुम तो अतुल बलवान् और महान् योद्धा दिखाई दे रहे हो। हो सकता है कि तुम पाक-कला में भी प्रवीण हो। तुम्हारे जैसे वीर तो राज्य के बड़े सहायक एवं रक्षक हो सकते हैं। मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हे भोजनशाला का उच्चाधिकारी नियुक्त करता हूँ।"

एकाध दिन के अन्तर से अर्जुन भी एक स्त्रीवेशी पुरुष के रूप में आया और नपुंसक जैसी चेष्टा करता हुआ महाराज को प्रणाम कर के बोला—

"महाराज ! इस दुष्ट लम्पट से मेरी रक्षा कीजिए। मैं आपकी शरण में हूँ। यदि मेरे गन्धर्व पति यहां उपस्थित होते, तो इस दुष्ट का जीवन ही समाप्त हो जाता। मेरे पति अदृश्य रहते हुए मेरी रक्षा करते हैं। कदाचित् अभी वे कहीं चले गये हों। इसीलिए मैं आपकी शरण में आई हूँ।"

विराट नरेश न्यायी थे, किन्तु कीचक के प्रभाव से दबे होने के कारण वे मौन रहे। कीचक की दुष्टता भीमसेन ने सुनी, तो वह आवेशित होकर राजसभा में पहुँचा और कीचक पर झपटने ही वाला था कि पुरोहित बन कर बैठे हुए युधिष्ठिर के संकेत से सँभल गया और अपने को रोक लिया। राजपुरोहित बने हुए और "कंक" नाम से विख्यात युधिष्ठिरजी ने द्रौपदी से कहा;—

—"भद्रे ! यदि तेरा कहना सत्य है और तेरे पति प्रच्छन्न रह कर तेरी रक्षा करते हैं, तो तू उन्हें कह कर दुष्ट को उसकी दुष्टता का दण्ड दिलवा सकती है। तुझे घबड़ाना नहीं चाहिए।"

द्रौपदी समझ गई और सभा से चली गई। रात को सैरंध्री छुप कर भोजनशाला में गई। भीमसेन निद्रामग्न था। द्रौपदी ने उसे जगाया और उपालंभ देती हुई बोली;—

"आप में कुछ सत्वांश शेष रहा या सभी नष्ट हो चुका ? आपके देखते हुए एक लम्पट पुरुष आपकी अर्धांगना को प्राप्त करने के लिए आक्रमण करे और आप कायर के समान चुपचाप देखते रहें, यह कितनी लज्जा की बात है ? मुझे स्वप्न में भी यह आशंका नहीं थी कि आप जैसे पाँच वीर पति की पत्नी हो कर भी मैं अरक्षित रहूँगी। कहाँ लुप्त हो गई थी आपकी वह वीरता ? कहाँ भाग गया था वह शौर्य ? खड़े-खड़े एक मूर्ति की भाँति क्यों देखते रहे—मेरा अपमान ?

"देवी ! तुम्हारा उपालम्भ और भर्त्सना यथार्थ है। हम पांच योद्धाओं के होते हुए

बड़ा था और राजा के राजकाज में सहायक था। राजा, कीचक की बुद्धि और कार्य-कुशलता से प्रभावित था। कीचक के भाई विराट नरेश की सौजन्यता का अनुचित लाभ ले कर नागरिकजनों पर अत्याचार करते थे। जनता उनके अत्याचार से पीड़ित थी। महाराज के कानों तक यह बात पहुँच चुकी थी, किन्तु वे उपेक्षा कर रहे थे। कीचक की दृष्टि द्रौपदी पर पड़ी और वह उसके रूप पर मोहित हो गया। उसने द्रौपदी को अपनी ओर आकर्षित करने की बहुत चेष्टा की। किन्तु द्रौपदी उससे उदासीन ही नहीं, विमुख रही। कीचक द्रौपदी को पाने के उपाय सोचने लगा। उसने अन्त:पुर की एक दासी को द्रौपदी को प्राप्त कराने का कार्य सौंपा। दासी ने द्रौपदी के पास पहुँच कर उसके रूप-सौंदर्य की सर्वत्र होती हुई प्रशसा की चर्चा करती हुई उसे प्रसन्न करने की चेष्टा की, और फिर कीचक के रूप-यौवन, बल और रसिकता की प्रशंसा करती हुई उससे एक बार मिलने का आग्रह किया। द्रौपदी का क्रोध भड़क उठा। एक स्त्री ही उसे दुराचार में घसीटने की चेष्टा करे, यह उसे सहन नहीं हुआ। उसने उस कुटनी को फटकारते हुए कहा—

"दुष्टा! तू स्त्री-जाति का कलंक है। तेरे स्पर्श से वायु भी दूषित हो जाती है। तेरा जीवन ही धिक्कार है। याद रख, तू और तेरा वह रसिक लम्पट, मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। मेरे गन्धर्व पति, गुप्त रह कर मेरी रक्षा करते हैं। यदि किसी ने मेरे साथ बलात्कार की चेष्टा की, तो उसका जीवन समाप्त हो जायगा। तू अपने उस लम्पट से कह देना कि भूल कर भी दु:साहस नहीं करे और तू भी मुझसे दूर ही रहना।"

द्रौपदी का क्रोध में तमतमाया हुआ दीप्तिमान तथा राजतेज युक्त श्रीमुख देख कर दासी सहमगई। उसे लगा कि इस दासी के सामने तो राजमहिषी भी दासी के समान लगती है। वह वहाँ से हट गई और कीचक को असफलता का परिणाम सुना कर निराश कर गई। किन्तु कीचक की कुबुद्धि ने जोर लगा कर पुनः उत्साहित किया है। उसने सोचा—'दासी के द्वारा आकर्षित करने से प्रच्छन्नता नहीं रहती। यदि दासी कहीं बात कर दे, तो निन्दा होने का भय रहता है और इससे सेवा से पृथक् भी की जा सकती है। कदाचित् इस भय से सैरंध्री, दासी पर क्रुद्ध हुई हो। अब मुझे स्वयं एकांत में उसे पकड़ कर अपना मनोरथ पूर्ण करना ठीक रहेगा।"

दूसरे ही दिन कीचक ने द्रौपदी को एकान्त में देखा और उसकी दुर्वासना भड़की। वह द्रौपदी के सामने पहुँचा और उसे पकड़ने का प्रयत्न करने लगा। द्रौपदी उससे बच कर राजसभा की ओर भागी और राजा से रक्षा करने की प्रार्थना की। उसने कहा—

"महाराज ! इस दुष्ट लम्पट से मेरी रक्षा कीजिए। मैं आपकी शरण में हूँ। यदि मेरे गन्धर्व पति यहां उपस्थित होते, तो इस दुष्ट का जीवन ही समाप्त हो जाता। मेरे पति अदृश्य रहते हुए मेरी रक्षा करते हैं। कदाचित् अभी वे कहीं चले गये हों। इसीलिए मैं आपकी शरण में आई हूँ।"

विराट नरेश न्यायी थे, किन्तु कीचक के प्रभाव से दबे होने के कारण वे मौन रहे। कीचक की दुष्टता भीमसेन ने सुनी, तो वह आवेशित होकर राजसभा में पहुँचा और कीचक पर झपटने ही वाला था कि पुरोहित बन कर बैठे हुए युधिष्ठिर के संकेत से सँभल गया और अपने को रोक लिया। राजपुरोहित बने हुए और "कंक" नाम से विख्यात युधिष्ठिरजी ने द्रौपदी से कहा;—

—"भद्रे ! यदि तेरा कहना सत्य है और तेरे पति प्रच्छन्न रह कर तेरी रक्षा करते हैं, तो तू उन्हें कह कर दुष्ट को उसकी दुष्टता का दण्ड दिलवा सकती है। तुझे घबड़ाना नहीं चाहिए।"

द्रौपदी समझ गई और सभा से चली गई। रात को सैरंध्री छुप कर भोजनशाला में गई। भीमसेन निद्रामग्न था। द्रौपदी ने उसे जगाया और उपालंभ देती हुई बोली;—

"आप में कुछ सत्वांश शेष रहा या सभी नष्ट हो चुका ? आपके देखते हुए एक लम्पट पुरुष आपकी अर्धांगना को प्राप्त करने के लिए आक्रमण करे और आप कायर के समान चुपचाप देखते रहें, यह कितनी लज्जा की बात है ? मुझे स्वप्न में भी यह आशंका नहीं थी कि आप जैसे पांच वीर पति की पत्नी हो कर भी मैं अरक्षित रहूँगी। कहाँ लुप्त हो गई थी आपकी वह वीरता ? कहाँ भाग गया था वह शौर्य ? खड़े-खड़े एक मूर्ति की भाँति क्यों देखते रहे—मेरा अपमान ?

"देवी ! तुम्हारा उपालम्भ और भर्त्सना यथार्थ है। हम पाँच योद्धाओं के होते हुए और हमारे देखते हुए तथा तुम्हारा महान् अपमान होते हुए भी हम निष्प्राण शव की भांति कुछ भी नहीं कर सके, एक बार नहीं, दो-दो बार, भरी सभा में। एक हस्तिनापुर में दुःशासन द्वारा और दूसरा यहां। मैं कीचक का कचूमर बनाने को तत्पर हुआ ही था कि ज्येष्ठ-बन्धु धर्मराजजी ने आँख से संकेत कर के मुझे रोक दिया। उनके कथन का आशय कीचक को गुप्त रीति से दण्ड देने का है। तुम्हें जो परामर्श उन्होंने सभा में दिया, उसका यही आशय है। अब तुम कीचक को आकर्षित करो और उसे मध्य-रात्रि में नाटचशाला में आने का कहो। इसके बाद तुम्हारा वेश मुझे दे देना और निश्चिन्त हो जाना। मैं तुम्हारा वेश धारण कर के कीचक का कीचड़ बना दूंगा। तुम कल ही उसे

मोहित कर के नाटचगृह में भेजो। उस दुष्ट को करणी का फल मिल जायगा।"

द्रौपदी संतुष्ट हो कर लौटी। दूसरे दिन द्रौपदी चाह कर कीचक के दृष्टिपथ में आई और उसके सामने स्मित एवं कटाक्षपूर्वक देखा। कीचक के लिए इतना ही पर्याप्त था। वह उत्साहपूर्वक दौपदी के पीछे चला। एकान्त पा कर दौपदी ने कहा—"यदि मुझे प्राप्त करना है तो आधी रात के समय नाटचगृह में आओ। मैं वहाँ तुम्हें देख कर उठ जाउँगी और एकान्त स्थान पर चल देंगे।" इतना कह कर द्रौपदी चल दी। उसके मुख से ये शब्द सरलता से नहीं निकल सके और न वह कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन ही कर सकी। वास्तव में सतियों के लिए प्रेम का वाह्य-प्रदर्शन भी अत्यन्त कठिन होता है। कीचक को द्रौपदी की बात अमृत जैसी मधुर और स्वर्ग का राज्य पाने जैसी उल्लासोत्पादक लगी। वह उसी समय से मन के मोदक बनाता और मन-ही-मन प्रसन्न होता हुआ रात की तैयारी करने लगा। उसके लिए घड़ियाँ भी वर्ष के समान बितने लगी। आधी रात के समय कीचक नाटचशाला में पहुँचा। भीम स्त्री वेश में वहाँ पहले से ही उपस्थित था। कीचक को देखते ही वह उठा और पूर्व ही देख कर निश्चित् किये हुए शून्य स्थान की ओर चला। कीचक उसके पीछे लगा। यथास्थान पहुँच कर भीम ने कीचक को बाहों में लिया और इस प्रकार भींचा कि उसकी हड्डियों तक का कचूमर बन गया और प्राण निकल गए। उसे वहीं पटक कर भीम पुनः वेश पलट कर अपने स्थान पर आ कर सो गया। प्रातःकाल कीचक का शव देख कर हाहाकार मच गया। अन्तःपुर में कुहराम छा गया। महारानी का वह भाई था। कीचक के सभी भाई क्रुद्ध हो कर घातक से वैर लेने को तत्पर हो गए। बहुत खोज करने पर भी घातक का पता नहीं लग सका। क्रुद्ध भाइयों ने कीचक की हत्या का कारण सैरंध्री को माना और उसे भाई के साथ जीवित जलाने के लिए पकड़ कर शव-यात्रा के साथ श्मशान ले चले। द्रौपदी रोती-चिल्लाती रही और महाराजा देखते रहे, पर न्याय करने का साहस नहीं हुआ। जब भीमसेन ने यह सुना तो वह दौड़ता हुआ आया। शव-यात्रा नगर से निकल कर वन में चल रही थी। भीमसेन ने आगे बढ़ कर रोक लगाई और दहाड़ते हुए पूछा—"इस स्त्री के सिर, हत्या प्रमाणित हो गई है क्या?"

--"चल हट रास्ते से। बड़ा आया है पूछने वाला"—कीचक का भाई बोला।

--"यदि अपराध प्रमाणित नहीं हुआ, तो इसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। छोड़ो इसे"—भीम ने रोषपूर्वक कहा--"एक निर्दोष और सती-महिला का शील-भंग करने वाले अधमाधम को दण्ड देने के बदले तुम निरपराध महिला को उस लम्पट के साथ जीवित जलाने ले जा रहे हो? इस धर्मराज में ऐसा घोर अन्याय कर के महाराजाधिराज

के शासन को कलंकित होते मैं नहीं देख सकता। छोड़ो इसे। अन्यथा तुम सभी की शव-यात्रा इस कीचक के साथ ही निकलेगी।"

कीचक के भाई भीमसेन पर झपटे। निकट के एक वृक्ष को उखाड़ कर भीम, कीचक-बन्धुओं को मारने लगा। कुछ मरे और कुछ घायल हो कर भाग निकले। द्रौपदी मुक्त हो कर अन्तःपुर में पहुँच गई। भीम भोजनशाला में आ पहुँचा।

जब महारानी ने सुना कि भोजनशाला के अध्यक्ष वल्लव ने कीचक-बन्धुओं में से कई को मार डाला और शेष को घायल कर दिया, तब वह महाराज के पास पहुँची और भाइयों का वैर, वल्लव से तत्काल लेने का आग्रह करने लगी। राजा ने रानी को समझाया कि—'अपराध तुम्हारे भाइयों का ही है। उन्हें दण्ड देना मेरा कर्त्तव्य था। मैंने तुम्हारे प्रेम के वशीभूत हो कर कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, तभी इतना अनर्थ हुआ। वल्लव ने तो एक निर्दोष सती की हत्या के पाप को रोकने का कार्य किया है। उसका साहस प्रशंसनीय है। वह राज्य का रक्षक है। उसका सम्मान होना चाहिए। फिर भी तुम्हारे स्नेह के कारण मैं हस्तिनापुर से आये हुए मल्लराज से उसे लड़ा कर उसका दमन कराऊँगा। तुम चिन्ता मत करो।"

हस्तिनापुर से "वृषकर्पर" नाम का एक मल्ल अपनी विजय-यात्रा करता हुआ और मार्ग के नगरों के मल्लों को पराजित कर के राज्य से विजय-पत्र प्राप्त करता हुआ विराट नगर में आया था और वहां के मल्लों से लड़ कर विजय प्राप्त कर चुका था। महाराजा ने वल्लव (भीमसेन) से कुश्ती लड़ने का आदेश दिया। दोनों का मल्ल-युद्ध हुआ और अन्त में वल्लव ने वृषकर्पर को मार कर विजयश्री प्राप्त की। वल्लव की विजय से विराट नरेश अत्यन्त प्रसन्न हुए और वल्लव को राज्य का महान् रक्षक मान कर आदर किया। राजा के समझाने से रानी भी संतुष्ठ हुई। नगरजन भी कीचक-बन्धुओं के विनाश से प्रसन्न हुए। क्योंकि उनके अत्याचार से नागरिकजन भी दुःखी थे।

गो-वर्ग पर डाका और पाण्डव-प्राकट्य

जब हस्तिनापुर का विश्वविजेता महान् मल्ल वृषकर्पर को भीमसेन ने पछाड़-मारा और यह बात दुर्योधन तक पहुँची, तो उसे निश्चय हो गया कि पाण्डव विराट नगर में ही हैं। पाण्डव-प्रकाश के अनेक उपायों में से एक यह भी था। वह जानता था कि मल्ल-

राज वृषकर्पर की गर्वोक्ति, भीम सहन नहीं कर सकेगा और इससे वह जहाँ भी होगा प्रकट हो जायगा। दुर्योधन ने तत्काल एक योजना बनाई और कार्य प्रारम्भ किया। उसने विराट-नगर के निकट के राजा सुशर्मा को सेना ले कर भेजा और विराट-राज के दक्षिण के वन में रहे हुए विशाल गोधन को लुटवाया। सुशर्मा ने बाण मार कर ग्वालों को भगा दिया और सभी गायों को अपने अधिकार में कर के ले चला। ग्वाले भागते हुए राजा के निकट आए और गो-वर्ग लूट जाने की पुकार मचाई। राजा तत्काल सेना ले कर चढ़-दौड़ा। राजा के साथ, अर्जुन के अतिरिक्त चारों पाण्डव अपने छुपाये हुए शस्त्र ले कर गये। अर्जुन अन्तःपुर में था और पुरुषत्वहीन के रूप में प्रसिद्ध था। इसलिये उसके जाने का अवसर ही नहीं था। दोनों ओर की सेना में युद्ध छिड़ गया और बढ़ते-बढ़ते उग्रतम स्थिति पर पहुँचा। सुशर्मा की सेना के पाँव उखड़ गए। वह पीछे हटने लगी। अपनी सेना का साहस गिरता हुआ देख कर सुशर्मा आगे आया। जब उसकी भीषण बाण-वर्षा से विराट-सेना आहत एवं क्षुब्ध हो कर भागने लगी, तब विराट नरेश सुशर्मा के सम्मुख आ कर लड़ने लगे। दोनों वीर बड़ी देर तक लड़ते रहे, परन्तु किसी को भी विजयश्री प्राप्त नहीं हुई। उनके अस्त्र चुक गए, तो वे रथ से उतर कर मल्लयुद्ध करने लगे। अन्त में सुशर्मा ने विराट नरेश के मर्मस्थान में प्रहार कर उन्हें गिरा दिया और वन्दी बना कर अपने रथ में डाल दिया। विराट को बन्दी बना देख कर युधिष्ठिर ने भीम को आदेश दिया—"वत्स ! जाओ, विराट नरेश को मुक्त कराओ। हम इनके आश्रित हैं। हमारे होते इनका अनिष्ट नहीं होना चाहिए।"

भीमसेन, नकुल और सहदेव के साथ शस्त्र ले कर सुशर्मा को ललकारते हुए आगे बढ़े। उसका प्रचण्ड रूप देखते ही सुशर्मा की विजयघोष करने वाली सेना डरी और इधर-उधर हट गई। भीमसेन ने अपनी गदा का प्रथम प्रहार शत्रु के रथ पर किया। रथ टूट कर बिखर गया। फिर सुशर्मा से लड़ कर थोड़ी ही देर में घायल कर दिया। सुशर्मा भीम से भयभीत हो कर भाग खड़ा हुआ। विराट नरेश को बन्धनमुक्त और अपने उपकार के पाश में आबद्ध कर के भीमसेन ने गो-वर्ग को लौटाया। विराट नरेश बन्दी बन कर सर्वथा निराश हो चुके थे। उन्हें बन्धन से मुक्त होने की आशा ही नहीं रही थी। वे मृत्यु की कामना कर रहे थे। ऐसे समय में अपने को मुक्त कराने वाले के प्रति उनका कितना आदरभाव होगा ? मुक्त होते ही उन्होंने अपना राज्य इन उपकारियों को भेंट करने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु वे विराट नरेश के पुण्य-प्रभाव का गुणगान करते हुए उनका विजयघोष करते रहे। सेना विजयोल्लास में उल्लसित हो कर लौटी।

जब विराट नरेश सुशर्मा पर चढ़ाई करने चले गये और राजकुमार उत्तर कुछ सैनिकों के साथ राजधानी में रहा, तब उत्तर-दिशा का सीमा-रक्षक दौड़ता हुआ आया और बोला—

"हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ने विशाल सेना और कर्णादि योद्धाओं के साथ अपनी सीमा में प्रवेश किया है और गो-वर्ग को ले जा रहा है। इन दुष्टों से अपने गोधन और राज्य की रक्षा करो।"

राजकुमार उलझन में पड़ गया। उसके पास पूरी सेना भी नहीं थी। वह क्या करे? वह वीर था। अपने थोड़े-से सैनिकों को ले कर वह शत्रु का सामना करने को तैयार हुआ। अर्जुन समझ गया कि दुर्योधन की कूटनीति का रहस्य क्या है? उत्तरकुमार शस्त्र सज कर तैयार हो गया, किन्तु उसके पास कुशल रथ-चालक नहीं था। उसे वैसा सारथी चाहिए जो युद्ध की चाल के अनुसार रथ चलाता रहे। यह चिन्ता की बात थी। महारानी भी इस चिन्ता में डूबी हुई थी। उस समय सैरंध्री नाम की दासी के रूप में द्रौपदी ने महारानी और राजकुमार से कहा—"राजकुमारी का संगीत-शिक्षक बृहन्नट बहुत ही कुशल एवं अनुपम सारथि है। मैंने उसे पाण्डवों के राज्यकाल में रथ चलाते देखा है। आप उसे ले जाइए।"

सैरन्ध्री की बात महारानी और राजकुमार को सन्देहजनक लगी। "जो पुरुषत्व से हीन है, वह भीषण-युद्ध के समय साहस ही नहीं रख सकता और न टीक ही सकता है। उससे रथ कैसे चलाया जा सकता है?" फिर भी दूसरे के अभाव में सैरन्ध्री की बात मान कर बृहन्नट को रथ-चालक बनाया। बृहन्नट भी अपने शस्त्र ले कर रथ पर चढ़ बैठा और राजकुमार को ले कर युद्धभूमि में आया।

विराट नरेश ने युद्धभूमि से लौटते ही जब दुर्योधन के आक्रमण और युवराज के युद्ध में जाने की घटना सुनी, तो उसके हृदय को भारी आघात लगा। वह हताश हो कर बोला—"हा, दुर्दैव! कहाँ कौरवों की महासेना और कहाँ थोड़े-से सैनिकों के साथ मेरा प्यारा पुत्र? महा दावानल में वह एक पतंगे के समान है। हे प्रभो! अब क्या होगा?"

सैरंध्री ने बृहन्नट के शौर्य और वीरता की प्रशंसा की और राजा को निश्चिन्त रहने का निवेदन किया। किन्तु राजा को विश्वास नहीं हुआ। जब युधिष्ठिरजी ने आ कर विश्वास दिलाया कि—"महाराज! बृहन्नट साथ है तो वह एक ही उस महासेना के लिए पर्याप्त है, जैसा कि वल्लव है। आप मेरी बात पर विश्वास रखिये। युवराज को किसी

प्रकार की हानि नहीं होगी और वे विजयी हो कर लौटेंगे।"

पुरोहित के शब्दों ने राजा की चिन्ता मिटा दी। उन्हें सन्तोष हुआ और घबड़ाहट मिटी।

उधर रणभूमि में दुर्योधन, कर्ण, द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह आदि महान् योद्धाओं और विशाल सेना को देख कर उत्तरकुमार का साहस समाप्त हो गया। उसने सारथि से कहा; —

"रथ मोड़ो। इस महासागर में हम एक बिन्दु भी नहीं हैं। हमारे विनाश के सिवाय दूसरा कोई परिणाम नहीं हो सकता। चलो लौटो।"

—"नहीं युवराज! क्षत्रिय हो कर मृत्यु से डरते हो? अपमानित जीवन ले कर कौनसा सुख पा सकोगे? मरना तो कभी-न-कभी होगा ही, फिर कायरता का कलंक और कुल को कालिमा लगा कर मरना कैसे सह सकोगे? अच्छा, तुम रास थाम कर सारथि बनो। मैं युद्ध करता हूँ।"

कुमार सारथि बना और बृहन्नट स्त्रीवेश छोड़ कर युद्ध करने लगा। उसके युद्ध-पराक्रम को देख कर कुमार आश्चर्य करने लगा। वह सोचता—'यह कोई विद्याधर है, देव है, या इन्द्र है? बड़ी भारी सेना को तृणवत् गिन कर सब को रौंदने वाला यह कोई साधारण मनुष्य या नपुंसक कदापि नहीं हो सकता। उसके गाण्डीव धनुष की टंकार सुन कर द्रोणाचार्य और भीष्म-पितामह आदि कहने लगे—'यह तो अर्जुन ही होना चाहिए। अर्जुन के अतिरिक्त इतना दुर्द्धर्ष साहस एवं वीरता अन्य किसी में नहीं हो सकती।'

धनुष की टंकार और ये शब्द सुन कर युवराज में साहस बढ़ा। वह रथ को अर्जुन की इच्छा एवं आवश्यकतानुसार चलाने लगा। रथ जिधर और जिस ओर जाता, उधर आतंक छा जाता और सेना भाग जाती। बड़े-बड़े योद्धा भी काँप उठते। अर्जुन की मार का अर्थ वे प्रलय की आँधी और विनाशकारी विप्लव लगाते। अर्जुन की भीषण मार को द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह जैसे महावीर भी नहीं सह सके और अग्रभाग से हट गये, तो दूसरों का कहना ही क्या है? दुर्योधन ने कर्ण को अर्जुन से लड़ने के लिए छोड़ कर, स्वयं सेना के साथ गायों का झुण्ड ले कर चलता बना।

कर्ण और अर्जुन का युद्ध बहुत समय तक चला। दोनों वीर अपनी पूरी शक्ति से लड़ते रहे। कर्ण के सारथि ने कर्ण से कहा—"दुर्योधन गो-वर्ग ले कर चला गया है। अब युद्ध करने का कारण नहीं रहा। अतः अब हमें भी लौट जाना चाहिए।" किन्तु कर्ण नहीं माना। अर्जुन की मार बढ़ती गई। अन्त में घायल सारथि ने अकुला कर रथ मोड़ा और

कर्ण को ले कर युद्धस्थल से निकल गया। अब अर्जुन ने युवराज से कहा—"दुर्योधन गायें ले कर चला गया है। अतः रथ को उसके पीछे लगाओ और वेगपूर्वक चलो।" थोड़ी ही देर में दुर्योधन के निकट जा कर अर्जुन ने ललकारा। युद्ध जमा। अर्जुन के मन में दुर्योधन को मारने की इच्छा नहीं थी। इसलिए उसने प्रस्वापन विद्या का स्मरण कर बाणवर्षा की, जिससे सारी सेना और दुर्योधन के हाथ से शस्त्र गिर गए और वे सब निद्राधीन हो गए। अर्जुन ने गो-वर्ग को स्वस्थान की ओर मोड़ा और सभी गायें भाग कर स्वस्थान पहुँच गई। अर्जुन और राजकुमार भी राजधानी लौट आए। अर्जुन तो पुनः स्त्रीवेश धारण कर अन्तःपुर में चला गया और युवराज राजा के पास पहुँचा। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और हर्षावेग कम होने पर पूछा;—"पुत्र! मैं तो हताश हो गया था। मुझे तुम्हारे सकुशल लौटने की किंचित् भी आशा नहीं थी। यह कोई दैविक-चमत्कार ही है। अन्यथा कौरव-बल रूपी महासागर में तुम एक तिनके के समान थे। कहो, तुम किस प्रकार विजयी बने?"

"पिताश्री! मैं क्या कहूँ। मैं तो उस महासागर को देख कर डर गया था और लौटना चाहता था, किन्तु मेरे सारथि बने हुए बृहन्नट ने मुझे फटकारा और स्वयं ने स्त्री-वेश उतार कर शस्त्र उठाये। मैं सारथि बना और वह महापुरुष युद्ध करने को तत्पर हुआ। उसके धनुष की टंकार से ही बड़े-बड़े वीरों के हृदय दहल गए। उनका उत्साह मारा गया और आगे खड़े हुए द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह आदि के मुँह से उद्गार निकले कि—"यह तो अर्जुन है।" वे आगे से हट कर एक ओर खड़े हो गए। इस वीर के युद्ध-कौशल को मैं कैसे बताऊँ? मैं उसका सर-संधान ही देख सका और बाण-वर्षा से छाई हुई घटा तथा शत्रुओं के शरीर से रक्त के निकलते हुए झरनों को देख सका। परन्तु बाण छोड़ना और पुनः बाण ग्रहण करना नहीं देख सका। पिताजी! वह वीरवर पाण्डु-कुल तिलक अर्जुनदेव ही होगा और किसी कारण अपने को गुप्त रख कर हमारे यहाँ रहता है। उसने अपने को छुपाये रखने के लिए मुझसे कहा है कि—'महाराज या किसी के भी सामने मेरा नाम नहीं लेना और अपना ही युद्ध-पराक्रम बतलाना।' किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सका और आपको सच्ची बात बता दी। वह महापुरुष तो हमारे लिए देव के समान पूज्य है। उसने हमारे गौरव और जीवन की रक्षा की है। हमें तो यह सारा राज्य ही उसको अर्पण कर देना चाहिए।"

"पुत्र! मैं तो पराजित हो कर बन्दी बन चुका था। यदि अपना प्रधान रसोइया

वल्लव नहीं होता, तो मैं भी नहीं होता। वास्तव में ये लोग हमारे सेवक नहीं, स्वामी हैं। हमें इनकी पूजा कर के इनके चरणों में राज्य सहित अपने को अर्पण कर देना चाहिए।"

विराट द्वारा पाण्डवों का अभिनन्दन

राजा ने बृहन्नट को अन्त:पुर से बुलवाया। वह उसी स्त्री-वेश में राजा के निकट आया। राजा उसके चरणों में गिर पड़ा और आग्रहपूर्वक बोला—"देव ! अब इस छद्म-वेश को उतार फेंकिये और सिंहासन पर विराज कर राज्याभिषेक करवाइये।"

अर्जुन ने कठिनाई से राजा से अपने पाँव छुड़ाये और कहा—"आपके राजपुरोहित कंकदेव को बुलाइये। वे हमारे अग्रगण्य एवं पूज्य हैं।" युधिष्ठिरादि चारों बन्धु आये। राजा ने उन सब को उच्चासन पर बिठा कर सत्कार किया और राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगा। युधिष्ठिरजी ने कहा—

"महाराज ! आप स्वामी हैं। अपनी शक्ति के अनुसार आपकी प्रत्येक प्रकार से सेवा करना हमारा कर्त्तव्य था। हम अपने समक्ष आपका अनिष्ट नहीं देख सकते थे। हमने जो कुछ किया, अपना कर्त्तव्य समझ कर किया है। हमें अपना एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत करने के लिए आपका आश्रय लेना पड़ा। आपके आश्रय में हमारा एक वर्ष व्यतीत हो चुका है। अब हमें प्रकट होने में कोई बाधा नहीं रही। हम पाँचों भाई हस्तिनापुर नरेश महाराजाधिराज पाण्डु के पुत्र हैं। जुआ में राज्य हार कर बारह वर्ष वनवास रहे और एक वर्ष अज्ञातवास का यहाँ व्यतीत किया। अब हम पुनः हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। आपके अन्त:पुर में सैरन्ध्री नामकी दासी है, वह हमारी पत्नी द्रौपदी है। हमारी मातेश्वरी नगर के एक घर में रह रही है। हम सब आपके आभारी हैं कि आपके आश्रय से हमारा विपत्तिकाल टल गया। आपके राज्य की हमें आवश्यकता नहीं है। आप न्याय-नीतिपूर्वक अपना राज्य चलाते रहें।"

विराट नरेश ने पाण्डवों का अपूर्व सम्मान किया। उन्हें दासता से मुक्त ही नहीं किया, वरन् स्वामी के रूप में और स्वयं को उनका सेवक बताते हुए उन्हें राज्यभर के परमादरणीय परम-रक्षक घोषित किया और अब वे राज्य के परम मान्य अतिथि बन चुके थे। द्रौपदी अब सेविका नहीं रही। महारानी स्वयं उसकी सेवा करने लगी। कुन्ती माता भी सम्मानपूर्वक राज-प्रासाद में लाई गई और सर्वत्र हर्ष छा गया।

अभिमन्यु-उत्तरा परिणय

विराट नरेश पर पाण्डवों के महान् उपकार का भारी भार लदा हुआ था। वे इस उपकार से कुछ अंशों में भी उऋण होना चाहते थे। उन्होंने युधिष्ठिरजी से कहा—

"मेरी प्रिय पुत्री उत्तरा को अर्जुनजी ने संगीत की शिक्षा दी है। कृपया मेरी पुत्री अर्जुनजी के लिए स्वीकार करें, तो मैं अपने को कुछ अंशों में उपकृत मानूंगा।"

—"राजन् ! उत्तरा तो मेरी शिष्या हो चुकी है। मैंने उसे शिक्षा दी है। अतएव पुत्री-तुल्य शिष्या से विवाह मैं नहीं कर सकता। यदि आपको देना ही है, तो मेरे पुत्र और सुभद्रा के आत्मज 'अभिमन्यु' को दीजिये"—अर्जुन ने कहा।

अर्जुन की बात विराट नरेश को स्वीकार हो गई और युधिष्ठिरजी आदि बन्धुओं की भी सम्मति प्राप्त हो गई।

अभिमन्यु का विवाह राजकुमारी उत्तरा के साथ होना निश्चत्त हो गया। युधिष्ठिरजी ने एक विश्वस्त दूत द्वारिका भेजा और सुभद्रा तथा अभिमन्यु को बुलाया, साथ ही श्रीकृष्ण को भी सपरिवार निमन्त्रित किया। श्रीकृष्णादि सभी विराटनगर आये। उनका पाण्डव-परिवार से बहुत लम्बे काल के बाद हुआ मिलन, अत्यन्त प्रेमपूर्वक तथा अवर्णनीय था। शुभ मुहूर्त में उत्तरा के साथ अभिमन्यु का लग्न, बड़े समारोहपूर्वक हुआ। लग्न के बाद भी पाण्डव-परिवार और श्रीकृष्ण बहुत दिनों तक विराट नरेश के आग्रह पर, वहीं रह कर आतिथ्य ग्रहण करते रहे। श्रीकृष्ण के आग्रह पर पाण्डव-परिवार द्वारिका आया। दशार्हों ने बहिन कुन्ती का स्वागत किया। वे सभी सुखपूर्वक रहने लगे।

पति को वश करने की कला

एक समय सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—

"सखी ! मैं तो अपने एक पति को भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं रख सकती, तब तुम पाँच पति को संतुष्ट किस प्रकार कर सकती हो ? विभिन्न प्रकृति के पुरुषों को प्रसन्न एवं संतुष्ट रखना कितना कठिन पड़ता होगा ?"

"सखी ! मुझे मेरी माता ने, पति को वश करने का मन्त्र दिया था। तदनुसार मैं साधना करती रही और इससे मेरे पाँचों पति मेरे वश में हैं। मैं सदैव मन, वचन और काया से पति के अनुकूल रहती हूँ। मैं उनका समान रूप से, बिना किसी भेद-भाव के आदर-सत्कार करती हूँ और उनकी इच्छा के अनुसार व्यवहार करती हूँ। मैं अपने को

उनमें ही समाविष्ट कर उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखती हूँ। उनके सुख में अपना सुख और उनके दुःख में स्वयं दुःख का वेदन करती हूँ। उन्हें भोजन कराने के बाद खाती हूँ। उन्हें शयन कराने के बाद सोती हूँ और उनके जागने के पहले ही शय्या छोड़ देती हूँ। मैं उन्हें असंतोष का कोई कारण नहीं देती। संक्षेप में यही कि मेरी ओर से ऐसा कोई व्यवहार नहीं होने देती, जिससे उनमें से किसी एक के भी मन में भेदभाव का सन्देह उत्पन्न हो। इस प्रकार के आचरण से सभी संतुष्ट और मुझ में अनुरक्त रहते हैं। पति के सर्वथा अनुकूल बन जाना ही वशीकरण का अमोघ उपाय है"—द्रौपदी ने कहा।

—"तुम्हारी साधना सचमुच कठोर है। अपने-आपको सर्वथा गौण कर लेना अति कठिन है"—सत्यभामा ने कहा।

दशार्ह-ज्येष्ठ श्री समुद्रविजयजी ने अपनी बहिन कुन्ती से कहा—"अर्जुन को तो हमने सुभद्रा पहले ही दे दी थी, परन्तु अब शेष चारों बन्धुओं को—लक्ष्मीवती, वेगवती, विजया और रति को देना चाहते हैं।" कुन्ती ने स्वीकार किया और चारों के लग्न हो गए।

दुर्योधन को सन्देश

पाण्डव-परिवार द्वारिका में सुखपूर्वक रह रहा था। युधिष्ठिरजी भी सन्तोषपूर्वक काल व्यतीत कर रहे थे, किन्तु भीम और अर्जुन को सन्तोष नहीं था। उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रेरित किया। उन्होंने द्रुपद नरेश के पुरोहित को—जो अत्यन्त चतुर था—सन्देश ले कर हस्तिनापुर भेजा। दुर्योधन की सभा जुड़ी हुई थी। उस समय दूत ने उपस्थित हो कर महाराजा दुर्योधन का अभिवादन कर के कहा;—

"राजन्! आपके बन्धु पाँचों पाण्डव अभी द्वारिका में हैं और उन्होंने मेरे साथ आपको सन्देश भिजवाया है कि—हम बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात रह चुके और अपना वचन निभा चुके हैं। अब आपको हमें आमन्त्रित कर के अपने वचन का पालन करना चाहिए। न्याय-नीति, सदाचार एवं वचन का पालन करना तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, फिर आप तो न्याय-नीति एवं सदाचार का पालन ही नहीं, रक्षण भी करने वाले कुरुकुल-तिलक हैं। सभ्यता का सिद्धांत है कि छोटा भाई बड़े को आमन्त्रित कर के सम्मान करे। अब आपको इस शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए।"

दूत की बात सुन कर दुर्योधन तप्त हो गया। उसकी भृकुटी चढ़ गई, होंठ काँपने लगे, आँखें और चेहरा रक्तिम हो गया। वह रोषपूर्वक बोला—

"पुरोहित ! तू बड़ा वाचाल है। तुझे अपनी बात संक्षेप में ही कहनी थी। अपनी ओर से उपदेश दे कर नीति सिखाने की आवश्यकता नहीं थी। अब मेरा उत्तर सुन। तू मेरी ओर से उन्हें कहना कि—

"इस प्रकार भीख माँगने से राज्य नहीं मिलता और ऐसे भटकते-भिखारियों को राज दिया ही नहीं जा सकता। उनके लिए हस्तिनापुर राज्य से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। यदि उन्होंने किसी प्रकार का दुस्साहस किया, तो विना-मौत के मारे जावेंगे। मैं उन्हें कुचल दूंगा। उनके सहायक कृष्ण को भी मैं कुछ नहीं समझता। यदि वह भी अपनी बूआ और बहिनों के कारण उनका साथी बनेगा, तो इसका फल उसे भी भोगना पड़ेगा।"

दुर्योधन के वचन पुरोहित सहन नहीं कर सका। उसने कहा—

"राजन् ! विवेक मत छोड़ो। पाण्डव महान् हैं। न्याय-नीति और सत्य उनके जीवन में रग-रग में समाये हुए हैं। यद्यपि वे धोखा दे कर ठगे गए, तथापि अपने वचन पर दृढ़ रहे और राज्य छोड़ कर निकल गए। और एक आप हैं जो अपने दिये हुए वचन से फिर कर, कुरु-वंश को कलंकित कर रहे हैं। पाण्डवों के बल के सामने आप तुच्छ हैं और त्रि-खण्डाधिपति श्रीकृष्ण के प्रति आपकी क्षुद्र-भावना तो चिढ़े हुए बालक जैसी है। यह अपना सद्भाग्य समझो कि उन्होंने आपकी ओर वक्र-दृष्टि नहीं की। अन्यथा आपका इस प्रकार हस्तिनापुर के राज-सिंहासन पर बैठा रहना और जीवित बचना असंभव हो जाता। आप पाण्डवों के शौर्य और श्रीकृष्ण के पराक्रम को जानते हुए भी विवेकहीन हो कर बक रहे हैं। यह दुर्दैव का संकेत लगता है।"

—"बस कर, ऐ वाचाल दूत ! अपनी सीमा से बाहर क्यों जा रहा है। नीच, अधम ! मृत्यु का भय नहीं है, क्या तुझे ? प्रहरी ! निकालो, इस क्षुद्र वाचाल को।"

दूत को राजसभा से अपमानपूर्वक निकाल दिया गया। दूत से दुर्योधन का अभिप्राय जान कर श्रीकृष्ण ने कहा;—

"दुर्योधन वीर है, हठी है और स्वार्थी है। बिना युद्ध के राज्य देना वह कायरता मानता है। हठी मनुष्य टूट जाता है, परन्तु झुकता नहीं। अब वह शक्ति से ही झुकेगा, या टूट जायगा। अब आपको अपना कर्त्तव्य सोचना चाहिए।"

श्रीकृष्ण की बात सुन कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव उत्तेजित हो कर, युधिष्ठिरजी से युद्ध की तैयारी करने के लिए आज्ञा देने का आग्रह करने लगे।

युधिष्ठिरजी ने कहा—

"बन्धु-वध और नर-संहार करने के लिए मेरा मन तत्पर नहीं होता। युद्ध में लाखों-करोड़ों मनुष्यों का संहार हो जाता है। करोड़ों मनुष्य दुखी हो जाते हैं। रोग-शोक, विनाश, दुष्काल और महामारी के भयानक दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। युद्धजन्य क्षति वर्षों तक पूर्ण नहीं होती और सारा राष्ट्र दुखी हो जाता है। इतना सब होते हुए भी दुर्दैव से ऐसा होना अनिवार्य हो गया लगता है। अब मेरे नहीं चाहने पर टल नहीं सकता, तो मैं बाधक नहीं बनूंगा। तुम युद्ध की तैयारी करो। मैं भी तुम्हारे साथ हूँ।"

धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को सन्देश

पाण्डवों के दूत का आगमन और दुर्योधन के दुर्व्यवहार की बात, धृतराष्ट्र ने सुनी, तो चिन्ता-मग्न हो गया। वह पाण्डवों की शक्ति और न्यायपक्ष को जानता था। उसके मन में पुत्र के भावी अनिष्ट की आशंका बस गई। पुत्र को समझाना उसे व्यर्थ लगा। वह किसी की हितशिक्षा मानता ही नहीं था। अपने पुत्र को विनाश से बचाने का और कोई मार्ग धृतराष्ट्र को दिखाई नहीं दिया, तो उसने अपने विश्वस्त सारथि संजय को युधिष्ठिर के पास भेजा और कहलाया; —

"वत्स युधिष्ठिर ! तू धर्मात्मा और नीतिवान् है और दुर्योधन दुष्ट है। दुर्योधन के सामने मेरी कुछ भी नहीं चलती। वह मेरी बात नहीं मानता, कदाचित् उसका अनिष्ट अवश्यंभावी हो। मैं तुझसे इतनी ही अपेक्षा रखता हूँ कि अपने विवेक को जाग्रत रख कर बान्धव-विग्रह से बचने का प्रयत्न करना। विग्रह, विनाश का कारण होता है। मैं तुझसे इतनी ही अपेक्षा रखता हूँ।"

संजय के द्वारा धृतराष्ट्र का सन्देश सुन कर युधिष्ठिरजी बोले—

"आर्य संजय ! वृद्ध पिता को मेरा नमस्कार कर के निवेदन करना कि मेरा हृदय बान्धवों का विग्रह और वध से बचने में प्रयत्नशील रहता है। किन्तु दुर्योधन की नीति मेरा प्रयत्न निष्फल कर देगी। मैं अपनी ओर से शान्त रह कर, राज्य की मांग छोड़ सकता हूँ। किन्तु मेरे भीमसेन आदि बन्धु अब सहन नहीं कर के अपना पराक्रम प्रकट कर के रहेंगे। अब वे मेरे रोके नहीं रुक सकेंगे। फिर भी मैं उनसे एकबार पुनः विचार करूँगा और जो सर्वसम्मत निर्णय होगा, उसी के अनुसार कर्त्तव्य निर्धारित करूँगा।"

अपने ज्येष्ठ-बन्धु धर्मराज युधिष्ठिरजी की भावुकतापूर्ण नम्र बात, भीमसेन को रुचिकर नहीं लगी। वे तत्काल बोल उठे; —

"संजय ! हम दुर्योधन के साथ समझौता या सन्धि नहीं करेंगे। हमने उसके अत्याचार अत्यधिक सहन किये। उसके अपराधों और अपकारों की उपेक्षा कर के हमने विपत्ति में उसकी सहायता की और बचाया, फिर भी वह दुष्ट हमारे साथ शत्रुता का ही व्यवहार करता है। उसमें न नैतिकता है न कुलिनता। ऐसे अधर्मी के सामने झुकना या उपेक्षा कर के अनाचार को सफल होने देना, हमें स्वीकार नहीं है। हम उसकी युद्ध की इच्छा पूरी करने को तत्पर हैं। मुझे दुर्योधन की जंघा और दुःशासन की बांह तोड़ कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना तथा द्रौपदी के अपमान का बदला भी लेना ही है। अब यह युद्ध अनिवार्य बन गया है। अब बिना युद्ध के भी वह राज्य अर्पण करे, तो हमें स्वीकार नहीं होगा। हम अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का पालन करेंगे।"

अर्जुन, नकुल और सहदेव ने भी भीमसेन के विचारों का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। संजय यह सब सुन कर लौट गया। उसने पाण्डवों से हुई बात का विवरण धृतराष्ट्र को सुनाया। उस समय दुर्योधन भी वहाँ बैठा था। संजय की बात सुन कर दुर्योधन भड़का और चिल्लाता हुआ बोला; —

"संजय ! तुझे उन भिखारियों के पास सन्देश ले कर किसने भेजा था ? तू क्यों गया था वहाँ ? क्या तू भी उनसे मिल गया है ? याद रख, मेरा भी प्रण है कि मेरी तलवार उनका रक्त पी कर ही रहेगी। मैं तुम्हारी इस कुचेष्टा को शत्रुतापूर्ण समझता हूँ।"

इतना कह कर क्रोध में तप्त हुआ दुर्योधन वहाँ से चला गया।

दुर्योधन को धृतराष्ट्र और विदुर की हित-शिक्षा

दूसरे दिन धृतराष्ट्र ने अपने भाई विदुर को बुला कर एकान्त में कहा; —

"बन्धु ! विपत्तियाँ कुरु-वंश पर मंडरा रही है। कुल-क्षय का निमित्त उपस्थित हो रहा है। दुर्योधन की मति में यदि परिवर्तन नहीं हुआ, तो युद्ध अनिवार्य हो जायगा। कोई ऐसा उपाय हो तो बताओ जिससे विनाश रुके।"

"बन्धुवर ! आपकी भूल का ही यह भयानक परिणाम है। आपको दुर्योधन के जन्म समय ही सावधान कर दिया था कि यह दुरात्मा अनिष्टकारी है। अभी ही इसका

त्याग कर दो, तो भविष्य में होने वाले महान् दुष्परिणाम से बचा जा सकता है। आपने पुत्र-मोह से वह बात नहीं मानी। अब वह भविष्य, वर्तमान बन कर सारे वंश और अन्य लाखों मनुष्यों के संहार का दृश्य प्रत्यक्ष होने जा रहा है। अब भी यदि दुर्योधन समझ कर सत्य-मार्ग पर आ जाय, तो विनाश की जड़ ही नष्ट हो सकती है।"

विदुर की वाणी धृतराष्ट्र को सत्य लगी। उसने विदुर से कहा —

"भाई ! हम दोनों एकबार दुर्योधन को समझावें। कदाचित् तुम्हारे प्रभावशाली वचनों से उसकी मति सुधर जाय। हम एक प्रयत्न और कर लें, फिर तो जैसी भवितव्यता होगी, वैसा होगा।"

धृतराष्ट्र और विदुर, दुर्योधन के पास आये और शान्तिपूर्वक बोले; —

"वत्स ! तू हमारा प्रिय है। हम तुम्हारा हित चाहते हैं। तुम्हारे भले के लिए हम कहते हैं कि तुम अपने मन से पूर्वबद्ध विचारों को छोड़ कर शान्त हृदय से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करो।"

"पाण्डव तुम्हारे भाई हैं। राज्य उन्हीं का है और तू प्रतिज्ञाबद्ध है। प्रतिज्ञा-काल पूर्ण हो चुका है। अब उनका राज्य उन्हें लौटा देना चाहिए। पाण्डव बलवान् एवं अजेय हैं। न्याय उनके पक्ष में है। कई राजा उनके उपकार से दबे हुए हैं। पाण्डवों को तू शत्रु समझता है, परन्तु उन्होंने तुझे चित्रांगद के बन्धन से छुड़ा कर, तुझ पर महान् उपकार किया है। दूसरा उपकार उन्होंने गोकुल-हरण के समय भी किया है। तुझे उनकी महानता का विचार कर के बिगड़ी बाजी सुधार लेनी चाहिए। जिस प्रकार खेल ही खेल में वे अपना सारा राज्य तुझे दे कर चल दिये और बनवास के दुःख सहे, उस प्रकार तो तुम नहीं कर रहे हो। तुम्हें तो अपना वचन निभाने के लिए, उन्हीं का राज्य उन्हें सौंपना है, फिर भी तुम्हारा पूर्व का राज्य तुम्हारे पास रहेगा ही। ऐसा करने से परस्पर प्रेम और सौहार्द जगेगा, वैर मिटेगा और भावी अनिष्ट से हम सब और राज्य बचे रहेंगे। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। जरा शान्ति से सोचो और सन्मार्ग अपनाओ। हम तुम्हारे हितैषी हैं और तुम्हें हितकारी सलाह देते हैं।"

दुर्योधन को उपरोक्त हित-शिक्षा भी बुरी एवं शत्रुतापूर्ण लगी। उसने क्रुद्ध हो कर कहा—

"तात ! आप मुझे खोटा उपदेश क्यों देते हैं ? वह क्षत्रीय ही कैसा—जो बिना युद्ध के राज्य की एक अंगुल भूमि भी शत्रु के अर्पण कर दे ? मैं कायर नहीं हूँ। मैं उनसे युद्ध करूँगा और उनके दुःसाहस का उन्हें दंड दूंगा। आप मुझे हतोत्साह नहीं कर के

प्रोत्साहन दें और आशीर्वाद दे कर शुभ कामना करते रहें।"

दुर्योधन की दुर्भावना का खेद लिये हुए, धृतराष्ट्र और विदुर वहाँ से चले गए।

श्रीकृष्ण की मध्यस्थता

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने पाण्डवों का युद्धोत्साह देखा। उन्हें शान्त रहने का निर्देश दे, स्वयं रथारूढ़ हो कर हस्तिनापुर आये। उन्होंने धृतराष्ट्र के समक्ष दुर्योधन को बहुत समझाया और अन्त में कहा--"यदि तुम पाँचों पाण्डवों को केवल पाँच गाँव ही दे दो, तो मैं उन्हें समझा कर सन्धि करवा दूंगा और वे इतने मात्र से सन्तुष्ट हो जाएँगे।"

"गोविन्द ! मैं किसी भिखारी या याचक को प्रसन्न हो कर कुछ गाँव दान कर सकता हूँ। परन्तु उन गर्विष्टों को सूई की नोक पर आवे, इतनी भूमि भी नहीं दे सकता। वे कैसे वीर हैं जो भीख में भूमि माँगते हैं ? उनका लेन-देन का हिसाब तो मेरी ये भुजाएँ ही कुरुक्षेत्र में समझेंगी। आप अब उनकी बात ही छोड़ दें।"

"दुर्योधन ! समझ। यह स्वर्ण अवसर पुनः लौट कर नहीं आएगा। पाण्डवों ने पाँच गाँव की भीख नहीं माँगी है। मैं इस वंश-विग्रह, रक्तपात एवं विनाश को टालने के लिए, अपनी ओर से सुझाव दे रहा हूँ। यदि तू यह स्वर्ण-अवसर चूक गया तो अवश्य ही पछतायगा। पाण्डवों के प्रताप एवं प्रचण्ड बाहुबल के प्रलयंकर प्रवाह में तेरा गर्व ही नहीं, तू स्वयं ही बह जायगा। तेरा भयंकर भावी ही तुझे दुर्बुद्धि से मुक्त नहीं होने देता, अस्तु।"

दुर्योधन ने संकेत से कर्ण को एक ओर बुलाया और दोनों ने मिल कर श्रीकृष्ण को बाँध कर बन्दी बनाने की मन्त्रणा की। सत्यकी ने उसकी दुरेच्छा की सूचना श्रीकृष्ण को दी, तो श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध हो कर इतना ही कहा--"विनाश-काल ने ही इनकी बुद्धि भ्रष्ट कर डाली है। यह बिचारा मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? मैं तो उपेक्षा कर रहा हूँ, परन्तु पाण्डवों की प्रतापाग्नि में भस्म होने से यह नहीं बच सकेगा।"

श्रीकृष्ण वहाँ से चले गए, तब द्रोणाचार्य, भीष्म-पितामह और धृतराष्ट्र ने आगे बढ़ कर श्रीकृष्ण को विनम्रतापूर्वक निवेदन कर शांत किया। श्रीकृष्ण वहाँ से वृद्ध पाण्डुजी और विदुर को मिलने के लिए रथारूढ़ हो कर चले। साथ में आये हुए कर्ण को श्रीकृष्ण ने कहा;--

"कर्ण ! कुंती देवी ने तुम्हें एक सन्देश भेजा है।" उन्होंने कहा--"तुम मेरे पुत्र

और पाण्डवों के भाई हो। गुप्त कारण से तुम्हारा पालन दूसरों के द्वारा हुआ है। परन्तु तुम्हारी सच्ची माता तो मैं और पिता पाण्डु नरेश ही हैं। तुम्हें भाइयों से मिल कर रहना चाहिए। उनका द्रोह नहीं करना चाहिए और दुर्योधन का साथ भी तुझे छोड़ देना चाहिए। देवी ने तेरे लिए शुभाशीष भी कही।"

"माधव ! आपका और माता का कथन यथार्थ है। मेरा उनसे प्रणाम निवेदन करें और कहें कि मैं दुर्योधन से वचनवद्ध हो चुका हूँ, सो उनका साथ मुझे जीवनभर निभाना ही होगा। हां, मैं इतना वचन देता हूँ कि आपके चार पुत्रों का मैं अनिष्ट नहीं करूँगा। अर्जुन के प्रति मेरे मन में ईर्षा जमी हुई है। मैं उससे तो अपनी पूरी शक्ति लगा कर लड़ूंगा। यदि मेरे द्वारा उसका अनिष्ट हुआ, तो मैं आपकी सेवा में आजाउँगा और आपके पाँच पुत्र पूरे रहेंगे। यदि अर्जुन से मैं मारा गया, तो आपके सभी पुत्र आपकी सेवा में हैं ही।"

श्रीकृष्ण, पाण्डु और विदुर से मिले। पाण्डु नरेश ने श्रीकृष्ण द्वारा दुर्योधन की दुष्टता का हाल जान कर अपने पुत्रों के लिए सन्देश दिया कि "अव वे दुर्योधन से किसी प्रकार की सन्धि नहीं कर के युद्ध ही करें। दुष्ट के साथ की गई सज्जनता भी दुःखदायक होती है।"

श्रीकृष्ण, द्वारिका लौट गए। विदुरजी के मन में, कुरु-कुल का विग्रह एवं संसार की अनित्यता देख कर वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसी अवसर पर मुनिराज श्री विश्वकीर्त्तिजी वहाँ पधारे। उनका उपदेश सुन कर विदुरजी ने संसार का त्याग कर, निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार की और मुनि-धर्म का पालन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

प्रद्युम्न वृत्तांत +

प्रद्युम्नकुमार, कालसंवर विद्याधर के यहाँ बड़ा हुआ और कलाकौशल सीख कर निपुण बना। यौवन अवस्था प्राप्त कर जब वह मूर्तिमान कामदेव दिखाई देने लगा, तो कालसंवर विद्याधर की रानी कनकमाला ही उस पर मुग्ध हो गई। उसने सोचा—'प्रद्युम्न जैसा सुन्दर, सुघड़ और देवोपम पुरुष दूसरा कोई नहीं हो सकता। संसार में वही नारी सौभाग्यवती होगी जो इसकी प्रेयसी बनेगी।' रानी चिन्तातुर हुई। विचारों में परिवर्तन हुआ। कुतर्क रूपी कुकरी कूकी—"मैं रानी हूँ, स्वामिनी हूँ। प्रद्युम्न मेरा पालित-पोषित है, मेरा सिंचित एवं रक्षित वृक्ष है। इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। इसके यौवन रूपी

+ प्रद्युम्नकुमार के जन्म और सहरण का वर्णन पृ. ३९५ से ४०१ तक हुआ है।

फल का आस्वादन मैं कर सकती हूँ। यदि मैं इस उत्तम फल के भोग से वञ्चित रहती हूँ तो मेरा जन्म ही व्यर्थ रह जायगा।" इस प्रकार विचार कर के उसने दृढ़ निश्चय कर लिया और एक दिन एकान्त पा कर प्रद्युम्न से कहा; —

"प्रिय प्रद्युम्न! मैं तुझ पर मुग्ध हूँ और तुझे अपना प्रियतम बनाना चाहती हूँ। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है। चल हम केलिगृह में चलें और जीवन का आनन्द लूटें।"

कनकमाला को प्रद्युम्न अब तक माता ही समझ रहा था। उसके मुख से उपरोक्त शब्द सुन कर और उसके मुख एवं नयन पर छाये विकार को देख कर, अवाक् रह गया। उसकी वाणी ही मूक हो गई। उसे मौन देख कर रानी बोली; —

"अरे कान्त! तू मूक क्यों हो गया? क्या राजा से डरता है? नहीं, मत डर तू उससे। तू मेरी शक्ति नहीं जानता। मैं उत्तरीय श्रेणी के नलपुर नगर के प्रतापी नरेश निषधराज की पुत्री हूँ। युवराज नैषध मेरा भाई है। पिता से मैंने 'गोरी' नाम की विद्या सीखी है और पति से मैंने 'प्रज्ञप्ति' विद्या प्राप्त की है। पति मुझ में अनुरक्त है। वह मुझे छोड़ कर दूसरी स्त्री नहीं चाहता। मेरे पास दो विद्या ऐसी है कि जिससे मैं पति से निर्भय हूँ। मेरी ही शक्ति से राजा निर्भय है और संसार को तृण के समान तुच्छ समझता है। मैं स्वयं कालसंवर से अधिक शक्ति-शालिनी हूँ। तुझे राजा से नहीं डरना चाहिए और खुले हृदय से निःशंक हो कर मेरे साथ भोग भोगना चाहिए।"

—"शान्तं पापं! शान्तं पापं!!" माता! तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें निकली ही कैसे? अरे, इस प्रकार के विचार तुम्हारे मन में उठे ही कैसे? अपने पुत्र के साथ ऐसा घोर नरक तुल्य विचार?"

—"नहीं, नहीं, तू मेरा पुत्र नहीं है। राजा तुझे बन में से उठा कर लाये हैं। किसी ने तुझे वन में छोड़ दिया था। तेरा यहाँ पालन-पोषण मात्र हुआ है। इसलिए माता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। तुम इस भ्रम को अपने मन से निकाल दो और मुझे अपनी प्रेयसी मान कर अपना सम्पूर्ण प्रेम मुझे दे दो"—कामान्ध कनकमाला ने निर्लज्ज बन कर कहा।

प्रद्युम्न विचार में पड़ गया। उसने सोचा—'इस दुष्टा की जाल में से किस प्रकार सुरक्षित रह कर बचा जाय?' उसने तत्काल मार्ग पा लिया और बोला; —

"यदि आपकी बात मानी जाय तो नरेश और उनके पुत्र मुझे जीवित नहीं रहने देंगे। इसलिए मेरे जीवन की रक्षा का उपाय क्या होगा?"

"प्रियतम! तुम निर्भय रहो"—प्रद्युम्न के उत्तर से आशान्वित हुई कनकमाला

बोली—"मेरे पास गोरी और प्रज्ञप्ति विद्या है। इन दोनों विद्याओं के बल से तुम सुरक्षित रह सकोगे। मैं तुम्हें दोनों विद्याएँ दे कर निर्भय बना दूंगी।"

—"तब आप मुझे दोनों विद्याएँ दीजिये। मैं तत्पर हूँ।"

कनकमाला ने दोनों विद्याएँ प्रद्युम्न को दी और उसने साधना प्रारंभ कर के थोड़े ही समय में विद्या सिद्ध कर ली। विद्या सिद्ध हो जाने के बाद कनकमाला ने प्रद्युम्न से अपनी इच्छा पूर्ण करने का आग्रह किया, तब प्रद्युम्न ने कहा;—

"माता! पहले तो आप मुझे पाल-पोष कर बड़ा करने वाली माता थी, और अब विद्या सिखा कर गुरु-पद भी प्राप्त कर लिया। ऐसी पूज्या के प्रति मन में बुरे भाव उत्पन्न कैसे हो सकते हैं? आपके मन में मेरे प्रति पुत्र-सम वात्सल्य भाव नहीं रहा और मेरा शरीर आपकी भावना बिगाड़ने का कारण बना, इसलिये मेरा अब यहाँ से टल जाना ही उचित है"—इतना कह कर और प्रणाम कर के प्रद्युम्न चलता बना और नगर के बाहर कालाम्बुका नामकी वापिका के किनारे बैठ कर चिन्ता-मग्न हो गया।

हताश हुई कनकमाला प्रद्युम्न पर क्रोधित हुई। उसे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने की भी चिन्ता हुई। प्रद्युम्न से उसे वैर भी लेना था। उसने अपने कपड़े फाड़ दिये और शरीर पर नाखुन गढ़ा-गढ़ा कर घाव बना दिये। रक्त की बूंदें निकाली और कोलाहल मचाया। कोलाहल सुन कर उसके पुत्र दौड़े आये। उसने कहा—"दुष्ट प्रद्युम्न, कामान्ध बन कर मुझे आलिंगन करने लगा, उससे अपने शील की रक्षा करने में मेरे वस्त्र फट गए और शरीर घायल हो गया। मैं चिल्लाई, तो वह भाग गया। जाओ, उसे इस नीचता का दण्ड दो।"

उसके पुत्र दौड़े और प्रद्युम्न पर प्रहार करने को उद्यत हुए। प्रद्युम्न सावधान था। प्राप्त विद्या के बल से उसने उन सभी को धराशायी कर दिया। इतने में राजा भी आया और प्रद्युम्न को मारने लगा। प्रद्युम्न ने राजा को परास्त कर दिया। इसके बाद उसने रानी के पाप की सारी कहानी राजा को सुना दी। सुन कर राजा ने प्रद्युम्न को निर्दोष मान कर छाती से लगाया और रानी के कुकृत्य पर खेदित होने लगा।

प्रद्युम्न का कौतुक के साथ द्वारिका में प्रवेश

उसी समय नारदजी वहाँ आ पहुँचे। राजा और प्रद्युम्न ने नारदजी का विनय

पूर्वक सत्कार किया। नारदजी ने उन्हें प्रद्युम्न के जन्म एवं माता-पिता का परिचय देते हुए कहा—

"प्रद्युम्न ! तुम्हारी माता पर संकट है। वह अपनी सौत सत्यभामा से वचनबद्ध हुई थी कि 'जिसके पुत्र का प्रथम विवाह होगा, उस विवाह में दूसरी अपने सिर के बाल कटवा कर दासी बनेगी।' सत्यभामा के पुत्र भानु कुमार का विवाह होने वाला है। यदि तुम यहीं बैठे रहे और भानु का विवाह हो जायगा, तो तुम्हारी माता को दासी बनना पड़ेगा। इस दुःख से वह जीवित नहीं रह सकेगी। यदि माता के सम्मान की रक्षा करना हो, तो चलो और माता के सम्मान और प्राणों की रक्षा करो।"

नारदजी की बात सुन कर प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति विद्या से विमान बनाया और नारदजी के साथ द्वारिका पहुँचा। नारदजी ने कहा—"देखो, यह देव द्वारा निर्मित तुम्हारे पिता की भव्य नगरी।" प्रद्युम्न ने कहा—"महात्मन् ! आप अभी थोड़ी देर विमान में ही रहें। मैं कुछ चमत्कार बताने के लिए नगरी में जाता हूँ। आप उपयुक्त समय पर ही पधारें।"

प्रद्युम्न नगरी में गया। उसने विवाह की धूमधाम देखी। भानु कुमार के साथ व्याही जाने वाली कन्या भी वहीं थी। प्रद्युम्न ने विद्या-बल से उसका हरण कर के नारदजी के पास रख दी। नारदजी ने राजकुमारी से कहा—"वत्से ! तू निर्भय रह। यह प्रद्युम्न भी श्रीकृष्ण का ही पुत्र है।" इसके बाद प्रद्युम्न एक वानर को ले कर उस उद्यान में गया—जहाँ विवाह-मण्डप बना था। वानर को उद्यान में छोड़ कर वहाँ के सारे फल-फूल नष्ट करवा दिये। इसी प्रकार उसने विद्याबल से घास का भण्डार नष्ट करवाया और जलाशयों को निर्जल बना दिया। फिर उसने एक उत्तम घोड़ा लिया और उस पर चढ़ कर भानुकुमार के सम्मुख गया और घोड़े को नचा कर कौतुक दिखाने लगा। भानुकुमार, घोड़ा देख कर मुग्ध हो गया। उसने प्रद्युम्न से घोड़े का परिचय और मूल्य पूछा। प्रद्युम्न ने कहा—"पहले इस घोड़े पर सवार हो कर देख लो। इसके बाद आगे बात करेंगे।"

भानु घोड़े पर चढ़ा। वह थोड़ी ही दूर गया होगा कि घोड़ा बिदका और भानु नीचे गिर पड़ा। प्रद्युम्न वहाँ से चल कर वेदपाठी ब्राह्मण का रूप धारण कर, बाजार में पहुँचा और मधुर स्वर से वेदपाठ करने लगा। इस प्रकार करते हुए वह अन्तःपुर के निकट पहुँचा। सामने महारानी सत्यभामा की दासी आ रही थी, वह कूबड़ी थी। उसकी कमर झुकी हुई थी। उसे देख कर प्रद्युम्न ने अपनी विद्या का चमत्कार दिखाया और मन्त्र पढ़ कर और हाथ फिरा कर सीधी कर दी। कुब्जा सीधी हो गई। महात्मा का चमत्कार देख

कर कुब्जा दासी अत्यन्त प्रसन्न हुई। दासी ने प्रणाम किया और चरण-रज मस्तक पर लगाते हुए पूछा—"महात्माजी ! आपका स्थान कहाँ है?"

—"भद्रे ! हम तो रमते-राम हैं। जहाँ भरपेट अच्छा भोजन मिले, वहीं रह जाते हैं।"

दासी ने सोचा—"महात्मा पहुँचे हुए महापुरुष हैं। इन्हें महारानी के पास ले जा कर मोदक आदि उत्तम भोजन कराना चाहिए।" वह उसे ले कर महारानी सत्यभामा के पास गई। कुब्जा दासी को सीधी खड़ी देख कर सत्यभामा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—

"अरी कुब्जा ! तेरी कूबड़ कहाँ गई ? तू सीधी कैसे हो गई ? यह चमत्कार किसने किया ?"

"स्वामिनी ! एक पहुँचा हुआ महात्मा आया है। उसने मुझ पर मन्त्र पढ़ कर हाथ फिराया और मेरी कूबड़ ठीक हो गई। मेरा रूप निखर आया और मुझमें स्फूर्ति भी आ गई। बड़ा चमत्कारी महात्मा है वह।"

"कहाँ है वह"—महारानी भी महात्मा की ओर आकर्षित हुई। उसके मन में भी एक आकांक्षा उत्पन्न हो गई।

"वह नीचे द्वारा पर खड़ा है"—दासी ने कहा।

"उसे आदर सहित यहाँ ले आ"—महारानी सत्यभामा ने कहा।

ब्राह्मण आया। उसने सत्यभामा को आशीर्वाद दिया। रानी ने उसे आदरपूर्वक उच्चासन पर बिठाया और कुशल-क्षेम पूछने के बाद कहा—

"महात्माजी ! आपने इस दासी पर बड़ी कृपा की। आप तो देव-पूज्य हैं। आपकी कृपा जिस पर हो जाय, उसके सारे मनोरथ सफल हो जाते हैं। धन्य है आपको।"

"यह सब भगवत्-कृपा है। साधना में अपूर्व शक्ति होती है। जो साधना करता है, उसे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है और उससे दुःखी लोगों का बड़ा उपकार किया जा सकता है"—महात्मा बने हुए प्रद्युम्न ने कहा—

प्रद्युम्न का विमाता को ठगना

"महात्मन् ! मुझे अपनी सौत का बड़ा दुःख है। सौत ने पति को अपने रूप-जाल में फँसा लिया है। आप अपनी कृपा से मुझे विशेष रूप-सुन्दरी बना दें, जिससे मेरे पति

मेरे वशीभूत हो जाय और सौत को सर्वथा भूल जाय। मैं आपका उपकार जन्मभर नहीं भूलूंगी"—सत्यभामा ने ढोंगी महात्मा प्रद्युम्न से कहा।

"महारानी! तुम बड़ी भाग्यशाली हो। तुम्हारा रूप अब भी बहुत सुन्दर है। तुम्हें विशेष रूप का लोभ करने की आवश्यकता ही क्या है? इतने में ही सन्तोष करना चाहिए"--प्रद्युम्न ने कहा।

"नहीं महात्मन्! आपने दासी पर इतनी कृपा की और उसकी कूबड़ और कुरूपता मिटा कर सीधी और सुन्दर बना दी, तब मुझ पर भी इतनी कृपा कर दीजिये"—दीनताभरे शब्दों में महारानी सत्यभामा ने याचना की।

"परन्तु इसके लिए पहले तुम्हें विद्रूप बनना पड़ेगा, उसके बाद सुन्दरता आ सकेगी। साधना कष्टप्रद है। तुम स्वयं सोच लो"—प्रद्युम्न ने विमाता को शब्दजाल में बाँधते हुए कहा।

"आप कहें, मुझे क्या करना चाहिए"—रानी ने पूछा।

"पहले आपको अपने मस्तक के केश कटवाना पड़ेगा। फिर सारे शरीर पर मसि लगा कर काला करना होगा और फटे हुए वस्त्र पहिन कर मेरे सामने आना होगा। मैं उसके बाद साधना बतलाऊँगा। परन्तु पहले अपने मन में निश्चय कर लो। साधना कठोर है।"

"मैं अभी सब करती हूँ। आप यहीं बैठें"--कहती हुई सत्यभामा उठी। उसे अत्यन्त सुन्दर बनने की उत्कट इच्छा थी। उसे इतनी भी धीरज नहीं थी कि पहले पुत्र का विवाह तो कर ले, बाद में सुन्दर बनने की साधना करे। उसने अपने सुन्दर और लम्बे बाल कटवा लिये। सारे शरीर पर स्याही पुतवाली और जीर्ण-वस्त्र धारण कर के भूतनी जैसी बन गई। विमाता का भूतनी जैसा रूप देख कर प्रद्युम्न मन में हर्षित हुआ और अपनी माता का वैर लेने का सन्तोष अनुभव करता हुआ बोला--

"मुझे भूख लगी है। भूखे-पेट साधना नहीं हो सकती। तुम्हारी दासी मुझे भोजन कराने का आश्वासन दे कर लाई और नया झंझट खड़ा कर के जाने कहाँ खिसक गई। पहले मेरे लिए भोजन की व्यवस्था करो, फिर दूसरी बात होगी।"

भोली सत्यभामा ने रसोइये को बुला कर महात्मा को भोजन कराने की आज्ञा दी। महात्मा भोजन करने के लिए उठे और बोले—"मैं लौटूं, तब तक तुम अपनी कुल-देवी के समक्ष ध्यान लगा कर बैठो और "सुरूपा विद्रूपा भवंति स्वाहा" मन्त्र का जाप करो।"

प्रद्युम्न अब सगी माता को ठगता है

सत्यभामा को उलटी पट्टी पढ़ा कर मन में हर्षित होता हुआ ठग-महात्मा भोजन करने गया। भोजन करते हुए विद्या के बल से वह सर्वभक्षी बन गया और सारा भोजन समाप्त करने के बाद फिर माँगने लगा। रसोइये ने कहा—"महात्मन् ! आप किस जन्म के भूखे हैं ? इतना खा कर भी तृप्त नहीं हुए ? अब तो हम विवश हैं। नया भोजन बने, तब आपको मिल सकता है।"

"मेरी भूख मिटी नहीं। मैं जाता हूँ। जहाँ भरपेट भोजन मिलेगा, वहाँ जाउँगा तुम अपनी स्वामिनी से कह देना"—कह कर चल दिया। वहाँ से चल कर बालक विप्र का रूप बना कर अपनी सगी-माता महारानी रुक्मिणी के भवन में पहुँचा। रुक्मिणी खिन्न, उदास और हताश बैठी थी। बालक को देख कर उसके हृदय में स्नेह जाग्रत हुआ। उसने उसे अपने पास बुलाया। वह आते ही महाराजा कृष्ण के सिंहासन पर बैठ गया। रुक्मिणी चकित रह गई। क्योंकि उस सिंहासन पर श्रीकृष्ण और उनके पुत्र के सिवाय दूसरा कोई नहीं बैठ सकता था। वह देव-रक्षित सिंहासन था। माता का आश्चर्य जान कर प्रद्युम्न ने कहा—"मेरे तप के प्रभाव से देव भी मेरा अहित नहीं कर सकते। मैं स्वयं रक्षित एवं निर्भय हूँ।"

"आपके आने का प्रयोजन क्या है"—महारानी ने पूछा।

"मैंने निराहार तप करते हुए सोलह वर्ष व्यतीत कर दिये। अब मैं पारणे के लिए तुम्हारे यहाँ आया हूँ। मुझे भोजन दो'—माता को भी ठगता हुआ प्रद्युम्न बोला।

"सोलह वर्ष का तप ! मैंने तो सुना कि एक वर्ष से अधिक किसी का तप नहीं चलता। फिर क्या आप जन्म से ही तप करने लगे और अब तक तपस्वी बने रहे"—आश्चर्य व्यक्त करती हुई महारानी बोली।

"यदि तुम्हें भोजन नहीं कराना है, तो रहने दो। मैं महारानी सत्यभामा के यहाँ जाता हूँ। वहाँ मुझे इच्छित भोजन मिलेगा।"

"ठहरिये, मैं भोजन बनवाती हूँ। आत्मा में अशांति होने के कारण आज मैंने भोजन नहीं बनवाया था"—रुक्मिणी बोली—

"क्यों, तुम्हें उद्वेग किस बात का है ?"

"मेरे भी एक पुत्र था। किंतु बाल्यावस्था में ही कोई वैरी देव उसका अपहरण कर गया। उसके वियोग से मैं दुखी हूँ। उसके समागमन की आशा से मैं कुलदेवी की आराधना करती हुई जीवन व्यतीत कर रही हूँ। बहुत प्रतीक्षा करने पर भी पुत्र का

आगमन नहीं हुआ, तो मैंने कुलदेवी के सामने अपने-आपकी वलि चढ़ाने के लिए, गले पर खड्ग का प्रहार किया। कुलदेवी प्रकट हुई और मुझे रोकती हुई बोली--"पुत्री! तू चिंता मत कर। तेरा पुत्र तुझे अवश्य मिलेगा। तेरे आँगन में रहा हुआ आम्रवृक्ष जब अकाल में ही विकसित हो जायगा, तो उसी समय तेरा पुत्र तेरे समीप होगा।" आम्र-वृक्ष तो विकसित हो चुका किंतु पुत्र अभी तक नहीं आया। इसीसे मैं उद्विग्न हूँ। आप ज्ञानी हैं। अपने ज्ञान-बल से देख कर बतावें कि मेरा पुत्र कब आएगा ?"

"मैं क्षुधातुर हूँ। भोजन से तृप्त होने के पूर्व कुछ नहीं कह सकता। मुझे शीघ्र भोजन चाहिये।

रुक्मिणी भोजन-व्यवस्था करने के लिये उठी, तो विप्र बोला--"मुझे तुम खीर बना दो--अति शीघ्र।" रुक्मिणी खीर बनाने लगी, तो प्रद्युम्न की करतूत से चूल्हा भी नहीं सुलगा। वह खेदित हो गई। बाद में प्रद्युम्न बोला—

"तुम्हारे पास जो वस्तु हो, वही मुझे दे दो।"

"अभी तत्काल तो सिंहकेसरी-मोदक मेरे पास है। किन्तु वह मैं तुम्हें नहीं दे सकती, क्योंकि उन्हें पचाने की शक्ति, सिवाय श्रीकृष्ण के और किसी में नहीं है और तुम तपस्वी बालक हो। तुम्हें वह मोदक मैं नहीं दे सकती"—महारानी ने कहा।

—"भद्रे! मैं तपस्वी हूँ। तुम्हारा सिंहकेसरी-मोदक मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। तुम निःसंकोच मुझे दे दो।"

रुक्मिणी मोदक देने लगी और विप्र-बालक खाने लगा। रुक्मिणी आश्चर्यान्वित हो कर बोली--"आश्चर्य है कि आप इतने मोदक कैसे पचा लेंगे ?"

प्रद्युम्न ने दासियों को भी मूँड़ दी

उधर सत्यभामा, देवी के सामने बैठी जाप कर रही थी कि उद्यान-रक्षक ने निवेदन कराया कि—"एक पुरुष बन्दर ले कर आया था। उसने सारे उद्यान को उजाड़ दिया है।"

भी तृप्त नहीं हुए और यह कह कर चले गए कि—"मैं जहाँ भोजन मिलेगा, वहीं जाऊँगा।"

सत्यभामा निराश एवं खेदित हुई। महात्मा अप्रसन्न हो कर चले गए और वह सुरूपा से कुरूपा बन गई। अब क्या हो ? पहले तो उसने अपना शरीर स्वच्छ किया, नये वस्त्र पहिने, फिर उसने सोचा--"रुक्मिणी के बाल कटवा कर मँगवालूं।" उसने अपनी दासियों को एक पात्र दे कर भेजा और कहलवाया—

"मेरे पुत्र का विवाह हो रहा है। वचन के अनुसार अपने बाल काट कर इस दासी के साथ भेजो।"

दासियाँ पहुँची और सत्यभामा का आदेश सुनाया। रुक्मिणी के हृदय को आघात लगा। प्रद्युम्न ने बाल लेने आई दासियों के ही बाल काट कर पात्र में डाल दिये और अपने साथ लाये हुए सत्यभामा के बाल भी झोली में से निकाल कर उस पात्र में डाले और कहा--"जाओ, ये बाल अपनी स्वामिनी को देना।" दासियाँ रोती और गालियाँ देती हुई सत्यभामा के पास पहुँची। उन सब की दशा देख कर सत्यभामा क्रुद्ध हुई और क्रोध में ही भुनभुनाती हुई श्रीकृष्ण के पास पहुँची और बोली;--

सत्यभामा श्रीकृष्ण पर बिगड़ती है

"स्वामी ! आपकी चहेती महारानी की यह धृष्टता देखो। आपके सामने उसने वचन दिया था कि 'यदि तुम्हारे पुत्र के लग्न पहले होंगे, तो मैं अपने मस्तक के बाल काट कर तुम्हारे अर्पण कर दूंगी और तुम्हारी दासी बन जाऊँगी।" मेरे पुत्र का विवाह हो रहा है। मैने उसके बाल लेने के लिये दासियों को भेजी, तो उस चण्डिका ने सब के बाल काट कर मेरे पास भेजे। वे बिचारी सब मुंडित-मस्तक रोती हुई लौट आई। उस राक्षसी का इतना दुःसाहस कि मेरी दासियों के साथ इस प्रकार की नीचता करे ? आपने उसे सिर पर चढ़ा रखी है। अब आप उसके बाल ला कर दीजिये। आप उसके जामिनदार हैं*। आपको उसके बाल ला कर देना चाहिए।"

"परन्तु महारानीजी ! आपके सुन्दर बाल.........?"

"बस, बोलो मत"—श्रीकृष्ण के प्रश्न को बीच ही में रोक कर सत्यभामा बोली—"अपने उत्तरदायित्व का पालन करो।"

---

* देखो पृ. ३६५।

"अच्छा, अभी लो, परन्तु आपके सुन्दर वाल......हँसते हुए श्रीकृष्ण ने फिर पूछा।

सत्यभामाजी रोषपूर्वक मुँह बनाती हुई लौटी। श्रीकृष्ण ने वलदेवजी से कहा—"दाऊ! आप भी जामिनदार हैं। आप स्वयं इनके साथ जाइए और इस विपत्ति का निवारण कीजिए।"

सत्यभामा के साथ बलदेवजी चल कर रुक्मिणी के भवन में पहुँचे, तो वे स्तंभित रह गए। उन्होंने देखा—कृष्ण, रुक्मिणी के पास बैठे हैं। वे शीघ्र ही लौट आये। यह करामात प्रद्युम्न की थी। उसने विमाता और बलदेवजी को दूर से आते देखा, तो विद्या-बल से स्वयं कृष्ण का रूप बना लिया, जिससे उन्हें दूर से ही लौटना पड़ा। किन्तु उन्हें यहाँ भी स्तंभित रहना पड़ा, क्योंकि कृष्ण यहीं बैठे थे। सत्यभामा फिर बिगड़ी और तड़की—"तुल दोनों मिल कर मेरा उपहास करते हो। मुझ से भी मीठे बनते हो और गुपचुप उस चण्डिका से भी मिले रहते हो। मैं जानती हूँ, तुम आखिर हो तो ढोर चराने वाले ग्वाल ही न? मैं भोली हूँ जो तुम पर विश्वास कर लेती हूँ"..........कहती हुई रोषपूर्वक लौट गई।

-"अरे प्रिये! सुनो तो सही। मैं तो यहीं था.......पर सुने कौन? सौतिया-डाह ने श्रीकृष्ण को भी उलझन में डाल दिया। वे वामांगना को मनाने के लिए उसके पीछे-पीछे चले।

उधर नारदजी रुक्मिणी के भवन में आये और बोले—"भद्रे! तुम जिस विप्र से बात कर रही हो, वही तुम्हारा पुत्र है। किन्तु है बड़ा छलिया। यह.....इतने में प्रद्युम्न माता के चरणों में झुका और अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। रुक्मिणी के हर्ष की सीमा नहीं रही। उसका हृदय उछलने लगा, मानो आनन्दातिरेक से उसके प्राण बाहर निकलने को तड़प रहे हों। बड़ी कठिनाई से हृदय स्थिर हुआ। आज उसके वर्षों का दुःख, शोक एवं संताप मिटा था। उसकी प्रसन्नता का तो कहना ही क्या? हर्षातिरेक का शमन होने पर प्रद्युम्न ने माता से कहा—"माता! अभी आप मेरे आगमन को छुपायें रखिये। मैं पिताश्री आदि को अपना आगमन, कुछ विशेष ढंग से वताना चाहता हूँ।

प्रद्युम्न की पिता को चुनौती और युद्ध

इसके बाद उसने एक मायापूर्ण रथ बनाया और माता को उसमें बिठा कर, शंख-

नादपूर्वक घोष किया—"मैं रुक्मिणी को हरण कर के ले जा रहा हूँ । यदि किसी में शक्ति है, तो रणभूमि में आ कर मुक्त करावे ।"

श्रीकृष्ण आदि चौंके और शस्त्र एवं सेना ले कर दौड़े । युद्ध जमा । किन्तु प्रारम्भ में ही प्रद्युम्न ने श्रीकृष्ण के धनुष की डोरी काट दी और श्रीकृष्ण को शस्त्रविहीन कर दिया । श्रीकृष्ण स्तंभित रह गए । किन्तु उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगी और हृदय हर्षित होने लगा । इतने में नारदजी ने आ कर प्रद्युम्न का परिचय दिया । बस, सारा वातावरण, हर्षोल्लास से परिपूर्ण हो गया । श्रीकृष्ण ने बड़े ठाट से पुत्र का नगर-प्रवेश कराया ।

शाम्ब और प्रद्युम्न का विवाह

प्रद्युम्न का नगर-प्रवेश महोत्सव हो रहा था । उसी समय दुर्योधन ने आ कर श्रीकृष्ण से निवेदन किया—"मेरी पुत्री जो आपके पुत्र भानुक के साथ लग्न करने आई थी, किसी ने हरण कर लिया है । उसकी खोज होनी चाहिए ।" श्रीकृष्ण ने कहा—"आप सावधान नहीं रहते । अब उसका पता लगाने में कितना समय लगेगा ? आपको मालूम है कि प्रद्युम्न कितने वर्षों में मिला ?" प्रद्युम्न बोला—"आप चिन्ता नहीं करें । मैं अपनी विद्या के बल से पता लगा कर लौटा लाऊँगा ।" वह गया और थोड़ी ही देर में उस स्वयंवरा को ले आया, जिसे उसीने, अपना चमत्कार दिखाने के लिए उड़ाया था । दुर्योधन उसके लग्न प्रद्युम्न के साथ करने लगा, परन्तु प्रद्युम्न ने अस्वीकार करते हुए कहा—"यह मेरे छोटे भाई के लिए आई, इसलिए मेरे अग्राह्य है ।" उसका लग्न भानुकुमार के साथ और कुछ विद्याधर कन्याओं तथा अन्य राजकन्याओं का लग्न प्रद्युम्नकुमार के साथ किया ।

सपत्नियों की खटपट

महारानी सत्यभामा, प्रद्युम्नकुमार का प्रभाव देख कर ईर्षा से जलती थी । उसकी प्रशंसा सुन कर एकबार महारानी का द्वेष भड़क उठा । वह कुपित हो कर कोपगृह में जा कर सो गई । जब श्रीकृष्ण ने महारानी को नहीं देखा, तो खोजते हुए उस अन्धेरी

कोठरी में आये और रुष्ट होने का कारण पूछा। सत्यभामा बोली—"मैं भी प्रद्युम्न के समान पुत्र चाहती हूँ। यदि वैसा पुत्र नहीं हुआ, तो मेरे हृदय में शान्ति नहीं हो सकती। मुझे जीवनभर जलना और घुल-घुल कर मरना पड़ेगा।" श्रीकृष्ण ने उपाय करने का आश्वासन दे कर मनाया। फिर उन्होंने नैगमेषी देव का आराधन किया। देव आया। श्रीकृष्ण ने सत्यभामा का मनोरथ पूरा करने का कहा। देव ने श्रीकृष्ण को एक माला दे कर कहा—"यह हार पहिन कर जो रानी आपके संसर्ग में रहेगी, उसके प्रद्युम्न जैसा पुत्र होगा।"

सत्यभामा के रुष्ट होने और कृष्ण के साधनारत होने की बात, चालाक प्रद्युम्न से छुपी नहीं रह सकी। वह अपनी तीक्ष्ण-दृष्टि चारों ओर रखता था। प्रज्ञप्ति विद्या के सहारे से उसने सभी बातें जान ली और अपनी माता को बतला दी। महारानी रुक्मिणी ने कहा—"अच्छा, मैं जाम्बवती को भेजना चाहती हूँ। परन्तु वह पहिचान में आ जाय, तो बात नही बन सकेगी।" प्रद्युम्न ने कहा—"मैं उनका रूप, बड़ी माता जैसा बना दूंगा और बड़ी माता को सन्देश मिलने में विलम्ब कर दूंगा। आप छोटी माता को समझा दें।"

यही हुआ। निर्धारित समय पर सत्यभामा के रूप में जाम्बवती पहुँची। श्रीकृष्ण ने देव-प्रदत्त हार उसके गले में पहिना दिया। जाम्बवता के लौटने के बाद सत्यभामा आई, तो कृष्ण चकित रह गए। उन्होंने सोचा—"यह दूसरी बार फिर क्यों आई?' किन्तु ऊपर से उन्होंने सन्देह व्यक्त नहीं होने दिया। बातों-बातों में ही समझ लिया कि कुछ गड़बड़ हुई है। चालाक प्रद्युम्न ने उपयुक्त समय का अनुमान लगा कर उसी समय आतंक फैलाने वाली श्रीकृष्ण की रणभेरी बजा दी, जिससे कृष्ण और सत्यभामा चौंक उठे। उन्होंने सेवक से भेरी-वादन का कारण पूछा। सेवक ने प्रद्युम्नकुमार का नाम बताया। श्रीकृष्ण समझ गए कि प्रद्युम्न ने ऐसा क्यों किया। सौत का बेटा भी सौत के समान दुःख-दायी होता है। सत्यभामा का मनोरथ सफल नहीं होने देने के लिए ही उसने ऐसा प्रपञ्च किया है।

कृष्ण समझ गए कि सत्यभामा के गर्भ से उत्पन्न होने वाला पुत्र भीरु होगा। दूसरे दिन कृष्ण रुक्मिणी के भवन गए। वहाँ जाम्बवती भी थी। जाम्बवती के कण्ठ में वह हार देख कर कृष्ण ने पूछा—"देवी! यह दिव्य हार तुम्हारे पास कहाँ से आया?' जाम्बवती ने कहा—"आप ही ने तो कल दिया था। हाँ, आज रात्रि में मुझे एक स्वप्न आया, जिसमें एक सिंह उछलता-कूदता हुआ मेरे मुख में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"देवी ! तुम्हारे गर्भ में एक बालक आया है। वह प्रद्युम्न के समान पराक्रमी होगा।"

गर्भकाल पूर्ण होने पर जाम्बवती के एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'शाम्ब' रखा गया। उसी रात सारथि के 'दारुक' नाम का और सुबुद्धि मन्त्री के 'जयसेन' नाम का पुत्र जन्मा। सत्यभामा के पहले 'भानु कुमार' था। अब पुत्र जन्मा, उसका नाम 'भीरु' रखा गया। जाम्बवती का पुत्र, सारथि-पुत्र दारुक और मन्त्री-पुत्र जयसेन के साथ खेलते हुए बड़ा हुआ। शाम्बकुमार बुद्धिमान् और पराक्रमी था। उसने थोड़े ही दिनों में सभी कलाएँ सीख लीं।

प्रद्युम्न का वैदर्भी के साथ लग्न

महारानी रुक्मिणी ने अपने भाई,—भोजकट नरेश रुक्मि के पास एक दूत भेजा और उसकी पुत्री वैदर्भी की अपने पुत्र प्रद्युम्न के लिये याचना की, साथ ही कहा कि—"इस सम्बन्ध से पूर्व का मनमुटाव समाप्त हो कर मधुर सम्बन्ध बन जायगा।" दूत के द्वारा बहिन की माँग सुन कर रुक्मि नरेश का द्वेष जाग्रत हुआ। उन्होंने कहा—"मैं अपनी पुत्री, किसी चाण्डाल को तो दे सकता हूँ, परन्तु कृष्ण के यहाँ नहीं दे सकता।" दूत लौट आया और रुक्मिणी को उसके भाई का उत्तर कह सुनाया। रुक्मिणी को ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। वह उदास हो गई। यह अपमानजनक बात थी। इससे लोगों में हलकापन लगने की सम्भावना थी। वह चिन्ता में डूबी हुई थी कि इतने में प्रद्युम्नकुमार वहाँ आ गया। माता को उदास देख कर पूछा—"माता ! उदास क्यों दिखाई दे रही हो ? क्या कारण हुआ चिन्ता का ?" रुक्मिणी ने सारी बात सुनाई, तो प्रद्युम्न ने कहा—

"मेरे मामा, सीधी बात से समझने वाले नहीं है। मैं उनके योग्य उपाय कर के उनकी पुत्री से लग्न करूँगा। आप निश्चिंत रहें।"

माता को आश्वासन दे कर प्रद्युम्नकुमार, अपने भाई शाम्बकुमार को साथ ले कर भोजकट नगर आये। नगर के बाहर उन्होंने अपना रूप पलटा। एक बना किन्नर और दूसरा चाण्डाल। दोनों संगीत की सुरीली एवं मधुर स्वर-लहरी लहराते हुए नगर में घूमने लगे। उनके सम्मोहक राग में लीन हो कर लोगों का झुण्ड उनके साथ हो गया। उनके अलौकिक संगीत की प्रशंसा राजा ने सुनी और उन्हें बुलाया। वे राज-सभा में

गायन करने बैठे। राजकुमारी वैदर्भी भी राजा के निकट बैठ कर गायन सुनने लगी। राज-सभा और राज-परिवार, उनकी स्वर-लहरी में हिलोरे लेने लगा। जब संगीत समाप्त हुआ, तब सब सचेत हुए। राजा ने प्रसन्न हो कर उन्हें बहुत धन दिया और उनका स्थान तथा परिचय पूछा। वे बोले--

"हम स्वर्ग से उतर कर द्वारिका में आये हैं और वहीं हमारा निवास-स्थान है। वही द्वारिका जिसका निर्माण देव ने किया है।"

द्वारिका का नाम सुन कर वैदर्भी ने पूछा--

"महारानी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार को तुम जानते हो?"

"प्रद्युम्न को कौन नहीं जानता? रूप में देव के समान, कामदेव के तुल्य, पृथ्वी के अलंकारभूत महापराक्रमी। वह तो अपने गुणों से ही सर्वप्रिय है। उस तेजस्वी नर-पुंगव को तो सभी जानते हैं"--शाम्ब ने कहा।

यह सुन कर वैदर्भी प्रद्युम्न के प्रति राग-रंजित हुई। बूआ (फूफी) की ओर से सम्बन्ध की माँग ले कर आये हुए दूत सम्बन्धी विषय उसकी जानकारी में था। इसीसे उसने पूछा।

राज्य का प्रधान हाथी उन्मादित हो कर नगर के बाजारों और गलियों में घूम रहा था। लोग आतंकित हो कर घरों में घुस रहे थे। जो भी वस्तु हाथी की सूंड में आई, वह नष्ट हो कर रही। महावतों के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए। हाथी द्वारा विनाश का भय बढ़ता ही जा रहा था। राजा ने ढिंढोरा पिटवाया--"जो हाथी को वश में कर के गजशाला के खूंटे से बाँध देगा, उसे मुँह-माँगा पुरस्कार मिलेगा।" किंतु किसी ने साहस नहीं किया। आतंक बढ़ता जा रहा था और राजा चिंतित था। उसी समय दोनों संगीतज्ञों ने कहा--"महाराज! हम अपने संगीत के प्रभाव से गजराज को वशीभूत कर के स्थानबद्ध कर देंगे।" दोनों उठे और जिस ओर हाथी का उपद्रव था, उस ओर चले। दूर से हाथी को अपनी ओर आते देख कर उन्होंने संगीत-प्रवाह चलाया। हाथी का उपद्रव थमा और वह धीरे-धीरे उनके निकट आ कर ठहर गया। वे दोनों हाथी पर सवार हो गए और गजशाला में ला कर बाँध दिया। राजा प्रसन्न हुआ और पुरस्कार माँगने का कहा। उन्होंने कहा:--

"महाराज! हमें हाथ से भोजन बनाना पड़ता है। इसलिये हमें भोजन बनाने वाली चाहिये। कृपया आपकी प्रिय पुत्री दीजिये, जिससे हमारी मनोकामना पूरी हो।"

सुनते ही राजा का क्रोध भड़का और उसी समय उन्हें नगर से बाहर निकलवा

दिया। वे उद्यान में पहुँचे। अर्ध-रात्रि के समय प्रद्युम्न विद्यावल से चल कर राजकुमारी के शयन-कक्ष में पहुँचा और निद्रामग्न वैदर्भी को जगाया। वह जागते ही चौंकी, किंतु अपने सम्मुख, अपने हृदय-पट पर छाये हुए को साक्षात् देख कर चकित रह गई। उसी के विचार में निद्रामग्न हो कर सुखद स्वप्न देखती हुई वैदर्भी का आश्चर्य दूर करने के लिये प्रद्युम्न ने उसे एक पत्र दे कर कहा—"यह मेरी माता अर्थात् तुम्हारी बूआ ने दिया है। तुम्हारी बूआ को भीं उनकी बूआ ने सहयोग दिया था। अव तुम्हें भी तुम्हारी बूआ सुझाव दे रही है।" वास्तव में पत्र की योजना भी प्रद्युम्न ने ही की थी। दोनों की मनोकामना सफल हुई। प्रद्युम्न वैदर्भी के लिये विवाह का वेश साथ ले आया था, सो पहिनाया और दोनों अपने-आप परिणय-बन्धन में बंध गए। रात्रि के अंतिम पहर में कुमार चला गया और वैदर्भी को कहता गया कि तुम्हारे माता-पिता पूछे, तो मौन ही रहना। वैदर्भी निद्राधीन हो गई। प्रातःकाल वैदर्भी की धाय-माता उसे जगाने आई। किंतु उसके वेश आदि देख कर स्तंभित रह गई। वह दौड़ी हुई महारानी के पास आई। राजा-रानी मिल कर आए और पुत्री की स्थिति देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। राजा दहाड़ा—

"कूलटा! तेरे कारण मैंने वहिन और श्रीकृष्ण जैसे समर्थ वहनोई से वैर वसाया। उनकी मांग ठुकराई और किन्नरों से वचन-हारा। किन्तु तेने मेरी प्रतिष्ठा, कुलीनता और स्नेह को कुचल कर नट कर दिया। अब तू मेरे लिए मरी हुई है। मैं तुझे उन गन्धर्वों को दे कर अपना वचन निभाउँगा।"

राजा ने सेवक भेज कर गन्धर्वों को वुलाया और उन्हें पुत्री सौंप दी। वे राजकुमारी को ले कर उद्यान में आये। उधर थोड़ी ही देर वाद राजा का कोप उतरा और स्नेह जगा। वह अपने दुष्कृत्य और पुत्री का स्मरण कर के रोने लगा। कुटुम्बीजन समझाने लगे। इतने में उन सव के कानों में वादिन्त्रों की ध्वनि पड़ी। पता लगाने पर मालूम हुआ कि प्रद्युम्न और शाम्ब कुमार उद्यान में आ कर वसे हैं और वड़े ठाठ से विवाहोत्सव मना रहे हैं। राजा प्रसन्न हुआ। उन्हें उत्सवपूर्वक राज्य-भवन में लाया और विधिपूर्वक लग्न कर के विपुल दहेज के साथ विदा किया। महारानी रुक्मिणी की मनोकामना सफल हुई।

हेमांगद राजा की सुहिरण्या पुत्री के साथ शाम्वकुमार के लग्न हुए और वह भी सुखपूर्वक रहने लगा।

श्रीकृष्ण और जाम्बवती भेदिये बने

शाम्बकुमार, भीरुकुमार से बहुत जलता था। वह उसे तंग करता और हानि पहुँचाता रहता था। जुआ का खेल रचा कर उसका धन ले-लेता और मार-पीट भी कर देता। एक दिन शाम्ब से पिट कर भीरु अपनी माता के पास रोता हुआ गया। महारानी सत्यभामा के तन-मन में आग लग गई। वह तत्काल श्रीकृष्ण के पास गई और बोली;—

"यह देखो—अपने लाड़ले बेटे की दुष्टता। वह इसे फूटी आँख नहीं देखता और सदैव सताया करता है। इसके पास का धन भी छीन लेता है और मार-पीट भी करता है। आपने उसे सिर पर चढ़ा रखा है। वह आपका प्रिय पुत्र है। उसे आप हटकते ही नहीं और इस पर आपका स्नेह बिलकुल नहीं है। मैं यह दुःख कहाँ तक सहन करती रहूँ।"

महारानी को तमतमाती आती हुई देख कर ही श्रीकृष्ण सहम गए थे और सोच रहे थे कि फिर कौन-सी विपत्ति आने वाली है। उन्होंने महारानी को मधुर वचन से सतुष्ट किया, भीरु के मस्तक पर वात्सल्यपूर्ण हाथ फिराया और शाम्ब को दण्ड देने का आश्वासन दे कर विसर्जित किया। रानियों की परस्पर की खटपट की सुनवाई और समाधान की झंझट भी श्रीकृष्ण को ही झेलनी पड़ती थी। उनका दायित्व था ही और वे बड़ी चतुराई से इस समस्या को सुलझाते थे। कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए वे स्वयं भी एक-दूसरी में टकराहट उत्पन्न कर के दूर से ही खेल देखते रहते थे।

शाम्बकुमार में चारित्रिक-दुर्बलता थी। श्रीकृष्ण इसे जानते थे। सत्यभामा के लौटते ही वे जाम्बवती के भवन में पहुँचे और शांबकुमार के दुराचार की बात बताई। महारानी बोली; —

"स्वामिन्! लोग तो द्वेषवश उसकी बुराई करते हैं। वास्तव में आपका पुत्र बहुत सीधा और सदाचारी है। आप ईर्षालुओं की बात पर ध्यान मत दीजिये।"

"प्रिये! तुम्हें पुत्र-स्नेह के कारण शाम्ब की बुराइयें नहीं दिखाई देती। जिस प्रकार सिंहनी को अपना बेटा, बड़ा दयालु और सीधासादा ही लगता है, परन्तु उसकी क्रूरता और आतंक तो वन के मृगादि पशु ही जानते हैं। तुम उसकी माता हो। तुम्हें उसकी बुराई दिखाई नहीं देती, परन्तु जो मैंने सुना है, वह सत्य है। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें तुम्हारे पुत्र की सुपुत्रता प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ।"

रूप परिवर्तन कर के श्रीकृष्ण तो वृद्ध अहीर बने और महारानी जाम्बवती एक सुन्दर और सलोनी अहीरन बनी। दोनों दूध-दही के बरतन मस्तक पर उठा कर बेचने के लिए चले। अहीरन की कर्णमधुर सुरीली ध्वनि सुन कर शांबकुमार आकर्षित हुआ और अहीरन को देखते ही मुग्ध हो गया। उसने देखा—अहीर तो बूढ़ा खूसट है, श्वास

भर रहा है, लकड़ी के सहारे चलता है, फिर भी पांव धूज रहे हैं और अहीरन भर-यौवना अनुपम सुन्दरी है। उसका मोह उद्दिप्त हुआ। उसने उन्हें बुलाया। दूध-दही का भाव पूछा और भवन के भीतर आने का कहा। वृद्ध अहीर बोला--

"तुम्हारे लेना हो, तो यहीं ले लो। मैं बूढ़ा, अपनी जवान पत्नी को भीतर नहीं भेजता। तुम जवान हो। मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं है।"

—"अरे बुड्ढे! बैठ जा यहीं। यह अभी आती है। मैं तुम्हारा सारा गो-रस खरीद लूंगा और मूल्य भी इतना दूंगा कि तू प्रसन्न हो जायगा"—कहते हुए कुमार ने अहीरन का हाथ पकड़ा और अपने भवन में ले जाने लगा।

इधर वृद्ध भी अहीरन का दूसरा हाथ पकड़ कर अपनी ओर खिचने लगा। बस, खेल खतम हो गया। श्रीकृष्ण और जाम्बवती ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर और कुमार को दुत्कार कर स्तब्ध कर दिया। वह संभला और पलायन कर गया। श्रीकृष्ण ने महारानी से कहा—

"देखे अपने सुपुत्र के लक्षण? और आप मेरी बात मानती ही नहीं थी?"

—"अभी बचपन गया नहीं है स्वामिन्! जवानी और बचपन के प्रभाव से बुरे लक्षण आ गए हैं। मैं समझा दूंगी।"

दूसरे दिन शाम्बकुमार को श्रीकृष्ण ने बुलवाया। वह हाथ में चाकू से एक काष्ठ की खूंटी बनाता हुआ आया। श्रीकृष्ण ने पूछा—"यह क्या बना रहे हो?"

--"जो मेरे साथ घटी, कल की घटना की बात करेगा, उसके मुँह में ठोकने के लिए यह खूंटी बना रहा हूँ"—कुमार ने रोषपूर्वक कहा।

श्रीकृष्ण को पुत्र की उद्दंडता पर रोष हो आया। उन्होंने उसे नगर से निकल जाने का आदेश दिया। कुमार को अपनी स्थिति का भान हुआ और आज्ञा पालन नहीं करने का परिणाम सोचा। उसे विवश हो कर आज्ञा पालन करनी पड़ी। वह नगर त्याग के पूर्व प्रद्युम्नकुमार के पास पहुँचा और अपनी स्थिति कह सुनाई। प्रद्युम्न ने भ्रातृ-स्नेह-वश शाम्ब को प्रज्ञप्ति-विद्या प्रदान की और सहायता का आश्वासन दे कर बिदा किया।

सत्यभामा फिर छली गई

शाम्बकुमार का विरह प्रद्युम्न को अखरा। उसने निर्वासन आदेश समाप्त कराने की युक्ति सोची। वह भीरु को सताने लगा और भीरु अपनी माँ के सामने पुकार करने

लगा। भीरु की पुकार पर सत्यभामा भुनभुनाती हुई प्रद्युम्न के निकट आई और रोषपूर्वक बोली;—

"दुष्ट ! तू यहाँ क्यों रह गया ? जा तू भी टल यहाँ से।"

"मैं कहाँ जाऊँ माताजी"—सस्मित प्रद्युम्न ने पूछा।

"श्मशान में"—प्रद्युम्न को हँसता देख कर विशेष क्रोधित होती हुई सत्यभामा बोली।

"श्मशान में कब तक रहूँ और वहाँ से लौट कर कब आऊँ"—मुँह लटका कर उदास बने हुए प्रद्युम्न ने पूछा।

"जब मैं स्वयं शाम्ब का हाथ पकड़ कर नगरी में लाऊँ, तब तू भी आ जाना"—सत्यभामा ने कुछ सोच कर शर्त लगाई।

"माता की आज्ञा शिरोधार्य"—कह कर प्रद्युम्न चल दिया। वह श्मशान-भूमि में आया और शाम्ब भी वहाँ आ पहुँचा। दोनों ने वहीं अड्डा लगाया। उन्होंने जलाने के लिए लाये जाने वाले मूर्दों पर बहुत बड़ा कर लगा दिया। वे कर मिलने पर ही शव जलाने देते। कुछ-न-कुछ काम करना ही था उन्हें—श्मशान में रह कर। इससे उनकी हलचल बढ़ती और पिताश्री तक बात पहुँचती। वे यही चाहते थे।

सत्यभामा प्रसन्न थी। अब उसने भीरु का लग्न करने का विचार किया। उसने ९९ कन्याओं का प्रबन्ध कर लिया। अपने पुत्र का महत्व बढ़ाने के लिए वह १०० राजकुमारियों से एक साथ लग्न कराना चाहती थी। शेष एक कन्या की खोज की जाने लगी। प्रद्युम्न सब जानकारी प्राप्त करता था। उसे सत्यभामा का मनोरथ ज्ञात हो गया। उसने विद्या-बल से अपना एक वैभवशाली राजा का ठाठ बनाया और बड़े आडम्बर के साथ उद्यान में ठहरा। शाम्ब को उसने परम सुन्दरी राजकुमारी बनाई। वह वस्त्रालंकार से सुशोभित हो कर सखियों के साथ वाटिका में विचरण करने लगी। भीरुक की धात्रि-माता की दृष्टि उस पर पड़ी। वह उसके यौवन और सौन्दर्य पर आकर्षित हुई। उसके कुल-शील आदि का परिचय ले कर अपनी स्वामिनी के पास आई और राजकुमारी की बहुत प्रशंसा की। सत्यभामा ने दूत भेज कर, जितशत्रु राजा से अपने पुत्र के लिए राजकुमारी की याचना की।

जितशत्रु राजा बने हुए प्रद्युम्न ने कहा:—"मैं श्रीकृष्ण के सुपुत्र को अपनी पुत्री देना अपना अहोभाग्य मानता हूँ। किन्तु मेरी पुत्री बड़ी मानिनी है। उसने प्रण किया है कि—"मेरी सास महारानी हो, और वह स्वयं मेरा हाथ पकड़ कर मुझे समारोहसहित नगर-प्रवेश करा कर सम्मानपूर्वक ले जाय तथा रानियों

में मेरा अग्रस्थान हो और हस्त-मिलाप के समय मेरा हाथ ऊपर रहना स्वीकार हो, तभी मैं विवाह-बन्धन स्वीकार करूँगी।" उसकी इस प्रतिज्ञा के कारण ही सम्बन्ध में रुकावट आ रही है। यदि आप इसकी यह मामूली-सी टेक पूरी कर सकें, तो सम्बन्ध हो सकता है, अन्यथा आगे और कहीं देखेंगे।"

दूत ने महारानी को सन्देश पहुँचाया। महारानी स्वयं उद्यान में पहुँची। राजकुमारी का रूप और लावण्य देख कर बड़ी प्रसन्न हुई और राजकुमारी की शर्त स्वीकार कर ली। राजकुमारी बने हुए शाम्ब ने प्रज्ञप्ति-विद्या द्वारा ऐसा आभास उत्पन्न किया कि सत्यभामा और उसके परिजनों को तो वह एक सुन्दर राजकुमारी ही दिखाई दे, किन्तु दूसरों को शाम्बकुमार अपने वास्तविक रूप में दृष्टिगोचर हो। सत्यभामा ने राजकुमारी का हाथ पकड़ा और वाहनारूढ़ हो कर समारोहपूर्वक नगर-प्रवेश किया। नागरिकजन आश्चर्य करने लगे कि जिस महारानी सत्यभामा के कारण ही शाम्बकुमार को नगर का त्याग करना पड़ा था और जो शाम्ब और प्रद्युम्न पर अत्यन्त रुष्ट थी, वही उसे सम्मानपूर्वक कैसे ला रही है? किसी ने कहा—"अरे भाई! इनके पुत्र भीरुक कुमार का विवाह है, सो विवाह में तो रूठे हुओं को मना कर लाना ही पड़ता है। फिर शाम्बकुमार ने भी शर्त लगाई होगी कि—"अब तो मैं तभी आऊँ, जब कि आप खुद मुझे सम्मानपूर्वक ले जावें। इसलिये ऐसा करना पड़ा होगा।"

लग्न-मण्डप में शाम्ब ने भीरुक के दाहिने हाथ पर अपना बाँया हाथ रखा और शेष ९९ कन्याओं के बाँये हाथ पर अपना दाहिना हाथ रखा। विवाह-विधि पूर्ण होने के बाद शाम्ब शयन-कक्ष में आया और उसी समय भीरुक भी आया। शाम्ब ने भीरुक को दुत्कारते हुए धमकाया, तो भीरुक वहाँ से भागा और माता के पास जा कर पुकार की। सत्यभामा पहले तो स्तंभित रह गई, फिर उस स्थान पर आई और शाम्ब को देख कर क्रुद्ध हो गई। वह गर्जती हुई बोली;—

"दुष्ट, निर्लज्ज! क्यों आया तू यहाँ? तुझे कौन लाया यहाँ? राजाज्ञा की अवहेलना किसने कराई? बता, मैं अभी तुझे और उस राजद्रोही को अपनी दुष्टता का फल चखाती हूँ।"

"माताजी! आप क्रुद्ध क्यों होती हैं"—शाम्ब ने सत्यभामा के चरणों में प्रणाम करते हुए कहा—"आप ही तो मुझे सम्मानपूर्वक लाई और इतनी लड़कियों के साथ मेरा व्याह किया और अब आप ही अनजान बन रही हैं? वाह माताजी! आप भी गजब करती हैं। सारा नगर जानता है कि आप मुझे बड़ी खुशी के साथ गाजे-बाजे से

लाई हैं। यदि राज-द्रोह किया है, तो आपने। आप ही मुझे लाई और अब आप ही मुकर रही हैं।"

"क्या बकता है ? मैं लाई, और तुझे"—आश्चर्यपूर्वक सत्यभामा चीखी।

"हाँ, हाँ, आप लाई। सारा नगर साक्षी है, सभी ने देखा है। अब आप पलट रही हैं।"

सत्यभामा ने नगर में पुछवाया, तो शाम्ब का कथन सत्य निकला। सभी ने कहा—"हाँ, महारानीजी खुद शाम्बकुमार को हाथी पर, अपने पास बिठा कर और अपने हाथ में कुमार का हाथ लिये हुए चँवर डुलाती हुई लाई।"

"ओह, इन कपटियों ने मेरे साथ छल किया। राजकुमारी बन कर मुझे ठगी। मैं सीधीसादी भोली-भामा और यह कपटी संसार।"

"तू कपटी, तेरा बाप कपटी, तेरी माँ कपटी, तेरे भाई कपटी, सब कपटी ही कपटी। मैं अभी जा कर तेरे कपटी बाप की खबर लेती हूँ"—कहती हुई क्रुद्ध सत्यभामा चली गई।

शाम्ब भी अपने पिता, पितामह आदि को प्रणाम करने चला गया।

महाभारत युद्ध का निमित्त

अन्यदा कुछ व्यापारी यवन-द्वीप से विविध प्रकार की वस्तुएँ ले कर भारत आये। उनकी अन्य वस्तुएँ तो द्वारिका में बिक गई, परंतु रत्नकंबल नहीं बिके। व्यापारी भारत की बड़ी राजधानियों में घूमते हुए राजगृही आये और मगधेश्वर की पुत्री जीवयशा (कंश की विधवा) के पास पहुँचे। वे कम्बल बहुत ही कोमल और सूक्ष्म रोम से निर्मित एवं स्वर्ण-मुक्तादि जड़ित थे। वे ऋतु के अनुकूल ग्रीष्म में शीतल और शीत में उष्ण-स्पर्श दे कर सुख पहुँचाने वाले थे। जीवयशा को रत्नकम्बल भा गये, किंतु उनका मूल्य उसे बहुत लगा। उसने व्यापारियों के बताये हुए मूल्य से आधा मूल्य ही बताया, तब निराश हो कर व्यापारी बोले;—

"यदि इतने मूल्य में देना होता, तो द्वारिका में ही दे-देते। यहाँ तक लाने और चोर-उचक्कों से रक्षा करने का कष्ट ही क्यों उठाते ?"

"द्वारिका कहाँ है और उसका राजा कौन है"—जीवयशा ने पूछा।

"द्वारिका के स्वामी महाराजा कृष्ण हैं, जो वसुदेवजी के पुत्र और देवकी के आत्मज हैं। वे महाप्रतापी हैं। उनकी चहुँमुखी प्रतिभा सर्वविदित है"—व्यापारियों के प्रमुख ने कहा।

कृष्ण का नाम सुनते ही जीवयशा के हृदय में शोक के साथ क्रोध की ज्वाला उठी। व्यापारियों को विदा कर के वह शोक-मग्न हो गई। पुत्री के शोकाकुल होने की बात दासियों से सुन कर, जरासंध अन्तःपुर में आया और पुत्री से रुदन का कारण पूछा। वह रोती हुई बोली;—

"पिताजी! अब मुझे मरना ही होगा। अग्नि-प्रवेश के सिवाय अब मेरे जीवन का कोई मार्ग नहीं रहा। मुझे विधवा बनाने वाला दुष्ट कृष्ण तो द्वारिका में राज्याधिपति बना बैठा है। उसके जल-मरने की बात केवल मुझे भ्रमित करने के लिए ही कही गई थी।"

"हें, क्या कृष्ण जीवित है? अच्छा। वह मायावि छल से बच गया, परंतु अब वह नहीं बच सकेगा। पुत्री! तू चिन्ता मत कर। मैं उसका और यादव-कुल का समूल नाश कर के उसकी माता और पत्नियों को रुलाऊँगा। तू निश्चित रह। एकबार उसकी मायाचारिता चल गई। अब उसका बदला व्याज सहित लिया जायगा।"

जरासंध का युद्ध के लिए प्रयाण और अपशकुन

जरासंध ने राजसभा में आ कर मन्त्री को सेना सज्ज कर सौराष्ट्र पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। जरासंध के शब्द मुँह से निकलते ही अपशकुन हुए। मन्त्रियों ने विचार करने के बाद जरासंध से कहा;—

"स्वामी! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। किंतु इस आयोजन को बहुत सोच-समझने के बाद करना है। आपकी आज्ञा होते ही अनायास अपशकुन हुआ और मेरा मन भी कुछ हतोत्साही हो रहा है। इससे पूर्व स्वामी ने कई बार विजय-यात्रा की और युद्ध के आयोजन हुए, तब मैं सदैव उत्साहित रहा और प्रसन्नतापूर्वक सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की। किंतु आज प्रथमबार मेरी आत्मा अनुत्साहित हो रही है। इतना ही नहीं, आपश्री की आज्ञा ने हृदयमें आघात किया है। सर्व-प्रथम हमें विपक्ष की शक्ति एवं प्रभाव को देखना है। मैंने कुछ प्रवासियों एवं यात्रियों से द्वारिका की शासन-व्यवस्था और समृद्धि की प्रशंसा

सुनी है। लोग तो कहते हैं कि यादवों की नगरी और कृष्ण की द्वारिका का निर्माण देवों ने किया है और वह देवपुरी के समान है। कृष्ण का प्रताप बहुत बड़ा-चढ़ा है। आपही सोचिये कि कालकुमार की कठोर पकड़ से अक्षुण्ण बच निकलने और उन्हीं को काल के गाल में धकेलने का कोशल रचने का साहस कोई साधारण मनुष्य कैसे कर सकता है? ‡ बच्चे भूल कर जायँ, वे आगे-पीछे नहीं देखे और हठ पकड़ लें, तो बड़ों को उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। कृष्ण अपने से दूर-बहुत दूर है। हम पूर्व में और वह पश्चिम में है। हमें अब उस ओर नहीं देख कर शांति से रहना चाहिए। यह मेरी हाथजोड़ कर प्रार्थना है।"

दूसरे मन्त्रियों ने भी प्रधान-मन्त्री का समर्थन किया, किन्तु जरासंध नहीं माना।

पुत्री का दुःख उससे सहन नहीं हो रहा था और सुपुत्र कालकुमार की अकाल-मृत्यु भी उसके हृदय में खटक ही रही थी। वह मन्त्रियों का निराशापूर्ण बात सुन कर उत्तेजित हुआ। उसने मन्त्रियों को निर्देश दिया—"सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। सेना को शीघ्र ही प्रयाण करना है। मैं स्वयं भी सेना के साथ युद्ध-स्थल में पहुँच कर युद्ध करूँगा।"

सेना सज्ज हो कर चली। सेना में जरासंध के सहदेव आदि वीर पुत्र और चेदी-नरेश शिशुपाल भी अपनी सेना सहित सम्मिलित हुए। महापराक्रमी राजा हिरण्यनाभ, दुर्योधन आदि अनेक राजा और हजारों सामंत सम्मिलित हुए। जब महाराजाधिराज जरासंध वाहनारूढ़ होने लगा, तो मस्तक से उसका मुकुट गिर पड़ा और किसी वस्तु में उलझ कर गले का हार टूट गया, मोती बिखर गये, उत्तरीय वस्त्र में पाँव फँस गया और संमुख ही छींक हुई। इसके सिवाय बायाँ नेत्र फड़का, हाथियों ने एक साथ विष्ठा-मूत्र किया, पवन प्रतिकूल चलने लगा और आकाश में सेना के ऊपर ही गिद्ध-पक्षी मँडराने लगे। इस प्रकार अनायास ही अपशकुन हुए, जो इस प्रयाण को अनिष्टकारी और दुःखांत परिणाम की सूचना दे रहे थे। किन्तु उसका पतनकाल निकट आ रहा था और अधोगति में ले जाने वाली कषायें तीव्र हो रही थी। इसलिए वह सब की अवज्ञा करता हुआ, वाहनारूढ़ हो कर चला। सेना के प्रयाण से उड़ी हुई धूल ने आकाश को बादल के समान छा दिया और भूमि कम्पायमान होने लगी। सेना क्रमशः आगे बढ़ने लगी।

---

‡ पृ. ३८४

श्रीकृष्ण की सेना भी सीमा पर पहुँची

जरासंध का युद्ध-प्रयाण नारदजी को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने तत्काल श्रीकृष्ण को सूचना दी और सावधान किया। राज्य के भेदियों ने भी सीमान्त के दूर प्रदेश से आई हुई युद्ध-लहर का सन्देश भेजा। इसलिये द्वारिका में भी युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। महाराजा का सन्देश पा कर राज्य के योद्धा और सामंतगण शस्त्र-सज्ज हो कर आने लगे।

समुद्र के समान दुर्धर एवं गम्भीर समुद्रविजयजी अपने महाबलवान् पुत्रों—महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, भगवान् अरिष्टनेमि, जयसेन, हाजय, तेजसेन, जय, मेघ, चित्रक, गौतम, स्वफल्क, शिवनन्द और विश्वक्सेन शस्त्र धारण किये हुए उपस्थित हुए। समुद्रविजयजी के अनुज-बंधु अक्षोभ्य और उनके आठ पुत्र—उद्धव, धव, शुंभित, महोदधि, अंशोनिधि, जलनिधि, वामनदेव और दृढ़व्रत सहित उपस्थित हुए। अक्षोभ्य से छोटे भाई स्तिमित और उसके पाँच पुत्र--उर्मिमान्, वसुमान्, वीर, पाताल और स्थिर भी उत्साह-पूर्वक सम्मिलित हुए। सागर और उसके— निष्कम्प, कम्पन, लक्ष्मीवान्, केसरी, श्रीमान् और युगान्त नाम के छः पुत्र भी आ पहुँचे। हिमवान् और उसके--विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान्--ये तीन पुत्र भी रणभूमि में अपना युद्ध-कौशल दिखाने को आ पहुँचे। महेन्द्र, मलय, सह्य, गिरि, शैल, नग और बल, इन सात पुत्रों के साथ अचल दशार्ह भी रथारूढ़ हो कर युद्धार्थ आये। कर्कोटक, धनंजय, विश्वरूप, श्वेतमुख और वासुकी, इन पाँच पुत्रों के साथ धरणदशार्ह भी सम्मिलित हुए। पूरण दशार्ह के साथ—दुःपुर, दुर्मुख, दुर्दश और दुर्धर—ये चार पुत्र, अभिचन्द्र और उसके—चन्द्र, शशांक, चन्द्राभ, शशि, सोम और अमृतप्रभः ये छः पुत्र और दशार्ह में सब से छोटे वसुदेव और उनके बहुत-से पुत्र भी शत्रु से लोहा लेने के लिए आ उपस्थित हुए। श्री बलदेवजी और उनके--उल्मुक, निषध, प्रकृति, द्युति, चारुदत्त, ध्रुव, शत्रुदमन, पीठ, श्रीध्वज, नन्दन, श्रीमान्, दशरथ, देवानन्द, आनन्द, विपृथु, शान्तनु, पृथु, शतधनु, नरदेव, महाधनु और दृढ़धन्वा आदि बहुत-से पुत्र भी सम्मिलित हुए। श्रीकृष्ण के पुत्रों में—भानु, भामर, महाभानु, अनुभानुक, बृहद्ध्वज, अग्निशिख, धृष्णु, संजय, अकंपन, महासेन, धीर, गंभीर, उदधि, गौतम, वसुधर्मा, प्रसेनजित, सूर्य, चन्द्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भरत, शंख, प्रद्युम्न और शाम्ब तथा अन्य हजारों महापराक्रमी पुत्र स्वेच्छा से उत्साह पूर्वक सन्नद्ध हो कर उपस्थित हुए।

उग्रसेन और उनके—धर, गुणधर, शक्तिक, दुर्धर, चन्द्र और सागर नाम वाले पुत्र तथा श्रीकृष्ण के अन्य सम्बन्धी भी उपस्थित हुए थे।

उधर युधिष्ठिर आदि पाण्डव, दुर्योधन से प्रेरित हो कर पहले से ही युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। दुर्योधन ने सोचा कि श्रीकृष्ण, पाण्डवों का पक्ष ले कर आये थे और वे

पाण्डवों के सहायक बनेंगे, ऐसी दशा में जरासंध जैसे महाप्रतापी और अत्यन्त शक्तिशाली का आश्रय लेने से ही मैं पाण्डवों को मिटा कर, निष्कंटक राज कर सकूंगा। उसने जरासंध द्वारा श्रीकृष्ण पर की गई चढ़ाई में जरासंध का साथ दिया और पाण्डव, द्वारिका की सेना के साथी हो गए।

शुभ मुहूर्त में सेना का प्रयाण हुआ। श्रीकृष्ण गरुड़ध्वज युक्त रथ पर आरूढ़ हुए। दारुक उनका रथ-चालक था। अनेक राजाओं, सामन्तों और योद्धाओं से युक्त श्रीकृष्ण-बलदेव रणभूमि की ओर बढ़ने लगे। प्रयाण के समय उन्हें शुभ एवं विजय-सूचक शकुन हुए। द्वारिका से पेंतालीस योजन दूर सेनपल्ली गाँव के निकट यादवी-सेना का पड़ाव हुआ।

कुछ विद्याधर राजा समुद्रविजयजी के निकट आये और नम्रतापूर्वक निवेदन किया;—"राजन्! हम आपके बन्धु श्रीवसुदेवजी के गुणों पर मुग्ध हो कर वशीभूत बने हुए हैं, फिर आपके घर, धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् और वासुदेव-बलदेव जैसी महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुई है। उनके प्रभाव के आगे किसी का बल काम नहीं देता। अतएव आपको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, किंतु उपयुक्त समय होने से हम भी अपनी भक्ति समर्पित करने आये हैं। कृपया हमें भी अपने सामंतों के साथ युद्ध के साथी बना लीजिये।" समुद्रविजयजी ने विद्याधरों का आग्रह स्वीकार किया, तब विद्याधर राजा बोले;—

"वैताढ्य पर्वत पर के कुछ विद्याधर राजा, जरासंध के पक्ष के हैं। वे सेना ले कर आने वाले हैं। हमारा विचार है कि उनको वहीं रोक दें। इसलिए हमारी सेना के सेनापति श्री वसुदेवजी को बनावें। आप उन्हें तथा शाम्ब और प्रद्युम्न को हमारे साथ भेज दें। इससे सभी विद्याधरों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और सरलता से विजय हो जायगी।"

समुद्रविजयजी ने विद्याधरों की बात स्वीकार की और वसुदेवजी तथा शाम्ब एवं प्रद्युम्न कुमार को जाने की आज्ञा दे दी। अरिष्टनेमि कुमार ने अपने जन्मोत्सव के प्रसंग पर, देव द्वारा अर्पित की गई अस्त्रवारिणी औषधी वसुदेवजी को दे दी।

श्रीकृष्ण और जरासंध की सेना के पड़ाव में चार योजन की दूरी रही और दोनों सेनाएँ अपनी-अपनी व्यवस्था में संलग्न हो गई।

मन्त्रियों का परामर्श ठुकराया

जरासंध के समीप उसका हंसक नामक मन्त्री, कुछ मन्त्रियों के साथ उपस्थित हुआ और नम्रतापूर्वक निवेदन किया; —

"स्वामिन् ! हम आपके मन्त्री हैं और आपके हित में निवेदन करते हैं। महाराज ! परिस्थिति पर विचार कीजिए। यादव-कुल अभी उन्नति के शिखर पर पहुँच रहा है। जिस वसुदेव को मरवाने का आपने भरपूर प्रयत्न किया, वह नहीं मर सका। रोहिणी के स्वयंवर में ही आपने वसुदेव के वल को प्रत्यक्ष देख लिया है, जिसे आपके वीर योद्धा, सामन्त तथा सेना नहीं जीत सके × । उसके वलदेव और कृष्ण नाम के दो पुत्रों के वल, पराक्रम एव अभ्युदय का तो कहना ही क्या ? उनके अभ्युदय के प्रभाव से देव भी उनके सहायक हैं। युवराज कालकुमार को भ्रमित कर के जीवित ही चिता में झोंक कर भस्म करने वाला उनका दैवी-प्रभाव हम देख ही चुके हैं। जिनके लिए देव ने एक रात्रि में ही देवलोक के समान अनुपम नगरी वसा दी, उसके वृद्धिगत प्रभाव को देख कर हमें शान्त रहना चाहिए।

जिसने अपनी वाल अवस्था में राक्षसों को मार डाला, किशोरवय में महावली कंसजी को देहगत कर दिया और अकेले वलदेवजी ने रुक्मी नरेश और शिशुपाल को सेना सहित पराजित कर के रुक्मिणी को ले आये, उन महावीरों से युद्ध करने के पूर्व आपको गम्भीर विचार करना है। आपके साथी शिशुपाल, दुर्योधन आदि उनके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखते, जवकि उधर कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और शाम्व भी राम-कृष्ण जैसे हैं और पाण्डव जैसे महावली भी उनके आश्रय में रहते हुए युद्ध करने आये हैं।

"महाराज ! जिनके घर त्रिलोकपूज्य भावी तीर्थंकर भगवान् ने जन्म लिया, जिनका जन्मोत्सव करने देवलोक के इन्द्र आवें, उन अनन्तवली के सामने जूझने को तत्पर होना, अपने-आपको जीवित ही महानल में झोंकना है। हम आपके आश्रित हैं और आपके तथा साम्राज्य के हित के लिए आपसे निवेदन करते हैं। यदि आप शान्ति से विचार करेंगे, तो आपको हमारे कथन की सत्यता ज्ञात होगी और वैर-विरोध का वातावरण पलट कर मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा।"

जरासंध को अपने मन्त्रियों का परामर्श नहीं भाया। उसका दुर्भाग्य उसे सही दिशा में सोचने ही नहीं दे रहा था। वह क्रोधातुर हो कर वोला; —

"हंसकादि मन्त्रियों ! या तो तुम शत्रुओं के प्रभाव से भयभीत हो कर कायर

× पृ. ३५६ ।

बन गए हो, या तुम्हें यादवों ने घूस दे कर अपने पक्ष में कर लिया है। इसीसे तुम ऐसी बातों से मुझे डरा कर शत्रु के समक्ष झुकाना चाहते हो। किन्तु याद रखो कि केसरी-सिंह कभी गीदड़भभकी से नहीं डरता। तुम देखोगे कि मैं इन ग्वालियों के झुण्ड को क्षण-भर में नष्ट कर दूँगा। तुम्हारी दुराशययुक्त बात उपेक्षणीय ही नहीं, धिक्कार के योग्य है।"

जरासंध द्वारा हंसक-मन्त्री आदि के तिरस्कार से उत्साहित होता हुआ डिंभक नाम का मन्त्री बोला;—

"महाराज ! आपका कथन यथार्थ है। रणभूमि में खड़े होने के बाद पीछे हट कर जीवित रहने से तो युद्ध में कट-मरना बहुत ही अच्छा है, यशस्वी है और वीरोचित है। इसलिए आप अन्य विचार छोड़ कर अभेद्य ऐसे चक्रव्यूह की रचना कर के युद्ध प्रारंभ कर दीजिए।"

डिंभक की बात जरासंध ने हर्ष के साथ स्वीकार की और अपने सेनापतियों को बुला कर चक्रव्यूह रचने की आज्ञा दी। इसके बाद हंसक, डिंभक आदि मन्त्रियों और सेनापतियों ने मिल कर चक्रव्यूह की रचना की।

युद्ध की पूर्व रचना

एक हजार आरा वाले चक्र के आकार का व्यूह (स्थापना—रचना) बनाया गया। प्रत्येक आरक पर एक बलवान् बड़ा राजा अधिकारी बनाया गया। प्रत्येक अधिकारी राजा के साथ एक सौ हाथी, दो हजार रथ, पाँच हजार अश्व और सोलह हजार पदाति सैनिकों का जमाव किया गया। चक्र की परिधि (घेरा—बाहरी वृत्ताकार सीमा) पर सवा छह हजार राजा रहे। चक्र के मध्य में पाँच हजार राजाओं और अपने पुत्रों के साथ स्वयं जरासंध रहा। चक्र के पृष्ठ-भाग में गान्धार और सैंधव देश की सेना रही। दक्षिण में धृतराष्ट्र के सौ पुत्र सेना सहित रहे। बाईं ओर मध्य-प्रदेश के राजा रहे और आगे अनेक राजा सेना सहित जम गए।

चक्रव्यूह के आगे शकट-व्यूह की रचना की गई और उसके प्रत्येक सन्धि-स्थान पर पचास-पचास राजा रहे। सन्धि के भीतर एक गुल्म (इसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ अश्वारोही और ४५ पदाति होते हैं) से दूसरे गुल्म में जाने योग्य रचना की गई, जिसमें अनेक राजा और सैनिक रहे। चक्रव्यूह के बाहर अनेक प्रकार के व्यूह बना कर चक्रव्यूह को

सुदृढ़ एवं अभेद्य बना दिया। इसके बाद विख्यात, पराक्रमी एवं महान् योद्धा कोशलाधिपति हिरण्यनमि का सेनाधिपति पद पर अभिषेक किया। इस कार्य में सारा दिन व्यतीत हो गया और संध्या हो गई।

शत्रु की व्यूह-रचना देख कर, उसी रात्रि को यादवों ने एक ऐसे गरुड़-व्यूह की रचना की कि जो शत्रु से अभेद्य रह सके। उस व्यूह के अग्रभाग में अर्धकोटि राजकुमार रहे जो महावीर थे। उनके आगे श्रीकृष्ण और बलदेवजी रहे। उनके पीछे अक्रूर, कुमुद, पद्म, सारण, विजयी, जय, जराकुमार, सुमुख, दृढ़मुष्टि, विदुरथ, अनाधृष्टि और दुर्मुख इत्यादि वसुदेव के एक लाख पुत्र रथारूढ़ हो कर रहे। उनके पीछे उग्रसेनजी एक लाख रथियों सहित रहे। उनके पीछे उनके चार पुत्र, उनके रक्षक के रूप में रहे। उनके पीछे, धर, सारण, चन्द्र, दुर्धर और सत्यक नामक राजा रहे। राजा समुद्रविजयजी अपने महापराक्रमी दशार्ह बन्धुओं और उनके पुत्रों के साथ व्यूह के दक्षिण पक्ष में रहे। उनके पीछे महानेमि, सत्यनेमी, दृढ़नेमि, सुनेमि, अरिष्टनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति नाम के समुद्रविजयजी के कुमार रहे। साथ ही अन्य राजागण पच्चीस लाख रथियों सहित समुद्रविजयजी के सहायक बन कर रहे। बलदेवजी के पुत्र और युधिष्ठिरादि पाण्डव, बाईं ओर डट गए। उल्मूक, निषध, शत्रुदमन, प्रकृतिद्युति, सत्यकी, श्रीध्वज, देवानन्द, आनन्द, शान्तनु, शतधन्वा, दशरथ, ध्रुव, पृथु, विपृथु, महाधनु, दृढ़धन्वा, अतिवीर्य और देवनन्द--ये सब पच्चीस लाख रथिकों से परिवृत्त हो कर, धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्रों का संहार करने के लिए सन्नद्ध हो कर पाण्डवों के पीछे खड़े हो गए। उनके पीछे चन्द्रयश, सिंहल, बर्बर, कांबोज, केरल और द्रविड़ के राजा नियत हुए। उनके पीछे धैर्य और बल के शिखर समान महासेन का पिता अपने आठ हजार रथियों सहित आ डटा। उसके सहायक हुए—भानु, भामर, भीरु, असित, संजय, भानु, धृष्णु, कम्पित, गौतम, शत्रुंजय, महासेन, गंभीर, बृहद्ध्वज, वसुवर्म, उदय, कृतवर्मा, प्रसेनजित्, दृढ़वर्मा, विक्रांत और चन्द्रवर्मा--ये सभी उन्हें घेर कर रक्षक बन गए। इस प्रकार गरुड़ध्वज (श्रीकृष्ण) ने गरुड़व्यूह की रचना की।

श्री अरिष्टनेमिनाथ को भ्रातृ-स्नेहवश युद्धस्थल में आये जान कर, शक्रेन्द्र ने अपने विजयी शस्त्रों और रथ सहित मातलि रथी को भेजा। वह रत्नजड़ित रथ अपने प्रकाश से प्रकाशित होता हुआ सभी जनों को आश्चर्यान्वित कर रहा था। जब मातलि रथी ने श्री नेमिनाथ से निवेदन किया, तो वे रथारूढ़ हो गए।

श्री समुद्रविजयजी के परामर्श से श्रीकृष्ण ने अपने अनुज-बन्धु अनाधृष्टि का सेनापति-पद का अभिषेक किया। श्रीकृष्ण की सेना में जयजयकार की घोर ध्वनि हुई। इस ध्वनि को सुन कर शत्रु-सैन्य क्षुभित हो गया।

युद्ध वर्णन

युद्ध प्रारंभ हो गया। सर्वप्रथम दोनों ओर अग्रभाग में रही सेना जूझने लगी। एक-दूसरे पर अस्त्र-वर्षा करने लगे। इस प्रकार दोनों ओर से वहुत देर तक संघर्ष चलता रहा, फिर जरासंध के सैनिकों ने सम्मिलित हो, व्यवस्थित प्रहार से गरूड़-व्यूह के सैनिकों की पंक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसी समय श्रीकृष्ण ने अपने सैनिकों को आश्वस्त किया। दक्षिण तथा वाम भाग पर रहे हुए महानेमि और अर्जुन तथा अग्रभाग पर रहे हुए अनाधृष्टि—इन तीनों ने क्रोधित हो कर शंखनाद किया। तीनों के शंख के सम्मिलित नाद और सामूहिक वादिन्त्र की गंभीर ध्वनि ने जरासंध की सेना का मनोवल तोड़ दिया। इसके बाद नेमि, अनाधृष्टि और अर्जुन, बाणों की घोर-वर्षा करते हुए आगे बढ़े। इनके प्रवल-प्रहार को सहन करना विपक्ष के राजाओं के लिये अत्यंत कठिन हो गया। वे अपने शकट-व्यूह का स्थान छोड़ कर भाग गए। इन तीनों वीरों ने तीन स्थान से चक्रव्यूह को खंडित कर दिया और व्यूह के भीतर घुस गए। उनके साथ उनकी सेना ने भी प्रवेश किया। इनका अवरोध करने के लिए जरासंघ के पक्ष के दुर्योधन, रौधिरि और रुक्मि आगे आये। दुर्योधन अपने महारथियों के साथ अर्जुन के संमुख आया। रौधिरि अनाधृष्टि के सामने और रुक्मि, महानेमि से टक्कर लेने लगा। इन तीनों के साथ उनकी रक्षक-सेना भी थी। छहों महावीरों का द्वंद्व-युद्ध प्रारंभ हुआ। वीरवर महानेमि ने रुक्मि का रथ और अस्त्र नष्ट कर के वध्य-स्थिति पर ला दिया। रुक्मि की दुर्दशा देख कर शत्रुंतप आदि सात राजा उसकी रक्षार्थ आये, किंतु महानेमि के महा-प्रहार से सातों के धनुष्य टूट कर व्यर्थ हो गए। शत्रुंतप को अन्य कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया, तो उसने महानेमि पर एक शक्ति फेंकी। उस दैविक-शक्ति में से विविध प्रकार के भयंकर अस्त्र धारण करने वाले क्रूरकर्मी हजारों किन्नर उत्पन्न हो कर महानेमि की ओर धावा करने चले। उस जाज्वल्यमान शक्ति को देख कर यादव-सेना भयभीत हो गई। महारथी भी चिन्तित हो गए। इन्द्र के भेजे हुए मातलि ने राजकुमार अरिष्टनेमि से कहा—"स्वामिन्! यह वह शक्ति है, जिसे रावण ने धरणेन्द्र से प्राप्त की थी। इसका भेदन मात्र वज्र से

ही होता है। इसलिए इससे रक्षा तभी हो सकती है, जब कि महानेमि के बाण में वज्र संक्रमित किया जाय। आज्ञा हो, तो मैं वैसा करूँ।" अरिष्टनेमिजी की आज्ञा प्राप्त कर मातलि ने वैसा ही किया। इससे महानेमि के बाण से वह शक्ति आहत हो कर भूमि पर गिर पड़ी। इसके बाद ही शत्रुंतप के रथ और धनुष को तोड़ कर उसे निरस्त कर दिया गया और साथ ही उसके साथी छह राजाओं की भी यही दशा बना दी गई। इतने में रुक्मि शस्त्र-सज्ज हो कर दूसरे रथ में बैठ कर आया और शत्रुंतप युक्त सातों वीर फिर महानेमि से युद्ध करने लगे। महानेमि ने रुक्मि नरेश के बीस धनुष तोड़ डाले, तब उसने कोबेरी नामक गदा उठा कर महानेमि पर फेंकी, उसे महानेमि ने अग्न्यस्त्र से भस्म कर दी। इसके बाद अपने शत्रु को समाप्त करने के लिए रुक्मि राजा ने महानेमि पर वैरोचन बाण छोड़ा, जिससे लाखों बाणों की मार एक साथ हो सकती है। इस बाण को नष्ट करने के लिए महानेमि ने माहेन्द्र बाण छोड़ा और साथ ही दूसरा बाण मार कर रुक्मि के ललाट पर प्रहार किया। इस प्रहार से रुक्मि घायल हो गया। वेणुदारी उसे उठा कर एक ओर ले गया। उसके हटते ही शत्रुंतपादि सातों राजा भी रणक्षेत्र से हट गए।

उधर समुद्रविजयजी ने द्रुमक को, स्तिमित ने भद्रक को और अक्षोभ ने वसुसेन को पराजित किया। सागर ने पुरिमित्र को मार डाला। हिमवान् ने धृष्टद्युम्न को नष्ट किया। धरण ने अन्वष्टक को, अभिचन्द्र ने शतधन्वा को, पूरण ने द्रुपद को, सुनेमि ने ने कुंतिभोज को सत्यनेमि ने महापद्म को और दृढ़नेमि ने श्रीदेव को पराजित किया। इस प्रकार यादव-कुल के वीरों द्वारा पराजित हुए शत्रुपक्ष के राजा अपने सेनापति हिरण्यनाभ की शरण में आये। दूसरी ओर भीम, अर्जुन और बलदेवजी के पुत्रों ने धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों को रणभूमि छोड़ कर पलायन करने पर विवश कर दिया। अर्जुन के गांडिव धनुष के घोर निर्घोष से सभी के कान बहरे हो गए। उसकी वेगपूर्वक बाण-वर्षा से निकले हुए बाण और उन बाणों में से भी लगातार क्रमबद्ध निकले हुए अन्तर्बाणों से आकाश ढक कर अन्धकार छा गया। अर्जुन के प्रहार से आतंकित हो कर दुर्योधन, काशी, त्रिगर्त, सबल, कपोत, रोमराज, चित्रसेन, जयद्रथ, सौवीर, जयसेन, शूरसेन और सोमक राजा ने युद्ध का नियम त्याग कर सभी अर्जुन पर सम्मिलित प्रहार करने लगे।

सहदेव, शकुनि से भिड़ा, भीम ने दुःशासन को लक्ष्य बनाया, नकुल उलूक पर, युधिष्ठिर शल्य पर और द्रौपदी के सत्यकी आदि पाँच पुत्रों ने दुर्मर्षण आदि छह राजाओं पर तथा बलदेवजी के पुत्र, अन्य राजाओं पर प्रहार करने लगे। युद्ध उग्र होता गया। अकेला अर्जुन दुर्योधनादि अनेक राजाओं के साथ युद्ध करता हुआ उनके धनुष-बाण का

छेदन करने लगा। अर्जुन के प्रहार से दुर्योधन का रथ, घोड़े और चालक भग्न हो गए और दुर्योधन का कवच भी टूट कर गिर पड़ा। अपने को अरक्षित पा कर वह घबराया और भाग कर शकुनी के रथ पर चढ़-बैठा।

अर्जुन द्वारा मेघवृष्टि के समान बाण-वर्षा होने से काशी आदि दस राजा आक्रांत हुए, किंतु शल्य ने युधिष्ठिरजी के रथ की ध्वजा तोड़ कर गिरा दी। बदले में युधिष्ठिरजी ने शल्य के धनुष का छेदन कर डाला। शल्य ने दूसरा धनुष ले कर बाण-वर्षा से युधिष्ठिरजी को ढक दिया। युधिष्ठिरजी ने एक दुःसह शक्ति, शल्य पर फेंकी। शल्य ने उस शक्ति को खण्डित करने के लिए बहुत बाण छोड़े, परंतु व्यर्थ गए और शल्य का जीवन ही समाप्त हो गया। शल्य का मरण होते ही बहुत-से राजा पलायन कर गए। उधर भीम ने दुःशासन से द्युतक्रीड़ा के समय की हुई, मायाचारिता और द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिए उसे उसके दुष्कृत्य का स्मरण कराते हुए, काल के गाल में ठूंस दिया। सहदेव ने गान्धार की मायावी चाल से क्षुब्ध हो कर एक भयंकर बाण छोड़ा। दुर्योधन ने उस बाण को मध्य में ही नष्ट कर के शकुनि को बचा लिया। यह देख कर सहदेव ने दुर्योधन की भर्त्सना करते हुए कहा—

"अरे, ओ मायावि दुर्योधन ! द्युतक्रीड़ा में तेने छल-प्रयोग किया, वैसा यहाँ भी करता है ? किन्तु अब तेरा छल नहीं चल सकेगा। अच्छा हुआ कि तुम दोनों साथ ही मेरे सामने आये। मैं तुम दोनों को साथ ही यमधाम पहुँचा कर तुम्हारा साथ अक्षुण्ण रखूंगा।"

इतना कह कर सहदेव ने बाण-वर्षा से दुर्योधन को आच्छादित कर दिया। दुर्योधन ने भी तीव्र बाण-वर्षा से सहदेव को आक्रान्त किया और उसका धनुष काट दिया और साथ ही एक मन्त्राधिष्ठित अमोघ-बाण सहदेव को समाप्त करने के लिए छोड़ा, किन्तु अर्जुन ने गरुड़ास्त्र छोड़ कर दुर्योधन के बाण का बीच ही से निवारण कर दिया। दूसरी ओर से शकुनि ने भी भयंकर बाण-वर्षा कर के सहदेव को आच्छादित कर दिया। किन्तु सहदेव ने अपने भीषण-प्रहार से शकुनि को उसके रथ, घोड़े और सारथि सहित समाप्त कर दिया।

कर्ण का वध

नकुल ने उलुक राजा का रथ तोड़ कर नीचे गिरा दिया। उलुक भाग कर दुर्मर्षण के रथ पर चढ़ बैठा, तो द्रौपदी के सत्यकि आदि पाँच पुत्रों ने दुर्मर्षण आदि छह राजाओं

की बहुत कदर्थना की । वे भाग कर दुर्योधन की शरण पहुँचे । दुर्योधन, काशी आदि नरेशों सहित युद्ध करने के लिए अर्जुन के सम्मुख आए । अर्जुन भी वलदेवजी के पुत्रों से परिवृत्त हो कर वाण-वृष्टि करने लगा । अर्जुन की अचूक मार से दुर्योधन की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और उसके जयद्रथ नाम के महाबली योद्धा को गतप्राण कर दिया । जयद्रथ का प्राणान्त देख कर क्रोधान्ध हुआ वीरवर कर्ण, अर्जुन को समाप्त करने के लिए कानपर्यन्त धनुष खिंच कर आगे आया और बाण-वर्षा करने लगा । दोनों महावीरों के आघात-प्रत्याघात बहुत काल तक चलते रहे । अर्जुन के प्रहार से कर्ण कई वार रथविहीन हो गया और उसे नये-नये रथ और अस्त्र ले कर युद्ध करना पड़ा । अन्त में रथ-विहीन कर्ण मात्र खड्ग ले कर ही अर्जुन पर दौड़ा, किंतु अर्जुन के प्रहार से वह भी कालकलवित हो गया । कर्ण के मरण से हर्षोन्मत्त हो कर भीम ने सिंहनाद किया, अर्जुन ने शंखनाद किया और पाण्डवों की सेना ने विजय-गर्जना कर के हर्ष व्यक्त किया । उधर शत्रु-सेना में शोक का वातावरण छा गया ।

दुर्योधन का विनाश

कर्ण के विनाश से दुर्योधन क्रोधोन्मत्त हो, अपनी गज-सेना ले कर भीम से युद्ध करने आ पहुँचा । भीम ने भी हाथी के सामने हाथी, अश्वारोही के सामने अश्वारोही रथ-सेना के साथ रथियों को भिड़ा कर इतना तीव्र प्रहार किया कि दुर्योधन की सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई । दुर्योधन ने अपनी बची-खुची सेना को साहस भर कर एकत्रित की और स्वयं भीमसेन के संमुख आया । दोनों वीर, सिंह के समान गर्जना करते हुए चिर-काल तक विविध प्रकार के युद्ध करते रहे । अंत में द्युतक्रीड़ा के समय की हुई अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए भीम ने अपनी गदा के भीषण प्रहार से दुर्योधन का उसके रथ सहित चूर्ण कर दिया । दुर्योधन का विनाश, पाण्डवों की महान् सिद्धि थी । पाण्डवों के हर्ष का पार नहीं रहा ।

सेनापति मारा गया

दुर्योधन की मृत्यु के बाद उसके अनाथ सैनिक, सेनाधिपति हिरण्यनाभ की शरण में गये । हिरण्यनाभ इस दुःखद घटना से अत्यन्त क्रोधित हुआ और यादवी-सेना को

उपद्रवित एवं पीड़ित करता हुआ सेना के अग्रभाग पर आ कर अंटसंट बकने लगा। उसकी वाचालता देख कर अभिचन्द्र ने कहा—"अरे, ओ क्षुद्र! बकता क्यों है? लड़ना हो, तो तू भी आ सामने और कर्ण तथा दुर्योधन का साथी बन जा।" अभिचन्द्र के वचन से हिरण्यनाभ विशेष उत्तेजित हुआ और तीक्ष्ण बाण-वर्षा से उसे पीड़ित करने लगा। हिरण्यनाभ के प्रहारों की भीषणता जान कर अर्जुन ने उसके बाणों को मध्य में ही काट-फेंकना प्रारंभ किया। हिरण्यनाभ अभिचन्द्र को छोड़ कर अर्जुन की ओर मुड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अर्जुन पर प्रहार करने लगा। दोनों का युद्ध चल ही रहा था कि भीमसेन आ पहुँचा और अपने भारी गदा-प्रहार से उसे रथ से नीचे गिरा दिया। हिरण्यनाभ उठा और लज्जा-मिश्रित क्रोध से अपने होंठ काटता हुआ पुनः रथारूढ़ हुआ और तीक्ष्ण प्रहार करने लगा। इसबार उसका सामना करने के लिए उसका भानेज जयसेन आया, जो समुद्रविजयजी का पुत्र था। हिरण्यनाभ ने जयसेन के सारथि को मार डाला। इससे विशेष कुपित हो कर जयसेन ने अपने भीषणतम प्रहार से हिरण्यनाभ के रथी को मारने के साथ उसका धनुष भी काट दिया और रथ की ध्वजा काट कर गिरा दी। हिरण्यनाभ ने लगातार ऐसे मर्मवेधी दस बाण मारे, जिससे जयसेन मारा गया। जयसेन की मृत्यु से उसका भाई महीजय क्रोधातुर हो कर रथ से नीचे उतरा और ढाल-तलवार ले कर हिरण्यनाभ पर झपटा। महीजय को अपनी ओर आता देख कर हिरण्यनाभ ने क्षुरप्र बाण मार कर उसका मस्तक छेद डाला। अपने दो बन्धुओं का वध देख कर अनाधृष्टि, हिरण्यनाभ से युद्ध करने आया और दोनों योद्धा लड़ने लगे।

जरासंध-पक्ष के योद्धागण यादवों और पाण्डवों के साथ पृथक्-पृथक् द्वंद्व युद्ध करने लगे। प्राग् ज्योतिषपुर का राजा भगदत्त, हाथी पर चढ़ कर महानेमि के साथ युद्ध करने आया और गर्वोक्ति में बोला—"महानेमि! मैं तेरे भाई का साला रुक्मि या अश्मक नहीं हूँ जिसे तू मार सकेगा। मैं नारक जीवों के शत्रु कृतांत—यमराज जैसा हूँ। इसलिए तू मेरे सामने से हट जा।" इतना कहने के बाद वह अपना हाथी महानेमि के रथ के निकट लाया और रथ को हाथी से पकड़वा कर घुमाया। किंतु महानेमि ने हाथी के उठाये हुए पाँव में बाण मारे, जिससे हाथी भगदत्त सहित पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस समय महानेमि ने हँसते हुए और व्यंग-बाण मारते हुए कहा—"हाँ, वास्तव में तू रुक्मि नहीं है और मैं तुझे रुक्मि के रास्ते भेज कर हत्या का पाप लेना भी नहीं चाहता"—इतना कह कर उसे अपने धनुष का स्पर्श करा कर छोड़ दिया।

उधर भूरिश्रवा और सत्यकी, जरासंध और श्रीकृष्ण युद्ध-रत थे और विजय प्राप्त

करने के लिए मानवी और दिव्य-अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे। इनका घात-प्रतिघात रूप युद्ध चलता ही रहा। वे शस्त्र छोड़ कर परस्पर मुष्टि-युद्ध भी करते, बाहुयुद्ध करते थे। इनके प्रहार और हुँकार से लोक कम्पायमान होने लगा। अन्त में सत्यकी ने भूरिश्रवा को पकड़ कर मार डाला।

अनाधृष्टि और हिरण्यनाभ का युद्ध उग्र रूप से चल रहा था। जब अनाधृष्टि ने हिरण्यनाभ का धनुष काट डाला, तो उसने एक थंभे जैसी दृढ़ और बड़ी लोह-अर्गला उठा कर अनाधृष्टि पर इतने बल से फेंकी कि उसमें से चिनगारियाँ निकलने लगी। अनाधृष्टि ने बाण मार कर उसे बीच में ही काट दी। अपना प्रहार व्यर्थ जाता देख कर हिरण्यनाभ रथ में से उतरा और खड्ग ले कर अनाधृष्टि पर दौड़ा। यह देख कर श्री बलदेवजी रथ से उतरे और स्वयं खड्ग ले कर हिरण्यनाभ से जूझने लगे। विविध प्रकार के दाव-पेंच से बहुत काल तक दोनों का खड्ग-द्वंद्व चलता रहा। इस दीर्घकाल के द्वंद्व से हिरण्यनाभ थक गया। इसके बाद अनाधृष्टि ने ब्रह्मास्त्र से प्रहार कर उसे समाप्त कर दिया।

शिशुपाल सेनापति बना

हिरण्यनाभ के गिरते ही सेना के अन्य अधिकारी महाराजा जरासंध के पास आये। जरासंध ने रिक्त हुए सेनापति-पद पर शिशुपाल का अभिषेक किया। उधर यादवों और पाण्डवों से सम्मानित एवं हर्ष-विभोर अनाधृष्टि कुमार, श्रीकृष्ण के निकट आये। सूर्य अस्त हो कर संध्या हो गई थी। श्रीकृष्ण की आज्ञा से युद्ध स्थगित कर के सभी अपने-अपने शिविर में चले गये।

प्रातःकाल होने पर यादवी-सेना ने पुनः गरुड़-व्यूह की रचना की और शिशुपाल ने चक्रव्यूह की रचना की। इस समय महाराजा जरासंध स्वयं निरीक्षण करने, अपनी सेना के अग्रभाग पर आया। उसका हंसक मन्त्री साथ था। मंत्री, यादवी-सेना के सेनापति और प्रमुख योद्धाओं की ओर अंगुली निर्देश करता हुआ इस प्रकार परिचय देने लगा;—

"महाराज ! वह काले अश्व युक्त रथ और गजेन्द्र चिन्हांकित ध्वजा वाला शत्रु-पक्ष का सेनापति अनाधृष्टि है। वह नीलवर्णी रथ वाला युधिष्ठिर है, वह श्वेत अश्व के रथ में अर्जुन बैठा है, नील अश्व के रथ वाला है—भीमसेन, स्वर्ण समान वर्ण वाले अश्व के रथ और सिंहांकित ध्वजा वाले समुद्रविजय, शुक्लवर्णी अश्व युक्त रथ और वृषभांकित

ध्वजा वाले हैं कुमार अरिष्टनेमि, चितकबरे वर्ण के घोड़े वाले रथ और कदलि चिन्ह वाली ध्वजा वाला है अक्रूर, तीतरवर्णी अश्व के रथ में सत्यकी, कुमुद रंग के घोड़े वाले रथ पर महानेमि है और तोते की चोंच जैसा वर्ण उग्रसेनजी के रथ के घोड़े का है। स्वर्ण समान वर्ण का घोड़ा और मृगांकित पताका जराकुमार के रथ की है, कम्बोज देश के अश्व वाले रथ पर श्लक्षणरोम का पुत्र सिंहल है। इस प्रकार मेरु, पद्मरथ, सारण, विदुरथ आदि का परिचय देते हुए सेना के मध्य में रहे हुए श्वेत-वर्ण के अश्व और गरुड़ांकित ध्वजा वाले कृष्ण हैं और उनकी दाहिनी ओर अरिष्ट वर्ण वाले और ताड़मंडित ध्वजाधारक रथ पर बलदेव हैं। यह समस्त सेना शत्रु-पक्ष की है।"

अपने मन्त्री से विपक्षी महारथियों का परिचय पा कर जरासंध क्रोधित हुआ और अपने धनुष का आस्फालन किया, साथ ही अपना रथ कृष्ण-बलदेव के सामने ले आया। उधर जरासंध का पुत्र युवराज यवन, वसुदेव के पुत्र अक्रूर पर चढ़ आया। दोनों का भयंकर युद्ध हुआ। सारण ने कुशलतापूर्वक बाण-वर्षा कर के यवन के प्रहार का अवरोध किया, किन्तु यवन ने अपने मलय नामक गजराज को बढ़ा कर सारण के रथ को अश्व-सहित नष्ट कर डाला और ज्योंही वह हाथी कुछ टेढ़ा हो कर अपने दंत-प्रहार से मारने के लिए धावा किया, त्योंही सारण ने उछल कर खड्ग का प्रहार कर के यवन का मस्तक काट कर मार डाला और हाथी की सूंड दाँत सहित काट डाली। सारण का अद्भुत पराक्रम देख कर यादवी-सेना हर्षोत्फुल्ल हो जयनाद करने लगी।

अपने पुत्र युवराज का वध जान कर जरासंध क्रोधान्ध हो गया और यादवी-सेना का विनाश करने लगा। उसने बलभद्रजी के पुत्र--आनन्द, शत्रुदमन, नन्दन, श्रीध्वज, ध्रुव, देवानन्द, चारुदत्त, पीठ, हरिसेन और नरदेव को--जो व्यूह के अग्रभाग पर थे—मार डाला। इनके गिरते ही यादवी-सेना भागने लगी। उस समय शिशुपाल ने कृष्ण को संबोध कर कहा;--"कृष्ण! यह गायों का गोकुल नहीं है। यह रणभूमि है। यहाँ तुम्हारा सारा घमण्ड चूर हो जायगा।"

—"शिशुपाल! अभी मैं रुक्मि के पुत्र से लड़ रहा हूँ। मैं नहीं चाहता कि तुझ-से लड़ कर तेरी मां को--जो मेरी मौसी है—रुलाऊँ, किन्तु तेरा काल ही आ गया होगा, इसी से तू मेरी ओर आया है।"

कृष्ण के वचन सुन कर शिशुपाल क्रोधित हुआ। उसने धनुष का आस्फालन कर के कृष्ण पर बाणवर्षा प्रारंभ कर दी, किन्तु कृष्ण ने उसका धनुष, कवच और रथ भी

तोड़ डाला। अब कंस खड्ग ले कर कृष्ण की ओर दौड़ा, किन्तु सामने आते ही श्रीकृष्ण ने उसका मुकुटयुक्त मस्तक काट कर गिरा दिया।

जरासंध का मरण और युद्ध समाप्त

शिशुपाल के वध से जरासंध अत्यन्त उत्तेजित हो गया और यमराज के समान विकराल हो कर अपने पुत्रों और राजाओं के साथ रणभूमि में आ धमका और यादवी-सेना को लक्ष्य कर कहने लगा; —

"सुनो, ओ यादव-सेना के अधिकारियों, सुभटों और सहायकों! मैं व्यर्थ का रक्त-पात नहीं चाहता। मेरा तुम पर रोष नहीं है और न मैं तुम्हारा अनिष्ट चाहता हूँ। मेरे अपराधी कृष्ण और बलभद्र हैं। इन्हें मुझे सौंप दो। बस युद्ध समाप्त हो जायगा। मैं तुम सब को अभय-दान दूंगा। तुम सब का जीवन बच जायगा। दो व्यक्तियों के पीछे हजारों-लाखों के काल को न्योता मत दो। यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी, तो मेरे कोपानल में तुम्हारा सब का जीवन समाप्त हो जायगा।"

जरासंध के वचनों ने यादवों में उत्तेजना उत्पन्न कर दी। उन्होंने वाक्-बाण का उत्तर शस्त्र-प्रहार से दिया। जरासंध भी महावीर था। उसके रणकौशल ने यादवी-सेना और सेना के वीर अधिकारियों के छक्के छुड़ा दिये। वह एक भी अनेक रूप में दिखाई देने लगा। वह जिस ओर जाता, उस ओर की सेना भाग खड़ी होती। कुछ ही काल के युद्ध में यादवों की विशाल सेना भाग गई और उसके अधिकारी भी भयभीत हो कर इधर-उधर हो गए।

जरासंध के अठाईस पुत्रों ने सम्मिलित रूप से बलभद्रजी पर आक्रमण किया और अन्य उनहत्तर पुत्रों ने कृष्णजी पर। इन्होंने उन्हें चारों ओर से घेर कर नष्ट करने के लिये भयंकर प्रहार करना प्रारम्भ किया। श्रीकृष्ण और बलदेव भी घूम-घूम कर प्रहार करने लगे। दोनों पक्षों के शास्त्रास्त्रों की टकराहट से चिनगारियाँ झड़ कर आकाश में विद्युत जैसा चमत्कार करने लगी। बलभद्रजी ने अपने हल से अठाईस पुत्रों को खिंच कर मूसल से खाँड़ कर कुचल डाला। वे सभी समाप्त हो गए। अपने अठाइस पुत्रों को एकसाथ समाप्त हुए देख कर जरासंध एकदम उबल पड़ा और अपनी वज्र के समान गदा का बल-भद्रजी पर प्रहार किया, जिससे वे घायल हो गए और रक्तपूर्ण वमन करने लगे। इससे यादवी-सेना में हाहाकार मच गया। बलभद्रजी को जीवन-रहित करने के लिए उसने फिर

गदा उठाई, किन्तु अर्जुन बीच में आ कर लड़ने लगा। उधर श्रीकृष्ण को बन्धु की दुर्दशा देख कर भयंकर क्रोध चढ़ा। उन्होंने अपने पर प्रहार करने वाले उसके सभी पुत्रों को समाप्त कर दिया और जरासंध की ओर झपटे। जरासंध को अपने ६९ पुत्रों की मृत्यु का दूसरा महा आघात लगा। उसने सोचा—'यह बलभद्र तो मरने जैसा ही है। मेरे भीषण-प्रहार से यह बच नहीं सकता। अब अर्जुन से लड़ कर समय नष्ट करने से क्या लाभ? मुझे अब कृष्ण को समाप्त करना है।' इस प्रकार विचार कर के वह कृष्ण से युद्ध करने को तत्पर हुआ। बलभद्रजी की दशा देख कर सेना भी हताश हो चुकी थी। सेना पर जरासंध का आतंक छा गया था। सब के मन में यही आशंका व्याप्त हुई कि 'बलभद्रजी के समान, कृष्णजी की भी दशा हो जायगी।' इसी प्रकार की चर्चा होने लगी। यह चर्चा इन्द्र के भेजे हुए मातली सारथी ने सुनी, तो उसने अरिष्टिनेमि कुमार से निवेदन किया;—

"स्वामिन्! यह समय आपके प्रभाव की अपेक्षा रखता है। यद्यपि आप इस युद्ध से निर्लिप्त एवं शान्त हैं, तथापि कुल की रक्षा के हेतु स्थिति को प्रभावित करने के लिये आपको कुछ करना चाहिए।"

मातली के निवेदन पर भ. अरिष्टनेमि ने अपना पौरन्दर शंख फूंक कर मेघ के समान गर्जना की। गगन-मण्डल में सर्वत्र व्याप्त घोर-गर्जना से शत्रु-सेना थर्रा गई। उसमें भय छा गया और यादवी-सेना उत्साहित हो गई। भ. अरिष्टनेमि की आज्ञा से उनका रथ रणभूमि में इधर-उधर चक्कर लगाने लगा और इन्द्रप्रदत्त धनुष से बाण-वर्षा कर के किसी के रथ की ध्वजा, किसी का धनुष, किसी का मुकुट और किसी का रथ तोड़ने लगे। शत्रु-पक्ष, प्रभु की ओर अस्त्र नहीं फेंक सका। प्रभु की ओर देखने में ही (प्रभु के प्रभाव से) उनकी आँखें चोंधियाने लगी। शत्रु-सेना स्तब्ध रह गई। उन्हें लगा कि जैसे महा-समुद्र में ज्वार उठा हो और हम सब को अपने में समा रहा हो। इस प्रकार की स्थिति बन चुकी। प्रभु के लिये जरासंध भी कोई विशेष नहीं था। वे उसे सरलतापूर्वक समाप्त कर सकते थे, किंतु प्रतिवासुदेव, वासुदेव के लिए ही वध्य होता है—ऐसी मर्यादा है। इसलिये उसकी उपेक्षा कर दी। प्रभु का रथ दोनों सेनाओं के मध्य घूमता रहा, इससे शत्रु-सेना को आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। इतने में यादव-पक्ष के वीरगण साहस प्राप्त कर पुनः युद्ध करने लगे। एक ओर पाण्डव-वीर, शेष बचे हुए कौरवों को मारने लगे, तो दूसरी ओर बलदेवजी स्वस्थ हो कर अपने हल रूपी शस्त्र से शत्रु-सेना का संहार करने लगे।

जरासंध, श्रीकृष्ण के समक्ष आ कर दहाड़ा;—

"ऐ मायवी ग्वाले ! तेने कापट्य-कला से मेरे जामाता कंस को मारा और माया-जाल में फँसा कर मेरे पुत्र कालकुमार को मार कर बच निकला। इस प्रकार छल-प्रपंच से ही तू अब तक जीवित रहा, परन्तु अब तेरी धूर्त्तता मेरे सामने नहीं चलने की। मैं आज तेरी धूर्त्तता तेरे जीवन के साथ ही समाप्त कर दूंगा और मेरी पुत्री की प्रतिज्ञा पूर्ण कर के उसे संतुष्ट करूँगा।"

श्रीकृष्ण ने कहा,—"अरे, वाचाल ! इतना घमण्ड क्यों करता है ? तेरी गर्वोक्ति अधिक देर टिकने वाली नहीं है। लगता है कि तू भी अपने जामाता और पुत्रों के पास आज ही चला जायगा और तेरी पुत्री भी अग्नि में प्रवेश कर काल-कवलित हो जायगी।"

श्रीकृष्ण के कटु वचनों से जरासंध विशेष क्रोधी बना और धाराप्रवाह बाण-वर्षा करने लगा। श्रीकृष्ण भी अपने भरपूर कौशल से गर्जनापूर्वक शस्त्र-प्रहार करने लगे। दोनों महावीरों का घोर-युद्ध, सिंहनाद और शस्त्रों के आस्फालन से दिशाएँ कम्पायमान हो गई, समुद्र भी क्षुब्ध हो गया और पृथ्वी भी धूजने लग गई। कृष्ण, जरासंध के दिव्य-अस्त्रों का अपने दिव्य-अस्त्र से और लोहास्त्रों को लोहास्त्र के प्रहार से नष्ट करने लगे। जब सभी अस्त्र समाप्त हो गए और जरासंध अपने शत्रु कृष्ण का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका, तो उसने अपने अंतिम अस्त्र चक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही चक्र उपस्थित हुआ, जिसे हाथ में ले कर जोर से घुमाते हुए जरासंध ने कृष्ण पर फेंक-मारा। जब चक्र कृष्ण की ओर बढ़ा, तो आकाश में रहे हुए खेचर भी उसकी भयानकता से क्षुब्ध हो गए और यादवी-सेना भी भयभीत हो गई। उस चक्र को स्खलित करने के लिये कृष्ण, बलदेव, पाण्डवों और अन्य वीरों ने अपने-अपने शस्त्र छोड़े, परन्तु जिस प्रकार नदी के महा-प्रवाह को वृक्ष एवं पर्वत नहीं रोक सकते, उसी प्रकार चक्र भी नहीं रुका और कृष्ण के वक्षस्थल पर वेगपूर्वक जा लगा, तथा उन्हीं के पास रुक गया। उस चक्र को श्रीकृष्ण ने ग्रहण किया। उसी समय आकाश में रहे देवों ने पुष्प-वृष्टि करते हुए घोषणा की—"श्रीकृष्ण नौवें वासुदेव हैं।' श्रीकृष्ण ने अंतिम रूप से जरासंध को संबोधित करते हुए कहा;—

"अरे मूर्ख ! तेरा महास्त्र चक्र मेरे पास आ गया, क्या यह भी मेरी माया है ? मैं अब भी तुझे एक अवसर देता हूँ। तू यहाँ से चला जा और अपना शेष जीवन शांति-पूर्वक व्यतीत कर।"

"अरे, वाचाल कृष्ण ! यह चक्र मेरा परिचित है। मैं इसके उपयोग को जानता हूँ। मुझे इससे कोई भय नहीं है। तू इसका उपयोग कर के देख ले। तुझसे इसका उपयोग नहीं हो सकेगा।"

जरासंध की वात सुनते ही कृष्ण ने चक्र को घुमा कर जरासंध पर फेंका। चक्र के अमोघ प्रहार से जरासंध का मस्तक कट कर भूमि पर गिर गया। जरासंध मर कर चौथे नरक में गया। देवों ने श्रीकृष्ण का जय-जयकार करते हुए पुष्प-वर्षा की। युद्ध समाप्त हो गया।

जरासंध की मृत्यु के बाद श्री अरिष्टनेमि के प्रभाव से स्तब्ध वन कर रुके हुए—जरासंध के पक्ष के राजा, सामन्त और अधिकारी सम्भले। सभी ने श्री अरिष्टनेमि को प्रणाम किया और कहा,—"प्रभो ! हम तो आप से तभी से विजित हो चुके हैं, जब आप यादव-कुल में उत्पन्न हुए और अब विश्वविजेता परम-तारक जिनेश्वर भगवंत होने वाले हैं। हमारे ही क्या, आप सारे संसार के विजेता हैं। महात्मन् ! भवितव्यता ही ऐसी थी, अन्यथा हम और महाराज जरासंधजी भी पहले से जान गए थे कि अब हमारा भाग्य अनुकूल नहीं रहा। हमारी विजय असंभव है। आपके और यादवों के अभ्युदय से हमारा प्रभाव लुप्त होने लगा है। अब हम सब आपकी शरण में हैं।"

श्री अरिष्टनेमिजी उन सब को ले कर श्रीकृष्ण के निकट आए। कृष्ण ने अरिष्टनेमि को आलिंगन में बाँध लिया और श्री समुद्रविजयजी तथा अरिष्टनेमिजी के कथनानुसार श्रीकृष्ण ने जरासंध के पुत्र सहदेव का सत्कार किया और उसके पिता के राज्य में से मगध का चौथा भाग दिया और हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल में स्थापित किया। श्री समुद्रविजयजी के पुत्र महानेमि को शौर्य्यपुर और धर कुमार को मथुरा का राज्य प्रदान किया। इस प्रकार शेष राजाओं और मृत्यु प्राप्त अधिकारियों के पुत्रों को यथायोग्य सम्मानित कर के विदा किया। श्रीनेमिनाथजी ने मातलि सारथि को भी विदा कर दिया।

विजयोत्सव और त्रिखण्ड साधना

महायुद्ध की समाप्ति एवं अपनी विजय के दूसरे दिन यादवों ने युद्ध में मृत, जयसेन आदि की, और सहदेव ने जरासंध आदि की उत्तर-क्रिया की। उधर जरासंध की पुत्री जीवयशा (जो कंस की रानी थी) अपने पिता और बन्धुओं का विनाश जान कर और श्रीकृष्ण की विजय सुन कर हताश हुई और चिता रचवा कर जीवित ही अग्नि में जल-मरी।

श्रीकृष्ण ने विजय का आनन्दोत्सव मनाया और उस स्थान पर 'आनन्दपुर' गाँव बसाने की आज्ञा प्रदान की।

विजयोत्सव चल ही रहा था कि श्रीकृष्ण के पास तीन प्रौढ़ विद्याधर-महिलाएँ आई और प्रणाम कर के कहने लगी; —

"वसुदेवजी, प्रद्युम्न और शाम्ब और बहुत-से विद्याधरों सहित शीघ्र ही यहाँ पहुँच रहे हैं। वहाँ उन्होंने भी विजय प्राप्त की है। जब वसुदेवजी अपने दोनों पौत्रों के साथ यहाँ से चल कर वैताढ्य पर्वत पर पहुँचे, तो शत्रु-दल से उनका युद्ध प्रारम्भ हो गया। नीलकण्ठ और अंगारक आदि विद्याधर उनके पूर्वकाल के शत्रु थे ही। उन्होंने तत्काल युद्ध चालू कर दिया। दोनों पक्ष उग्र हो कर युद्ध करने लगे। देवों ने कल ही आ कर उन्हें सूचना दी कि जरासंध मारा गया, श्रीकृष्ण की विजय हो गई और युद्ध समाप्त हो गया। अब आप क्यों लड़ रहे हैं?" यह सुन कर सभी विद्याधरों ने युद्ध करना बन्द कर दिया। राजा मन्दारवेग ने विद्याधरों को आदेश दिया कि "तुम सब उत्तम प्रकार की भेंट ले कर शीघ्र आओ। अब हमें वसुदेवजी को प्रसन्न कर के इनके द्वारा श्रीकृष्ण की कृपा और आश्रय प्राप्त करना है।"

विद्याधर नरेश त्रिपथर्षभ ने वसुदेवजी को अपनी बहिन और प्रद्युम्न को अपनी पुत्री दी। राजा देवर्षभ और वायुपथ ने अपनी दो पुत्रियाँ शाम्बकुमार को दी। अब वे सभी यहाँ आ रहे हैं। हम आपको यह शुभ सूचना देने के लिए आगे आई हैं।

इस प्रकार खेचरी-महिलाएँ सुखद समाचार सुना रही थी कि इतने ही में वसुदेवजी प्रद्युम्न, शाम्ब और विद्याधर नरेशादि वहाँ आ कर उपस्थित हुए। सभी के हर्षोल्लास में वृद्धि हुई। सभी स्नेहपूर्वक मिले। विद्याधरों ने विविध प्रकार की बहुमूल्य भेंटें श्रीकृष्ण को अर्पण की।

विजयोत्सव पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने बहुत-से विद्याधरों और भूचर-सामन्तों को साथ ले कर तीन खण्ड को अपने अधीन करने के लिए प्रयाण किया। छह महीने में तीन खण्ड साध कर मगध देश में आये। यहाँ एक देवाधिष्ठित कोटि-शिला थी, जो एक योजन ऊँची और एक योजन विस्तार वाली थी श्रीकृष्ण ने उसे अपने बायें हाथ से उठाई, तो वह भूमि से चार अंगुल ऊपर उठ सकी। फिर उसे यथास्थान रख दी।

प्रथम वासुदेव ने कोटिशिला उठा कर मस्तक के ऊपर ऊँचे हाथ कर हथेलियों पर रख ली थी, दूसरे वासुदेव ने मस्तक तक, तीसरे ने कण्ठ, चौथे ने वक्ष, पाँचवें ने पेट, छठे ने कमर, सातवें ने जंघा और आठवें ने घुटने तक उठाई थी और इन नौवें वासुदेव ने भूमि से चार अंगुल ऊँची उठाई। अवसर्पिणी काल में बल के ह्रास का यह परिणाम है। फिर भी वासुदेव अपने समय के सर्वोत्कृष्ट महाबली थे।

त्रिखण्ड के अधिपति बन कर श्रीकृष्ण ने द्वारिका में प्रवेश किया। वहाँ सोलह हजार राजाओं और देवों ने श्रीकृष्ण का त्रिखण्ड के अधिपति वासुदेव-पद का अभिषेक कर के उत्सव मनाया। उत्सव पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को कुरुदेश का राज्य सम्भालने के लिए और अन्य राजाओं को अपने-अपने स्थान पर भेजा और देवों को भी विदा किया।

समुद्रविजयजी आदि दस दशार्ह (पूज्य एवं महाबलवान् पुरुष) बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त—वीर योद्धा, महासेन आदि छप्पन हजार बलवर्ग—सैनिक-समूह और वीरसेन आदि इक्कीस हजार योद्धा थे। इनके अतिरिक्त इभ्य, श्रेष्ठि, सार्थवाह आदि बहुत-से समृद्धजन से युक्त श्रीकृष्णवासुदेव राज करने लगे।

अन्यदा सोलह हजार राजाओं ने आ कर अपनी दो-दो सुन्दर कुमारियाँ और उत्तम रत्नादि श्रीकृष्ण को भेंट की। उनमें से सोलह हजार का पाणिग्रहण श्रीकृष्ण ने किया, आठ हजार का बलदेवजी ने और आठ हजार का कुमारों ने।

अनंगसेनादि हजारों गणिकाएँ संगीत, नाट्य-वादिन्त्रादि से द्वारिका नगरी को परम आकर्षक बना रही थी।

सागरचन्द्र-कमलामेला उपाख्यान

राजा उग्रसेन के धारिणी रानी से नभःसेन पुत्र और राजमती पुत्री थी। नभःसेन की सगाई द्वारिका के धनसेन गृहस्थ की पुत्री 'कमलामेला' के साथ हुई थी। विवाह-कार्य प्रारंभ हो गया था। उसी अवसर पर घूमते हुए नारदजी नभःसेन के आवास में चले गए। नभःसेन उस समय अपने विवाह के कार्य में लग रहा था, इसलिये वह नारदजी का सत्कार नहीं कर सका। नारदजी ने इसमें अपनी अवज्ञा एवं अपमान माना और रुष्ट हो कर लौट गए। उनके मन में नभःसेन का विवाह बिगाड़ने की भावना उत्पन्न हुई। वे अपने क्रोध को सफल करने के लिए श्रीबलभद्रजी के पौत्र एवं निषधकुमार के पुत्र सागरचन्द के निकट आये। सागरचन्द ने नारदजी का अत्यन्त आदर-सत्कार किया और उच्चासन पर बिठा कर कुशल-क्षेमादि के बाद पूछा—"महात्मन्! यदि आपने अपने भ्रमण-काल में कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो, तो बताने की कृपा करें।"

नारदजी बोले—"वत्स! मैने लाखों-करोड़ों स्त्रियाँ देखी, परन्तु धनसेन की

पुत्री कमलामेला जैसी अनुपम एवं अद्वितीय सुन्दरी युवती अब तक नहीं दिखाई दी। वह वास्तव में संसार का महान् कन्या-रत्न है। परन्तु नभःसेन भाग्यशाली है कि जिसके साथ उस भुवनसुन्दरी के लग्न होने वाले हैं।"

बस, नारदजी ने सागरचन्द के मन में एक आकांक्षा उत्पन्न कर दी। फिर कुछ व्यावहारिक बातें कर के चल दिये और कमलामेला के निकट पहुँचे। उसके पूछने पर नारदजी ने कहा—"संसार में अत्यन्त कुरूप है--नभःसेन, और अत्यन्त सुन्दर एवं सुघड़ युवक है—सागरचन्द।" यों दूसरी ओर भी नारदजी ने चिनगारी उत्पन्न कर दी और इसकी सूचना सागरचन्द को दे दी। सागरचन्द अन्य सभी बातें भूल गया और कमलामेला का ही स्मरण करने लगा। उसके हृदय में कमलामेला ऐसी बसी कि उसके सिवाय दूसरा कोई विचार ही उसके मन में नहीं आता था। शाम्ब कुमार आदि की सागरचन्द पर विशेष प्रीति थी। सागरचन्द की खोये हुए के समान अन्यमनस्क एवं उदास और चिन्तित दशा देख कर उसकी माता और अन्य बन्धुवर्ग चिन्ता करने लगे। एकदिन शाम्बकुमार चुपके से आया और उसकी आँखें बन्द कर दी। सागरचन्द बोल उठा—"कमलामेला! तुम आ गई।" यह सुन कर शाम्ब बोला--"मैं कमला-मेलापक" (कमला से मिलाने वाला) हूँ। और हाथ हटा लिये। सागरचन्द ने शाम्बकुमार से कहा--"अब आप ही मेरा कमलामेला से मिलाप करावेंगे। मेरी प्रसन्नता और स्वस्थता इसी पर आधारित है। जब आपने वचन दिया है, तो मेरी चिन्ता दूर हो गई। अब आप ही इसका उपाय करें।" उसने नारदजी के आने आदि की सारी घटना कह सुनाई, किन्तु शाम्बकुमार मौन रहे। एकदिन कुमारों की गोष्ठी जमी थी और मदिरापान हो रहा था। सागरचन्द ने मदिरा के नशे में शाम्ब से कमलामेला प्राप्त करवाने का वचन ले लिया। वचन दे चुकने के बाद जब शाम्ब स्वस्थ हुआ, तो उसने वचन का पालन करने का उपाय सोचा। उसने प्रज्ञप्तिविद्या का स्मरण किया। फिर वह अपने विश्वस्त साथियों और सागरचन्द के साथ, धनसेन के निवास के निकट के उद्यान में आया और एक सुरंग बना कर उसके घर में प्रवेश किया। कमलामेला भी सागरचन्द के विरह में विकल थी। ज्यों-ज्यों लग्न का दिन आता जाता था, त्यों-त्यों उसकी विकलता बढ़ रही थी। शाम्ब ने कमलामेला का हरण करवा कर सागरचन्द के साथ लग्न करवा दिये और सभी ने विद्याधर का रूप धारण कर के वर-वधू का रक्षण करने को शस्त्रबद्ध हो गए।

घर में कमलामेला दिखाई नहीं दी, तो उसकी खोज हुई। उद्यान में यादवों के बीच उसे देख कर धनसेन ने श्रीकृष्ण के सामने पुकार की। श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ पधारे

और अत्याचारियों को दण्ड देने के लिए युद्ध करने को तत्पर हुए। उसी समय शाम्ब अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो कर श्रीकृष्ण के चरणों में गिरा और नारदजी की करामात आदि सारी बात समझा कर क्षमा माँगी। श्रीकृष्ण, उदास हो कर बोले—"वत्स! तुने अच्छा नहीं किया। अपने आश्रित नभःसेन के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना था।" श्रीकृष्ण ने नभःसेन को समझा-बुझा कर शांत किया। नभःसेन, सागरचन्द से कमलामेला को प्राप्त करने या उसका अहित करने में समर्थ नहीं था। अतएव वह चला गया। किन्तु सागरचन्द के प्रति वैरभाव लिये हुए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अनिरुद्ध-उषा विवाह

राजकुमार प्रद्युम्न की वैदर्भी रानी (जो महादेवी रुक्मिणी के भाई रुक्मि नरेश की पुत्री थी) से उत्पन्न अनिरुद्ध कुमार यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। उस समय शुभनिवास नगर में 'वाण' नाम का एक उग्र स्वभाव का विद्याधर राजा था। उसकी 'उषा' नाम की पुत्री थी। उसने योग्य वर प्राप्ति के लिए गौरी-विद्या की आराधना की। विद्यादेवी सन्तुष्ट हो कर बोली—"वत्से! कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध, इन्द्र के समान रूप और बल से युक्त है। वस, वही तेरे लिए योग्य वर है और वही तेरा पति होगा।"

उषा के पिता वाण नरेश ने सुखकर देव की साधना की। यह सुखकर गौरीदेवी का प्रिय था। सुखकर ने वाण को युद्ध में अजेय होने का वरदान दिया। यह बात गौरी को ज्ञात हुई, तो उसने सुखकर से कहा—"तुमने वाण को अजेय बना कर अच्छा नहीं किया। मैंने उषा को वरदान दिया है। उसकी सफलता में यह बाधक भी हो सकता है। इसलिए अपने वरदान में संशोधन करो।"

सुखकर ने वाण से कहा—"मैंने तुझे युद्ध में अजेय बनाया है, किन्तु तू अजेय तब तक ही रह सकेगा, जब तक युद्ध का निमित्त कोई स्त्री नहीं हो। स्त्री का निमित्त होने पर मेरा दिया हुआ वरदान तेरी रक्षा नहीं करेगा।"

उषा सर्वोत्तम सुन्दरी थी। बहुत-से विद्याधर उसे प्राप्त करने के लिए, वाण नरेश से माँग कर चुके थे, किन्तु वाण ने किसी की भी माँग स्वीकार नहीं की। उषा ने अपनी चित्रलेखा नाम की विश्वस्त खेचरी के साथ, अनिरुद्ध के पास सन्देश भेज कर स्नेहामन्त्रण दिया। अनिरुद्ध आया और गुपचुप गन्धर्व-विवाह कर के दोनों चल दिये। बाहर निकल

कर अनिरुद्ध ने कहा—'मैं अनिरुद्ध, उषा को लिये जा रहा हूँ।" यह सुन कर वाण क्रोधित हुआ और अपनी सेना ले कर युद्ध करने आया। सैनिकों ने अनिरुद्ध को चारों ओर से घेर लिया। उषा ने पति को कई सिद्ध-विद्याएँ दीं, जिससे अनिरुद्ध अत्यधिक सवल हो कर युद्ध करने लगा। युद्ध वहुत काल तक चला। अन्त में वाण ने अनिरुद्ध को नागपाश में बाँध लिया। अनिरुद्ध के वन्दी होने का समाचार प्रज्ञप्ति-विद्या ने श्रीकृष्ण को दिया। श्रीकृष्ण, वलदेव, प्रद्युम्न, शाम्व आदि तत्काल आकाश-मार्ग से वहाँ आए। अनिरुद्ध को पाशमुक्त कर के वाण के साथ युद्ध करने लगे। कृष्ण ने समझाया--"तुझे तो अपनी पुत्री किसी को देनी ही थी, फिर झगड़ने का क्या कारण है ?" किन्तु वाण वरदान के भरोसे जूझ रहा था। अन्त में उसे नष्ट होना पड़ा और श्रीकृष्ण आदि उषा सहित द्वारिका आ कर सुखपूर्वक रहने लगे।

नेमिकुमार का वल

एकवार अरिष्टनेमि, अन्य कुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए श्री कृष्ण वासुदेव की आयुधशाला में आये। वहां उन्होंने सूर्य के समान प्रकाशमान सुदर्शन चक्र देखा। यह वही सुदर्शन-चक्र था जो जरासंध के पास था और जरासंध का वध कर के श्रीकृष्ण के पास आया था। उन्होंने सारंग धनुष, कौमुदी गदा, पञ्चजन्य शंख, खड्ग आदि उत्तम शस्त्रादि देखे। नेमिकुमार ने पञ्चजन्य शंख लेने की चेष्टा की। यह देख कर शस्त्रागार के अधिपति चारुकृष्ण ने प्रणाम कर के निवेदन किया;—

"कुमार! आप राजकुमार हैं और वलवान् हैं, किन्तु यह शंख उठाने में आप समर्थ नहीं हैं, फिर वजाने की तो वात ही कहाँ रही ? इसे उठाने और फूंकने की शक्ति एकमात्र त्रिखंडाधिपति महाराजधिराज श्रीकृष्ण में ही है।"

अधिकारी की वात पर श्री नेमिकुमार को हँसी आ गई। उन्होंने शंख उठाया और फूंका। उस शंख से निकली गंभीर ध्वनि ने द्वारिका नगरी ही नहीं, भवन, प्रकोष्ट, वन-पर्वत और आकाश-मण्डल को कम्पायमान कर दिया। समुद्र क्षुब्ध हो उठा। गज-शाला के हाथी अपना वन्धन तुड़ा कर भाग गए, घोड़े उछल-कूद कर खूंटे उखाड़ कर भागे। श्रीकृष्ण, वलदेव और दशार्हगण आदि क्षुभित हो कर आश्चर्य में पड़ गए। नागरिक-जन और सैनिक मूर्च्छित हो गए। श्रीकृष्ण सोचने लगे;—"शंख किसने फूंका ? क्या कोई चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है, या इन्द्र का प्रकोप हुआ है ? जव मैं शंख फूंकता हूँ

तो राजागण और लोग क्षुब्ध होते हैं, परन्तु इस शंख-वादन से तो मैं भी क्षुब्ध हो गया हूँ ।"

वे इस प्रकार सोच रहे थे कि इतने में शस्त्रागार-रक्षक ने उपस्थित हो कर प्रणाम किया और निवेदन किया कि—

"आपके बन्धु अरिष्टनेमि कुमार ने आयुधशाला में आ कर शंख फूंक दिया ।"

श्रीकृष्ण यह सुन कर स्तब्ध रह गए । उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि अरिष्टनेमि इतना बलवान है ? इतने में स्वयं अरिष्टनेमि ही वहाँ आ गए । श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रेम से आलिंगन-बद्ध कर अपने पास बिठाया और पूछा--"भाई ! अभी शंखनाद तुमने किया था ?" कुमार ने स्वीकार किया, तो प्रसन्न हो कर बोले; —

"भाई ! यह प्रसन्नता की बात है कि मेरा छोटा-भाई भी इतना बलवान है कि जिसके आगे इन्द्र भी किसी गिनती में नहीं । मैं तुम्हारी शक्ति से अनभिज्ञ था । अब मैं स्वयं तुम्हारी शक्ति देखना चाहता हूँ । चलो अपन आयुधशाला में चलें । वहाँ मैं तुम्हारे बल का परीक्षण करूँगा ।"

दोनों भ्राता आयुधशाला में आये, साथ में बलदेवजी और अन्य कई कुमार आदि भी थे । श्रीकृष्ण ने पूछा; —

"कहो बन्धु ! शस्त्र से युद्ध कर के परीक्षा दोगे, या मल्ल-युद्ध से ?"

"यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है । मैं तो आपसे युद्ध करने का सोच ही नहीं सकता । परन्तु आप चाहें, तो बाहु झुकाने से भी काम चल सकता है ।"

"ठीक है । मैं अपनी भुजा लम्बी करता हूँ, तुम झुकाओ ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण की भुजा को ग्रहण कर के निमेषमात्र में कमलनाल के समान झुका दी । इसके बाद श्रीकृष्ण ने कहा--"अब तुम अपनी बाँह लम्बी करो, मैं झुकाता हूँ ।" कुमार ने अपनी बाँह लम्बी कर दी । श्रीकृष्ण अपना समस्त बल लगा कर झूल ही गए, परन्तु तनिक भी नहीं झुका सके । इस पर श्रीकृष्ण ने प्रसन्न हो कर अरिष्टनेमि को अपनी छाती से लगा कर, भुज-पाश में बाँध लिया और कहने लगे; —

"जिस प्रकार ज्येष्ठबन्धु, मेरे बल से विश्वस्त हो कर संसार को तृण के समान समझते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे अलौकिक बल से मैं भी पूर्ण आश्वस्त एवं सतुष्ट हूँ । हमारे यादव-कुल का अहोभाग्य है कि तुम्हारे जैसी लोकोत्तम विभूति प्राप्त हुई ।"

अरिष्टनेमि के चले जाने के बाद श्रीकृष्ण ने बलदेवजी से कहा; —

"यों अरिष्टनेमि प्रशांत और प्रशस्त आत्मा लगता है, परन्तु यदि यह चाहे, तो

समस्त भारत का चक्रवर्ती सम्राट भी हो सकता है, फिर यह शान्त हो कर क्यों बैठा है ?"

"भाई ! जिस प्रकार वह बल में अप्रतिम है, उसी प्रकार भावों से भी अप्रतिम, गंभीर, प्रशांत और अलौकिक है। उसे न तो राज्य का लोभ है और न भोगों में रुचि है। यह तो योगी के समान निस्पृह लगता है"—बलदेवजी ने कहा।

देवों ने कहा—"अरिष्टनेमि कुमार, सर्वत्यागी महात्मा हो कर तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे। भगवान् नमिनाथजी ने कहा था कि—"मेरे बाद अरिष्टनेमि नाम के राजकुमार, कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो कर तीर्थंकर-पद प्राप्त करेंगे। वह भव्यात्मा यही है। इनके मन में ऐसी भावना जाग्रत नहीं होती। वे समय परिपक्व होते ही संसार त्याग कर निर्ग्रंथ बन जावेंगे।"

श्रीकृष्ण और बलदेवजी अन्तःपुर में चले गए।

अरिष्टनेमि को महादेवियों ने मनाया

माता-पिता श्री अरिष्टनेमि से विवाह करने का आग्रह करते, तो वे मौन रह कर टाल देते। जब आग्रह बढ़ा और माता ने कहा—"पुत्र ! तुम तो प्रशान्त हो, प्रशस्त हो और अलौकिक आत्मा हो, परन्तु विवाह तो करना चाहिये। पूर्वकाल के तीर्थंकर भगवंत भी विवाहित-जीवन बिताने और पुत्रादि संतति का पालन करने के बाद प्रव्रजित हुए थे। यदि अपनी इच्छा से नहीं, तो हमारी प्रसन्नता—हमारे मनोरथ पूर्ण करने के लिए ही विवाह कर लो। हमारी यह किंचित् इच्छा भी पूरी नहीं करोगे ?"

"मातुश्री ! आप तो मोह में पड़ कर ऐसी इच्छा कर रही हैं। विवाह के परिणाम को नहीं देखती........

"नहीं पुत्र ! उपदेश मत दो। मेरे मनोरथ पूरे करो"—पुत्र को बीच में ही रोक कर माता शिवादेवी बोली।

—"आप मेरी बात सुनती ही नहीं। अच्छा, मैं आपकी आज्ञा की अवहेलना नहीं करता, परन्तु मैं लग्न उसी के साथ करूँगा, जो मुझे प्रिय लगेगी। मैं अपने योग्य पात्र को स्वयं चुन लूंगा। आपको यह चिन्ता छोड़ देनी चाहिये"—कुमार ने माता को अपनी भावना के अनुरूप गंभीर वचन कहे और माता संतुष्ठ भी हो गई।

श्रीकृष्ण भी अरिष्टनेमि का विवाह करने के प्रयत्न में थे। शिवादेवी ने श्रीकृष्ण से भी कहा था और श्रीकृष्ण भी चाहते थे कि अरिष्टनेमि जैसी महान् आत्मा, कुछ वर्ष

संसार में रहे तो अच्छा। उन्होंने अरिष्टनेमि को मोहित करने का उपाय सोचा और एक दिन उन्हें अपने साथ ले कर अन्तःपुर में आये। दोनों बन्धुओं ने साथ ही भोजन किया। श्रीकृष्ण ने अन्तःपुर के रक्षकों से कहा—"ये मेरे भाई हैं। यदि ये अन्तःपुर में आवें, तो इन्हें आने देना। इन पर किसी प्रकार की रोक नहीं है।" उन्होंने रानियों से कहा—

"अरिष्टनेमि मेरे सगे छोटे भाई के समान हैं। तुमने इन्हें कभी अपने यहाँ बुलाया नहीं?"

—"ये न जाने किस गुफा में रहते हैं। न तो कभी अपनी भाभी से मिलने आते हैं और न कहीं दिखाई देते हैं। अपने होते हुए भी पराये जैसे रहने वाले ये कुछ निर्मोही होंगे"—सत्यभामा ने कहा।

"यह अलौकिक आत्मा है। स्नेह-सम्बन्ध से दूर ही रह कर, अपने ही विचारों में मग्न रहते हैं"—श्रीकृष्ण ने कहा।

—"आपने इनका विवाह नहीं किया, इसी से ये अबोध और निर्मोही रहे हैं। विवाह होने के बाद इनमें रस जाग्रत होगा"—पद्मावती ने कहा।

—"हां, यह बात तो है। अब इनके लग्न कर ही देंगे"—श्रीकृष्ण ने कहा।

—"मुझे तो ये योगी जैसे अरसिक लगते हैं। नहीं, तो अब तक कुँआरे रहते? राजकुमारों के विवाह तो वे स्वयं ही कर लेते हैं। जिस पर मन लगा, उसे छिन लाये, उड़ा लाये और लग्न कर लिये। आप के इतने लग्न किसी दूसरे ने आगे हो कर करवाये थे क्या?—रानी जाम्बवती ने श्रीकृष्ण पर कटाक्ष किया।

—"अच्छा तो आपने अपना एक तर्क-तीर मुझ पर भी छोड़ दिया। परन्तु बन्धु की आत्मा हम सब से विशिष्ट है। इनके लिये तो हमें ही आगे होना पड़ेगा"—श्रीकृष्ण ने कहा।

अरिष्टनेमि चुपचाप सुन रहे थे। उन्हें इस बात में कोई रुचि नहीं थी। उन्होंने उठते हुए कहा—"अब चलूंगा बन्धुवर!" और चल दिये।

श्रीकृष्ण ने रानियों से कहा—"वसंत-ऋतु चल रही। उत्सव भी मनाना है। मैं नन्दन-वन में इस उत्सव का आयोजन करवाता हूँ। तुम सब मिल कर इस उत्सव में अरिष्टनेमि को विवाह करने के लिये तत्पर बनाओ। वह विरक्त है। इसे किसी प्रकार मोहित कर के विवाह-बन्धन में बाँध देना है। इसके लिए एक सुलक्षणी परमसुन्दरी और अद्वितीय युवती की भी खोज करनी है। अरिष्टनेमि को रिझा कर अनुकूल बनाना तुम सब का काम है। उससे सम्पर्क रखती रहो।"

श्रीकृष्ण सभी राजमहिषियों और रानियों सहित बसन्तोत्सव में उपस्थित हुए। गान-वादन, नृत्य, गीत, पुष्पचयनादि तथा गुलाल अबीर आदि से मनोरञ्जन करने के साथ परस्पर रंग भरी पिचकारियाँ भी चलने लगी। रानियों के झुण्ड ने अरिष्टनेमि को घेर लिया और उन पर सभी ओर से पिचकारियों की मार पड़ने लगी। वे भी हँसते हुए तदनुकूल बरतने लगे।

स्नानादि से निवृत्त हो कर भोजन किया। गान-तान होता रहा और रात्रिवास वहीं किया। श्रीकृष्ण के संकेत पर महारानी सत्यभामा ने कहा;—

"देवरजी ! पुरुष की शोभा अकेले रहने में नहीं है। संसार में जितने भी पुरुष हैं, सब अपनी साथिन बना कर रखते हैं। आपके वंश में भी आपके सिवाय सभी के स्त्री साथिन है ही। आपके भ्राता और अन्य राजकुमारों के साथ तो अनेक स्त्रियाँ हैं। आपके इन ज्येष्ठ-बन्धु के कितनी है ? १६०००, अरे नहीं ३२०००। जिन से एक खासी बस्ती बस सकती है और आपके एक भी नहीं ? इस प्रकार अकेले और उदासीन रहना आप जैसे युवक को शोभा नहीं देता।"

"आपका शरीर और शक्ति देखते हुए तो एक ही क्या, सैकड़ों और हजारों वामांगनाएँ होनी चाहिये आपके साथ"—महादेवी लक्ष्मणा ने कहा।

"भाभी साहिब ! मैं आप सब के खेल देख रहा हूँ। पराश्रित सुख तो विनष्ट हो जाता है। उधार लिया हुआ धन, ब्याज सहित लौटाना पड़ता है। पराश्रित सुख में दुःख का सद्भाव रहता ही है। अपनी आत्मा में रहा हुआ सुख ही सच्चा सुख है। इस सुख-सागर की हिलोरों में, इस वसंतोत्सव से भी अधिकाधिक और स्थायी सुख भरा हुआ है। आप भी यदि आत्मिक सुख का आस्वाद लें, तो आपको यह वसन्तोत्सव निरस लगने लगे"—कुमार अरिष्टनेमि बोले।

"देवरजी ! आप तो महात्मा बन कर उपदेश देने लगे। यदि हमारी बहिन आपके उपदेश से आप जैसी निरस हो गई, तो आपसे हमारा और आपके भाई साहब का झगड़ा हो जायगा। इस बहिन को कितनी कठिनाई से लाये हैं—ये आर्यपुत्र। और आप उपदेश दे कर अपने जैसी बनाने लग गए। यह कोई न्याय है"—जाम्बवती बोली।

—"भोजाई साहिबा ! समय आने पर आप स्वयं भी इस भूल-भुलैया से निकल कर वास्तविकता की भूमिका पर आजाएँगी और भाई साहब भी आपको नहीं रोक सकेंगे"—कुमार ने कहा।

"देखो कुँवरजी ! व्यर्थ की बातें छोड़ो और सरलता से विवाह करना स्वीकार

कर लो"—सत्यभामा बोली।

"मुझे अपने योग्य साथिन मिलेगी, तो लग्न करने का विचार करूँगा। आपको संतोष रखना चाहिये"—कुमार बोले।

"कबतक संतोष रखें? अच्छा, हम आपको एक महीने का समय देती हैं। इस बीच आप अपने योग्य साथिन चुन लें। अन्था हमें कोई उपयुक्त पात्र खोजना पड़ेगा"--महादेवी रुक्मिणी बोली।

"वसंत के बाद ग्रीष्मऋतु आई। उष्णता बढ़ने के साथ ही शीतलता की चाह भी बढ़ गई। सूर्य उदय के थोड़ी देर बाद ही गरमी बढ़ने लगी और लोगों के हाथों में वायु सञ्चालन के लिये पंखे हिलने लगे। अन्तःपुर और कुमार अरिष्टनेमि को अपने साथ ले कर श्रीकृष्ण रैवतगिरि की तलहटी के उद्यान में आये और सरोवर के शीतल जल में सभी के साथ क्रीड़ा करने लगे। अरिष्टनेमि भी अपने ज्येष्ठ-बन्धु और भोजाइयों की इच्छा के आधीन हो कर सरोवर के किनारे बैठ कर स्नान करने लगे। किंतु भोजाइयों को यह स्वीकार नहीं था। उन्हें आज देवर को प्रसन्न कर के विवाह करने की स्वीकृति लेनी थी। श्रीकृष्ण के संकेत से उन्होंने कुमार को सरोवर में खिंच लिया और चारों ओर से पानी की मार होने लगी। कुछ रानियाँ कृष्ण के साथ जल में ही घेरा बना कर चारों ओर से पानी का बोछारें करने लगी। कोई कृष्ण के कन्धे से झूम जाती, तो कोई गले में बाँहें डाल कर लटक जाती। थोड़ी देर बाद महारानी सत्यभामा, रुक्मिणी, पद्मावती आदि ने अरिष्टनेमि को घेर कर कमल-पुष्प युक्त जलवर्षा करने लगी और अनेक प्रकार के उपचार से मोहावेशित करने की चेष्टा करने लगी। किन्तु जिनका मोह उपशान्त है, उन पर क्या प्रभाव हो सकता है? जलक्रीड़ा समाप्त कर बाहर निकले और वस्त्रादि बदल कर बैठने के बाद महादेवी सत्यभामा बोली;—

"देवरजी! आपने अपने योग्य साथिन का चुनाव कर लिया होगा? कहो, कौन है वह भाग्यशालिनी?"

—"भाभी साहिबा! मेरे तो यह बात ही समझ में नहीं आई कि बिना चाह के व्याह कैसा?"

—"देवर भाई! आप तो निरस हैं, किन्तु हम आपको अकेले नहीं रहने देंगी। आपके भाई के हजारों, भतीजी के भी अनेक और आप अकेले डोलते रहें। यह हमारे लिये लज्जा की बात है। हम आज आपको मना कर ही छोड़ेंगी"—सत्यभामा ने कहा।

—"हाँ, आज हम सब आपको घेर कर बैठती हैं। आओ बहिनों! देखें यह

कब तक नहीं मानेंगे"--पद्मावती ने कहा और सब अरिष्टनेमि को अपने घेरे में ले कर बैठ गई।

"देखो महात्माजी! पहले भी अनेक महात्मा हुए। भ. ऋषभदेवजी इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे, किंतु उन्होंने भी लग्न किया था, उनके भी दो पुत्रियाँ और सौ पुत्र थे। उनके बाद भी बहुत-से तीर्थंकर संसार के सुख भोग कर दीक्षित हुए। फिर आप ही सर्वथा निरस क्यों रहते हैं—महादेवी जाम्बवती ने पूछा।

—"बहिन! इसका रहस्य तुम नहीं जानती। जिस में पुरुषत्व हो, वही विवाह करता है और पत्नी के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, किन्तु जो पुरुषत्व-हीन हो, वह तो स्त्री की छाया से भी डरता है। मुझे तो लगता है कि देवरजी पुंसत्व-हीन हैं, तभी विवाह का नाम लेते ही अधोमुखी हो जाते हैं"--महादेवी रुक्मिणी बोली।

रुक्मिणी की बात पर अरिष्टनेमि हँस दिये। उनकी हँसी देख कर महादेवी पद्मावती बोली;--

"देखो बहिन! तुम्हारे मर्मभेदी वचनों ने इनके सुप्त रस को जाग्रत कर दिया है। इनकी यह मुस्कान स्पष्ट ही स्वीकृति दे रही है। अब पूछने की आवश्यकता नहीं रही"--महादेवी लक्ष्मणा बोली।

श्रीकृष्ण एक ओर पास ही खड़े सुन रहे थे। उन्होंने आगे बढ़ कर कहा;—

"हां, ये विवाह करेंगे। परन्तु इनके अनुरूप कोई अनुपम-सुन्दरी एवं सुलक्षणी युवती का चुनाव तो कर लो।"

"सर्वोत्तम सुन्दरी है--मेरी छोटी बहिन राजमती। उससे बढ़ कर खोज करने पर भी अन्य सुन्दरी आपको नहीं मिल सकेगी"—सत्यभामा ने कहा।

"तुम्हारी बहिन! हां, अवश्य सुन्दरी होगी। तुम भी क्या कम हो। परन्तु स्वभाव भी तुम्हारे जैसा है क्या"--कृष्ण ने व्यंगपूर्वक महादेवी से पूछा।

"चलो हटो। यहाँ भी ग्वालिये जैसी बातें"—स्मितपूर्वक घुरती हुई महारानी सत्यभामा बोली।

"अच्छा, अच्छा, उलझन मिटी। चलो, अब नगर में चलें। मैं कल ही इस सम्बन्ध को जोड़ने का प्रयत्न करूँगा"—श्रीकृष्ण बोले।

अरिष्टनेमि का लग्नोत्सव

श्रीकृष्ण, उग्रसेनजी के भवन में पहुँचे। उग्रसेनजी ने उनका यथायोग्य सत्कार किया। कुशल-क्षेम पृच्छा के बाद श्रीकृष्ण ने राजमती की माँग की। उग्रसेनजी ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हुए कहा; —

"यह तो मुझ पर बड़ा अनुग्रह हुआ। इससे बढ़ कर प्रसन्नता का कारण और क्या हो सकता है ? किन्तु मेरी एक इच्छा आप पूर्ण करें, तो मैं अपने को सफल-मनोरथ समझूँ ?"

"कहिये, क्या चाहते हैं आप ?"

"आप बारात ले कर मेरे यहाँ पधारें। मैं आप सभी का स्वागत-सत्कार करूँ और कुमार अरिष्टनेमि के साथ राजमती के लग्न कर दूँ। सत्यभामा का व्याह भी मैं नहीं कर सका, तो इस बार तो मेरी साध पूरी करने दीजिए"—उग्रसेनजी ने नम्र हो कर कहा।

"ठीक है, ऐसा ही होगा"—श्रीकृष्ण ने स्वीकृति दी।

श्रीकृष्ण ने समुद्रविजयजी के समीप आ कर अरिष्टनेमि का राजमती के साथ सम्बन्ध होने की बात कही। समुद्रविजयजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले; —

"वत्स ! तेरे ही प्रयास से हमारी बहुत दिनों की साध पूरी होने जा रही है। अब मैं ज्योतिषी को बुलवा कर लग्न निकलवाता हूँ। यह कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होना चाहिए।"

समुद्रविजयजी ने ज्योतिषी को बुला कर लग्न का मुहूर्त पूछा। ज्योतिषी ने कहा; —

"स्वामिन् ! अभी मुहूर्त ठीक नहीं है और कुछ दिन बाद वर्षा-काल प्रारम्भ हो रहा है, जो विवाह के लिये निषिद्ध-काल है। वर्षा-काल में मुख्यतया धर्म-मंगल ही मनाया जाता है।"

"ज्योतिषीजी ! निषिद्ध-काल में भी आपवादिक-मार्ग तो निकलते ही हैं। बड़ी कठिनाई से कुमार को मनाया है। अब विलम्ब नहीं किया जा सकता। आप निकट के ही किसी दिन का मुहूर्त बता दीजिए"—समुद्रविजयजी इस प्रसंग को टालना नहीं चाहते थे।

ज्योतिषी ने गणना कर के श्रावण-शुक्ला षष्ठी का मुहूर्त दिया। विवाह की तैयारी होने लगी। राज-भवन ही नहीं, सारी नगरी सजाई गई। प्रत्येक घर, मण्डप तोरण और ध्वजा-पताका से सुशोभित किया गया। राज-भवन में माताओं रानियों और नगरी

में नागरिक-महिलाओं द्वारा मंगल-गीत गाये जाने लगे। श्री नेमिकुमार को एक उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बिठाया और बलदेवजी और कृष्णजी ने स्वयं प्रीतिपूर्वक स्नान कराया। शरीर पर गोशीर्ष-चन्दन का लेप किया और वस्त्राभूषण से सुसज्ज किया। मुकुट-कुण्डलादि से उत्तांमग मण्डित किया गया। हाथ में मंगलसूत्र बाँधा गया।

उधर राजा उग्रसेनजी के भवन में भी विवाह की धूम मची हुई थी। उन्होंने भवनादि और लग्न-मण्डप की सजाई में कोई कसर नहीं रखी। बारात के स्वागत-सत्कार की उच्च-कोटि की व्यवस्था की। भोजन व्यवस्था के लिए प्रचुर सामग्री एकत्रित की गई और सैकड़ों-हजारों पशुओं और पक्षियों का संग्रह किया। सुहागिन-महिलाएँ मंगल-गीत गाने लगी। राजिमती को भी स्नान कराया गया और गोशीर्श चन्दन से अंगराग करने के बाद वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया गया। वह इन्द्राणी के समान दिव्य-आभा वाली परम सुन्दरी लग रही थी। उसके हृदय में प्रसन्नता का सागर लहरा रहा था। नेमिनाथ जैसा पति प्राप्त होने की प्रसन्नता उसके हृदय में समा नहीं रही थी।

देवेन्द्र के समान सुशोभित श्री नेमिकुमार एक भव्य और मदोन्मत्त गजराज पर आरूढ़ हुए। उन पर रत्नजड़ित छत्र धराया गया था। दोनों और श्वेत चामर डुलाये जा रहे थे।

बारात बहुत विशाल थी। नगाड़े, निशान और वाद्य-मण्डल मंगल-धुन बजाते हुए चल रहे थे। उसके पीछे हिनहिनाते हुए अश्वों पर आरूढ़ कुमार-वृन्द चल रहा था। उनके पीछे वरराज अरिष्टनेमि कुमार एक सर्वश्रेष्ठ गजराज पर विराजमान थे। उनके दोनों पार्श्व में राजागण, रक्षक के रूप में गजारूढ़ हो चल रहे थे। पीछे महाराजा श्रीकृष्णचन्द्रजी, बलदेवजी, समुद्रविजयजी, वसुदेवजी आदि दशार्ह गण थे। उनके पीछे शिविकाओं में रानियाँ और अन्य महिला-वृन्द चल रहा था। बारात बड़ी धूम-धाम और हर्षोल्लासपूर्वक आगे बढ़ रही थी।

नगर के दोनों ओर घर के द्वारों, चबूतरों और छज्जों पर दर्शक पुरुष और गवाक्षों, अट्टालिकाओं और जहाँ भी स्थान मिले, महिलाएँ बरात का दृश्य देखने के लिए जमी हुई थी और वरराज नेमिकुमार को देख कर भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई राजमती के भाग्य की सराहना कर रही थी। बरात शनैःशनैः चलती हुई उग्रसेनजी के भवन की ओर बढ़ रही थी। जयजयकारों की ललकारों से दिशाएँ गुंज रही थी। चारों ओर हर्ष का सागर उमड़ रहा था।

राजमती को अमंगल की आशंका

उधर राजमती भी पूर्ण रूप से सुसज्ज हो कर सहेलियों के झुण्ड में बैठी थी। सखियाँ उससे हँसी-ठठोली कर रही थी। ज्योंही बारात की वाद्यध्वनि कानों में पड़ी कि सखियाँ राजमती को वरवस घसीटती हुई भवन के ऊपर की अट्टालिका में ले-आई। राजमती का हृदय हर्षातिरेक से परिपूर्ण था। अरिष्टनेमि जैसे अलौकिक प्रतिभा के धनी से सम्बन्ध स्थापित होने से वह अपने-आपको परम सौभाग्यशालिनी मान रही थी। ज्योंही उसकी दृष्टि वरराज अरिष्टनेमि पर पड़ी कि उसका प्रत्येक रोम पुलकित हो उठा। ऐसा त्रैलोक्य-शिरोमणि वर पा कर वह अपने को धन्य मानने लगी। सखी-वृन्द भी राजमती के भाग्य की सराहना करने लगा। राजमती का हर्षातिरेक उमड़ ही रहा था कि अचानक उसकी दाहिनी आँख और दाहिनी बाहु फड़की। वह आशंकित हो उठी। उसके मुख-चन्द्र की प्रफुल्लता लुप्त हो कर म्लानता छा गई। वह उदास हो कर चिन्तामग्न हो गई। अचानक राजमती को उदास देख कर सखियें भी स्तब्ध हो कर पूछने लगी;—"क्यों, पूर्ण-चन्द्र के समान प्रफुल्ल मुख पर यह म्लानता की बदली कैसे छा गई? अकारण ही कौन-सी दुःशंका-पापिनी तुम्हारे कोमल-हृदय में घुस गई—इस परम सौभाग्य के फूलने की घड़ी में?"

"बहिन! मुझे सन्देह है कि मैं इतने महान् सौभाग्य की प्राप्ति के योग्य नहीं हूँ। दाहिनी-आँख और भुजा का स्वाभाविक चलन मुझे किसी अघटित-घटना की सूचना दे रहे हैं। लगता है कि कोई बाधा शीघ्र ही उपस्थित होने वाली है"—राजमती ने हृदयगत संताप सखियों को बताया।

"शांतं पापं, शांतं पापं"—सभी सखियाँ बोल उठी और राजमती को धीरज बँधाती हुई कहने लगी—"सखी! चिन्ता मत कर। अपनी कुलदेवी का तुम और हम सब स्मरण करें। यदि कोई बाधा होगी भी, तो वे दूर कर देंगी। तू धीरज रख। अब देर ही कितनी है? मन को शान्त कर के कुलदेवी का स्मरण कर।"

पशुओं को अभयदान ××× वरराज लौटगए

बारात आगे बढ़ी। पर्वत के समान ऊँचे गजराज पर आरूढ़ वरराज अरिष्टनेमिजी की दृष्टि, विशाल बाड़ों और पिंजरों में घिरे हुए पशुओं पर पड़ी। बहुत बड़ी संख्या में संग्रहित वे प्राणी भयाक्रांत हो कर चित्कार कर रहे थे। मृत्यु-भय से वे भयभीत थे, फिर भी उनकी

आशा किसी दयावान् के प्रति लगी हुई थी। वे इसी आशा से जीवन की भीख माँगते हुए, एक स्वर से पुकार कर रहे थे। उनकी पुकार, बारात के सदस्यों के विनोदपूर्ण वातावरण को लाँघ कर, वरराज अरिष्टनेमि के कानों तक पहुँची। उन्होंने देखा--राज-मार्ग के दोनों ओर प्राणियों से भर हुए विशाल वाड़े और अगणित पिंजरे रखे हुए है, जिनमें फँसे, बंधे और अवरुद्ध प्राणी भयभीत हो कर चिल्ला रहे हैं। उन्होंने महावत से कहा--

"इन पशुओं को वन्दी क्यों वनाया गया है ? ये सभी सुखपूर्वक वन में विचरने वाले प्राणी हैं। इन्हें भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। ये विचारे भयभीत और दुःखी दिखाई दे रहे हैं। क्या कारण है इन्हें वन्धन में डाल कर दुःखी करने का ?"

"स्वामिन् ! ये सभी प्राणी आपकी इस वारात के भोजन के लिए हैं। आपका लग्न होते ही ये भेड़ें, वकरे, मृग, शशक, साँभर आदि पशु और पक्षीगण मारे जावेंगे और इनके मांस से खाद्यपदार्थ वनाये जा कर वारातियों को खिलाया जायगा। मृत्यु-भय से भयभीत हो कर ये चिल्ला रहे हैं।"

"सारथि ! मुझे उन वाड़ों के पास ले चलो"--कुमार ने कहा।

"परन्तु वरघोड़े का क्रम विगड़ जायगा और आगे वढ़ रही वारात में बाधा उत्पन्न हो जायगी"--सारथि ने निवेदन किया।

"चिन्ता मत करो गजपाल ! मुझे तुरन्त वहाँ ले चलो।"

वरराज ने पशुओं का समूह देखा। सभी पशु-पक्षी उन्हीं की ओर देख कर करुणाजनक पुकार कर रहे थे। कुमार का हृदय दया से भर गया। उन्होंने कहा;--

"जाओ सारथि ! इनके वन्धन तोड़ कर स्वतन्त्र कर दो।"

सारथि ने आज्ञा का पालन किया। सभी जीवों के वन्धन खोल दिये गये। अभयदान पा कर वे सभी जीव हर्षोन्मत्त हो, वन में चले गए, पक्षी उड़ गए। उधर पशु-पक्षी मुक्त हो रहे थे और इधर अरिष्टनेमिजी का चिन्तन चल रहा था--"मनुष्य कितना क्रूर वन गया है। अपनी रस-लोलुपता पूरी करने के लिए दूसरे असहाय जीवों के प्राण लेने को तत्पर हो जाता है। कितनी घोर हिंसा ? कितनी क्रूरता ? मेरे लग्न पर हजारों पशु-पक्षियों की हत्या ? धिक्कार है ऐसे लग्न को। नहीं करना मुझे विवाह। यहीं से लौट चलना चाहिए, जिससे मनुष्यों की आँखें खुले और हिंसकवृत्ति मिटे।"

जीवों के वन्धनमुक्त होने की प्रसन्नता में वरराज अरिष्टनेमि कुमार ने अपने कुण्डल आदि आभूषण सारथि को प्रदान कर दिये और आज्ञा दी--

"सारथि ! लौट चलो यहाँ से, सीधे अपने भवन की ओर धरी रहने दो बारात को। चलो लौटो।"--

सारथि हक्का-वक्का रह गया और स्तब्ध रह कर वरराज के मुँह की ओर देखने लगा। पुनः आज्ञा हुई;--

"देखते क्या हो सारथि ! चलो, लौटाओ हाथी। मुजे विवाह ही नहीं करना है।"

सारथि अवज्ञा नहीं कर सका और गजराज की दिशा मोड़ कर लौटाने लगा। जब श्रीकृष्ण ने वरराज को रुक कर पशुओं को छुड़ाते देखा, तो उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ। वे जानते थे कि अरिष्टनेमि इस हिंसा को सहन नहीं कर सकेंगे। यह स्वाभाविक है। उन्हें यह अच्छा ही लगा। पशुओं की मुक्ति से वे प्रसन्न ही हुए। किन्तु उनका लौटना उन्हें अखरा। वे तत्काल आगे आए और बोले;--

"बन्धु ! यह क्या कर रहे हो ? बारात में से लौटना उचित नहीं है। चलो, लग्न का समय नहीं चूकना चाहिए। विलम्ब मत करो। सारी बारात रुकी हुई है।"

"बन्धुवर ! मैने आप सभी ज्येष्ठजनों की इच्छा के अधीन हो कर ही यह अरुचिकर कार्य स्वीकार किया था। मेरी इच्छा मोह-बन्धन में बंधने की बिलकुल नहीं है। अब मैं लौट ही गया हूँ, तो मुझे रोकिये मत। मैं लग्न नहीं करूँगा......

"अरे पुत्र ! यह क्या कर रहे हो ? हाथी क्यों मोड़ा"--समुद्रविजयजी और पीछे से शिवादेवी मार्ग रोक कर आगे आई। उनके चेहरे की सारी प्रसन्नता लुप्त हो चुकी थी। वे आतंकित थे। उनके मुँह से बोल नहीं निकल रहे थे।

कुमार ने कहा; --

"माता-पिता ! मोह छोड़ो। आपके मोह ने ही यह सारा झंझट खड़ा किया है। जिस प्रकार ये हजारों पशु-पक्षी, बन्धन में पड़ कर छटपटा रहे थे और मुक्त हो कर प्रसन्न हुए, उसी प्रकार मैंने भी आठ कर्मरूपी बन्धन में पड़ कर अनन्त दुःख भोगे। अनन्त-बार बन्धा, कटा और मरा। मैं बन्धनमुक्त होना चाहता हूँ और आप मुझे बन्धनों में विशेष जकड़ना चाहते हैं। नहीं, नहीं, मैं अब किसी भी बन्धन में बँधना नहीं चाहता। मुझे मुक्त होना है। मेरा हित बन्धन में नहीं, मुक्ति में है। आप अपने मोह को छोड़ो। निर्मोह होना ही सुख और शांति का परम एवं अक्षय निवास है। मैं मोह को नष्ट करने के लिए निर्ग्रंथ-धर्म का आचरण करूँगा। यह मेरा अटल निश्चय है।"

माता-पिता जानते थे कि हमारा यह पुत्र, त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर हो कर भव्य-जीवों का उद्धार करेगा। गर्भ में आते समय चौदह महास्वप्न का फल ही उन्हें अपने पुत्र के

विराट व्यक्तित्व की आगाही दे चुका था। किन्तु मोह का प्रबल उदय उन्हें आश्वस्त नहीं होने दे रहा था। उनके हृदय को आघात लगा और वे मूच्छित हो गए।

श्रीकृष्ण ने कहा--"भाई ! तुम्हें हमारी, अपने माता-पिता और बन्धुवर बलदेवजी आदि ज्येष्ठजनों की बात माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि तुम बहुत प्रशस्त हो, तुम्हारी आत्मा बहुत पवित्र है, तुम मोह पाश में बँधने वाले नहीं हो, परन्तु माता-पितादि ज्येष्ठजनों के मन को शांति देने के लिए तथा उस चन्द्रमुखी कमल-लोचना को परित्यक्ता होने के दुःख से बचाने के लिए तुम्हें लग्न करना चाहिए। लग्न करने के बाद भी तुम यथोचित रूप से धर्म की आराधना नहीं कर सकोगे क्या ?"

नहीं, बन्धुवर ! मैं अब किसी नये बन्धन में बन्धने की बात सोच ही नहीं सकता। जब मुक्त होना है, तो नये बन्धन में क्यों बन्धुँ ?"

"भाई ! तुम दयालु हो। तुमने पशुओं की दया की और उन्हें बन्धन मुक्त कर के सुखी किया। यह तो ठीक किया, परन्तु तुम अपने माता-पिता और आप्तजन के दुःख दूर कर के सुखी क्यों नहीं करते ? इनकी दया करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है क्या ? क्या पशुओं से भी मनुष्य महत्वहीन हो गया है ? पशुओं को सुखी करना, और मनुष्यों को दुःखी करना उचित है क्या ? हम सभी के दुःख का कारण तो तुम स्वयं बन रहे हो। यदि तुम लग्न करना स्वीकार कर लो, तो हम सभी का दुःख मिट कर सुख प्राप्त हो सकता है। यह दुःख भी तुम्हीं ने उत्पन्न किया है और सुखी भी तुम ही कर सकते हो। अपने निर्णय पर पुनः विचार करो और लग्न-मण्डप की ओर चलो। समय बिता जा रहा है"—श्रीकृष्ण ने कहा।

--"भ्रातृवर ! पशुओं को छुड़ाना मेरे लिये बन्धनकारी नहीं था और न पशु अपने-आप मुक्त हो सकते थे। क्योंकि वे दूसरों के बन्धन में बन्धे थे। किन्तु आप तो अपने ही बन्धन में बन्धे हैं। आप सब का मोह ही आप सब को दुःखी कर रहा है। इस मोहजनित दुःख से मुक्त होना तो आप सभी के हाथ में है। मैं आपको दुःखी नहीं कर रहा हूँ, वरन् आप सभी मुझे दुःखदायक बन्धन में बाँध रहे हैं। अपने क्षणिक सुख के लिए मुझे बन्दी बनाना भी क्या न्यायोचित है ?"

"मैं तो आप सभी का हित ही चाहता हूँ। जिस प्रकार मैं स्वयं मोहजनित-बन्धन से बचना चाहता हूँ, इसी प्रकार आप सभी बचें और निर्मोही हो कर शाश्वत सुखी बनें। मोह के वश हो कर जीव ने स्वयं दुःख उत्पन्न किया है और मोह त्याग कर स्वयं ही सुखी हो सकता है। आपसे मेरा निवेदन है कि मुझे स्वतन्त्र रहने दीजिये। मन को मोड़

लेने से मोह का आवेग हट जायगा और शान्ति हो जायगी।"

"प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल ही भोगता है और दुःख-दावानल में जलता रहता है। प्रिय-संयोग का सुख कितने दिन रहता है? मृत्यु तो वियोग कर ही देती है। इसके सिवाय रोग, शोक, अनिष्ट-संयोग, जन्म, जरा, मरण आदि दुःख तो लगा ही रहता है। इन दुःखों से कौन किसे वचा सकता है? उदय में आये हुए कर्मों को तो जीव को स्वयं भोगना पड़ता है। माता-पिता, भाई और अन्य सम्बन्धी, उस दुःख से न तो वचा सकते हैं और न भागीदार वन सकते हैं।"

'पिताजी और मातेश्वरी को संतोष धारण करना चाहिए। मेरे अनुज रथनेमि आदि भी हैं ही। यदि मैं लग्न नहीं करूँ, तो यह मेरी रुचि की वात है। मेरे अन्य वन्धुओं से वे अपनी इच्छा पूरी कर सकते हैं। मैं तो संसार के दुःखों से खिन्न हो गया हूँ और मुझ में भौतिक सुख की रुचि नहीं है, इसलिये मैं तो दुःख के हेतुभूत पापकर्मों को नष्ट करने में ही प्रवृत्त रहना चाहता हूँ। अव आप मुझ-से लग्न करने का आग्रह नहीं करें।"

कुमार की वात सुन कर श्रीकृष्ण आदि सभी अवाक् रह गए। श्री समुद्रविजयजी वोले—"पुत्र! तुम गर्भ से लगा कर अव तक सुखशील एवं सुकोमल रहे हो, भरपूर ऐश्वर्य में पले हो। तुम्हारा शरीर सुखोपभोग के योग्य है। तुम ग्रीष्म की भीषण गर्मी, शीत की घोर ठंड, वर्षा का झंझावात, क्षुधा-पिपासा और अनेक प्रकार के कष्ट कैसे सहन कर सकोगे? संयम-साधना बड़ी कठोर होती है—वत्स!"

"पिताश्री! इस जीव ने नरक के घोर दुःख सहन किये हैं। उन भीषणतम दुःखों के समक्ष संयम-साधना में आते हुए कष्ट तो नगण्य है और तपपूर्ण जीवन तो अनन्त-सुखों--शाश्वत सुखों की खान खोल देता है। दूसरी ओर काम-भोग के वैषयिक-सुख, घोर दुःखों का भण्डार है। अव आप ही सोचिये कि मनुष्य के लिए दोनों में से उपादेय क्या है? यदि आपका पुत्र, शाश्वत-सुख का मार्ग अपनाता है, तो इससे आपको प्रसन्न ही होना चाहिए।"

पुत्र के दृढ़ विचार सुन कर माता-पिता मोहावेग से शोक-विव्हल हो कर अश्रुपात करने लगे और कृष्ण-वलदेवादि स्वजन भी खिन्न-वदन हो कर शोकमग्न हो गए। कुमार ने सारथि से कह कर हाथी वढ़ाया और निज भवन में आ कर अपने कक्ष में चले गए। वरात भी मार्ग में से ही लौट गई।

यथासमय लोकान्तिक देव अरिष्टनेमि के समक्ष उपस्थित हुए और प्रणाम कर के वोले;--"भगवन्! अव धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन कर के भव्य जीवों का उद्धार करो।"

कुमार् ने देवों की बात स्वीकार की और उन्हें विदा किया। इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों ने प्रचुर द्रव्य ला कर भण्डार भरपूर भरे और भगवान् अरिष्टनेमि प्रतिदिन वर्षीदान देने लगे।

राजमती को शोक और विरक्ति

"प्रियतम लौट गए"—यह जानते ही राजमती मर्माहत हो कर, कटी हुई पुष्प-लता के समान भूमि पर गिर-पड़ी। उसके हृदय-मन्दिर में जिन महत्वाकांक्षाओं के भव्य-भवन बन गए थे, वे सब एक ही झपाटे में नष्ट हो गए। वह संज्ञा-शून्य हो अचेत पड़ी थी। उसके गिरते ही सखियाँ भयभीत हो गईं। शीतल-सुगन्धित जल के सिंचन और वायु-संचार से राजमती सचेतन हुई और उठ कर बैठ गई। अश्रुधारा से उसकी कंचुकी भींग गई थी, मस्तक के केश बिखर कर उड़ रहे थे और कुछ अश्रु-जल से गालों पर चिपक गए थे। वह चित्कार कर उठी। अपने हार-कंगनादि आभूषण तोड़-मरोड़ कर फेंकती हुई और गम्भीर आह भरती हुई बोली;—

"हा, दैव! इस हतभागिनी के साथ ऐसा खिलवाड़ क्यों किया? क्यों मुझे शिखर पर चढ़ा कर पृथ्वी पर पछाड़ी? मेरे मन में यह भय था ही कि कहीं मैं ठगी न जाऊँ। ऐसा त्रिभुवन-तिलक रूप और देवोपिदुर्लभ महापुरुष मेरे भाग्य में कहाँ है? मैंने कभी मनोरथ भी नहीं किया था कि नेमिकुमार मेरे प्रियतम बने। दरिद्र के हाथ में अचानक चिंतामणि-रत्न के समान आ कर हृदय में पैठे और खूब ललचाया। सोते-जागते मनोरथ के भव्य प्रासाद बनाये और जब मनोरथ पूर्ण होने की घड़ी आई, तो लूट-खसोट कर फिर कंगाल बना दी गई।"

"हा, नाथ! मेरे मन में आये ही क्यों? मैंने कब आपको पाने की इच्छा की थी? विवाह करने की स्वीकृति दी, वचन दिया, विश्वास जमाया, बारात ले कर आये और मार्ग से ही लौट गए? क्या यह वचन-भंग नहीं हुआ? क्या यह विश्वासघात नहीं है?"

"नहीं, नहीं, मैं स्वयं दुर्भागिनी हूँ। आप तो मुझ पर कृपा कर के आए, परन्तु मेरा दुर्भाग्य, प्राणी-दया का रूप धारण कर के आया और आपको लौटा गया। इसमें आपका क्या दोष है?"

"नहीं, नहीं, आप दयालु नहीं, निर्दय हैं। यदि दयालु होते तो मेरी दया क्यों नहीं

करते ? क्या मैं दया के योग्य नहीं हूँ ? पशुओं को तो मेरे पिताजी ने बन्दी बनाया था, मैंने नहीं। परन्तु मेरे हृदय को तो आप ही ने कुचला है ?"

"प्रियतम ! जब मैं आपकी भव्यता, दिव्य-तेज और लोकोत्तम गुणों की तुला में अपने-आपको तोलती, तो निराश हो जाती और सोचती—"कहाँ वे चिंतामणि-रत्न के समान नर-रत्न और कहाँ मैं कंकर के समान किंकरी ? किन्तु जब आपके वचन पर विश्वास करती, तो मेरी सारी निराशा दूर हो कर आशा दृढ़ीभूत हो जाती। फिर उसी आशा पर मन में बड़े-बड़े मनोरथ बनने लगते। मुझे स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि आप मेरे साथ विश्वासघात करेंगे और मुझे परित्यक्ता बना देंगे। आपका यह व्यवहार कैसा है ? उत्तम पुरुष जो स्वीकार करते हैं, उसका जीवनपर्यन्त पालन करते हैं। फिर मैं क्यों ठुकराई गई ? मैंने आपका क्या अपराध किया था ?"

"प्राणेश ! मैं आपको क्यों दोष दूं ? दोष तो मेरे कर्मों का ही है। मैंने पूर्वभव में ऐसे पाप किये होंगे। किन्हीं स्नेहियों—प्रेमियों का प्रणय-बन्धन तोड़ा होगा, किसी आशाभरी प्रेमिका के प्रेमी को भ्रमित कर विमुख किया होगा और विरह की आग में जलाया होगा। बस, मेरा वही पाप उदय में आया है। मैं उसी पाप का फल भोग रही हूँ। इसमें आपका क्या दोष है ?"

"नाथ ! आपने भले ही मुझे ठुकराया, परन्तु मैं तो उसी समय आपका वरण कर चुकी हूँ—जब आपने वचन से मुझे स्वीकार किया था। मेरे मन-मन्दिर में आपका स्थान अमिट हो चुका है और मेरी माता तथा अन्य कुलांगनाओं ने भी विवाह के गीतों में आपका और मेरा सम्बन्ध गा कर स्वीकार कर लिया है। इसलिये आपके विमुख हो जाने पर भी मैं तो आपको नहीं छोड़ सकती। मेरे मन-मन्दिर से आप नहीं निकल सकते.... यह विवाह-मण्डप, लग्न-वेदिका और सभी प्रकार की साजसज्जा सब व्यर्थ हो गए। अब इनका काम ही क्या रहा ? हा, दुर्दैव ! यह कैसा दुर्विपाक है"—कह कर वह दुःखावेग में छाती पीटने लगी।

सभी सखियाँ दिग्मूढ़ हो कर स्तब्ध खड़ी थी। उन्होंने राजमती के हाथ पकड़े और समझाने लगी;—

"सखी ! तुम विलाप मत करो। वह निर्दय, निर्मोही अरिष्टनेमि तुम जैसी देवी-तुल्य स्त्री-रत्न की उपेक्षा कर के लौट गया, तो अब उससे तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या रहा ? अच्छा हुआ, जो उसकी भीरुता, व्यवहार-हीनता, रस-हीनता और वनवासी असभ्य जैसी उज्जड़ता का पता—लग्न होने के पूर्व ही—चल गया और वह स्वयं लौट गया। यदि

उसके इन दुर्गुणों का पता लग्न के बाद लगता, तो तू जीवनभर दुःखी रहती। अरे! उस निष्ठुर के साथ तुम्हारा सम्बन्ध हुआ ही कौन-सा? पिताजी ने केवल वचन से सम्बन्ध स्वीकार किया था। छोड़ो उस दंभी का विचार। संसार में अन्य अनेक अच्छे वर उपस्थित हैं। प्रद्युम्न, शाम्ब आदि एक-से-एक बढ़ कर योग्य वर मिल सकते हैं। उन सभी में से जो तुम्हें सर्वश्रेष्ठ लगे, उससे लग्न कर......

"बस, सखी! आगे मत बोल। मेरे हृदय में जो एकबार प्रवेश कर गया, वही मेरा पति है। मैं अपने मन से तो कभी की उनकी हो चुकी। अब इस हृदय में से उन्हें हटा कर दूसरे को स्थान देने की बात ही मैं सुनना नहीं चाहती। मेरी दृष्टि में यह कुलटापन है। उत्तम कुल की नारी अपने हृदय में एक को ही स्थान देती है। बहिन! मेरे वे प्राणेश्वर सामान्य मनुष्य नहीं हैं। अलौकिक महापुरुष हैं। उनके समान उत्तम पुरुष इस संसार में कोई है ही नहीं। यदि कोई दूसरा हो भी, तो मेरे लिए वह किस काम का? मैंने तो अपना प्रियतम उन्हें मान ही लिया है। यहाँ उन्होंने ठुकराई, तो क्या हुआ? भोग की साथिन नहीं, तो वियोग की अथवा योग की साथिन रहूँगी। अब मैं भी उन्हीं के पथ पर चलूंगी। जब प्रियतम निर्मोही हैं, तो मैं मोह कर के दुःखी क्यों बनूं, और क्यों न मोह-बन्धन तोड़ दूं? बस, आज से न हर्ष न शोक। देखती हूं कि वे अब क्या करते हैं।"

राजमती स्वस्थ हुई। सखियों को विसर्जित किया और शांतिपूर्वक काल निर्गमन करने लगी। उधर श्री नेमिकुमार नित्य प्रातःकाल दान करने लगे। तीर्थंकर-परम्परा के अनुसार, इन्द्र के योग से उनका वर्षीदान चल रहा था। उनके माता-पिता 'श्री शिवादेवी और समुद्रविजयजी' पुत्र की विरक्ति और भावी वियोग का चिन्तन कर शोकाकूल रहने लगे। उनकी आँखों से बार-बार अश्रु-कण गिरने लगे।

रथनेमि की राजमती पर आसक्ति

श्रीनेमिनाथजी के बिना लग्न किये लौट जाने के कुछ काल पश्चात् उनका छोटा भाई रथनेमि, राजमती के सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह राजमती के पास बहुमूल्य भेंटें ले कर आने लगा। राजमती भी देवर का स्नेह जान कर मिलती और भेंट स्वीकार करती। राजमती के शिष्टाचार और भेंट स्वीकार का अर्थ रथनेमि ने अपने अनुकूल लगाया। उसने सोचा कि राजमती भी मुझ पर आसक्त है। उसने एक दिन एकांत पा कर राजमती से कहा;—

"सुभगे! ज्येष्ठ-भ्राता ने तुम्हारे साथ घोर अन्याय किया है। वे रसहीन, मना-

सक्त एवं निर्मोही हैं। उन योगी जैसे विरक्त में यदि भोग-रुचि होती, तो लग्न किये बिना ही क्यों लौट जाते? तुम्हारे जैसी अलौकिक सुन्दरी का त्याग तो कोई दुर्भागी ही कर सकता है। अब तुम्हें किसी प्रकार का खेद या चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं तुम्हारे साथ लग्न करने को तत्पर हूँ। मैं स्वयं तुमसे विवाह करने की उत्कट इच्छा के साथ प्रार्थना कर रहा हूँ। अब विलम्ब मत करो। प्राप्त यौवन को व्यर्थ नष्ट मत करो।"

रथनेमि की बात सुन कर राजमती स्तंभित रह गई। उसके सम्पर्क साधने और मूल्यवान् भेंटें देने का आशय उसे अब ज्ञात हुआ। उसने शान्तिपूर्वक रथनेमि को समझाया, परन्तु वह तो कामासक्त था। समझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने सोचा—'स्त्री लज्जाशील होती है। पुरुष के ऐसे प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं कर लेती। अभी उसके हृदय पर असफलता का आघात भी लगा हुआ है। उसे सोचने का समय भी देना चाहिए।' इस प्रकार विचार कर और दूसरे दिन आने का कह कर वह चला गया।

दूसरे दिन रथनेमि पुनः राजमती के पास आया। राजमती ने उसका कामोन्माद उतार कर, विरक्ति उत्पन्न करने के लिए एक प्रभावोत्पादक उपाय सोचा और उसके वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसने भरपेट—आकण्ठ—दूध पिया और जब रथनेमि आया, तो उसने मदनफल खा लिया। इसके बाद उसने रथनेमि से कहा—'कृपया वह स्वर्ण-थाल ला दीजिये।' वह प्रसन्नतापूर्वक उठा। उसने इसे राजमती का अनुग्रह माना। उसने सोचा—'राजमती मेरे साथ भोजन करना चाहती है।' थाल ला कर राजमती के सामने रख दिया। उस थाल में राजमती ने वमन कर के पिया हुआ दूध निकाल दिया और रथनेमि से कहा—'लो, इस दूध को पी लो।'

रथनेमि घबराया। वह समझ नहीं सका कि राजमती क्या कह रही है। उसने पूछा—"क्या कहा? क्या मैं इस दूध को पी लूँ? राजमती ने 'हाँ' कहा, तो वह तमक कर बोला;—

"यह कौन-सी शिष्टता है? क्या मैं कुत्ता हूँ, जो तुम्हारे वमन किये हुए दूध को पी लूँ?"

"क्यों, पूछते क्यों हो? क्या यह पीने योग्य नहीं है? क्या तुम समझते हो कि वमन किया हुआ मिष्टान्न भी अभक्ष्य हो जाता है"—राजमती ने पूछा।

"तुम कैसी बात करती हो"—रथनेमि बोला—"आबाल-वृद्ध सभी जानते हैं कि वमन की हुई वस्तु मनुष्यमात्र के लिए अभक्ष्य होती है। एक मूर्ख भी ऐसा नहीं कर सकता।"

"यदि तुम इतनी समझ रखते हो, तो यह क्यों नहीं समझते कि मैं भी तुम्हारे ज्येष्ठ-बन्धु द्वारा परित्यक्ता हूँ। मुझ वमन की हुई का उपभोग करने की कामना ही क्यों कर रहे हो ? अरे उस लोकोत्तम महापुरुष के भाई हो कर भी तुम ऐसी अधम मनोवृत्ति रखते हो ? नहीं, नहीं, तुम्हें ऐसी अधमतापूर्ण पशुता नहीं करनी चाहिए और ऐसे दुष्टता-पूर्ण विचारों को हृदय में से निकाल कर शुद्ध बनाना चाहिए।"

सती की फटकार खा कर रथनेमि निराश हुआ और उदास हो कर घर लौट आया। राजमती ज्ञान के अवलम्बन से अपना समय व्यतीत करने लगी।

दीक्षा, केवलज्ञान और तीर्थंकर-पद

श्री अरिष्टनेमि कुमार, स्वर्ण दान दे रहे थे और अभाव-पीड़ित जनता लाभान्वित हो रही थी। श्री नेमिनाथजी ने राजमती की व्यथा एवं शोक-संतप्तता की बात सुनी और अपने अवधिज्ञान से विशेष रूप से जानी, किन्तु उदयभाव का परिणाम जान कर निर्लिप्त रहे। वर्षीदान का काल पूर्ण होने पर और ३०० वर्ष गृहवास में रह कर श्रावण-शुक्ला छठ के दिन चित्रा-नक्षत्र में, देवेन्द्र और नरेन्द्र द्वारा भगवान् अरिष्टनेमिजी का निष्क्रमणोत्सव हुआ। उत्तरकुरु नाम की रत्नजड़ित शिविका पर भगवान् अरिष्टनेमिजी आरूढ़ हुए। देवों और नरेन्द्रों ने शिविका उठाई। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र, भगवान् के दोनों ओर चामर डुलाते चले। सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर छत्र धर कर रहा, माहेन्द्र खड्ग ले कर आगे हुआ, ब्रह्मेन्द्र ने दर्पण लिया, लांतकेन्द्र पूर्ण कलशधारी रहा, महाशुकेन्द्र ने स्वस्तिक, सहस्रारेन्द्र ने धनुष, प्राणतेन्द्र ने श्रीवत्स और अच्युतेन्द्र ने नन्दावर्त लिया। चमरेन्द्र आदि ने अन्य शस्त्रास्त्र ग्रहण किये। श्री समुद्रविजयजी आदि दशार्ह—पितृवर्ग, शिवादेवी आदि मातृवर्ग और कृष्ण-बलदेवादि भ्रातृवर्ग से घिरे हुए श्री अरिष्टनेमिजी शिविकारूढ़ हो कर चले। 'जय हो, विजय हो, काम-विजेता मुक्ति के महापथिक भगवान् अरिष्टनेमि की जय हो। भगवन् ! आप भव्य जीवों के उद्धारक बने। स्वयं तिरें और भव्यजीवों को तारें। आपकी और आपके परमोत्तम निर्ग्रन्थ-धर्म की जय-विजय हो।"

इस प्रकार जयघोषों और वादिन्त्रों के निनाद से युक्त वह निष्क्रमण-यात्रा आगे बढ़ी। यह वही राजमार्ग था--जिस पर एक वर्ष पूर्व इन्हीं अरिष्टनेमिजी की बारात चली थी। आज उसी राज-पथ पर इन्हीं की निष्क्रमण-यात्रा चल रही है। बारात में पिता आदि सभी में हर्षोल्लास का ज्वार उमड़ रहा था, परन्तु आज की इस यात्रा में माता-पितादि

सक्त एवं निर्मोही हैं। उन योगी जैसे विरक्त में यदि भोग-रुचि होती, तो लग्न किये विना ही क्यों लौट जाते ? तुम्हारे जैसी अलौकिक सुन्दरी का त्याग तो कोई दुर्भागी ही कर सकता है। अब तुम्हें किसी प्रकार का खेद या चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं तुम्हारे साथ लग्न करने को तत्पर हूँ। मैं स्वयं तुमसे विवाह करने की उत्कट इच्छा के साथ प्रार्थना कर रहा हूँ। अब विलम्ब मत करो। प्राप्त यौवन को व्यर्थ नष्ट मत करो।"

रथनेमि की बात सुन कर राजमती स्तंभित रह गई। उसके सम्पर्क साधने और मूल्यवान् भेंटें देने का आशय उसे अब ज्ञात हुआ। उसने शान्तिपूर्वक रथनेमि को समझाया, परन्तु वह तो कामासक्त था। समझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने सोचा—'स्त्री लज्जाशील होती है। पुरुष के ऐसे प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं कर लेती। अभी उसके हृदय पर असफलता का आघात भी लगा हुआ है। उसे सोचने का समय भी देना चाहिए।' इस प्रकार विचार कर और दूसरे दिन आने का कह कर वह चला गया।

दूसरे दिन रथनेमि पुनः राजमती के पास आया। राजमती ने उसका कामोन्माद उतार कर, विरक्ति उत्पन्न करने के लिए एक प्रभावोत्पादक उपाय सोचा और उसके वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसने भरपेट—आकण्ठ—दूध पिया और जब रथनेमि आया, तो उसने मदनफल खा लिया। इसके बाद उसने रथनेमि से कहा—'कृपया वह स्वर्ण-थाल ला दीजिये।' वह प्रसन्नतापूर्वक उठा। उसने इसे राजमती का अनुग्रह माना। उसने सोचा—'राजमती मेरे साथ भोजन करना चाहती है।' थाल ला कर राजमती के सामने रख दिया। उस थाल में राजमती ने वमन कर के पिया हुआ दूध निकाल दिया और रथनेमि से कहा—'लो, इस दूध को पी लो।'

रथनेमि घबराया। वह समझ नहीं सका कि राजमती क्या कह रही है। उसने पूछा—"क्या कहा ? क्या मैं इस दूध को पी लूँ ? राजमती ने 'हाँ' कहा, तो वह तमक कर बोला;—

"यह कौन-सी शिष्टता है ? क्या मैं कुत्ता हूँ, जो तुम्हारे वमन किये हुए दूध को पी लूँ ?"

"क्यों, पूछते क्यों हो ? क्या यह पीने योग्य नहीं है ? क्या तुम समझते हो कि वमन किया हुआ मिष्टान्न भी अभक्ष्य हो जाता है"—राजमती ने पूछा।

"तुम कैसी बात करती हो"—रथनेमि बोला—"आबाल-वृद्ध सभी जानते हैं कि वमन की हुई वस्तु मनुष्यमात्र के लिए अभक्ष्य होती है। एक मूर्ख भी ऐसा नहीं कर सकता।"

"यदि तुम इतनी समझ रखते हो, तो यह क्यों नहीं समझते कि मैं भी तुम्हारे ज्येष्ठ-बन्धु द्वारा परित्यक्ता हूँ। मुझ वमन की हुई का उपभोग करने की कामना ही क्यों कर रहे हो ? अरे उस लोकोत्तम महापुरुष के भाई हो कर भी तुम ऐसी अधम मनोवृत्ति रखते हो ? नहीं, नहीं, तुम्हें ऐसी अधमतापूर्ण पशुता नहीं करनी चाहिए और ऐसे दुष्टता-पूर्ण विचारों को हृदय में से निकाल कर शुद्ध बनाना चाहिए।"

सती की फटकार खा कर रथनेमि निराश हुआ और उदास हो कर घर लौट आया। राजमती ज्ञान के अवलम्बन से अपना समय व्यतीत करने लगी।

दीक्षा, केवलज्ञान और तीर्थंकर-पद

श्री अरिष्टनेमि कुमार, स्वर्ण दान दे रहे थे और अभाव-पीड़ित जनता लाभान्वित हो रही थी। श्री नेमिनाथजी ने राजमती की व्यथा एवं शोक-संतप्तता की बात सुनी और अपने अवधिज्ञान से विशेष रूप से जानी, किन्तु उदयभाव का परिणाम जान कर निर्लिप्त रहे। वर्षीदान का काल पूर्ण होने पर और ३०० वर्ष गृहवास में रह कर श्रावण-शुक्ला छठ के दिन चित्रा-नक्षत्र में, देवेन्द्र और नरेन्द्र द्वारा भगवान् अरिष्टनेमिजी का निष्क्रमणोत्सव हुआ। उत्तरकुरु नाम की रत्नजड़ित शिविका पर भगवान् अरिष्टनेमिजी आरूढ़ हुए। देवों और नरेन्द्रों ने शिविका उठाई। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र, भगवान् के दोनों ओर चामर डुलाते चले। सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर छत्र धर कर रहा, माहेन्द्र खड्ग ले कर आगे हुआ, ब्रह्मेन्द्र ने दर्पण लिया, लांतकेन्द्र पूर्ण कलशधारी रहा, महाशुकेन्द्र ने स्वस्तिक, सहस्रारेन्द्र ने धनुष, प्राणतेन्द्र ने श्रीवत्स और अच्युतेन्द्र ने नन्दावर्त लिया। चमरेन्द्र आदि ने अन्य शस्त्रास्त्र ग्रहण किये। श्री समुद्रविजयजी आदि दशार्ह—पितृवर्ग, शिवादेवी आदि मातृवर्ग और कृष्ण-बलदेवादि भ्रातृवर्ग से घिरे हुए श्री अरिष्टनेमिजी शिविकारूढ़ हो कर चले। 'जय हो, विजय हो, काम-विजेता मुक्ति के महापथिक भगवान् अरिष्टनेमि की जय हो। भगवन् ! आप भव्य जीवों के उद्धारक बने। स्वयं तिरें और भव्यजीवों को तारें। आपकी और आपके परमोत्तम निर्ग्रन्थ-धर्म की जय-विजय हो।"

इस प्रकार जयघोषों और वादिन्त्रों के निनाद से युक्त वह निष्क्रमण-यात्रा आगे बढ़ी। यह वही राजमार्ग था--जिस पर एक वर्ष पूर्व इन्हीं अरिष्टनेमिजी की बारात चली थी। आज उसी राज-पथ पर इन्हीं की निष्क्रमण-यात्रा चल रही है। बारात में पिता आदि सभी में हर्षोल्लास का ज्वार उमड़ रहा था, परन्तु आज की इस यात्रा में माता-पितादि

अश्रुपात कर रहे हैं और अन्य जन भी गंभीर हैं। यह समारोह आगे बढ़ कर उग्रसेनजी के भवन के समीप पहुँचता है। अपने प्राणेश्वर की निष्क्रमण-यात्रा देखने के लिए राजमती गवाक्ष में पहुँचती है। उन्हें देख कर उसका सुसुप्त प्रेम पुनः जाग्रत हो जाता है और वह मूच्छित हो कर गिर पड़ती है।

निष्क्रमण-यात्रा उज्जयंत पर्वत की तलहटी के सहस्राम्र वन उद्यान में पहुँची। भ. अरिष्टनेमिजी, अपनी शिविका से उतर कर अशोक-वृक्ष के नीचे खड़े हुए और अपने शरीर पर से सभी आभूषण उतार दिये। इन्द्र ने वे आभूषण ले कर श्रीकृष्ण को दिये। समय दिन का पूर्वार्द्ध था और प्रभु के बेले का तप था। प्रभु ने वस्त्र भी उतार दिये और अपने केशों का पंच-मुष्टि लोच किया। शक्रेन्द्र ने प्रभु के कन्धे पर देवदूष्य रखा। प्रभु के लुंचित केशों को शक्रेन्द्र ने अपने उत्तरीय में ले कर क्षीर-समुद्र में प्रक्षिप्त किये। अब भगवान् संयम की प्रतिज्ञा कर रहे थे। देवेन्द्र की आज्ञा से वादिन्त्रादि का नाद एवं कोलाहल रुक गया। फिर भगवान् ने सिद्ध भगवान् की साक्षी से सर्व सावद्य-योग के त्याग रूप सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा करते हुए कहा; —

"मैं जीवनपर्यंत सभी प्रकार के सावद्य-योगों का तीन करण तीन योग से त्याग करता हूँ।"

चारित्र ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। प्रभु के साथ एक हजार पुरुषों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। जिस समय प्रभु ने प्रव्रज्या ग्रहण की, उस समय तीनों लोक में उद्योत हुआ। अन्धकार पूरित नरकावासों में भी क्षण भर के लिए उद्योत हुआ और नारक जीवों ने सुख का अनुभव किया।

भगवान् के प्रव्रजित होने पर त्रिखण्डाधिपति राज-राजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने आशीर्वाद देते हुए कहा; —

"हे दमीश्वर ! आप शीघ्र ही अपने मनोरथ को प्राप्त करें और सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप तथा क्षांति-मुक्ति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते रहें।"

प्रभु के प्रव्रजित होने के बाद सभी देव और मनुष्य, भगवान् को वन्दन कर के स्वस्थान लौट गए।

दूसरे दिन भगवान् ने उद्यान से निकल कर गोष्ठ में 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहाँ अपने बेले के तप का, परमान्न से पारणा किया। देवों ने—"अहोदानं, अहोदानं" का दिव्य-घोष किया, दुंदुभि-नाद किया, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और स्वर्ण की वर्षा की और वरदत्त के महादान की प्रशंसा करते हुए उसे धन्यवाद दिया।

भगवान् तप-संयम से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए भूतल पर विचरने लगे। प्रव्रजित होने के ५४ दिन बाद उसी सहस्राम्र वन में तेले के तप सहित ध्यान करते हुए, आश्विन की अमावस्या के दिन प्रातःकाल चित्रा-नक्षत्र में भगवान् के घातिकर्म नष्ट हो गए। वे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही देवेन्द्रों के आसन चलायमान हुए। उन्होंने भगवान् का केवलज्ञानी-केवलदर्शनी होना जाना। वे हर्षोल्लासपूर्वक अपने-अपने परिवार और देव-देवियों के साथ सहस्राम्र वन में आये और अरिहंत भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के भव्य समवसरण की रचना की। उद्यान-रक्षक अधिकारी ने श्रीकृष्ण की सेवा में उपस्थित हो कर इस अलौकिक घटना का निवेदन किया। भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति का शुभ-संवाद सुन कर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए। उन्होंने उद्यान-रक्षक को साढ़े बारह करोड़ रूपक दे कर पुरस्कृत किया और स्वयं बड़े समारोहपूर्वक, अपने दशार्ह आदि परिजनों, माताओं, रानियों, बन्धुओं, कुमारों, राजाओं और अधिकारियों के साथ सहस्राम्र वन में प्रभु को वन्दन करने चले। जब समवसरण दिखाई दिया, तो वे अपने-अपने वाहनों से नीचे उतरे और राजचिन्हों को वहीं छोड़ कर, उत्तर की ओर के द्वार से समवसरण में प्रवेश किया। भगवान् अरिष्टनेमिजी महाराज एक स्फटिक-रत्नमय सिंहासन पर विराजमान थे। वे अतिशयों से सम्पन्न देदीप्यमान दिखाई दे रहे थे। भगवान् की वन्दना एवं प्रदक्षिणा कर के श्रीकृष्ण आदि यथास्थान बैठे। देवेन्द्र और नरेन्द्र की स्तुति के पश्चात् भगवान् ने अपनी अतिशय सम्पन्न गम्भीर वाणी में धर्मदेशना दी। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर सर्वप्रथम वरदत्त नरेश संसार से विरक्त हुए और भगवान् से सर्वविरति रूप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अंगीकार की और उनके साथ दो हजार क्षत्रियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रीकृष्ण ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! यों तो हम सभी आपके अनुरागी हैं, किन्तु राजमती का आपके प्रति अत्यधिक अनुराग क्यों है? क्या रहस्य है इस उत्कट अनुराग का?"

भगवान् ने राजमती के साथ धन और धनवती से लगा कर अपने पूर्व-जन्मों के आठ भवों का सम्बन्ध बताया, जिसे सुन कर समवसरण में उपस्थित तीन राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे तीनों भी भगवान् के धन के भव में धनदेव और धनदत्त नाम के दो भाई थे, वे और अपराजित के भव में विमलबोध नाम का मन्त्री था। वे तीनों भी स्वामी के साथ भव-भ्रमण करते हुए इस भव में राजा हुए थे। जातिस्मरण से पूर्व वृत्तांत जान कर उन्हें भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे भी दीक्षित हो

हो गए। उन सभी सद्य-दीक्षितो में से वरदत्त आदि ग्यारह मुनियों को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान दिया और वे भगवान् के 'गणधर' हुए। उन गणधरों ने द्वादशांगी की रचना की।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजकुमारियाँ भी प्रव्रजित हुई। उन सभी में यक्षिणी को प्रभु ने साध्वियों में 'प्रवर्तिनी' पद प्रदान किया।

समुद्रविजयजी आदि दस दशार्ह, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलदेव और प्रद्युम्न आदि कुमारों और अन्यजनों ने श्रावक-धर्म अंगीकार किया। महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि देवियों और अन्य महिलाओं ने श्राविका-धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर नामकर्म सार्थक किया।

राजमती की दीक्षा

भ. नेमिनाथजी की प्रव्रज्या के बाद तो राजमती के लिए भी यही मार्ग शेष रह गया था। जब तक नेमिनाथजी प्रव्रजित नहीं हुए, तब तक तो स्थिति अनुकूल बनने की संभावना उसे लगती रही, किन्तु प्रव्रज्या के बाद तो वह सर्वथा निराश हो गई। उसके हृदय को पुनः आघात लगा। स्वस्थ होने पर उसने सोचा—

"धन्य हो भगवन् ! आपको। आपने मुझे ही नहीं त्यागा, भोग-जीवन ही त्याग दिया। आप महान् हैं, किन्तु मेरी आत्मा मोह-मुग्ध रही। धिक्कार है मुझे कि मैं उन लोकोत्तम महापुरुष की अनुरागिनी हो कर भी अब तक मोह में ही रची हुई हूँ। नहीं, मोह मेरे लिए भी हेय है। अब मैं भी उसी मार्ग का अनुसरण करूँगी, जिसे स्वामी ने अपनाया है। मेरे लिए भी अब प्रव्रज्या ही श्रेयस्कर है। अब मुझे भी इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रख कर, आत्म-साधना करनी चाहिए।"

राजमती ने माता-पिता से प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। वे भी समझ चुके थे कि अब राजमती संसार-त्याग के अतिरक्त अन्य कोई मार्ग नहीं अपनाएगी। उन्होंने आज्ञा प्रदान कर दी। शीलवती, सदाचारिणी और बहुश्रुता राजमती ने प्रव्रजित होने के लिए अपने सुन्दर एवं सुशोभित केशों का लुंचन किया और निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की।

उसके साथ बहुत-सी राजकुमारियाँ, सखी-सहेलियाँ और अन्य अनेक महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई + ।

राजमती की दीक्षा पर महाराधिराज श्रीकृष्ण वासुदेवने मंगलकामना व्यक्त करते हुए कहा—"हे राजमती ! तुम इस भयानक एवं दुस्तर संसार को शीघ्र ही पार कर के शाश्वत स्थान प्राप्त कर लो ।"

रथनेमि चलित हुए

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद महासती राजमतीजी, अन्य साध्वियों के साथ, भगवान् अरिष्टनेमिजी को वन्दन करने के लिए रेवताचल पर्वत पर गई। पर्वत चढ़ते हुए अचानक वर्षा प्रारंभ हो गई और साध्वियाँ पानी से भागने लगी। अपने को वर्षा से बचाने के लिए साध्वियाँ इधर-उधर आश्रयस्थान की ओर चली गई। राजमती भी एक अन्धकारपूर्ण गुफा में प्रविष्ट हो गई। उसने अपने भीगे हुए वस्त्र उतारे और सूखने के लिए फैला दिये। उस गुफा में पहले से ही मुनि रथनेमि उपस्थित थे। अन्धकार के कारण सती राजमती को दिखाई नहीं दिये। जब रथनेमि की दृष्टि राजमती के नग्न शरीर पर पड़ी, तो वह विचलित हो गए। उनकी धर्म-भावना एवं संयम-रुचि में परिवर्तन हो गया। दृष्टिपात मात्र से उनका सुसुप्त मनोविकार जाग्रत हुआ। प्रकाशपूर्ण वातावरण से आने के कारण, प्रवेश करते समय राजमती को रथनेमि दिखाई नहीं दिया था। किन्तु भीगे वस्त्र उतार कर सूखने के लिए फैलाने के बाद राजमती ने पुनः गुफा का अवलोकन किया। उसे एक मनुष्याकृति दिखाई दी। वह भयभीत हो गई और सिमट कर अपनी बाहों से शरीर ढक कर बैठ गई। राजमती को भय से काँपती हुई देख कर रथनेमि बोला;—

"भद्रे ! भयभीत मत हो। मैं तेरा प्रेमी रथनेमि हूँ। हे सुन्दरी ! हे मृगनयनी ! मैं अब भी तुम्हें चाहता हूँ। मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और मेरे पास आओ। देखो,

+ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में राजमती की दीक्षा, भ. नेमिनाथ के केवलज्ञान के बहुत काल बाद—श्री गजसुकुमाल मुनि के निर्वाण के बाद बताई है। मुझे लगता है कि भगवान् की दीक्षा के बाद वह इतने लम्बे काल तक गृहस्थ-जीवन में नहीं रही होगी। उत्तराध्ययन अ. २२ वाँ देखते यही विचार होता है कि भगवान् की दीक्षा के कुछ दिन बाद ही राजमती भी दीक्षित हो गई होगी।

भोग के योग्य ऐसा मनुष्य-भव और सुन्दर-तन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। आओ अपन भोग भोगें। भुक्त-भोगी होने के बाद फिर अपन संयम की साधना करेंगे। तुम निःशंक हो कर मुझे स्वीकार करो। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।"

रथनेमि को पथभ्रष्ट और भग्न-चित्त देख कर राजमती संभली। उसने अपने आपको स्थिर एवं संवरित किया और अपनी उच्च जाति-कुल और शील की रक्षा करती हुई निर्भयतापूर्वक रथनेमि से बोली;—

"रथनेमि ! तुम भ्रम में हो। सुनो ! यदि तुम रूप में वैश्रमण और लीला-विलास में नलकूबर के समान भी हो और साक्षात् इन्द्र भी हो, तो भी मैं तनिक भी नहीं चाहती। मैंने भोग-कामना को वमन किये हुए पदार्थ के समान सर्वथा त्याग दिया है और आत्म-साधना में संलग्न हुई हूँ। तुम भी साधु हो। तुमने भी निर्ग्रंथ-धर्म स्वीकार किया है। किन्तु तुम्हारी वासना नष्ट नहीं हुई। तुम्हें अपने कुल का भी गौरव नहीं है। अगंधन कुल का सर्प, जलती हुई आग में पड़ कर भस्म हो जाता है, परन्तु मन्त्रवादी की इच्छानुसार, अपना त्यागा हुआ विष फिर नहीं चूसता। किन्तु तुम साधुवेश में पापी हो। तुम्हें अपने उत्तम कुल का भी गौरव नहीं है। तुम समुद्रविजयजी जैसे महानुभाव के पुत्र और त्रिलोकपूज्य भगवान् अरिष्टनेमिजी के बन्धु हो कर भी ऐसे नीचतापूर्ण विचार रखते हो ? धिकार है, तुम्हारे कलंकित जीवन को। ऐसे कुत्सित जीवन से तो तुम्हारा मर जाना ही उत्तम है।"

"स्त्री को देख कर कामासक्त होने वाले ऐ रथनेमि ! तुम संयम का पालन कैसे कर सकोगे ? ग्राम-नगरादि में विचरण करते हुए तुम जहाँ-जहाँ स्त्रियों को देखोगे, वहीं विचलित हो कर विकारी बनते रहोगे, तो तुम्हारी दशा उस हड-वृक्ष जैसी होगी, जो वायु के झोके से हिलता हुआ अस्थिर होता है।"

"वास्तव में तुम संयमधारी नहीं, बेगारी हो। जिस प्रकार ग्वाला, गो-वर्ग का स्वामी नहीं होता और भंडारी, धन का स्वामी नहीं होता, उसी प्रकार तुम भी संयम रूपी धन के अधिश्वर नहीं हो, चाकर हो, भारवाहक हो, बेगारी हो। संयमधारी निर्ग्रंथ कहला कर भी असंयमी मानस रखने वाले रथनेमि ! तुम्हें धिक्कार है। तुम कुल-कलंक हो, निर्लज्ज हो, कायर हो, घृणित हो। तुम्हारा जीवन व्यर्थ है।"

भगवती राजमती के ऐसे ओजपूर्ण प्रभावशाली वचनों ने अंकुश का काम किया। उससे रथनेमि का मद उतर गया। उसका कामोन्माद नष्ट हो गया। राजमती के रूप-दर्शन से उसमें जो विषय-रोग उत्पन्न हुआ था, वह इन सुभाषित शब्द रूपी रसायन से

दूर हो गया। स्थान-भ्रष्ट हो कर भागा हुआ मदोन्मत्त गजराज फिर अपने स्थान पर आ कर चुपचाप स्थिर हो गया।

रथनेमि उत्तम-जाति और कुल से युक्त था। उदय-भाव की प्रबलता से वह डगमगा गया था। किन्तु भगवती राजमती के वचनों ने उसे आत्म-भान कराया। वह संभल गया। भगवान् के समीप आ कर उसने अपने पाप की आलोचना की और प्रायश्चित् ले कर शुद्धि की। फिर वह धर्म-साधना में साहसपूर्वक जुट गया। अब उसका आत्म-वीर्य, आत्म-विशुद्धि ही में लगा था। उसने क्रोधादि कषाय और इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त की। वह वीतराग सर्वज्ञ बना और सिद्ध पद प्राप्त किया।

भगवती राजमती भी तप-संयम का पालन कर वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनी और मुक्ति प्राप्त कर परम सुख में लीन हुई।

नारद-लीला से द्रौपदी का हरण

महाभारत युद्ध में जरासंध और उसके पक्ष के कौरव आदि की पराजय एवं विनाश होने के बाद श्रीकृष्ण के प्रसाद से पाण्डवों को हस्तिनापुर का राज्य मिल गया। वे वहाँ राज्य का पालन करते हुए सुखपूर्वक रहते थे *। एकबार नारदजी भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर आये। उस समय पाण्डु नरेश अपनी पत्नी कुंतीदेवी, युधिष्ठिरादि पाँच पाण्डव, पुत्रवधू द्रौपदी और अन्तःपुर परिवार के साथ बैठे थे। नारद को आया देख कर द्रौपदी के अतिरिक्त सभी ने नारदजी का आदर-सत्कार किया, वन्दन-नमस्कार किया और उच्च आसन का आमन्त्रण दिया। नारदजी ने पहले जल छिड़का, फिर दर्भ बिछाया और उस पर आसन बिछा कर बैठ गए। पाण्डवादि नारदजी की सेवा करने लगे। किन्तु द्रौपदी ने नारदजी का आदर-सत्कार नहीं किया। उन्हें असंयत-अविरत-अप्रत्याख्यानी जान कर उनकी उपेक्षा कर दी। द्रौपदी के द्वारा हुई उपेक्षा एवं अनादर देख कर नारदजी क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा—"द्रौपदी को अपने रूप-लावण्य, यौवन और पाँच पाण्डवों के स्नेह-बन्धन का अभिमान है। इसीसे इसने मेरा अनादर किया है। इस गर्विणी का गर्व उतारना और अपने अनादर का दण्ड देना आवश्यक है।" वे हस्तिनापुर से चले। उन्होंने विचार किया—"भरत-क्षेत्र में तो ऐसा कोई सूरमा नहीं है जो श्रीकृष्ण के प्रभाव की

* द्रौपदी के लग्न तक का वृत्तांत पृ. ४५७ तक आया है।

उपेक्षा कर के द्रौपदी का अपहरण करे।" उनकी दृष्टि धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व-दिशा की ओर भरत-क्षेत्र के दक्षिण भाग की अमरकंका राजधानी के पद्मनाभ राजा की ओर गई। वे आकाश में उड़ कर अमरकंका आए। राजा पद्मोत्तर ने नारदजी का अच्छा सत्कार किया। अर्ध्य दे कर उच्चासन पर विठाया। नारदजी ने पानी छिड़क कर दर्भ बिछाया और आसन बिछा कर बैठ गए। कुशल-पृच्छा की। पद्मनाभ ने नारदजी को अपना अन्तःपुर दिखाया और रानियों के सौंदर्य आदि की प्रशंसा करते हुए पूछा—

"महात्मन् ! मेरे इस अन्तःपुर जैसा उच्चकोटि का अन्तःपुर आपने कभी किसी दूसरे का देखा है ?"

"अरे पद्मनाभ ! तुम कुएँ के मेंढक के समान हो। हस्तिनापुर के पाण्डवों की रानी द्रौपदी के अलौकिक सौंदर्य के आगे तुम्हारा यह सारा अन्तःपुर कुछ भी नहीं है। उसके पाँव के अंगूठे की भी बराबरी नहीं कर सकता।"

इस प्रकार पद्मनाभ के मन में आकांक्षा उत्पन्न कर के नारदजी चल दिये। द्रौपदी से वैर लेने का निमित्त उन्होंने खड़ा कर दिया।

पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी का हरण

नारदजी की बात ने पद्मानाभ के मन में दौपदी को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न कर दी। वह दौपदी को प्राप्त करने की युक्ति सोचने लगा। उसे लगा कि भरत-क्षेत्र जैसे अति दूर और विशाल लवण-समुद्र को पार कर के दौपदी को लाना, मनुष्य की शक्ति से बाहर है। उसने अपने पूर्व के साथी देव की सहायता से मनोरथ पूरा करने का निश्चय किया। वह पौषधशाला में पहुँचा और तेला कर के अपने पूर्व-भव के सम्बन्धी देव ‡ का स्मरण करने लगा। साधना से आकृष्ट हो कर देव उपस्थित हुआ और स्मरण करने का कारण पूछा। पद्मनाभ ने कहा;—

"देवानुप्रिय ! भरत-क्षेत्र की हस्तिनापुरी नगरी के पाण्डवों की रानी द्रौपदी, उत्कृष्ट रूप-यौवन से सम्पन्न है। मैं उसका अभिलाषी हूँ और चाहता हूँ कि आप उसे यहाँ ले आवें।"

देव ने उपयोग लगाने के बाद कहा;—

‡ त्रिशष्ठि श. पु. च. के अनुसार यह देव "पातालवासी"—भवनपति था।

"मित्र ! तुम भूल कर रहे हो। द्रौपदी सती है। वह अपने पाँच पतियों के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ भोग नहीं करेगी। उसे तुम या अन्य कोई भी पुरुष अनुकूल नहीं बना सकेगा। वह तुम्हें स्वीकार नहीं करेगी—यह निश्चय जानो। फिर भी मैं तुम्हारे स्नेह के कारण उसका अपहरण कर के अभी यहाँ ले आऊँगा।"

देव उड़ा और लवण-समुद्र और पर्वतादि लांघ कर हस्तिनापुर पहुँचा। उस समय द्रौपदी युधिष्ठिरजी के साथ अपने प्रासाद की छत पर सोई हुई थी। देव उस छत पर उतरा और द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा (अति गाढ़ निद्रा) में निमग्न कर के उठाई और ले उड़ा, तथा अमरकंका को अशोक-वाटिका में रख दिया। इसके बाद उस पर से अवस्वापिनी निद्रा हटा कर पद्मनाभ के पास आया और बोला—

"मैं द्रौपदी को ले आया हूँ। वह तुम्हारी अशोक-वाटिका में है। अब तुम्हारी तुम जानो। मैं जा रहा हूँ।"

थोड़ी देर में द्रौपदी की निद्रा भंग हुई। वह आँख खोल कर इधर-उधर देखते ही चौंकी—"अरे, मैं कहाँ हूँ ? यह भवन और अशोक-वाटिका मेरी नहीं है। ये भवन किसके हैं ? यह उपवन किसका है ? कौन लाया मुझे यहाँ ? अवश्य ही दिसी देव-दानव ने मेरा हरण किया और इस अशोक-वाटिका में ला कर रख दिया। ओह ! किसी दुष्ट या वैरी ने मुझे विपत्ति में डाल दिया। अब मैं क्या करूँ ? हे भगवन् ! यह मेरे किन पापों का फल है ?"

इस प्रकार द्रौपदी भग्न-हृदय से चिन्ता-मग्न हो रही थी। इतने में पद्मनाभ सज-धज एवं अलंकृत हो कर अन्तःपुर के साथ उसके सामने खड़ा हुआ और नम्र वचनों से कहने लगा;—

"सुभगे ! तुम चिन्ता मत करो। मैंने ही तुम्हें तुम्हारे भवन से, एक देव द्वारा हरण करवा कर यहाँ मँगवाया है। तुम प्रसन्न होओ और मेरे साथ उत्तम भोग भोगती हुई जीवन सफल करो।"

द्रौपदी नीचे देखती हुई मौनपूर्वक विचार कर रही थी कि पद्मनाभ फिर बोला;—

"मृगाक्षि ! यह धातकीखंड की अमरकंका राजधानी का राजभवन और उपवन है। मैं पद्मनाभ यहाँ का शक्ति-सम्पन्न अधिपति हूँ। भरत-खण्ड यहाँ से लाखों योजन दूर है। विशाल लवण-समुद्र और बड़े-बड़े पर्वत इसके बीच में रहे हुए हैं। भरत-क्षेत्र का कोई भी मनुष्य यहाँ नहीं आ सकता। इसलिए तुम दूसरी आशा छोड़ कर मेरी बात मान लो और मेरी बन जाओ। मैं तुम्हें महारानी-पद दे कर सम्मानित करूँगा और सभी

प्रकार से सुखी रखूंगा ।"

द्रौपदी ने सोचा--'अब चतुराई से अपना बचाव करना चाहिए। वह बोली;--

"देवानुप्रिय ! जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के स्वामी श्रीकृष्ण वासुदेव, मेरे स्वामी के भ्राता हैं। यदि छह महीने † तक वे मुझे लेने के लिए नहीं आवें, तो फिर मैं आपकी आज्ञा यावत् निर्देशाधीन रह सकूँगी। अभी आप मुझे पृथक् ही रहने दीजिये।"

पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात स्वीकार की। उसे विश्वास था कि द्रौपदी की आशा व्यर्थ जाएगी। भरत-क्षेत्र से यहाँ कोई भी मनुष्य नहीं आ सकता। उसने धैर्य्य धारण किया और द्रौपदी को अपनी पुत्रियों के कक्ष में पहुँचा दिया। उसी दिन से द्रौपदी, निरन्तर बेले-बेले तप और आयंबिल तपपूर्वक पारणा कर के अपनी आत्मा को प्रभावित करने लगी।

उधर युधिष्ठिरजी जाग्रत हुए और द्रौपदी को नहीं देख कर इधर-उधर खोजने लगे। जब कहीं भी नहीं मिली, तो चिंतित हुए। उन्हें लगा कि किसी देव-दानव ने उसका हरण किया होगा। वे अपने पिता पाण्डु नरेश के पास आये और द्रौपदी के लुप्त होने की बात कही। पाण्डु नरेश ने अपने सेवकों को नगर, वन, पर्वतादि में खोजने को दौड़ाये और नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि--"जो कोई मनुष्य, द्रौपदी का पता लगा कर बताएगा, उसे विपुल पुरस्कार दिया जायगा।"

इतना करने पर भी द्रौपदी का कहीं भी पता नहीं लगा, तो पाण्डु-राजा ने महारानी कुन्तीदेवी से कहा--"देवी ! तुम अपने पीहर द्वारिका जाओ और कृष्ण-वासुदेव से द्रौपदी की खोज करने का निवेदन करो। हमारे तो सभी प्रयत्न निष्फल गये हैं।"

कुन्तीदेवी गजारूढ़ हो कर हस्तिनापुर एवं कुरु जनपद से निकल कर सौराष्ट्र देश में प्रवेश कर के द्वारिका नगरी के उद्यान में पहुँची। हस्ति पर से उतर कर विश्राम किया और एक अनुचर को, श्रीकृष्ण के समीप अपने आगमन का सन्देश ले कर भेजा। बूआ का आगमन जान कर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और हाथी पर आरूढ हो कर गजारूढ़ एवं अश्वारूढ़ दल आदि के साथ उपवन में पहुँचे। उन्होंने बूआजी का चरण-वन्दन किया, फिर आदरपूर्वक अपने साथ हाथी पर बिठा कर भवन में प्रवेश कराया। स्नान-मंजन, खान पान और विश्राम के बाद श्रीकृष्ण ने आगमन का प्रयोजन पूछा। कुन्तीदेवी ने घटना का वर्णन किया और द्रौपदी को खोज कर प्राप्त करने का कहा। श्रीकृष्ण ने कहा;--

"बूआजी ! मैं द्रौपदी देवी की खोज कराऊँगा और पता लगने पर वह अर्ध-

† त्रि. पु. चरित्र में एक महीने की अवधि और मासखमण तप का उल्लेख है।

भरत में, या कहीं भी—पाताल में भी—होगी, तो खुद ले आऊँगा। आप निश्चिन्त रहें।"

इसके वाद श्रीकृष्ण-वासुदेव ने भी द्रौपदी की खोज प्रारंभ कर दी। एक दिन श्रीकृष्ण अन्तःपुर में थे कि नारद आये। सत्कार-सम्मान और कुशल-पृच्छा के वाद श्रीकृष्ण ने पूछा—"देवानुप्रिय! आप ग्राम-नगरादि में भ्रमण करते रहते हो, यदि आपने कहीं द्रौपदी को देखा हो, तो वताओ।"

नारदजी के आने का प्रयोजन भी यही था। उन्होंने कहा—

"देवानुप्रिय! मैं एकबार धातकीखंड के पूर्व के दक्षिणार्ध भरत की अमरकंका राजधानी में गया था। वहाँ पद्मोत्तर राजा के अन्तःपुर में द्रौपदी के समान एक स्त्री देखने में आई थी।"

"महानुभाव! यह आप ही की करतूत तो नहीं है"—श्रीकृष्ण ने पूछा।

इतना सुनते ही नारदजी उठ कर चले गये। श्रीकृष्ण ने पाण्डु-नरेश को सन्देश भेजा—"द्रौपदी धातकीखंड की अमरकंका राजधानी के राजा पद्मोत्तर के यहाँ है। इसलिए पाँचों पाण्डव अपनी सेना के साथ पूर्व-दिशा के समुद्र के किनारे पहुँचे और मेरी प्रतीक्षा करें।"

पद्मनाभ की पराजय और द्रौपदी का प्रत्यर्पण

पाण्डव-भ्राता सेना सहित समुद्र तट पर पहुँचे। लवण-समुद्र की विशालता, उसमें जलमग्न रहे हुए पर्वत, परम-दाहक वड़वानल, एक ही चक्र में नष्ट कर देने वाले जलावर्त और भयंकर जल-जन्तुओं को देख कर वे हताश हो गए। पर्वताकार उठने वाले ज्वार-भाटा और दृष्टि-पथ से भी अधिक विशाल—जिसमें तीर का कहीं पता नहीं, इतना विस्तृत जल विस्तार ने उन्हें चिन्ता-सागर में डुवा दिया। वे सोचने लगे, यह समुद्र मानव-शक्ति से अलंघ्य है। इसे सुरक्षित रूप से पार करने का साहस ही कैसे हो सकता है। वे चिन्तामग्न थे कि श्रीकृष्ण आ पहुँचे। वहाँ पहुँच कर तेले का तप कर के वे समूद्र के अधिष्टाता सुस्थित देव का स्मरण करने लगे। तेला पूर्ण होने पर सुस्थित देव उनके समक्ष उपस्थित हुआ और वोला—"कहो, देवानुप्रिय! मैं आपका क्या हित करूँ?"

श्रीकृष्ण-वासुदेव ने कहा—"देव! द्रौपदी देवी को अमरकंका से लाने के लिए

हमें इस समुद्र को पार करना है। तुम मेरे और पाँच पाण्डव के, इन छह रथों को इस समुद्र में मार्ग दो, जिससे हम अमरकंका पहुँच कर द्रौपदी को लावें।"

देव बोला—"हे देवानुप्रिय! जिस प्रकार पद्मनाभ के पूर्व का सम्बन्धी देव, द्रौपदी का हरण कर के अमरकंका ले गया, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहाँ से उठा कर हस्तिनापुर पहुँचा दूँ, और यदि आप कहें तो दंड-स्वरूप पद्मनाभ, उसका परिवार और सेना आदि को इस समुद्र में डुबा दूँ?"

"नहीं, देव! तुम मुझे और पाँचों पाण्डव को अपने-अपने रथ सहित समुद्र में जाने का मार्ग दे दो। मैं स्वयं द्रौपदी को लाऊँगा।"

—"ऐसा ही हो"—इस प्रकार कह कर छह रथों सहित उन्हें मार्ग दे दिया। श्रीकृष्ण और पाँचों पाण्डव, स्थल-मार्ग के समान अपने-अपने रथ में बैठ कर समुद्र में चले और समुद्र पार कर अमरकंका राजधानी के उद्यान में पहुँचे। श्रीकृष्ण ने अपने दारुक सारथि को आज्ञा दी;—

"तुम पद्मनाभ की राज-सभा में जाओ, उसके पादपीठ को ठुकराओ और भाले की नोंक में लगा कर मेरा पत्र उसे दो, तथा क्रोधपूर्वक भृकुटी चढ़ा कर, लाल-लाल आंखें दिखाते हुए, प्रचण्डरूप से उसे कहो कि—

"अरे ऐ पद्मनाभ! कुकर्मी, कुलक्षणी, कृष्णपक्ष की हीन-चतुर्दशी का जन्मा, मृत्यु का इच्छुक! तुने श्रीकृष्ण-वासुदेव की भगिनी द्रौपदी देवी को उड़वा लिया? हे अधम! तुने द्रौपदी को ला कर अपनी मृत्यु का आव्हान किया है। यदि अब भी तू अपना जीवन और हित चाहता है, तो द्रौपदी देवी श्रीकृष्ण को लौटा दे। अन्यथा युद्ध करने के लिए तत्पर हो जा। श्रीकृष्ण-वासुदेव, पाँच पाण्डवों सहित यहाँ आ पहुँचे हैं।"

दूत गया और पद्मनाभ के समक्ष पहुँचा। पहले तो उसने प्रणाम किया फिर कहा—"स्वामिन्! यह मेरा खुद का विनय है। अब स्वामी की आज्ञा का पालन करता हूँ।" वह पद्मनाभ की पादपीठिका ठुकराता और भाले की नोक पर पत्र देता हुआ पूर्वोक्त प्रकार से भर्त्सनापूर्वक सन्देश दिया। दारुक द्वारा अपमान और भर्त्सना प्राप्त पद्मनाभ क्रोधित हुआ और रोषपूर्वक बोला—"मैं द्रौपदी को नहीं लौटाऊँगा। हां, युद्ध करने को तत्पर हूँ और अभी आता हूँ।" इसके बाद बोला—"हे दूत! तुम धृष्ट हो। तुम्हारी दुष्टता का दण्ड तो मृत्यु ही है। किन्तु राजनीति में दूत अवध्य है। अब तुम चले जाओ यहाँ से।" उसे अपमानित कर के पिछले द्वार से बाहर निकाल दिया। इसके बाद पद्मनाभ सेना ले कर युद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ। पद्मनाभ को युद्ध के लिए आता देख कर

श्रीकृष्ण, पाण्डवों से बोले;--

"कहो बच्चों ! पद्मनाभ के साथ तुम युद्ध करोगे, या मैं करूँ ?"

--"स्वामिन् ! हम युद्ध करेंगे। आप देखिये"--पाण्डवों ने कहा और शस्त्र-सज्ज रथारूढ़ हो कर पद्मनाभ के सामने आ कर बोले--

"पद्मनाभ ! आज या तो हम रहेंगे, या तुम रहोगे। आओ, अपना युद्ध-कौशल दिखाओ।"

युद्ध आरम्भ हुआ और पद्मनाभ ने थोड़ी ही देर में पाण्डवों पर भीषण प्रहार कर के उन्हें युद्ध-भूमि से निकल-भागने पर विवश कर दिया। वे लौट कर श्रीकृष्ण के पास आ कर बोले--

"स्वामिन् ! पद्मनाभ बड़ा बलवान् है। उसकी सेना भी उच्च कोटि की है। हम उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सके और उसके प्रहार से भयाक्रांत हो कर आपकी शरण में आये हैं। आप जो उचित समझें, वह करें।"

श्रीकृष्ण बोले--"देवानुप्रियो ! तुम्हारी पराजय का आभास तो उसी समय हो गया था, जब तुमने पद्मनाभ से कहा--"हम रहेंगे, या तुम रहोगे।" तुम्हारे मन में अपनी विजय सन्दिग्ध लगती थी, इसी से तुम्हारी पराजय हुई। यदि तुम अपने हृदय में दृढ़ विश्वासी बन कर यों कहते कि--"पद्मनाभ ! तुझ दुराचारी पर हमारी विजय होगी। अब तू नहीं बच सकेगा।" इस प्रकार दृढ़ निश्चयपूर्वक युद्ध करते, तो तुम्हारी विजय होती। अब तुम देखो। मैं कहता हूँ कि--"मैं विजयी हो कर रहूँगा और पद्मनाभ पराजित होगा।"

श्रीकृष्ण रथ पर चढ़ कर पद्मनाभ के समीप पहुँचे और अपना पाँचजन्य शंख फूँका। शंख के घोर नाद से पद्मनाभ की तीसरे भाग की सेना भयभीत हो कर भाग गई। इसके बाद श्रीकृष्ण ने सारंग धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा कर टंकार किया। इससे शत्रु-सेना का दूसरा तिहाई भाग भी भाग खड़ा हुआ। शेष बचा हुआ भाग तथा पद्मनाभ साहसहीन, सामर्थ्यहीन और बल-विक्रम से शून्य हो कर युद्ध-भूमि से पीछे हटे और नगर में घुस कर किले के द्वार बन्द कर दिये, फिर नगर में शत्रु प्रवेश नहीं कर जाय, इसकी सावधानी रखने लगा।

सेना सहित पद्मनाभ को भाग कर नगर में घुसते हुए देख कर, श्रीकृष्ण भी नगर के समीप आए और रथ से नीचे उतर कर वैक्रिय-समुद्घात किया, फिर विशाल नरसिंह का रूप धारण किया, और पृथ्वी पर पाँव पछाड़ते हुए सिंहनाद किया। इससे राजधानी का

दृढ प्राकार (किला) द्वार, अट्टालिकाएँ आदि प्रकम्पित हो कर टूट पड़े, बड़े-बड़े भवन और भण्डार भरपूर झटका खा कर ढह गए। पद्मनाभ स्वयं भान-भूल हो गया। उसके जीवन के लाले पड़ गए। वह अन्तःपुर में द्रौपदी की शरण में गया और बोला--"देवी ! मैं तेरी शरण में हूँ। श्रीकृष्ण सारे नगर का ध्वंश कर रहे हैं। अब तू ही हमारी रक्षा कर।"

"पद्मनाभ ! क्या तुम श्रीकृष्ण के महाप्रताप को नहीं जानते थे ? पुरुषोत्तम कृष्ण-वासुदेव की उपेक्षा एवं अवज्ञा करते हुए तुम मुझे यहाँ लाये हो। तुम्हारी दुराचारी नीति ने ही तुम्हारी दुर्दशा की है। अस्तु, अब तुम जाओ, स्नान करो और भीगे हुए वस्त्र धारण करो। पहनने के वस्त्र का छोर नीचा रखो, अपनी रानियों को साथ लो। भेंट अर्पण करने के लिए श्रेष्ठ रत्न लो और मुझे आगे कर के उनके निकट ले चलो। वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण के चरणों में गिरो और क्षमा माँग कर शरण ग्रहण करो। वे पुरुषोत्तम हैं। शरणागत-वत्सल हैं। वे तुम पर कृपा करेंगे। यही मार्ग तुम्हारी रक्षा का है।"

पद्मनाभ ने द्रौपदी के कथनानुसार किया। श्रीकृष्ण से क्षमा याचना की और द्रौपदी देवी को उन्हें सौंप दी।

श्रीकृष्ण ने कहा—"नीतिहीन, दुराचारी पद्मनाभ ! तू नहीं जानता था कि द्रौपदी देवी मेरी भगिनी है ? जा, अब तू निर्भय है।"

पद्मनाथ को विसर्जित कर के द्रौपदी को रथ में बिठाया और उपवन में पाण्डवों के निकट आ कर द्रौपदी उन्हें सौंप दी और सभी वहाँ से लौट चले।

वासुदेवों का ध्वनि-मिलन

उस समय धातकी-खण्ड के पूर्वार्द्ध में 'चम्पा' नाम की नगरी थी, त्रिखण्डाधिपति 'कपिल' नामक वासुदेव की वह राजधानी थी। तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी उस समय चम्पा नगरी में धर्मदेशना दे रहे थे और कपिल-वासुदेव सुन रहे थे। उसी समय श्रीकृष्ण के अमरकंका में किये हुए शंखनाद की ध्वनि कपिल-वासुदेव को सुनाई दी। ध्वनि सुन कर उनके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि क्या मेरे राज्य में भी कोई दूसरा वासुदेव उत्पन्न हुआ है ? मेरे ही समान शंख-नाद करने वाला यह कौन है ?

कपिल के सन्देह को प्रकट करते हुए तीर्थंकर भगवान् ने कहा—"कपिल ! एक

के कृष्ण-वासुदेव ने किया है। अमरकंका का पद्मनाभ, द्रौपदी का हरण कर के लाया था। उसे लेने पाण्डवों के साथ कृष्ण आये थे। पद्मनाभ के साथ हुए संग्राम में उन्होंने शंखनाद किया जो तुमने सुना है।"

कपिल का सन्देह मिटा। वह उठा और भगवान् को नमस्कार कर के बोला—

"भगवन् ! मैं जाऊँ और कृष्ण-वासुदेव जैसे उत्तम-पुरुष को देखूं।"

"कपिल ! ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक तीर्थंकर दूसरे तीर्थंकर को देखें, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव और एक बलदेव, दूसरे चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव को देखें। किन्तु तुम लवण-समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।"

कपिल-वासुदेव भगवान् की वन्दना कर के समुद्र तट पर आये। उन्हें श्रीकृष्ण के रथ की श्वेतपीत ध्वजा का अग्रभाग दिखाई दिया। उन्होंने सोचा—'ये मेरे समान पुरुषोत्तम कृष्ण-वासुदेव हैं। उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए कपिल नरेश ने शंखनाद किया और शंख द्वारा सन्देश भेजा—"मैं कपिल आपका दर्शन करने का इच्छुक हूँ। कृपया लौट कर यहाँ पधारें।" कपिल का शंखनाद सुन कर कृष्ण ने भी शंखनाद किया और कहा—"मित्र ! मैं आपके स्नेह को स्वीकार करता हूँ। किन्तु अब बहुत दूर आ गया हूँ। अब लौटना सम्भव नहीं है।" दोनों उत्तम पुरुषों का शंखनाद द्वारा मिलना हुआ।

वहाँ से लौट कर कपिल नरेश अमरकंका नगरी में गये और पद्मनाभ से पूछा—"पद्मनाभ ! नगरी की यह भग्नावस्था कैसे हो गई ?"

पद्मनाभ बोला—"स्वामिन् ! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के कृष्ण-वासुदेव ने यहाँ आ कर आपके राज्य में आक्रमण किया और इस नगर को खण्डहर बना दिया। यह आपका भी अपमान हुआ है—स्वामिन्।"

"पद्मनाभ ! तुने कुकृत्य किया है। मेरे ही समान महापुरुष कृष्ण का तेने अनिष्ट किया और अपना भी अनिष्ट किया। तू राज्य करने के योग्य नहीं है। चल निकल जा तू इस राज्य से।"

पद्मनाभ को निर्वासित कर के कपिल-वासुदेव ने उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया।

पाण्डवों को देश-निकाला

इधर श्रीकृष्ण-वासुदेव लवण-समुद्र को पार कर गंगा महानदी के निकट आये

और पाण्डवों से कहा—"जाओ तुम नौका से गंगा पार करो फिर नौका लौटा देना। मैं सुस्थित देव से मिल कर आऊँगा।"

पाण्डवों ने एक नौका प्राप्त की और गंगा नदी को पार किया। फिर एक दूसरे से बोले—"श्रीकृष्ण, गंगा महानदी को अपनी भुजा से तैर कर पार पहुँचने में समर्थ है, या नहीं ?" उन्होंने श्रीकृष्ण के बल की परीक्षा करने के लिये नौका को एक ओर छुपा दिया और वहीं ठहर कर प्रतीक्षा करने लगे। उधर सुस्थित देव से मिल कर श्रीकृष्ण लौटे, तो उन्हें नौका कहीं दिखाई नहीं दी। फिर एक हाथ में अश्व और सारथी सहित रथ लिया और दूसरे हाथ से तैर कर नदी पार करने लगे, किन्तु मध्य में पहुँच कर वे थक गए। उस समय गंगा-देवी प्रकट हुई और जल में स्थल बना दिया। श्रीकृष्ण ने वहाँ विश्राम किया और फिर साढ़े बासठ योजन प्रमाण महानदी को पार कर किनारे पर पहुँचे और पाण्डवों से बोले;—"तुम महाबलवान् हो, जो महानदी के पार उतर गए, किन्तु पद्मनाभ को तुमने जानबूझ कर पराजित नहीं किया।"

पाण्डव बोले—"देवानुप्रिय ! हम नौका में बैठ कर पार पहुँचे। किन्तु आपका सामर्थ्य देखने के लिए हमने नौका नहीं भेजी।"

पाण्डवों की बात सुन कर श्रीकृष्ण कोपायमान हुए और बोले—"जब तुम पद्मनाभ से हार कर लौटे, तब मैंने पद्मनाभ, उसकी सेना और नगर का विध्वंश किया और द्रौपदी को ला कर तुम्हें सौंपी। उस समय तुमने मेरा बल नहीं जाना और अब निश्चित हो कर परीक्षक बन गए।" इतना कह कर लोहदण्ड से उनके पाँचों रथ पर प्रहार कर के चूर्ण कर दिया और उन पाँचों पाण्डव को देश से निर्वासित कर दिया। रथ चूर्ण करने के स्थान पर रथमर्दन नामक कोट की स्थापना कर के नगर बसाया। इसके बाद वे सेना सहित राजधानी में पहुँचे।

पाण्डव-बन्धु द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये और माता-पिता को प्रणाम करने के बाद बोले—

"पिताजी ! हमसे एक भारी भूल हो गई और श्रीकृष्ण ने हमें निर्वासित कर दिया। अब हमें श्रीकृष्ण की राज्य-सत्ता में रहने का कोई अधिकार नहीं रहा। हमें जाना ही पड़ेगा, परन्तु जाएँगे कहाँ ? ऐसा कौन-सा भू-भाग है, जहाँ श्रीकृष्ण का शासन नहीं हो।"

"पुत्रों ! तुमने बहुत बुरा काम किया। तुम्हें कृष्ण-वासुदेव का अप्रिय नहीं होना था।"

वृद्ध पाण्डु नरेश ने कुन्तीदेवी से कहा—"प्रिये ! पुत्रों ने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला। श्रीकृष्ण ने उन्हें देश-निकाला दिया है। अब उनके लिये ठिकाना ही कहाँ रहा ?

अब तुम्हीं द्वारिका जाओ और श्रीकृष्ण से ही पूछो कि पाण्डव-बन्धु कहाँ जा कर रहें।"

रानी कुन्तीदेवी द्वारिका गई और श्रीकृष्ण से पाण्डवों के वसने का स्थान पूछा। श्रीकृष्ण ने कहा—

"बूआजी ! चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव 'अपूतिवचन' वाले होते हैं। उनके मुख से निकले हुए वचन व्यर्थ नहीं होते। इसलिए निर्वासन की आज्ञा अप्रभावित नहीं होगी। पाँच पाण्डव दक्षिण की ओर समुद्र-तट पर जा कर 'पाण्डु-मथुरा' नामक नगर बसा कर, मेरे अदृष्ट-सेवक (मेरे समक्ष नहीं आते हुए सेवकवत्) रहें।"

श्रीकृष्ण से सत्कार-सम्मान के साथ बिदा की हुई कुन्तीदेवी हस्तिनापुर आई और श्रीकृष्ण का आदेश सुनाया। श्रीकृष्ण की आज्ञा पा कर पाँचों पाण्डव अपने बल-वाहन हाथी-घोड़े आदि ले कर हस्तिनापुर से निकले और समुद्र-तट पर 'पाण्डु मथुरा' बसा कर सुखपूर्वक रहने लगे। कालान्तर में द्रौपदी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'पाण्डुसेन' रखा गया ❊।

छह पुत्र सुलसा के या देवकी के ?

भद्दिलपुर नगर में 'नाग' नाम का गृहस्वामी रहता था। सुलसा उसकी पत्नी थी। जब सुलसा किशोरी-बालिका थी, तब एक भविष्यवेत्ता ने कहा था कि—"सुलसा मृत-वन्ध्या होगी।" भविष्यवाणी को निष्फल करने के लिए सुलसा, हरिणैगमेषी देव की आराधना करने लगी। वह प्रातःकाल स्नान कर के गीली-साड़ी युक्त पुष्प ले कर हरिणैग-मेषी देव की प्रतिमा के आगे फूलों का ढेर करती और वन्दन-नमस्कार करने के बाद अन्य कार्य करती। दीर्घकाल की आराधना से प्रसन्न हो कर देव प्रकट हुआ और सुलसा से बोला—"देवानुप्रिये ! तुम मृत-वन्ध्या ही रहोगी। इस कर्म-फल को मैं अन्यथा नहीं कर सकता। किन्तु तुम्हारे जन्मे हुए मृत-पुत्र, मैं अन्य सद्य-प्रसूता महिला के पास रख दूँगा और उसके जीवित पुत्र तुम्हारे पास ले आऊँगा। इस प्रकार तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी।"

यथासमय सुलसा के लग्न नागसेन के साथ हुए और सुखोपभोग करते उनके अनु-क्रम से छह पुत्र हुए। छहों मृत, किन्तु दूसरी महिला के जीवित जन्मे पुत्रों से परिवर्तित।

❊ इसके आगे त्रि. श. पु. च. में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर का राज्य अपनी बहिन सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को दिया।

वे अत्यन्त सुन्दर थे। उनके नाम इस प्रकार थे--१ अनीकसेन २ अनंतसेन ३ अजितसेन ४ अनिहतरिपु ५ देवसेन और ६ शत्रुसेन। युवावस्था प्राप्त होने पर उन छहों के बत्तीस-बत्तीस सुन्दर कुमारिकाओं के साथ लग्न किये। वे सभी सुखपूर्वक भोग-भोगते हुए विचरते थे।

देवकी देवी का सन्देह

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भ० अरिष्टनेमिजी भद्दिलपुर पधारे। अनीकसेनादि छहों बन्धुओं ने भगवान् का धर्मोपदेश सुना और प्रतिबोध पा कर प्रव्रजित हो गए। जिस दिन वे दीक्षित हुए, उसी दिन से निरन्तर बेले-बेले तप करते हुए जीवन बिताने का उन छहों ने अभिग्रह किया। भगवान् अरिष्टनेमिजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए द्वारिका पधारे। तपस्वी मुनि श्री अनीकसेनजी आदि छहों ने बेले के पारणे के दिन, भगवान् की आज्ञा ले कर दो-दो के तीन संघाटक पृथक्-पृथक् निकले और ऊँच-नीच-मध्यम कुलों में निर्दोष भिक्षा के लिए घूमने लगे। उनमें से एक संघाड़ा महारानी देवकी देवी के भवन में पहुँचा। तपस्वी-मुनियों को अपने भवन में आते देख कर देवकी देवी अत्यंत प्रसन्न हुई और सात-आठ चरण सामने जा कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया। फिर वह भोजनशाला में आई और सिंहकेसरी मोदक से मुनियों को प्रतिलाभित कर आदर पूर्वक विदा किये।

उन मुनियों के जाने के बाद थोड़ी ही देर में, उन्हीं में का दूसरा संघाड़ा देवकी देवी के भवन में आया। देवी के मन में उन्हें देख कर सन्देह हुआ--'कहीं ये मार्ग भूल कर तो पुनः नहीं आ गए—यहाँ ?' वह यह जान ही नहीं सकी थी कि ये संत दूसरे हैं। छहों भ्राता वर्ण, आकृति, डिलडौल, वय और रूप में समान तथा लोकोत्तम थे। वह तत्काल उठी। आगे बढ़ कर सम्मान दिया और वन्दन-नमस्कार कर भक्तिपूर्वक भोजनशाला में ले गई और उसी प्रकार सिंहकेसरी मोदक बहरा कर विसर्जित किये। उनके जाने के बाद मुनियों की तीसरी जोड़ी भी वहीं पहुँच गई। उन्हें देख कर देवकी रानी विशेष शंकित हुई, किन्तु चेहरे पर सन्देह की रेखाएँ नहीं उभरने दी और उसी आदरसत्कार के साथ सिंहकेसरी मोदक बहराये। इसके बाद सन्देह निवारण के लिए देवकी ने पूछा;—

"महात्मन्! क्या कृष्ण-वासुदेव की इस विशाल एवं समृद्ध नगरी के लोगों में सुपात्र-दान की रुचि समाप्त हो गई, या अन्न दुर्लभ हो गया, जिससे संत-महात्माओं को भिक्षा नहीं मिली और बार-बार एक ही घर से भिक्षा लेनी पड़ी।"

संत समझ गये कि संयोगवशात् आज तीनों संघाड़े यहीं आ गए हैं। उन्होंने कहा—

"नहीं, देवी ! हम पहले नहीं आये। पहले आने वाले दूसरे हैं और हम दूसरे हैं। बात यह है कि हम भद्दिलपुर के नाग-श्रेष्ठि के पुत्र और सुलसा माता के आत्मज छह भाई हैं। छहों की आकृति और वर्णादि समान हैं। हम छहों संसार और भोग-विलास छोड़ कर भगवान् नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षित हुए और निरन्तर बेले-बेले तप करने लगे। आज हमारे पारणे का दिन है। भगवान् की आज्ञा ले कर हम छहों मुनि, तीन संघाड़ों में विभक्त हो कर माधुकरी के लिए निकले। संयोगवशात् हम तीनों संघाड़े क्रमशः यहाँ आ गए हैं और हमारी समान आकृति ही तुम्हारे एक मानने और पुनः-पुनः प्रवेश के भ्रम का कारण बनी है।"

संत लौट गए। परन्तु देवकी के मन में एक भूली स्मृति जग गई[*]। वह सोचने लगी;—

"अतिमुक्तकुमार श्रमण की वह भविष्यवाणी असत्य हुई। उन्होंने कहा था— 'देवकी ! तुम आठ पुत्रों की माता बनोगी। तुम्हारे वे पुत्र इतने उत्कृष्ट रूप और समान आकृति वाले होंगे कि जिनकी समानता भारतवर्ष की किसी भी माता के पुत्र नहीं कर सकेंगे।" किन्तु महात्मा का यह कथन असत्य हुआ। क्योंकि मेरे छह पुत्र तो मृत हुए। जब वे गर्भ से ही मृत जन्मे, तो उनका होना-न-होना समान ही हुआ। तपस्वी महात्मा का वचन असत्य नहीं होता, फिर मेरे लिए असत्य क्यों हुआ ? मैं अभी अरिहंत भगवान् अरिष्टनेमिजी के समीप जाऊँ और वन्दन-नमस्कार कर के अपना सन्देह दूर करूँ।"

सन्देह-निवारण और पुत्र-दर्शन

देवकी इस प्रकार विचार कर के रथ में बैठ कर भ० नेमिनाथजी के स्थान पर पहुँची और वन्दन-नमस्कार कर के पर्युपासना करने लगी।

भ० नेमिनाथजी ने पूछा—

"देवकी देवी ! छहों अनगारों के निमित्त से तुम्हारे मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि

---

[*] उन्हीं छहों सन्तों के, देवकी देवी के यहाँ एक ही दिन भिक्षार्थ आने में संभव है देवकी के उपादान का निमित्त बना हो कि जिससे देवकी के मन में आठवें पुत्र की लालसा उत्पन्न हुई और गजसुकुमालकुमार का जन्म हुआ।

तपस्वी महात्मा अतिमुक्त-श्रमण की भविष्यवाणी असत्य हुई ?"

हां, प्रभु ! मैं इस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही श्रीचरणों में उपस्थित हुई हूँ ।"

"देवकी देवी ! वे छहों पुत्र तुम्हारे ही हैं और तुम्हारी ही कुक्षि से जन्मे हैं। किन्तु जन्म लेने के बाद हरिणैगमेषी देव द्वारा संहरित हो कर भद्दिलपुर में सुलसा के पास पहुँचते रहे और उसके मृतपुत्र तुम्हारे पास आते रहे । सुलसा की भक्ति से आकर्षित एवं कृपालु हो कर देव ने तुम दोनों का ऋतुकाल समान किया । तुम दोनों का गर्भ-धारण और प्रसव समकाल में हुआ + ।"

देवकी का सन्देह दूर हुआ । वह भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के उन अनगारों के समीप आई और वन्दना कर के अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण भावों से उन्हें एकटक देखने लगी । उसका मातृत्व जाग्रत हुआ, अंग विकसित हुए और पयोधर पयपूर्ण हो गए। वह बहुत देर तक उन्हें अनिमेष निरखती रही । फिर वन्दना-नमस्कार कर के भगवान् के समीप आई और वन्दना कर के अपने भवन में लौट आई ।

किस पाप का फल है ?

छहों मुनियों को वन्दना कर के लौटते समय देवकी के मन में विचार हुआ; — "मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ कि देव के समान अलौकिक सात पुत्र पा कर भी मैं इन छह पुत्रों से वञ्चित रही । क्या सुख पाया मैने इन छह पुत्रों का ? होना-न-होना समान ही रहा । मैने ऐसा कौन-सा पाप किया था कि जिसका फल मुझे इतना दुःख-दायक मिला । वह भगवान् से इसका खुलासा चाहती थी । भगवान् के समीप आ कर देवकी ने वन्दन-नमस्कार किया । भगवान् ने कहा; --

--"देवानुप्रिये ! यह तुम्हारे पूर्व-बद्ध पापकर्म का फल है । तुमने पूर्वभव में अपनी सौत के सात रत्न चुरा लिये थे । जब तुम्हारी सौत रोने लगी, तब तुमने उसमें से एक रत्न लौटा दिया, किन्तु छह रत्न नहीं दिये । इसी का फल है कि तुम्हारा एक पुत्र तो तुम्हें पुनः मिल गया, परन्तु छह नहीं मिले ।"

+ हरिणैगमेषी निमित्त हुआ, किन्तु उपादान तीनों का काम कर रहा था । देवकी को पुत्र-वियोग होना था, सुलसा का मृत-वन्ध्या होती हुई भी पुत्रवती होने का मनोरथ पूर्ण होना था और छहों का कंस के उपद्रव से बचना था । वे चरम शरीरी थे ।

देवकी भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने पापों की निन्दा करती हुई लौटी और भवन में आ कर शय्या पर पड़ गई ।

देवकी की चिन्ता ×× गजसुकुमाल का जन्म

देवकी देवी चिन्ता-मग्न थी । वह सोच रही थी;--

—"मैं कृष्णचन्द्र के समान लोकोत्तम अद्वितीय ऐसे सात पुत्रों की माता हूँ, फिर भी कितनी हतभागिनी हूँ कि एक भी पुत्र की बाल-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकी । वे माताएँ भाग्यशालिनी हैं जो अपने बालकों को गोदी में ले कर स्नेहपूर्ण दृष्टि से निरखती है, चूमती है और स्तनपान कराती है । बालक अपने छोटे-छोटे हाथों से माता के स्तन दबाता हुआ दूध और माता के स्नेह का पान करता है । माता उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखती है । बालक दुग्धपान करता-करता कुछ रुक कर माता की ओर देखता हुआ हँसता है, किलकारी करता है और माता भी बालक को चूम कर छाती से लगा लेती है । झूले में झुलाती है । अंगुली पकड़ कर चलाती है । माता स्वयं बालक के साथ तुतलाती हुई बोलती है और बच्चे की तोतली बोली सुन कर आनन्द का अनुभव करती है.......

धन्य हैं वे माताएँ जिन्हें अपने बालकों की बाल-क्रीड़ा का भरपूर सुख प्राप्त होता है । मुझ हतभागिनी जैसी दुखियारी तो संसार में कोई भी नहीं होगी । मैं महाराजाधिराज और तीनखंड के अधिपति की माता हुई और सात-सात उत्तमोत्तम नर-रत्न पुत्रों को जन्म दिया तो क्या हुआ, इस परम सुख से तो मैं वंचित ही रही न ? क्या यह वैभव, यह राजसी उत्तम भोग, मेरे इस संताप को मिटा सकते हैं ? क्या मुझे उन दरिद्र-स्त्रियों जितना भी सुख मिला कभी, जिनकी गोदी में बालक क्रीड़ा कर रहे हैं और वे स्वयं उस बाल-क्रीड़ा में विभोर हो कर दरिद्र अवस्था में भी भरपूर सुख का अनुभव कर रही हैं ?

देवकी देवी इन्हीं विचारों में डूबी हुई थी कि श्रीकृष्णचन्द्रजी माता के चरण-वन्दन करने के लिए कक्ष में प्रविष्ट हुए । उन्होंने दूर से ही माता को चिन्तामग्न देख लिया था। चरण-वन्दन के बाद माता से पूछा; —

"मातुश्री ! आज आप किसी चिन्ता में मग्न दिखाई दे रही हैं । आज आपके श्रीमुख पर पूर्व के समान प्रसन्नता नहीं है । क्या कारण है आपकी उदासी का ?"

"वत्स ! मैं अपने दुर्भाग्य पर संतप्त हूँ । मैंने तुम्हारे समान सात पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु एक की भी बाल-क्रीड़ा का सुख नहीं भोग सकी । छह पुत्र तो जन्म के साथ

ही चुरा लिये गये। वे छहों भद्दिलपुर के नागदत्त की पत्नी सुलसा के यहाँ पले। मेरे पुत्रों को पा कर वह दुर्भागिनी मृतवन्ध्या भाग्यशालिनी वन गई और उसके मृत-पुत्रों का संताप मुझे झेलना पड़ा। वे छहों पुत्र भ० अरिष्टनेमिजी के पास दीक्षित हुए और कल यहाँ भिक्षाचरी के लिये आये थे। इस रहस्य का उद्घाटन भगवान् ने किया, तव मैं जान सकी। पुत्र ! वे छहों मुनि ठीक तुम्हारे जैसे ही हैं। कहो, अव मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ कि अपने जाये पुत्रों का मुँह भी प्रथमवार आज देख सकी और तुम्हारी वाल लीला भी मैं नहीं देख सकी। तुम चुराये नहीं गये, किन्तु हमें चोरी छुपे तुम्हें दूर भेजना पड़ा और तुम नन्द और यशोदा को आनन्दित करते रहे। मैं तो यों ही रह गई। सात में से एक पुत्र की भी वाल-लीला का आनन्द नहीं भोग सकी और अव तुम भी छह महीने में एक बार मेरे पास आते हो। तुम ही सोचो कृष्ण ! तुम्हारी माता का संताप कितना गंभीर है ? है कोई उपाय इसका ? कर सकोगे अपनी माता का दुःख दूर ?"—खेदपूर्ण स्वर में देवकी ने कहा।

"--हां, माता ! मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करने का प्रयत्न करूँगा। तुम चिन्ता मत करो। अव मैं इसी उपाय में लगता हूँ।"

इस प्रकार आशास्प्रद वचनों से माता को सन्तुष्ट कर श्रीकृष्ण वहाँ से चले और पौषधशाला में आये। फिर तेला कर के हरिणैगमेषी देव की आराधना करने लगे। देव का आसन कम्पित हुआ। वह पौषधशाला में आया। श्रीकृष्ण ने देव से कहा—"मुझे अपने एक अनुज-वन्धु की आवश्यकता है।"

देव ने उपयोग लगा कर कहा—

"देवानुप्रिय ! तुम्हारे छोटा भाई होगा। एक देव शीघ्र ही देवायु पूर्ण कर के तुम्हारी माता के गर्भ में आएगा। किन्तु यौवन-वय प्राप्त होते ही वह भगवान् अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण कर लेगा। तुम उसे संसार में नहीं रोक सकोगे।"

भविष्य वता कर देव चला गया। श्रीकृष्ण पौषध पाल कर माता के समीप आये और वोले—

"माता ! मेरा छोटा-भाई अवश्य होगा और शीघ्र होगा। आप निश्चिंत रहें।"

देवलोक से एक भव्यात्मा च्यव कर देवकी रानी के गर्भ में उत्पन्न हुई। सिंह के स्वप्न से उसकी भव्यता, उच्चता एवं शौर्यपूर्ण दृढ़ता का परिचय होता था। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। उसका शरीर जपाकुसुम के पुष्प और हाथी के तालु के समान वर्ण एवं सुकोमल था। उसका नाम 'गजसुकुमाल' दिया गया।

वह माता-पिता एवं बन्धुवर्ग का अत्यन्त प्रिय था। देवकी देवी की अभिलाषा पूर्ण हुई। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते गजसुकुमाल कुमार ने यौवन अवस्था में प्रवेश किया। जिनेश्वर भगवान् अरिष्टनेमिजी ग्रामानुग्राम विचर कर भव्य जीवों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। श्रीकृष्ण-वासुदेव अपने अनुज-बन्धु गजसुकुमाल के साथ हस्ति पर आरूढ़ हुए और चामर-छत्रादि तथा सेनायुक्त भगवान् को वन्दन करने के लिए चले।

द्वारिका में 'सोमिल' नाम का एक ऋद्धि-सम्पन्न ब्राह्मण रहता था। वह ऋद्धि-सम्पन्न समर्थ और वेद-वेदांगादि शास्त्रों का पारगामी था। उसकी पत्नी सोमश्री भी सुन्दर थी। उनके सोमा नामकी एक पुत्री थी। वह अत्यन्त रूपवती, उत्कृष्ट रूप लावण्य एवं शरीर-सौष्ठव की स्वामिनी थी। वह भी यौवन-वय में प्रवेश कर चुकी थी। एकबार वह विभूषित हो कर, अनेक सखियों और दासियों के साथ घर से निकल कर क्रीड़ा-स्थल पर गई और स्वर्णमय गेंद से खेलने लगी। श्रीकृष्ण-वासुदेव उसी मार्ग से हो कर भगवान् को वन्दना करने जा रहे थे। उनकी दृष्टि गेंद खेलती हुई सोमासुन्दरी पर पड़ी। वे उसका उत्कृष्ट सौन्दर्य देख कर चकित रह गए। उन्होंने उसका परिचय पूछा और अपने विश्वस्त सेवक को आदेश दिया—"तुम सोमशर्मा के पास जाओ और उसकी पुत्री की गजसुकुमाल के लिये याचना करो, † तथा उसे कुँआरे अन्तःपुर में पहुँचा कर मुझे आज्ञा-पालन की सूचना दो।"

सेवक को सोमिल की ओर भेज कर, श्रीकृष्ण भगवान् को वन्दना करने के लिये आगे बढ़े।

गजसुकुमाल कुमार की प्रव्रज्या और मुक्ति

श्रीकृष्ण, सहस्राम्रवन में पहुँचे। भगवान् की वन्दना कर के धर्मोपदेश सुना और अपने राजभवन में लौट आए। गजसुकुमाल कुमार पर भगवान् के उपदेश का गंभीर प्रभाव पड़ा। संसार की असारता समझ कर वे विरक्त हो गए और भगवान् को वन्दना कर के बोले;—

† श्री अंतगड सूत्र के मूलपाठ से गजसुकुमालजी बालब्रह्मचारी लगते हैं, किन्तु त्रि. श. पु. चरित्र में उन्हें—द्रुम राजा की प्रभावती कुमारी के साथ विवाहित बताया है, इतना ही नहीं, इस सोमसुन्दरी के साथ भी उनका विवाह हो जाना लिखा है और यह भी लिखा है कि उनकी दोनों पत्नियाँ भी साथ ही दीक्षित हो गई थी।

कर लो। हम तुम्हारी राज्यश्री देखना चाहते हैं।"

कुमार ने सोचा--"इनकी इस माँग को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। राज्याधिकार प्राप्त होते ही मेरी आज्ञा होगी--अभिनिष्क्रमण की व्यवस्था करने की। इन सभी को राजाज्ञा का पालन तो करना ही होगा"--यह सोच कर वे चुप रह गए। उन्होंने स्वीकृति भी नहीं दी और निषेध भी नहीं किया •।

श्रीकृष्ण के आदेश से राज्याभिषेक महोत्सव हुआ और गजसुकुमालजी महाराजाधिराज हो कर राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। श्रीकृष्ण ने राज्याधिपति कुमार के सम्मुख खड़े रह कर पूछा;--

"राजन्! आज्ञा दीजिये कि हम आपका किस प्रकार हित करें। हमें क्या करना चाहिए ?"

"देवानुप्रिय! राज्य के कोषालय से तीन लाख स्वर्ण-मुद्राएँ निकालो। उनमें से दो लाख के रजोहरण तथा पात्र मँगवाओ और नापित को बुलवाओ। मैं उससे अपने बाल कटवाऊँगा और एक लाख पारितोषिक दूंगा। आप मेरे निष्क्रमण की तैयारी कीजिये"--महाराजा गजसुकुमालजी ने कहा।

श्रीकृष्ण और माता-पितादि समझ गये कि गजसुकुमाल सच्चा विरागी है। इसे कोई भी प्रलोभन नहीं रोक सकता। उन्होंने दीक्षा-महोत्सव किया और गजसुकुमालजी ने भ० नेमिनाथजी से निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद गजसुकुमाल मुनिजी ने भगवान् से प्रार्थना की;--

"भगवन्! यदि आप आज्ञा प्रदान करें, तो मैं महाकाल श्मशान में जा कर एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर के विचरना चाहता हूँ।"

भगवान् ने अनुमति प्रदान कर दी। मुनिजी महाकाल श्मशान में गये और विधिपूर्वक भिक्षु-प्रतिमा धारण कर के खड़े रह कर कायुत्सर्गपूर्वक ध्यान में लीन हो गए।

सोमिल ब्राह्मण यज्ञ के लिए समिधा और दर्भ-पत्र पुष्पादि लेने के लिए वन में गया था। वह समिधादि ले कर लौटा और महाकाल श्मशान के निकट हो कर निकला। उसकी दृष्टि ध्यानारूढ़ गजसुकुमाल मुनि पर पड़ी। उसका क्रोध भड़का। पूर्वबद्ध वैर जाग्रत हुआ। उसका मन हिंसक हो गया। उसने सोचा--'इस दुष्ट ने मेरी निर्दोष पुत्री का त्याग कर दिया और यहाँ महात्मापन का ढोंग कर रहा है। इसे ऐसा दंड दूं कि सारा

• स्पष्ट स्वीकृति इसलिए नहीं दी कि--राज्याधिकार ऐसे भव्यात्माओं के लिए उपादेय नहीं है।

ढोंग समाप्त हो जाय।' संध्या का समय था। मनुष्यों का आवागमन रुक गया था। उसने तलैया के किनारे की गीली मिट्टी ली और ध्यानस्थ अनगार के मस्तक पर उस मिट्टी से पाल बाँध दी। फिर एक फूटा हुआ ठीवड़ा उठाया और शव-दहन के जलते हुए अंगारों को भर कर मुनिराज के मस्तक पर डाल दिया। इसके बाद वह वहाँ से भाग गया।

सिर पर अंगारे पड़ते ही मस्तक जलने लगा और घोर वेदना होने लगी। एक ओर असहनीय घोरतम वेदना शरीर में बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर आत्म-स्थिरता एवं एकाग्रता बढ़ रही थी। वह आग तो शरीर को ही जला रही थी, किंतु आभ्यन्तर ध्यानाग्नि से कर्मरूपी कचरा भी जल कर भस्म हो रहा था। महात्मा क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ हुए। घाती-कर्मो को नष्ट कर के केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया और योगों का निरोध कर के सिद्धगति को प्राप्त हो गए। सादि-अनन्त सुखों में लीन हो गए। गजसुकुमाल अनगार सिद्ध परमात्मा बन गए।

श्रीकृष्ण की वृद्ध पर अनुकम्पा

गजसुकुमाल मुनिराज के मोक्ष प्राप्त होते ही समीप में रहने वाले व्यन्तर देवों ने उनकी महिमा की। दिव्य सुगन्धित जल, पाँच वर्ण के सुगन्धित पुष्पों और वस्त्रों की वर्षा की और वादिन्त्र तथा गीत से उन महर्षि की आराधना का गुणगान किया।

दूसरे दिन श्रीकृष्ण सपरिवार भगवान् को वन्दन करने चले। वे मस्त हाथी पर आरूढ़ थे। मार्ग में चलते हुए उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त जर्जर-शरीरी वृद्ध है। वह ईंटों के बड़े भारी ढेर में से एक ईंट उठा कर डगमगाता हुआ अपने घर में जाता है, ईंट रख कर लौटता है और फिर एक ईंट ले कर घर में जाता है। श्रीकृष्ण ने ईंटों का विशाल ढेर और वृद्ध की जर्जर देह तथा कष्टपूर्ण कार्य देखा। उनके हृदय में वृद्ध पर अनुकम्पा उत्पन्न हुई। उन्होंने हाथी पर बैठे हुए ही राजमार्ग के निकट रहे ढेर में से एक ईंट उठाई और ले जा कर वृद्ध के घर में रख दी। श्रीकृष्ण को वृद्ध की सहायता करते देख कर, साथ रहे हुए सेवकों और अन्य लोगों ने भी वृद्ध की सहायता की और बात की बात में सारा ढेर उठा कर उसके घर में पहुँच गया।

श्रीकृष्ण की सवारी आगे बढ़ी। वे भगवान् अरिष्टनेमि के समीप पहुँचे। वन्दन-नमस्कार करने के बाद जब गजसुकुमाल अनगार दिखाई नहीं दिये, तो भगवान् से पूछा;—

"भगवन्! मेरे छोटे भाई गजसुकुमाल अनगार कहाँ है? मैं उनको वन्दन करना

चाहता हूँ ।"

"कृष्ण ! गजसुकुमाल अनगार ने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है"—भगवान् ने कहा ।

"भगवन् ! यह कैसे हुआ ? गजसुकुमाल अनगार ने एक रात में ही आत्मार्थ साध कर मुक्ति कैसे प्राप्त कर ली"—श्रीकृष्ण ने आश्चर्य सहित पूछा ।

"कृष्ण ! प्रव्रजित होने के पश्चात् अपरान्ह काल में गजसुकुमाल अनगार ने मुझे वन्दना की और कहा—'भगवन् ! आप आज्ञा प्रदान करें, तो मैं भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा का आराधन करूँ ।' मैंने अनुमति दी । फिर वे महाकाल श्मशान से गये और विधिपूर्वक भिक्षु-प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानस्थ खड़े हो गए । इसके बाद उधर से एक पुरुष+ निकला । गजसुकुमाल अनगार को ध्यानस्थ देख कर वह क्रुद्ध हुआ और मिट्टी से मस्तक पर पाल बाँध कर अंगारे रख दिये । उसकी सहायता से मुनिवर ने क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर घातीकर्मों को नष्ट किया और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया । फिर योगों का निरोध कर के शैलेशी अवस्था में मुक्ति प्राप्त की ।"

"हे भगवन् ! वह मृत्यु के मुख में जाने योग्य पापात्मा कौन है, जो मेरे छोटे भाई की अकाल-मृत्यु का कारण बना"—श्रीकृष्ण ने भगवान् से क्षोभ एवं आतुरतापूर्वक पूछा ।

"कृष्ण ! तुम उस पुरुष पर रोष मत करो । उस पुरुष ने तो गजसुकुमाल अनगार को सहायता दी है । उसके सहयोग से उन्होंने कल ही मुक्ति प्राप्त कर ली ।"

"भगवन् ! उस पुरुष ने गजसुकुमाल अनगार को किस प्रकार सहायता दी"—श्रीकृष्ण ने पूछा । वे समझना चाहते थे कि हत्यारा सहायक कैसे हो गया ?

"कृष्ण ! जिस प्रकार आज यहाँ आते हुए तुमने उस वृद्ध पुरुष की ईंटें, उसके घर में रखवा कर सहायता दी और उसका कार्य सफल कर दिया, उसी प्रकार उस पुरुष

+ त्रि. श. पु. चरित्रकार ने यहाँ भगवान् के उत्तर में 'सोमशर्मा ब्राह्मण द्वारा मुक्ति होना' बतलाया । यह समझ में नहीं आता । अन्तगड सूत्र के उल्लेख में कहीं भी ऐसा नहीं है कि जिससे भगवान् ने नाम प्रकट किया हो । इस ग्रन्थ के आगे के लेख से भी यही स्पष्ट होता है कि भगवान् ने नाम नहीं बताया । यदि नाम बताते तो श्रीकृष्ण क्यों पूछते कि—"मैं उस वधिक को कैसे पहिचानूंगा ?" अतएव नाम बताने का उल्लेख उचित नहीं है ।

इसके पूर्व गजसुकुमाल कुमार को विवाहित लिखना भी अन्तगड सूत्र से बाधित है । वहाँ मूलपाठ में दीक्षोत्सव के लिए मेघ-मुनि चरित्र का निर्देश करते हुए लिखा है कि—"**जहा मेहे, णवरं महिलिया वज्जं जाव वड्ढियकुले ।**"

ने भी गजसुकुमाल अनगार के लाखों भवों के सञ्चित कर्मों की उदीरणा करवा कर बहुत-से कर्मों की निर्जरा करने में सहायता दी है"—भगवान् ने कहा।

"भगवन् ! मैं उस पुरुष को कैसे जान सकूँगा।"

"तुम यहाँ से नगर में लौटोगे, तब तुम्हें देख कर ही जो पुरुष धसका खा कर मर जाय, तो जान लेना कि यही पुरुष है वह।"

श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन-नमस्कार किया और गजारूढ़ हो कर लौटे।

उधर सोमिल ब्राह्मण, गजसुकुमाल अनगार के मस्तक पर अंगारे रख कर भागा और अपने घर आ गया। प्रातःकाल उसे विचार हुआ कि—'महाराजा श्रीकृष्णचन्दजी प्रातःकाल सूर्योदय होते ही भगवान् को वन्दना करने जावेंगे। भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं है। उन्होंने गजसुकुमाल मुनि के प्राणान्त की बात जान हीं ली होगी। यदि उन्होंने श्रीकृष्ण से कह दिया, तो वे मुझे किस कुमृत्यु से मारेंगे और मेरी कैसी दुर्दशा करेंगे"—इस प्रकार सोच कर वह भयभीत हो गया। इस भय से उबरने का एकमात्र उपाय उसने भाग कर कहीं लुप्त हो जाना ही समझा। वह घर से निकला और नगरी के बाहर जाने लगा। उधर से श्रीकृष्ण लौट रहे थे। उन्हें अपने सामने आते देखते ही भयाघात से उसके प्राण निकल गए और वह भूमि पर गिर पड़ा।

श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि यह सोमिल ब्राह्मण ही मेरे लघुबन्धु अनगार का घातक है। इसी दुष्ट ने सद्य प्रव्रजित अनगार की हत्या की है। उन्होंने सेवकों से कहा;—

"इस नराधम के पाँवों में रस्सी बाँध कर, चाण्डालों से घसिटवाते हुए नगरी के राजमार्गों पर फिराओ और इसके कुकृत्य को लोगों में प्रकट करो। फिर नगरी के बाहिर फेंक दो और इस भूमि को पानी डाल कर धुलवाओ।"

ऐसा ही हुआ। श्रीकृष्ण उदास मन से अपने भवन में प्रविष्ट हुए।

मुनि श्रीगजसुकुमालजी के वियोग का आघात बहुतों को लगा। उनकी उठती युवावस्था और अस्वाभाविक नृशंसतापूर्ण हुई मृत्यु से वसुदेवजी को छोड़ कर शेष समुद्रविजयजी आदि नौ दशार्ह और अनेक यादव भगवान् अरिष्टनेमि के सात सहोदर-बन्धु माता शिवादेवी, श्रीकृष्ण के अनेक कुमार और यादव-कुल की अनेक देवियों, महिलाओं और राजकुमारियों ने ‡ भगवान् अरिष्टनेमिनाथ के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की।

श्रीकृष्ण ने निश्चय किया कि वे अपनी पुत्रियों को वैवाहिक-बन्धन में बाँध कर संसार के मोहजाल में नहीं उलझावेंगे और त्याग-मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न करेंगे। इससे

‡ ग्रंथकार ने इसी समय राजमती के भी प्रव्रजित होने का उल्लेख किया है।

सभी राजकुमारियें प्रव्रजित हो गईं। वासुदेवजी की कनकवती, रोहिणी और देवकी को छोड़ कर शेष सभी रानियाँ दीक्षित हो गईं। रानी कनकावती को तो गृहवास में ही, संसार की स्थिति का चिन्तन करते-करते कर्मावरण शिथिल हो गए, क्षपकश्रेणी चढ़ कर घातीकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। उन्होंने गृहस्थ-वेश त्याग कर साध्वी-वेश धारण किया और भगवान् के समवसरण में पधारीं। उसके बाद एक मास का संथारा कर के निर्वाण प्राप्त किया।

वैर का दुर्विपाक

श्रीबलदेवजी का पौत्र और निषिधकुमार का पुत्र सागरचन्द अणुव्रतधारी श्रावक हुआ था। इसके बाद वह श्रावक-प्रतिमा की आराधना करने लगा। एकबार वह कायोत्सर्ग कर के ध्यान कर रहा था कि उसे नभःसेन ने देख लिया। नभःसेन कमलामेला के निमित्त से सागरचन्द के साथ शत्रुता रखता था/ और उससे वैर लेने का कोई निमित्त देख रहा था। उसने सागरचन्द को देखा और उसके निकट आकर बोला;—"दुष्ट, अधम! अब धर्मात्मा बन कर बैठा है। तूने कमलामेला को मुझसे छिन कर, मेरे जीवन में आग लगा दी। अब तू भी इसका फल भोग।"

इस प्रकार कह कर उसने भी चिता के अंगारे, एक फूटे घड़े के ठीकरे में भर कर सागरचन्द के मस्तक पर रख दिये। सागरचन्द शान्तभाव से सहन करता हुआ धर्मध्यान में लीन रहा और आयुपूर्ण कर देवलोक में देव हुआ।

गुण-प्रशंसा

एक बार इन्द्र ने देव-सभा में कहा—"भरत क्षेत्र के कृष्ण-वासुदेव किसी भी वस्तु के दोषों की उपेक्षा कर के मात्र गुणों की ही प्रशंसा करते हैं और युद्ध में हीनतम नीति काम में नहीं लेते।" इन्द्र के इन वचनों पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ। वह श्रीकृष्ण की परीक्षा के लिये द्वारिका में आया। उस समय श्रीकृष्ण, रथ में बैठ कर वन-क्रीड़ा करने जा रहे थे। उस देव ने मार्ग में एक मरी हुई काली कुतिया गिरा दी, जिसके

/ पृष्ठ ५७४ पर।

शरीर में से उत्कट दुर्गन्ध निकल कर दूर-दूर तक पहुँच रही थी। पथिक लोग, दुर्गन्ध से बचने के लिये मुंह पर कपड़ा रखे हुए उस पथ से दूर हो कर आ जा रहे थे। उस कुतिया को देख कर श्रीकृष्ण ने कहा--"इस काली कुतिया के मुँह में दाँत बहुत सुन्दर है।" देव ने श्रीकृष्ण का अभिप्राय जान कर एक परीक्षा से संतोष किया। इसके बाद वह स्वयं चोर का रूप धारण कर के श्रीकृष्ण के एक उत्तम अश्व-रत्न का हरण कर लिया। श्रीकृष्ण के अनेक सैनिक उस चोर को पकड़ने दौड़े और लड़े, किन्तु उस चोर रूपी देव के सामने उन सैनिकों को हार खानी पड़ी। तब श्रीकृष्ण स्वयं चोर से युद्ध करने के लिए तत्पर हुए। उन्होंने चोर को ललकारते हुए कहा--"या तो तू इस अश्व को छोड़ दे, अन्यथा अपने जीवन की आशा छोड़ दे।" देव ने कहा--"अश्व उसी के पास रहेगा, जिसमें बल होगा और बल का निर्णय युद्धस्थल में होगा।" श्रीकृष्ण ने कहा—"तू भी रथ में बैठ कर आ, फिर अपन युद्ध करेंगे।" देव ने कहा--"मुझे रथ या हाथी, किसी की भी जरूरत नहीं, मैं आपसे बाहु-युद्ध करना चाहता हूँ।" श्रीकृष्ण कुछ विचारमग्न हो कर बोले--"जा, तू ले जा इस अश्व को। मैं तुझ चोर से बाहुयुद्ध करना नहीं चाहता। यह अधम युद्ध ※ है।" श्रीकृष्ण की बात सुन कर देव संतुष्ट हुआ और अपने असली रूप में उपस्थित हो कर श्रीकृष्ण का अभिवादन किया और कहने लगा--"इन्द्र ने देवसभा में आपकी प्रशंसा की थी, किन्तु मैं विश्वास नहीं कर सका और आपकी परीक्षा लेने के लिये चला आया। मैंने आपमें वे सभी गुण पाये हैं, जिनकी शक्रेन्द्र ने प्रशंसा की थी। हे माहाभाग! कोई इच्छित वस्तु माँगिये जिससे मैं आपको संतुष्ट कर सकूँ।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"इस समय मेरी द्वारिका नगरी में भयानक रोग फैला हुआ है। इस रोग के निवारण के लिये जो वस्तु उचित हो, वही दीजिये।" इस पर देव ने श्रीकृष्ण को एक भेरी (बड़ा ढोल या नगाड़ा) प्रदान की और कहा--"यह छः महीने में एक बार नगरी में बजावें। इससे सभी प्रकार के रोग-उपद्रव शान्त हो जावेंगे, तथा छः महीने तक कोई रोग उत्पन्न नहीं होगा। श्रीकृष्ण ने द्वारिका नगरी में भेरी बजवाई, जिससे नगरनिवासियों के समस्त रोग दूर हो गये।

भेरी के साथ भ्रष्टाचार

इस देव-प्रदत्त भेरी की प्रशंसा दूर-दिगन्त तक व्याप्त हो गई। एक धनाढ्य व्यक्ति

※ एक चोर के साथ पुरुषोत्तम वासुदेव का बाहु-युद्ध करना 'अधम-युद्ध' कहलाता है।

दाह-ज्वर के भयंकर रोग से पीड़ित था। वह भेरी की प्रशंसा सुन कर अपने देश से चल कर द्वारिका नगरी में आया। उसके एक दिन पूर्व ही भेरी-नाद हो चुका था। उसने भेरी के रक्षक से कहा--"तू इस भेरी का एक छोटा-सा टुकड़ा मुझे दे दे और वदले में एक लाख द्रव्य ले-ले। मैं रोग से भयंकर कष्ट पा रहा हूँ और अव छह महीने तक सहन नहीं कर सकता। दया कर मुझ पर। मैं अपने जीवन-दान के वदले तुझे यह लाख मुद्रा दे रहा हूँ।" भेरीपाल लालच में आ गया और एक छोटा-सा टुकड़ा काट कर उसे दे दिया। इससे उस रोगी का रोग उपशान्त हो गया। भेरीपाल ने चन्दन की लकड़ी के टुकड़े से भेरी के उस खण्डित भाग को जोड़ कर वरावर कर दिया। भेरीपाल के भ्रष्टाचार की वृत्ति वढ़ी। वह धन ले कर भेरी के टुकड़े कर के देने लगा। होते-होते वह भेरी पूरी चन्दन के टुकड़ों के जोड़ की हो गई। इसमें मौलिक एक अंश भी नहीं रहा। कालान्तर में द्वारिका में फिर भयानक रोग व्याप्त हो गया। श्रीकृष्ण ने उस भेरीपाल को भेरी वजाने की आज्ञा दी। भेरीपाल ने भेरी वजाई, लेकिन उस टूटी-फूटी और चन्दन के टुकड़ों से जुड़ी हुई भेरी का नाद, पूरी राज-सभा भी नहीं सुन सकी। श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ। उन्हें पता लग गया कि भेरीपाल के भ्रष्टाचार ने इस दैविक-निधि को नष्ट कर दिया है। उन्होंने भेरीपाल को मृत्यु-दण्ड दिया। इसके वाद श्रीकृष्ण ने तेले का तप कर के उस देव से फिर दूसरी भेरी प्राप्त की और उस महारोग को द्वारिका से हटाया।

सदोष-निर्दोष चिकित्सा का फल

महारोग के उपद्रव के समय द्वारिका में दो वैद्य भी उपचार कर रहे थे। एक का नाम धनवंतरी तथा दूसरे का नाम वैतरणी था। धनवंतरी ने साधुओं की चिकित्सा में सदोष एवं प्राणीजन्य औषधी वताई। साधुओं ने निर्दोष औषधी के लिये कहा, तो वह चिढ़ गया। उसकी प्रकृति पापपूर्ण थी। दूसरी ओर वैतरणी वैद्य निर्दोष औषधी देने का प्रयत्न करता। दोनों द्वारिका नगरी में ख्याति पा चुके थे। एकवार श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमीनाथ से पूछा—"इन दोनों प्रसिद्ध और सेवाभावी वैद्यों की करणी का फल इन्हें क्या मिलेगा?" भगवान् ने कहा--"धनवंतरी तो सातवीं नरक के अप्रतिष्ठान नरकावास में जायगा और वैतरणी वैद्य विंध्याचल पर्वत पर वानर-समूह का अधिपति होगा। एक सार्थ के साथ कुछ मुनि विहार करते हुए विंध्याचल पर्वत के समीप हो कर निकलेंगे। वहाँ एक मुनि के पाँव में एक काँटा गहरा पैठ जायगा। वे चलने में असमर्थ हो जाएँगे। तव वे मुनि अन्य

मुनियों से कहेंगे कि इस भयानक अटवी में आप सभी का ठहरना उचित नहीं है। आप सभी पधारिये। मैं यहाँ अनशन कर के अन्तिम साधना करूँगा। इस प्रकार अत्यन्त आग्रह होने पर अन्य सभी मुनि विहार कर देंगे और वे मुनि एक वृक्ष के नीचे सागारी अनशन कर के ध्यानस्थ हो जाएँगे। उसके बाद कहीं से घुमता फिरता वह वानरपति मुनि को देखेगा और विचार करते हुए उसे अपना पूर्व-भव याद आएगा, जिसमें उसने साधुओं की निर्दोष औषधी से सेवा की थी। उसे अपने वैद्यक-ज्ञान का भी स्मरण हो जायगा। वह उस वन में से विशल्या और रोहिणी नाम की दो औषधियाँ लाएगा। विशल्या औषधी को खूब चबा कर मुनिराज के पाँव में लगाएगा, जिससे वह शल्य (काँटा) खींच कर ऊपर आ जायगा। उसके बाद रोहिणी औषधी लगाने से घाव भर जायगा और मुनि स्वस्थ हो जाएँगे। फिर वह वानरपति, भूमि पर अक्षर लिख कर बतायगा कि "मैं द्वारिका में वैतरणी नाम का वैद्यक था।" इस पर से मुनि उसे धर्मोपदेश देंगे और वह अनशन करेगा। मुनिराज उसे नवकार मन्त्र सुनाएँगे और वह शुभ भावों में काल कर के आठवें देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होगा। उत्पन्न होते ही वह अवधिज्ञान से अपना पूर्व-भव और उसमें मुनिराज को नवकार मन्त्र सुनाते हुए देखेगा और तत्काल मुनिराज के सम्मुख उपस्थित हो कर वन्दन-नमस्कार कर, अपने वानर-भव का परिचय देगा। इसके बाद उस मुनि को ले कर वह देव, आगे निकले हुए मुनियों के पास पहुँचा देगा।"

भगवान् के मुख से वैद्यों का भविष्य सुन कर श्रीकृष्ण बहुत प्रभावित हुए और वन्दन-नमस्कार कर स्वस्थान पधारे।

भविष्य-कथन

भगवान् नेमिनाथ से धर्म-परिषद् में श्रीकृष्ण ने पूछा; —

"भगवन् ! देवपुरी के समान अत्यन्त मनोहर एवं सर्वांग सुन्दर इस द्वारिका नगरी का विनाश किस निमित्त से होगा ?"

—"सूरा अग्नि और द्वीपायन के निमित्त से यह द्वारिका नष्ट हो जायगी"— भगवान् ने कहा।

द्वारिका नगरी का भविष्य सुन कर श्रीकृष्ण चिन्तित हुए और मन-ही-मन सोचने लगे; —

"धन्य है वे जाली-मयाली आदि कुमार कि जिन्होंने धन-सम्पत्ति और भोग-विलास

का त्याग कर के भगवान् के समीप प्रव्रजित हुए और मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं अधन्य हूँ, अकृत-पुण्य हूँ कि त्याग-मार्ग पर नहीं चल कर भोग में ही अटका हुआ हूँ।"

श्रीकृष्ण के संकल्प-विकल्प को तोड़ते हुए भगवान् ने कहा--

"कृष्ण ! तुम्हारे मन में विचार हो रहा है कि—'वे जाली-मयाली आदि राजकुमार धन्य हैं जो प्रव्रजित हो कर साधना कर रहे हैं। मैं अधन्य हूँ,' आदि। किन्तु कृष्ण ! ऐसा नहीं हो सकता, न पहले कभी हुआ और न भविष्य में कभी होगा कि तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव, संसार का त्याग कर के प्रव्रजित हुए हों, या होते हों। नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि सभी वासुदेव पूर्वभव में निदानकृत (संयम से प्राप्त शक्ति को किसी आकर्षक निमित्त से विचलित हो कर, दाँव पर लगाये हुए) होते हैं। इसलिए उनका उदयभाव, भोगों का त्याग कर उन्हें निर्ग्रंथ नहीं बनने देता।"

"भगवन् ! तब मैं काल कर के किस गति में जाऊँगा ?"

—"मदिरापान से उन्मत्त बने हुए यादव कुमारों के उपद्रव से क्रोधित हुए दीपायन ऋषि के निमित्त से, आग लग कर द्वारिका प्रज्वलित हो कर नष्ट होने लगेगी, तब माता-पिता और समस्त परिवार से वंचित हो कर तुम और बलदेवजी, युधिष्ठिरादि पाण्डवों के पास, पाण्डु-मथुरा की ओर जाओगे। मार्ग में काशाम्र बन में एक वट-वृक्ष के नीचे शिला-पट्ट पर तुम सोओगे। तुम्हारा शरीर पिताम्बर से ढका होगा। उस समय तुम्हारे भाई जराकुमार द्वारा, मृग के आभास से फेंके हुए बाण से तुम आहत हो कर मृत्यु पाओगे और बालुकाप्रभा नामक तीसरी पृथ्वी में उत्पन्न होओगे।"

यह भविष्य-कथन सुन कर उन्हें चिन्ता एवं आर्त्तध्यान उत्पन्न हो गया। तब भगवान् ने कहा--

"कृष्ण ! चिन्ता मत करो। तीसरी पृथ्वी से निकल कर तुम मनुष्य होंगे और आगामी चौबीसी में शतद्वार नगर में 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे।"

श्रीकृष्ण को इस भविष्य-कथन से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। हर्षातिरेक से वे जोर-जोर से बोलते हुए अपनी भुजा ठोकने लगे और सिंहनाद किया। इसके बाद भगवान् की वन्दना कर के अपने भवन में आये।

श्रीकृष्ण की उद्घोषणा

श्रीकृष्ण ने सेवकों को आदेश दे कर द्वारिका नगरी में उद्घोषणा करवाई;—

"सुनो, ऐ नागरिकजनों ! इस मनोहर द्वारिका नगरी का विनाश होगा। इसलिए

चेतो और सावधान हो जाओ। मोह-ममता छोड़ कर भगवान् अरिष्टनेमी के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर मनुष्य-जन्म सार्थक करो।"

"जो भव्यात्माएँ संसार का त्याग कर प्रव्रजित होना चाहें, उन्हें मेरी आज्ञा है। रानियाँ, राजकुमार और कुमारियें, सेठ, सेनापति आदि कोई भी व्यक्ति, भगवान् के समीप जिन-दीक्षा धारण करेंगे, उन सभी का निष्क्रमण महोत्सव महाराजाधिराज श्रीकृष्ण करेंगे। इतना ही नहीं, दीक्षित होने वालों के पीछे जो बालक, वृद्ध, अथवा रोगी मनुष्य रहेंगे, उनकी साल-संभाल और पोषण भी महाराजाधिराज करेंगे। मत चुको यह उत्तम अवसर।"

इस प्रकार सारे नगर में ढिंढोरा पिटवा कर उद्घोषणा करवाई—तीन-तीन बार।

महारानियों की दीक्षा और पुत्रियों को प्रेरणा

भगवान् का उपदेश एवं द्वारिका का भविष्य सुन कर, महाराजाधिराज श्रीकृष्ण की आठों पटरानियाँ और अन्य रानियाँ, पुत्र-वधुएँ और राजकुमार तथा नागरिकजन, संसार से विरक्त हो कर भगवान् के पास दीक्षित हुए। श्रीकृष्ण ने राजकुमारियों को बुला कर पूछा;—

"तुम्हें स्वामिनी बनना है या सेविका ?"

राजकुमारियों ने कहा—"हम स्वामिनी होना चाहती हैं, सेविका नहीं।"

"यदि तुम स्वामिनी होना चाहती हो, तो तुम्हारी माताओं के समान भगवान् नेमीनाथ के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर के आत्म-कल्याण करो। तुम हम सभी की पूज्य बन जाओगी। स्वामिनी बनने का एक यही उपाय है और जो संसार में रहेगी, वे सेविका बनेगी। क्योंकि वे जिसके साथ विवाह करेगी, वे सभी मेरे सेवक हैं। सेवक की पत्नी बनना तो सेविका बनना ही है।"

श्रीकृष्ण की बात सुन कर अनेक राजकुमारियों ने भ० नेमीनाथ के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और धर्मसाधना करने लगी। जिन नागरिकों ने प्रव्रज्या ग्रहण की, उन सब का निष्क्रमण-महोत्सव श्रीकृष्णजी ने किया और उनके पीछे रहे हुए वृद्ध माता-पिता, रोगी, बालक-बालिका और परिवार का पालन-पोषण-रक्षण और साल-संभाल श्रीकृष्ण ने राज्य की ओर से करने की व्यवस्था की।

प्रव्रज्या की ओर मोड़ने का प्रयास

भगवान् के उपदेश और श्रीकृष्ण की प्रेरणा-प्रोत्साहन से सभी पटरानियाँ, अन्य अनेक रानियाँ, बहुरानियाँ और राजकुमारियाँ दीक्षित हुई, फिर भी उदयभाव की प्रबलता से कई रानियाँ और राजकुमारियाँ रही थी। एक रानी को अपनी पुत्री केतुमंजरी को दीक्षा दिलाना स्वीकार नहीं हुआ। पुत्री युवावस्था प्राप्त कर चुकी थी। माता ने पुत्री को सिखाया--"तुझे तेरे पिताजी पूछेंगे कि स्वामिनी बनना है या सेविका ?" तो तू कहना--" मुझे सेविका बनना है, स्वामिनी नहीं।" केतुमंजरी पिता के चरण-वन्दन करने गई। श्रीकृष्ण ने उससे उपरोक्त प्रश्न पूछा, तो उसने माता का बताया हुआ उत्तर दिया--"मुझे सेविका बनना है।" पुत्री के उत्तर से श्रीकृष्ण विचार-मग्न हो गए। उन्होंने सोचा--" ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे दूसरी पुत्रियों को शिक्षा मिले और वे विवाह करने के विचार को त्याग दे।"

वीरक नाम का एक बुनकर, श्रीकृष्ण पर अत्यन्त भक्ति रखता था। उसे बुला कर पूछा--

"तूने जीवन में कोई साहस का काम किया है कभी ?"

—" नहीं महाराज ! कभी कुछ भी साहस का काम नहीं किया।"

--" याद कर, तेने कुछ-न-कुछ साहस का कार्य अवश्य किया होगा।"

—" मैंने एकबार बैर के वृक्ष पर बैठे हुए एक प्राणी को लक्ष्य कर पत्थर फेंका था, उससे वह मर गया था। एकबार शकट-पथ में बहते हुए पानी को बायाँ पाँव अड़ा कर रोक दिया था और एकबार एक घड़े में बहुत-सी मक्खियाँ एकत्रित हो गई थी, तो मैंने अपने बायें हाथ से घड़े का मुँह बन्द कर के उन्हें भीतर ही बन्द कर दी थी। वे घड़े में ही गुनगुनाती-भिनभिनाती रही। मुझे तो ये ही काम अपने साहस के याद आते हैं महाराज !"

श्रीकृष्ण ने वीरक को घर भेज दिया और दूसरे दिन राज-सभा में अनेक राजाओं के सामने कहा;--

"वीरक बुनकर क्षत्रिय तो नहीं है, किन्तु उसका पराक्रम क्षत्रियोचित है। उसने बदरीफल पर बैठे हुए लाल फण वाले नाग को भू-शस्त्र से मार डाला, चक्र-विदारित भूमि पर कलुषित जलयुक्त गंगा-प्रवाह को इस वीर ने अपने बायें पाँव से रोक दिया और घट-सागरमें घोष करती हुई बड़ी सेना को इसने अपने बायें हाथ से रोक रखी। इस प्रकार के उत्कट पराक्रम वाला यह वीर कुविंद वास्तव में योद्धा है। क्षत्रियोचित पराक्रमी होने के कारण यह वीरक मेरा जमाता होने के योग्य है। मैं इसे अपनी पुत्री दूंगा।"

श्रीकृष्ण ने वीरक को बुला कर कहा--" मैं अपनी पुत्री केतुमंजरी के साथ तेरा व्याह करना चाहता हूँ।" वीरक अचंभित हो गया और अपने को सर्वथा अयोग्य बता कर कहा--"स्वामिन् ! मैं राजकुमारी के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ। नहीं, नहीं, मैं राजकुमारी को ग्रहण करने का विचार ही नहीं कर सकता। स्वामिन् ! क्षमा करें मुझ दरिद्र को।"

श्रीकृष्ण ने भ्रकुटी चढ़ा कर आदेश दिया। उसे मानना ही पड़ा। उसी समय उसके साथ राजकुमारी का लग्न कर के विदा कर दिया। राजकुमारी, उसकी माता और समस्त स्वजन-परिजन अचंभित थे। उनके हृदय इस लग्न को स्वीकार नहीं कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण के सामने बोल कर विरोध करने का साहस किसी में नहीं था।

वीरक राजकुमारी को अपने झोंपड़े में लाया और खटिया बिछा कर बिठा दिया। राजकुमारी का हृदय दुःख एवं क्लेश से परिपूर्ण था। वह वीरक पर भी कुपित थी। वीरक उसका आज्ञाकारी सेवक बना हुआ था। दो दिन बाद श्रीकृष्ण ने वीरक को बुला कर पूछा--

"केतुमंजरी तेरे घर का सभी कार्य करती है या नहीं ?"

—"नहीं, महाराज ! मैं उसका आज्ञाकारी सेवक हूँ। वह तो मुझ पर रुष्ट ही रहती है। मैंने तो आपकी आज्ञा का पालन किया है। इसमें मेरा क्या दोष है ? और मेरे पास उस छप्पर, टूटी खाट, फटी गुदड़ी और फूटे बरतनों के अतिरिक्त है ही क्या, जिससे मैं उसे सुखी रख सकूँ ? मैं उसके योग्य सुविधा.........

--"चुप ! तू उससे अपने घर का सभी काम कराया कर। यदि तेने उससे काम नहीं लिया, तो तुझे कारागृह में बन्द कर दूँगा।"

वीरक घर आया और राजकुमारी से बोला;--

"अब उठ और घर का काम कर। झट जा कर पानी ले आ और धान पीस कर रोटी बना। खा-पी कर फिर कपड़ा बुनना है।"

—"ऐ दरिद्र, हीन, दुष्ट ! तू मुझे काम करने का कहता है ? तुझे लज्जा नहीं आती। चल हट मेरे सामने से"—आँखें चढ़ा कर लाल नेत्रों से देखती हुई केतुमंजरी ने कहा।

वीरक ने राजकुमारी के दो-चार हाथ जमा दिये और बोला--"तू मेरी पत्नी है। मैं तेरा पति हूँ। इतना घमण्ड क्यों करती है ? मेरे यहाँ तो तुझे वह सभी काम करना पड़ेगा, जो मेरी जाति की दूसरी स्त्रियें करती है"--वीरक ने पतिपन के गर्व के साथ कहा।

राजकुमारी एक दरिद्र के हाथ से, जिससे वह घृणा करती थी, पिट गई। जीवन में ऐसी घड़ी कभी नहीं आई थी। वह वहां से निकल कर राज-भवन में आई और पिता के चरणों में गिर कर रोने लगी। श्रीकृष्ण ने कहा--"सेविकापन का जो कर्त्तव्य है, वह तो निभाना ही पड़ेगा। तेरी इच्छा ही सेविका बनने की थी। अब मैं क्या करूँ?"

--नहीं, नहीं, अब एक पल के लिए भी मुझे सेविका नहीं रहना है। मेरी भूल हुई। मुझे क्षमा करें और इस दुःखद स्थिति से उबार कर मेरी अन्य बहिनों के समान मुझे भी प्रव्रज्या दिलवा दें।"

श्रीकृष्ण ने वीरक को अनुमत कर के राजकुमारी केतुमंजरी को प्रव्रज्या दिलाई। उसके साथ अन्य राजकुमारियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। केतुमंजरी का उदाहरण अन्य राजकुमारियों के लिए शिक्षा का कारण बना /।

थावच्चापुत्र की दीक्षा ×

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् अरिष्टनेमीजी पुनः द्वारिका नगरी के निकट रैवतक पर्वत के नन्दनवन उद्यान में पधारे। भगवान् का आगमन जान कर महाराजाधिराज श्रीकृष्णचन्द्र ने सेवकों को आज्ञा दी कि सुधर्म-सभा में जा कर 'कौमुदी' नामक भेरी बजाओ। भेरी का गम्भीर एवं मधुर नाद सम्पूर्ण द्वारिका तथा बाहर के वन-उपवन, गिरि, शिखिर और गुफाओं तक में फैल गया। भेरीनाद सुन कर जनता सुसज्जित हो कर राज-प्रासाद में एकत्रित हुई। सभी के साथ तथा सेना सहित महाराजाधिराज की भव्य सवारी भगवान् को वन्दन करने चली। वन्दन-नमस्कार के पश्चात् भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

द्वारिका में 'थावच्चा' नामकी एक गृहस्वामिनी रहती थी। वह ऋद्धि-सम्पन्न, बुद्धिमती, शक्ति-सामर्थ्ययुक्त एवं प्रभावशालिनी थी। राज्य में उसका आदर होता था। उसके इकलौता पुत्र था, जिसका नाम उसी के नाम पर 'थावच्चापुत्र' रखा गया था।

/ कई विचारक इसे श्रीकृष्ण का अन्याय एवं पुत्री पर अत्याचार मानेंगे। परन्तु उनकी हित-बुद्धि पर विचार किया जाय तो समझ में आ सकेगा। जिस प्रकार बालकों को शिक्षित बनाने में और रोग-मुक्त करने के लिए कठोर बनना पड़ता है, उसी प्रकार सन्मार्ग पर लगाने के लिये किया हुआ उपाय भी ओषधी के समान हितकारी होता है।

× यह विषय त्रि. श. पु. चरित्र में दिखाई नहीं दिया। यहां ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र से लिया जा रहा है।

थावच्चापुत्र भी रूप-सम्पन्न और भव्य आकृति वाला था। माता ने पुत्र का विवाह बत्तीस कुमारियों के साथ किया था। वे सभी श्रेष्ठि-कुल की रूप, यौवन, आकृति और गुणों से उत्तम थीं। उनके साथ थावच्चापुत्र भोग भोगता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था। भगवान् का पदार्पण जान कर वह भी उपस्थित हुआ और उपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गया। घर आ कर उसने माता का चरण-स्पर्श किया और प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। माता ने बहुत समझाया, परन्तु उस विरक्तात्मा को अपने निश्चय से चलित नहीं कर सकी। अन्त में माता ने एक भव्य महोत्सव के साथ पुत्र का निष्क्रमण महोत्सव कर के प्रव्रजित करने का निश्चय किया।

माता ने बहुमूल्य भेंट ग्रहण की और अपने मित्र-ज्ञातिजनों के साथ महाराजाधिराज के समीप उपस्थित हुई। भेंट समर्पित कर के निवेदन करने लगी;—

"महाराज ! मेरा एकाकी पुत्र, भगवान् नेमीनाथजी के समीप दीक्षित होना चाहता है। मैं उसका दीक्षा-महोत्सव भव्य समारोहपूर्वक करना चाहती हूँ। इस महोत्सव के लिए मुझे छत्र, चामर और मुकुट प्रदान करें। इसी अभिलाषा से मैं सेवा में उपस्थित हुई हूँ।"

"देवानुप्रिये ! तुम निश्चिंत रहो। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमण महोत्सव करूँगा। तुम जाओ। मैं स्वयं अभी तुम्हारे पुत्र के समीप आ रहा हूँ"—श्रीकृष्ण ने कहा।

श्रीकृष्ण गजारूढ़ हो कर थावच्चा के भवन पधारे। उन्होंने विरक्तात्मा थावच्चा-पुत्र से कहा;—

"देवानुप्रिय ! तुम संसार छोड़ कर दीक्षित मत बनो और मेरी भुजा की छाया में रह कर यथेच्छ भोग भोगते रहो। मैं तुम्हारा सभी प्रकार से रक्षण करूँगा। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध, वायु के अतिरिक्त तुम्हें कोई स्पर्श भी नहीं कर सकेगा। तुम प्रव्रज्या ग्रहण करने का विचार छोड़ कर सुखपूर्वक भोग भोगते रहो।"

"महाराज ! यदि आप शरीर पर आक्रमण कर के विद्रूप एवं विकृत करने वाले बुढ़ापे को रोक सकें, रोगातंक से बचा सकें और जीवन का अन्त करने वाली मृत्यु का निवारण कर के सुरक्षित रख सकें, तो मैं आपकी भुजा की छाया में रह कर भोग-जीवन व्यतीत करने के लिए रुक जाऊँ। बताइये आप मुझे जरा, रोग और मृत्यु से बचा सकेंगे ?"

—"वत्स ! जरा और मृत्यु का निवारण अशक्य है। बड़े-बड़े इन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सके। इनका निवारण तो जन्म की जड़ काटने रूप कर्म-क्षय करने से ही हो सकता है।"

—"महाराज ! मैं इसी साधना में तत्पर होना चाहता हूँ, जिससे अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय से संचित कर्मों को क्षय किया जा सके।"

थावच्चापुत्र का दृढ़ वैराग्य जान कर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने सेवकों को आज्ञा प्रदान की; —

"तुम हाथी पर सवार हो कर नगरी के प्रत्येक मुख्य-मुख्य स्थानों, मार्गों, बाजारों और विथिकाओं में जा कर उद्घोषणा करो कि—

"थावच्चापुत्र संसार से विरक्त हो कर भगवान् नेमीनाथ के समीप प्रव्रजित होना चाहते हैं। जो कोई इनके साथ भगवान् के पास दीक्षित होना चाहें, उन्हें श्रीकृष्ण अनुज्ञा देते हैं। उनके पीछे रहे हुए उनके मित्र, ज्ञाति, सम्बन्धी एवं परिजन का पालन-पोषण एवं रक्षण करने का भार राज्य ग्रहण करेगा।"

"इस प्रकार उद्घोषणा कर के मुझे निवेदन करो।"

थावच्चापुत्र के प्रति अनुराग के कारण उनके साथ एक हजार व्यक्ति दीक्षित होने के लिए तत्पर हो कर, अपने-अपने घर से, स्वजन-परिजन के साथ शिविका में बैठ कर, थावच्चापुत्र के भवन पर आये। श्रीकृष्ण की आज्ञा से भव्य समारोहपूर्वक दीक्षा-महोत्सव प्रारम्भ हुआ। थावच्चापुत्र शिविकारूढ़ हो कर, एक हजार मित्रों के साथ चलता है। भगवान् के छत्र-चामरादि देख कर शिविका से उतरता है और सभी के साथ चलता है। श्रीकृष्ण-वासुदेव, थावच्चापुत्र को आगे कर के चलते हैं। थावच्चापुत्र और सभी विरक्तजन भगवान् की वन्दना कर के ईशान-कोण में जाते हैं और अलंकारादि उतार कर श्रमणवेश में उपस्थित होते हैं। थावच्चापुत्र की माता, पुत्र-विरह से उत्पन्न शोक से रुदन करती एवं आँसू गिराती है और पुत्र को शुद्धतापूर्वक संयम का पालन कर, विमुक्त होने की सीख देती हुई घर लौट आती है। थावच्चापुत्र और उनके साथ के एक हजार पुरुष भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं और संयम और तप से आत्म-साधना एवं ज्ञानाभ्यास करते हुए विचरते हैं।

थावच्चापुत्र अनगार ने स्थविर महात्माओं के पास सामायिक से लगा कर चौदह पूर्व तक के श्रुत का अभ्यास किया। उसके बाद भगवान् नेमीनाथ ने, उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार श्रमणों को उन्हें शिष्य के रूप में प्रदान किये। कालान्तर में थावच्चापुत्र अनगार ने भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने एक हजार शिष्यों के साथ जनपद में विहार करने की आज्ञा प्राप्त की और पृथक् जनपद-विहार करने लगे।

थावच्चापुत्र अनगार अपने शिष्यों के साथ शैलकपुर नगर के उद्यान में पधारे। शैलक नरेश और उनके पंथक आदि पाँच सौ मन्त्री और नागरिकगण दर्शनार्थ आये।

धर्मोपदेश सुन कर शैलक नरेश प्रतिबोध पाये और अपने पाँच सौ मन्त्री सहित श्रमणोपासक के व्रत अंगीकार किये ।

सुदर्शन सेठ की धर्मचर्चा और प्रतिबोध

सौगन्धिका नाम की नगरी थी । उस नगरी में 'सुदर्शन' नाम का नगरश्रेष्ठी रहता था । वह बड़ा ऋद्धिमंत और शक्तिशाली था ।

उस समय 'शुक' नामक परिव्राजकाचार्य भी विचरते हुए उसी नगर में आ कर अपने आश्रम में ठहरे । वे वेद-वेदांग के पारगामी थे । उनके साथ भी एक हजार शिष्य थे । वे अपने सांख्य मत के अनुसार आत्म-साधना करते थे । उनका आगमन जान कर जनसमूह दर्शनार्थ आया, नगरश्रेष्ठी सुदर्शन भी आया । आचार्य शुकदेव ने उस परिषद् को अपना शूचि-मूल धर्म सुनाया । सुदर्शन श्रेष्ठी ने धर्मोपदेश सुन कर, शौच-मूल धर्म ग्रहण किया और उन परिव्राजकों को भोजन-वस्त्रादि प्रदान किया । कुछ काल पश्चात् परिव्राजकाचार्य शुक, सौगन्धिका नगरी से निकल कर अन्यत्र चले गए ।

ग्रामानुग्राम विचरते हुए थावच्चापुत्र अनगार भी अपने मुनि-संघ के साथ सौगन्धिका नगरी पधारे और नीलाशोक उद्यान में ठहरे । नागरिकजन वन्दन करने आये । सुदर्शन सेठ भी आया । धर्मोपदेश सुना । उपदेश सुनने के पश्चात् सुदर्शन ने पूछा—

"आपके धर्म का मूल क्या है ?"

"सुदर्शन ! हमारे धर्म का मूल 'विनय' है । यह विनय-मूल धर्म दो प्रकार का है — १ अगार-विनय और २ अनगार-विनय । अगार-विनय में पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत (तीन गुणव्रत सहित) और ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ हैं । अनगार विनयमूल धर्म—पाँच महाव्रतों का पालन, रात्रि-भोजन का त्याग, क्रोध-मान यावत् मिथ्यादर्शन शल्य का त्याग, दस प्रकार के प्रत्याख्यान और बारह प्रकार की भिक्षु-प्रतिमाओं का पालन करना है ।

इन दो प्रकार के विनयमूल धर्म के परिपालन से जीव, क्रमशः आठ कर्मों को क्षय कर के लोकाग्र पर प्रतिष्ठित होता है ।"

अपने धर्म का स्वरूप बतलाने के बाद थावच्चापुत्र अनगार ने पूछा;—

"सुदर्शन ! तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?"

"देवानुप्रिय ! हमारा शूचिमूल धर्म है । उसके दो भेद हैं—१ द्रव्य-शूचि—पानी और मिट्टी से शरीर उपकरणादि की शुद्धि करना इत्यादि और २ भाव-शुद्धि—द्रव्य और

मन्त्र से होती है। दोनों प्रकार की शुद्धि कर के आत्मा को पवित्र करने वाला जीव, स्वर्ग को प्राप्त होता है।"

सुदर्शन सेठ का उत्तर सुन कर महात्मा थावच्चापुत्रजी ने पूछा;--

"सुदर्शन ! कोई पुरुष, रक्त से लिप्त वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए रक्त से ही धोए, तो क्या वह वस्त्र शुद्ध हो सकता है ?"

"नहीं, शुद्ध नहीं हो सकता"—सुदर्शन ने कहा।

"इसी प्रकार हे सुदर्शन ! तुम्हारे मतानुसार क्रिया करने से आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के सेवन से आत्मा के पाप-कर्मों में उसी प्रकार से वृद्धि होती है, जिस प्रकार रक्त से लिप्त वस्त्र को रक्त से धोने से होती है। "क्यों सुदर्शन ! यदि ऐसे वस्त्र को मल-शोधक सज्जी-क्षार युक्त जल में भिगोवे, फिर चूल्हे पर चढ़ा कर उबाले और उसके बाद स्वच्छ जल से धोवे तब तो शुद्ध होता है न ?"

"हाँ, महात्मन् ! इस विधि से वस्त्र शुद्ध हो जाता है"--सुदर्शन ने कहा।

"हे सुदर्शन ! हम भी प्राणातिपातादि पापों से लिप्त आत्मा के मल को दूर करने के लिए प्राणातिपात विरमण आदि अठारह पापों का त्याग कर के अपने आत्म-वस्त्र को शुद्ध करते हैं। जिस प्रकार रुधिर से लिप्त वस्त्र का रुधिर छुड़ाने के लिये क्षारादि प्रक्रिया से वस्त्र शुद्ध होता है।"

अनगार महर्षि का उत्तर सुन कर नगर-श्रेष्ठी सुदर्शन समझ गया। उसने जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझ कर श्रमणोपासक के व्रत स्वीकार किये और जिनधर्म का पालन करता हुआ विचरने लगा।

परिव्राजकाचार्य से चर्चा

परिव्राजकाचार्य शुकदेवजी ने सुना कि सुदर्शन सेठ ने शूचिमूल धर्म का त्याग कर विनयमूल धर्म स्वीकार कर लिया, तो वे चिंतित हो उठे। सुदर्शन उनका प्रमुख उपासक था और प्रभावशाली था। उसके परिवर्तन का गंभीर प्रभाव होने की संभावना थी। उन्होंने सोचा 'मैं सौगन्धिका नगरी जाऊँ और सुदर्शन को समझा कर पुनः अपना उपासक बनाऊँ।' वे अपने एक हजार शिष्यों के साथ सौगन्धिका पहुंचे और आश्रम में अपने भण्डोपकरण रख कर सुदर्शन सेठ के घर आये। पहले जब भी आचार्य उसके घर आते,

तब वह उनका अत्यन्त आदर-सत्कार करता, वन्दन-नमस्कार करता और बहुमानपूर्वक आसनादि प्रदान करता। किन्तु इस वार आचार्य को देख कर भी उसने उपेक्षा कर दी, न तो आदर दिया, न खड़ा हुआ और न नमस्कार ही किया। वह मौनपूर्वक बैठा रहा। अपनी उपेक्षा और अनादर देख कर आचार्य ने पूछा—

"सुदर्शन! तुम तो एकदम पलट गये लगते हो। पहले जब मैं आता, तो तुम मेरा भक्तिपूर्वक आदर-सत्कार करते, वन्दना करते, किन्तु आज तुम्हारा व्यवहार ही उलटा दिखाई दे रहा है। क्या कारण है—इसका? क्या तुम्हारी धर्म से श्रद्धा हट गई?"

सुदर्शन आसन से उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ कर शुकदेवजी से बोला;—

"मैंने विनयमूल धर्म स्वीकार कर लिया है।"

—"किसके पास? किसने भरमाया तुझे"—आचार्य ने पूछा।

—"निर्ग्रंथाचार्य महर्षि थावच्चापुत्र अनगार के उपदेश से प्रभावित हो कर मैं श्रमणोपासक बना। वे सन्त महान् त्यागी हैं। उनका धर्म श्रेष्ठ है, उद्धारक है और आराधना करने योग्य है।"

—"चल मेरे साथ। मैं देखता हूँ तेरे गुरु को। मैं उनसे धर्म का अर्थ पूछूंगा, प्रश्न करूँगा। यदि उन्होंने मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया, तो मैं स्वयं उन्हें वन्दन-नमस्कार करूँगा और यदि वे मेरे प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं दे सके, तो निरुत्तर कर के उनका दंभ प्रकट कर दूंगा"— परिव्राजकाचार्य ने कहा।

आचार्य शुकदेवजी अपने सहस्र परिव्राजकों और सुदर्शन सेठ के साथ श्री थावच्चापुत्र अनगार के स्थान पर पहुँचे। समीप जाते ही आचार्य शुक ने पूछा;—

"भंते! आपके मत में यात्रा है? यापनीय है? अव्याबाध है? प्रासुक विहार है?"

"हाँ शुक! मेरे यात्रा भी है, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है" —अनगार महर्षि बोले।

"आपके यात्रा कौन-सी है"—शुकदेवजी ने पूछा।

"ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयमादि में मन, वचन और काया के योगों को योजित रखना मेरी यात्रा है"—अनगार महर्षि ने कहा।

"आपके यापनीय क्या है"—शुकदेवजी ने पूछा।

"यापनीय दो प्रकार का है—इन्द्रिय और नोइन्द्रिय (मन)। मेरी श्रोतादि पाँचों इन्दियाँ मेरे वशीभूत हैं, नियंत्रित हैं और मेरे क्रोध-मान-माया और लोभ क्षीण हो चुके हैं, उपशान्त हैं, उदय में नहीं है। यह मेरा नोइन्द्रिय यापनीय है अर्थात् इन्द्रियें और

क्रोधादि कषाय मेरे नियन्त्रण में है। यह मेरे यापनीय है"—अनगार महात्मा ने कहा।

"भगवन्! आपके अव्याबाध क्या है"—पुनः प्रश्न।

"मेरे वात-पित्त-कफ और सन्निपातादि रोगातंक उदय में नहीं है, (कभी रोगातंक हो भी जाय तो मेरी आत्मा प्रशांत रहती है। रोग मेरी साधना में बाधक नहीं बनता) यह मेरा अव्याबाध है।"

"भगवन्! आपके प्रासुक-विहार क्या है?"

"हे शुकदेव! हम ईर्यासमितिपूर्वक चलते हुए जहाँ भी जाते हैं, वहाँ हमारे लिए कोई स्थान, आश्रम या मठ आदि निश्चित नहीं होता। हम निर्दोष स्थान देख कर ठहर जाते हैं, भले ही वह आराम (बगीचा) हो, उद्यान हो, देवकुल, सभा, प्याऊ, कुंभकार आदि की शाला हो, या फिर वृक्ष के नीचे ही ठहर जाते हैं। यह हमारा निर्दोष विहार है।"

"भगवन्! आपके लिए सरिसव भक्ष्य है या अभक्ष्य।"

--परिव्राजकाचार्य ने यह प्रश्न अनगार महर्षि की बुद्धि की परीक्षा करने अथवा वाक्जाल में फाँस कर परास्त करने की इच्छा से पूछा। इसके पूर्व के प्रश्न साधना की निर्दोषता-सदोषता जानने के लिये पूछे थे।

"सरिसव भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी।"

"यह कैसे? दोनों बातें कैसे हो सकती है"--प्रतिप्रश्न।

"सरिसव दो प्रकार के हैं--१ मित्र-सरिसव और २ धान्य-सरिसव।

मित्र-सरिसव तीन प्रकार के हैं--१ साथ जन्मे हुए २ साथ वृद्धि पाये हुए और ३ साथ खेले हुए। ये तीनों प्रकार के मित्र-सरिसव हमारे लिए अभक्ष्य हैं।"

धान्य-सरिसव (सरसों) दो प्रकार के हैं—१ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र-परिणत। अशस्त्र-परिणत (जो अग्नि आदि के प्रयोग से अचित्त नहीं हुए) हमारे लिए अभक्ष्य है। शस्त्र-परिणत भी दो प्रकार के हैं—१ प्रासुक (सर्वथा अचित्त) और २ अप्रासुक (शस्त्र-परिणत होने पर भी जो अचित्त नहीं हुए या मिश्र रहे) इनमें से अप्रासुक धान्य-सरिसव अभक्ष्य है।

प्रासुक धान्य-सरिसव भी दो प्रकार का होता है--१ याचित (याचना किये हुए) और २ अयाचित। अयाचित अभक्ष्य हैं। याचित के भी दो भेद हैं--१ एषणीय (याचने योग्य, सभी प्रकार दोषों से रहित) और २ अनेषणीय। इनमें से अनेषणीय अभक्ष्य है +।

+ भगवती सूत्र श. १८ उ. १० में ये प्रश्न सोमिल ने भी किये. ऐसा उल्लेख है। वहाँ शस्त्र-परिणत, एषणीय, याचित और लब्ध--ये चार भेद है। किन्तु यहाँ 'प्रासुक' भेद विशेष दिया है। यह भेद भगवती के शस्त्र-परिणत में गर्भित है। किन्तु इसका क्रम समझ मे नहीं आया। याचित होने के

एषणीय के भी दो भेद हैं—१ लब्ध (प्राप्त) और २ अलब्ध। अलब्ध तो अभक्ष्य है और जो लब्ध है, वही हम श्रमण-निर्ग्रंथों के लिए भक्ष्य है"--अनगार-महर्षि ने विस्तार के साथ उत्तर दिया।

"भगवन्! कुलत्था भक्ष्य है"--एक नया प्रश्न।

"कुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी।"

"यह कैसे"--प्रतिप्रश्न।

"कुलत्था के दो भेद हैं--१ स्त्री-कुलत्था और २ धान्य-कुलत्था। स्त्री-कुलत्था के तीन भेद हैं—१ कुलवधू २ कुलमाता और ३ कुलपुत्री। कुलत्था के ये तीनों भेद अभक्ष्य हैं।

धान्य-कुलत्था के दो भेद हैं--१ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र-परिणत। अशस्त्र-परिणत तो अभक्ष्य है ही। शस्त्र-परिणत भी दो प्रकार के हैं--प्रासुक (अचित्त) और अप्रासुक (सचित्त)। अप्रासुक अभक्ष्य हैं। प्रासुक भी दो प्रकार के हैं--याचित और अयाचित। अयाचित त्याज्य है। याचित के दो भेद—एषणीय और अनेषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य है। एषणीय के दो भेद—१ प्राप्त और २ अप्राप्त। अप्राप्त अभक्ष्य और प्राप्त भक्ष्य है। हम ऐसे ही कुलत्थ को भक्ष्य मानते हैं, जो धान्य हो, शस्त्र-परिणत हो, प्रासुक हो, याचा हुआ हो, एषणीय हो और प्राप्त हो। शेष सभी अभक्ष्य है।"

"भगवन्! मास आपके लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य"--परिव्राजकाचार्य ने नया प्रश्न उठाया।

--"देवानुप्रिय! मास भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी।"

--"किस प्रकार?"

--"मास तीन प्रकार का है--१ कालमास--श्रावण-भाद्रपदादि २ अर्थमास--चांदी और सोने का मासा और ३ धान्यमास। इनमें से कालमास और अर्थमास तो अभक्ष्य है। अब रहा धान्यमास (उड़द)। इसका स्वरूप सरिसव और कुलत्था के समान है, अर्थात् शस्त्र-परिणत, प्रासुक, याचित, एषणीय और प्राप्त हो, तो भक्ष्य है, अन्यथा अभक्ष्य है।'

"भगवन्! आप एक हैं? दो हैं? अनेक हैं? अक्षय हैं? अव्यय हैं? अवस्थित हैं? आप भूत, भाव और भावी हैं"—परिव्राजकाचार्य ने एक साथ इतने प्रश्न उपस्थित कर दिये। उनका अभिप्राय था कि यदि वे अपने को एक कहेंगे, तो मैं उन्हें दो बता कर पराजित

पूर्व ही प्रासुक होना उचित लगता है। कदाचित् लिपि करने में आगे-पीछे हो गया हो? पुष्पिका उपांग के तीसरे अध्ययन में भी यही विषय आया है। वहाँ ये प्रश्न सोमिल ने भ. पार्श्वनाथ स्वामी से किये थे। ये दोनों सोमिल पृथक् हैं।

कर दूंगा। वे 'दो' कहेंगे, तो मैं एक या अनेक आदि कह कर विजयी बन जाऊँगा। महर्षि थावच्चापुत्र अनगार बोले;--

"मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ, अनेक, अक्षय, अव्यय, अवस्थित तथा भूत भाव और भावी भी हूँ।"

—"यह कैसे हो सकता है कि आप एक भी हैं, दो भी हैं और अनेकादि भी हैं?"

--"देवानुप्रिय! जीव-द्रव्य की अपेक्षा मैं एक हूँ। उपयोग की अपेक्षा मैं दो हूँ—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग वाला हूँ। आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा मैं अनेक हूँ और अक्षय भी हूँ, अव्यय भी हूँ और अवस्थित भी हूँ। क्योंकि प्रदेशों का कभी सर्वथा क्षय नहीं होता और न कुछ प्रदेशों का व्यय होता है। समस्त प्रदेश अवस्थित हैं। उपयोग की भूत, भविष्य और वर्तमान पर्यायों की अपेक्षा मैं अनेक भूत भाव और भावी युक्त हूँ"--अनगार भगवंत ने परिव्राजक की प्रश्नावली का यथार्थ उत्तर प्रदान किया।

सहस्र परिव्राजकों की प्रव्रज्या

परिव्राजकाचार्य शुक का समाधान हो चुका। वे समझ गए कि इन अनगार-महर्षि की संयम-यात्रा और ज्ञान-गरिमा उत्तम है, निर्दोष हैं और अभिवन्दनीय है। मुझे सत्य का आदर करना चाहिये। उन्होंने अनगार महात्मा की वन्दना की, नमस्कार किया और निवेदन किया--"भगवन्! मुझे अपना धर्म सुनाइये। मैं आपके धर्म का स्वरूप समझना चाहता हूँ।"

अनगार भगवंत ने निर्ग्रंथ-धर्म का स्वरूप समझाया। धर्मोपदेश सुन कर शुकदेवजी हर्षित हुए। उन्होंने कहा--"भगवन्! मैं अपने एक सहस्र परिव्राजकों के साथ आपके समीप मुण्डित हो कर प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

"देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो"—अनगार भगवंत ने कहा।

शुकदेवजी अपने सहस्र परिव्राजकों के साथ ईशान-कोण की ओर गए और अपने परिव्राजक सम्बन्धी उपकरणों और वस्त्रों को एक ओर रख कर अपनी-अपनी शिखा का लुंचन किया और अनगार भगवंत के समीप आ कर प्रव्रज्या स्वीकार की। फिर ज्ञानादि की आराधना करने लगे। श्री शुक मुनिराज भी चौदह पूर्व के पाठी बन गये। इसके बाद थावच्चापुत्र मुनिराज ने उन्हें एक सहस्र शिष्य प्रदान किये। वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

थावच्चापुत्र अनगार की मुक्ति

धर्म की साधना करते हुए थावच्चापुत्र अनगार ने, अन्तिम आराधना का अवसर जान कर, अपने सहस्र शिष्यों के साथ पुंडरीक-गिरि पर चढ़े। उस एकांत-शांत स्थान पर पहुँच कर आप सभी ने पादपोपगमन किया और एक मास के संथारे के बाद सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

शैलक-राजर्षि की दीक्षा

निर्ग्रंथाचार्य श्री शुकदेवजी अपने शिष्यों के साथ शैलकपुर के उद्यान में पधारे। शैलक नरेश और प्रजाजन, अनगार-भगवन्तों की वन्दनार्थ आये। आचार्य भगवन्त का उपदेश सुन कर शैलक नरेश संसार से विरक्त हुए। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया—"भगवन्! मैं संसार त्याग कर श्रीचरणों में निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ। पहले मैं राज्य के पंथक आदि पाँच-सौ मन्त्रियों से पूछ कर, मंडुक कुमार को राज्य का भार दे दूँ, फिर आपश्री से निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

गुरुदेव ने कहा—"जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो। धर्म-साधना में विलम्ब नहीं करना चाहिये।"

शैलक-नरेश ने स्वस्थान आ कर अपने मन्त्रि-मण्डल से कहा—"देवानुप्रियो! अनगार भगवंत का उपदेश सुन कर मैं संसार से विरक्त हो गया हूँ। अब मैं आचार्य भगवंत के समीप दीक्षित हो कर अनगार-धर्म का पालन करना चाहता हूँ। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है?"

राज्य का मन्त्रि-मण्डल राजा का मित्र-मण्डल भी था। वे सभी स्नेह-ग्रन्थी से जुड़े हुए थे। न्याय-नीति और धर्मयुक्त उनका जीवन था। अर्थ एवं काम-लोलुपता उनमें नहीं थी। वे राज-काज में राजा के मार्ग-दर्शक थे। राजा उन मन्त्रियों की आँखों से देखता था—उनकी सुलझी हुई दृष्टियुक्त परामर्श का आदर करता हुआ राज्य का संचालन करता था। राजा का अभिप्राय सुन कर, पंथकजी प्रमुख है जिसमें—ऐसे पाँच-सौ मन्त्रियों ने विचार किया। संसार के दारुण दुःखों का भय तो उन्हें भी था ही। वे सभी राजा का अनुसरण करने के लिए तत्पर हो गए और एकमत से राजा से निवेदन किया—

"यदि आप संसार का त्याग कर के निर्ग्रंथ-धर्म की परिपूर्ण आराधना करना चाहते हैं, तो हम संसार में रह कर क्या करेंगे? हमारे लिये आधार ही कौन-सा रह जायगा?

किस के सहारे हम रहेंगे ? यह संसार तो हमारे लिये भी दुःखदायक है और हमें भी इसका त्याग कर के धर्म की आराधना करनी है। हम आपको नहीं छोड़ सकते। इसलिये हम सब आपके साथ निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे और जिस प्रकार हम संसार में आपके साथ रह कर मार्ग-दर्शन करते रहे, उसी प्रकार धर्माचरण में भी साथ रह कर आपके लिये चक्षुभूत होंगे।"

"देवानुप्रियो ! यदि तुम सभी अनगार-धर्म धारण करना चाहते हो, तो अपने-अपने घर जाओ और कुटुम्ब का भार ज्येष्ठ-पुत्र को प्रदान कर दो, फिर शिविकारूढ़ हो कर यहाँ आओ। अपन सब साथ ही प्रव्रजित होंगे"— राजा ने उन्हें विदा किया और युवराज मंडुक का राज्याभिषेक कर के राज्य पर स्थापन किया। राज्याधिकार प्राप्त होने पर भूतपूर्व शैलक नरेश ने अपने पुत्र वर्तमान नरेश से दीक्षा की अनुमति माँगी। मंडुक महाराज ने अपने पिता का अभिनिष्क्रमण उत्सव किया और शैलक नरेश तथा पंथकादि ५०० मन्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। शैलक मुनिराज ने ग्यारह अंगों का श्रुत-ज्ञान सीखा और संयम-तप से आत्मा को प्रभावित करते हुए विचरने लगे। आचार्यश्री शुकदेव महर्षि ने शैलक राजर्षि को पंथक आदि पाँच-सौ शिष्य प्रदान किये। आचार्य शुकदेवजी, ग्रामानुग्राम विचरते रहे और जब अपना अन्तिम समय निकट जाना, तो एक सहस्र शिष्यों के साथ पुण्डरीक पर्वत पर पधारे और अनशन कर के घातिकर्मों को नष्ट किया, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया यावत् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

शैलक-राजर्षि का शिथिलाचार

शैलक-राजर्षि संयम और तप की आराधना करते हुए विचर रहे थे। उनका शरीर सुकुमार था और सुखोपभोग में पला हुआ था। संयम-साधना करते हुए रूखे-सूखे, तुच्छ, रसविहीन, स्वादहीन, न्यूनाधिक, ठण्डा और अरुचिकर आहार मिलने तथा भूख के समय भोजन नहीं मिलने आदि से उनके शरीर में रोग उत्पन्न हो गए। चमड़ी शुष्क-रूक्ष बन गई। पित्तोत्पन्न दाहज्वर और खुजली से उग्र एवं असहनीय वेदना होने लगी। उनका शरीर सूख कर दुर्बल हो गया। वे विचरते हुए शैलकपुर के उद्यान में पधारे। परिषद् वन्दन करने आई। मंडुक राजा भी आया और वन्दन-नमस्कार कर पर्युपासना करने लगा। राजा ने राजर्षि का उग्र रोग और शुष्क शरीर देख कर निवेदन किया;—

"भगवन् ! मैं आपकी मर्यादा के अनुसार योग्य चिकित्सकों से औषध-भेषज से

चिकित्सा करवाऊँगा। आप मेरी यानशाला में पधारिये और निर्जीव एवं निर्दोष शय्या-संस्तारक ग्रहण कर के वहीं रहिये।"

राजर्षि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और दूसरे ही दिन, नगर में प्रवेश कर, राजा की यानशाला में जा कर रह गए। राजा ने चिकित्सकों को बुला कर कहा—"तुम महात्मा की निर्जीव एवं निर्दोष औषधादि से चिकित्सा करो।"

वैद्यों ने राजर्षि के रोग का निदान किया और उनकी मर्यादा के अनुकूल औषधी एवं भोजनादि तथा मद्यपान का परामर्श दिया। इस उपचार से शैलक अनगार का रोग शान्त हो गया। शनैः-शनैः उनमें शक्ति बढ़ने लगी। थोड़े ही दिनों में वे हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् हो गए। उनका रोग पूर्ण रूप से मिट गया।

रोग मिट जाने और शरीर सबल हो जाने पर भी उनका खान-पान वैसा ही चलता रहा। वे उत्तम भोजन-पान मुखवास और मद्यपान में अत्यन्त आसक्त हो गए। उन्होंने साधना भुला दी और शिथिलाचारी बन गए। उनमें कुशीलियापन आ गया। उनमें नियमानुसार जनपद-विहार करने की रुचि ही नहीं रही।

शैलकजी को पार्श्वस्थ, कुशीलिया और लुब्ध देख कर, एक दिन पंथक मुनि को छोड़ कर, शेष मुनियों ने रात्रि के समय एकत्रित हो कर विचार किया;—

"राजर्षि ने राज-पाट, भोग-विलास छोड़ कर संयम स्वीकार किया, किंतु अब वे खान-पानादि में गृद्ध हो कर सुखशील हो गये हैं। निर्ग्रंथाचार छोड़ कर पार्श्वस्थ अवसन्न एवं कुशील बन गए हैं। श्रमण-निर्ग्रंथों को प्रमाद में लीन रहना अकल्प्य—अनाचार है। किन्तु उनकी संयम में रुचि नहीं है। इसलिए पंथक मुनि को शैलक मुनि की वैयावृत्य के लिये छोड़ कर और शैलक अनगार से पूछ कर, अपन सब को जनपद-विहार करना उचित है।"

इस प्रकार विचार कर के उन्होंने शैलक राजर्षि को पूछा और पंथक मुनि को उनकी वैयावृत्य के लिए वहीं रख कर, शेष सभी मुनियों ने विहार कर दिया। शैलकजी का शिथिलाचार चलता रहा। पंथकजी की साधना भी चलती रही और शैलकजी की वैयावृत्य भी होती रही।

ग्रीष्मकाल ही नहीं, वर्षा के चार महीने भी बीत गए। कार्तिक चौमासी पूर्ण हो रही थी। शैलकजी ने उस दिन अच्छा स्वादिष्ट भोजन, पेट भर कर खाया और मद्यपान भी किया। फिर वे सायंकाल ही सो गए और सुखपूर्वक नींद लेने लगे।

शैलक-राजर्षि का प्रत्यावर्तन

पंथक मुनि ने दैवसिक प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग कर के चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने की इच्छा से शैलक-राजर्षि को वन्दना करने के लिए मस्तक झुका कर उनके चरण का स्पर्श किया। चरण-स्पर्श से शैलक-राजर्षि चौंके। उनकी नींद उचट गई। वे क्रोधित होते हुए उठे और दाँत पीसते हुए कड़क कर बोले; —"कौन है यह मृत्यु का इच्छुक ? क्यों जगाया मुझे ?"

पंथक अनगार ने शैलक-राजर्षि को क्रोधित देखा। वे डर गए। उन्हें दुःख हुआ। वे हाथ जोड़ कर नम्रतापूर्वक बोले; —

"भगवन् ! मैं पंथक हूँ। मैने कायोत्सर्ग कर के दैवसिक प्रतिक्रमण किया। अब चौमासिक प्रतिक्रमण करते हुए आपको वन्दना करने लगा। इससे आपके चरणों में मेरे मस्तक का स्पर्श हुआ और आपकी नींद खुल गई। सचमुच मैं आपका अपराधी हूँ। भगवन् ! मुझे क्षमा प्रदान करें। मैं फिर कभी ऐसा अपराध नहीं करूँगा। मैं आपसे बार-बार क्षमा चाहता हूँ।"

शैलक राजर्षि ने पंथक मुनि की बात सुनी, तो विचार में पड़ गए। वे सोचने लगे; —

"अहो ! मैं कितना पतित हो गया हूँ। राज्य-वैभव और भोग-विलास छोड़ कर मैं त्यागी-निर्ग्रंथ बना और मुक्ति साधने के लिए आराधना करने लगा। किन्तु मैं भटक गया, साधना से पतित हो कर विराधना करने लगा और फिर सुखशीलियापन में ही जीवन का अमूल्य समय नष्ट करने लगा। धिक्कार है मुझे।"

दूसरे दिन उन्होंने मण्डुक राजा से पूछ कर और पीठफलकादि दे कर विहार कर दिया। शैलक-राजर्षि को शिथिलाचारी और कुशीलिया जान कर जो ४९९ साधु पृथक् विहार कर गए थे, उन्होंने जब यह सुना कि शैलकजी शिथिलाचार छोड़ कर पुनः शुद्धाचारी हो गए हैं, तो उन सभी ने विचार किया और पुनः शैलक-राजर्षि के पास आ कर उनकी अधीनता में विचरने लगे। बहुत वर्षों तक संयम और तप की साधना करते हुए जब उन्होंने अपना आयु निकट जाना, तो वे सभी साधु थावच्चापुत्र अनगार के समान पाँच-सौ मुनियों के साथ पुण्डरीक पर्वत पर संथारा कर के सिद्ध हो गए।

टिप्पण—इस चरित्र से दो बातें विशेष स्पष्ट होती है। चौमासी प्रतिक्रमण मे पहले दिवस सम्बन्धी हो और उसके बाद चौमासी का। जब चौमासी के दो प्रतिक्रमण किये जाते थे, तो सम्वत्सरी के भी दो करना अपने-आप सिद्ध हो जाता है। यह चरित्र भ. अरिष्टनेमिजी के शासन-काल का है। उन ऋजु-प्राज्ञ साधकों के समय भी चातुर्मासिक (और साम्वत्सरिक) प्रतिक्रमण दो होते थे, तो वीर-

शासन में तो दो होना ही चाहिये। अतएव दो प्रतिक्रमण का पक्ष आगम-प्रमाणित है और यह शेष दो चौमासी में भी होना चाहिए।

(२) शैलक-राजर्षि कुशीलिये बन चुके थे। उनमें संयम-रुचि नहीं रही थी। वे संयम सम्बन्धी द्रव्य-क्रिया भी नहीं कर रहे थे और केवल वेश से साधु रहे थे। उनका कुशीलियापन देख कर ही ४९९ शिष्य उन्हें छोड़ कर चले गए थे। किन्तु उन ४९९ सन्तों ने पंथक मुनि को शैलकजी की वैयावृत्य के लिए उनके पास रखा था। पंथक मुनि संयम-प्रिय थे, शुद्धाचारी थे। वे अपने असंयमी गुरु की सेवा करते थे और वन्दन-नमस्कार भी करते थे। असंयमी को संयमी सन्त वन्दना करते थे। यह स्थिति विचारणीय है। कुशीलिये को वन्दनादि करना निषिद्ध है। कुशीलिये को वन्दनादि करने का प्रायश्चित्त आता है (निशीथ सूत्र उ. ४, ११, १३) किन्तु यह सामान्य स्थिति का विधान होगा। यदि असंयमी साधु रोगी हो, तो उसकी सेवा करने का विधान भी है। उसकी सेवा करने के पश्चात् यथायोग्य प्रायश्चित् लेना होता है (व्यवहार सूत्र २-७)।

शैलक-चरित्र का उपसंहार करते हुए आगमकार लिखते हैं कि--"एवामेव समणाउसो.......... शैलक राजर्षि के समान जो साधु-साध्वी कुशीलिया हो कर संयम की उपेक्षा करेंगे, वे बहुत-से साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका द्वारा निन्दित होंगे और अनन्त संसार परिभ्रमण करेंगे।"

शैलकजी की दशा उस समय चारित्रात्मा जैसी नहीं थी। वे स्वस्थ एवं सबल हो गए थे, तो भी नहीं सम्भले थे। दूसरी ओर जमाली को मिथ्यादृष्टि जान कर, रोगावस्था में ही उसके शिष्य छोड़ कर भ० महावीर के पास पहुँच गए थे। इस स्थिति में दो बातों का अन्तर दिखाई देता है। एक तो जमाली मिथ्यादृष्टि हो गया था और भगवान् का विरोधी भी। दूसरे उसके साथ उसके मत से सहमत ऐसे कुछ साधु रहे भी थे। इसलिये जो सन्त उसे छोड़ कर चले गए, उन्होंने उचित ही किया। यों मध्य के तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं, इसलिये उनकी समाचारी में थोड़ा अन्तर भी है। फिर भी इतना तो निश्चित्त-सा लगता है कि यदि कोई साधु कुशीलिया बन जाय और वह रोगी हो, तो साथ के सन्तों द्वारा उसका सहसा त्याग कर देना उचित नहीं है। उसकी सेवा करना आवश्यक है। जब वह ठीक हो जाय या आयुष्य पूर्ण कर जाय, तब यथायोग्य प्रायश्चित्त ले कर शुद्धि करे। यह इस वीरशासन की व्यवहार सूत्रोक्त रीति है।

श्री शैलकऋषि भव्य थे, सम्यग्दृष्टि थे। एक साधारण से निमित्त से उनकी सुसुप्त आत्मा जाग उठी। वे संभले और ऐसे संभले कि मुक्ति प्राप्त कर ली। उनकी आगे-पीछे की विरक्ति एवं संयम-रुचि तथा साधना अभिवन्दनीय है, किन्तु मध्य में आया हुआ कुशीलियापन हेय है।

शैलक-पंथक चरित्र गम्भीरतापूर्वक सोचने का है। व्यक्ति या पक्षगत रुचि से इसे नहीं देखना चाहिये और कुशीलियापन का बचाव या पुष्टि तो कदापि नहीं करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण ने तीर्थंकर नाम-कर्म बाँधा

श्रीकृष्ण ने जनता में धर्म-रुचि जगाई और हजारों भव्यात्माओं को निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या प्रदान कराई। उत्कृष्ट भावों से उन्होंने जिनेश्वर भगवंत और महात्माओं की पृथक् पृथक् विधिवत् वन्दना की। इससे उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। उनका सम्यग्दर्शन निर्मल एवं विशुद्ध था। वे आत्मार्थियों को यथायोग्य सहायता दे कर धर्म में लगाते रहे।

ढंढण मुनिवर का अन्तराय-कर्म

श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम 'ढंढण' था। वह भी अपनी रानियों के साथ भोगासक्त था। किन्तु भगवान् नेमीनाथ के उपदेश ने उसकी धर्मचेतना जाग्रत कर दी। वह भी दीक्षित हो गया और विधिपूर्वक संयम-तप का पालन करने लगा। वह सभी संतों के अनुकूल रहता और यथायोग्य सेवा करता। उसके अन्तराय-कर्म का उदय विशेष था। वह आहारादि के लिए गौचरी जाता, परन्तु उसे प्राप्ति नहीं होती। कोई-न-कोई बाधा खड़ी हो जाती और उन्हें खाली लौटना पड़ता और ऐसा योग बनता कि अन्य जो साधु उनके साथ जाते, उन्हें भी खाली-हाथ लौटना पड़ता। उनकी ऐसी स्थिति देख कर कुछ मुनियों ने भगवान् से पूछा;--

"प्रभो! ढंढण मुनिजी श्रीकृष्ण के पुत्र है। निर्ग्रंथ-धर्म का पालन कर रहे हैं। द्वारिकावासियों में न धर्म-प्रेम की कमी है, न औदार्य गुण की न्यूनता है और न दुष्काल है। फिर इन ढढण मुनि को आहारादि क्यों नहीं मिलता और इनके साथ जाने वाले साधु को भी खाली-पात्र क्यों लौटना पड़ता है? जब कि अन्य सभी मुनियों को यथेच्छ वस्तु प्राप्त होती है?"

भगवान् ने कहा;—

"ढंढण मुनि के अन्तराय-कर्म का विशेष उदय है। ये पूर्वभव में मगध देश के धान्यपूरक नगर के राजा के सेवक थे। 'पारासर' इनका नाम था। वे ग्राम्यजनों से राज्य के खेत जुतवाते और परिश्रम करवाते, किन्तु भोजन का समय होने पर और भोजन आने पर भी ये उन श्रमिकों को छुट्टी नहीं देते और उन्हें कहते—"तुम हल से खेत में एक-एक चक्कर और लगा कर हाँक दो, फिर छुट्टी होगी। भोजन कहीं भागा नहीं जा रहा है।"

वे भूखे-प्यासे श्रमिक और बैल, मन मार कर फिर काम खिचने लगते। इस

प्रकार उन्हें भोजन में वाधक वन कर इन्होंने अन्तराय-कर्म का वन्ध कर लिया। उसी के उदय से ये भिक्षा से वंचित रहते हैं।"

भगवान् का निर्णय सुन कर ढंढण मुनिजी, अपने कर्म को नष्ट करने में विशेष तत्पर हो गए। उन्होंने भगवान् के पास अभिग्रह लिया कि "आज से मैं अपनी ही लब्धि (प्रभाव) से प्राप्त आहार ग्रहण करूँगा। दूसरे की लब्धि से उपलब्ध आहार नहीं खाऊँगा।"

इस प्रकार अपने अभिग्रह का पालन करते और अलाभ-परीषह को जीतते हुए ढंढण मुनिराज शांतिपूर्वक विचरने लगे। एकवार श्रीकृष्ण ने भगवान् से पूछा;—

"भगवन्! इन सभी मुनियों में कठोर एवं दुष्कर साधना करने वाले संत कौन है ?"

भगवान् ने कहा--"यों तो संयम की कठोर साधना सभी संत करते हैं, किन्तु ढंढण मुनि सव में विशेष हैं। वे अलाभ-परीषह को शूर-वीरता के साथ शांतिपूर्वक सहन करते हैं।"

श्रीकृष्ण, भगवान् को वन्दन कर के लौट रहे थे। मार्ग में उन्हें भिक्षार्थ घूमते हुए ढंढण मुनि दिखाई दिये। वे तत्काल हाथी पर से नीचे उतरे और ढंढण मुनि की भक्तिपूर्वक वन्दना की और चले गए। श्रीकृष्ण ने जब मुनिजी को वन्दना की, तब एक श्रेष्ठी देख रहा था। उसे विचार हुआ कि--'ये महात्मा उत्तम कोटि के हैं, तभी महाराजाधिराज ने हाथी पर से नीचे उतर कर वन्दना की।' मुनिजी भिक्षार्थ घूमते हुए उसके घर आये, तो उसने आदरपूर्वक मोदक वहराया। मुनिजी भिक्षा ले कर भगवान् के पास आए और वन्दना कर के वोले--"भगवन्! आज मुझे भिक्षा मिल गई। तो क्या मेरा अन्तराय-कर्म नष्ट हो गया ?" भगवान् ने कहा--"तुम्हारा अन्तराय-कर्म अभी उदयगत है। तुम्हें यह भिक्षा, कृष्ण के प्रभाव से मिली है। उनको वन्दना करते देख कर श्रेष्ठी प्रभावित हुआ और तुम्हें मोदक वहराया।" भगवान् का निर्णय सुन कर ढंढण मुनि ने शांतिपूर्वक सोचा--"यह आहार मेरी लब्धि का नहीं है। मुझे इसे परठ देना चाहिए।" वे शुद्ध स्थंडिल-भूमि में गये और मोदक परठने लगे। भावना का वेग वढ़ा। पाप के कटु परिणाम का विचार करते वे शुक्लध्यान में प्रवेश कर गए। ध्यानाग्नि की तीव्रता में उनके घातीकर्म नष्ट हो गए। उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया और भगवान् को वन्दना कर के केवलियों की परिषद् में बैठ गए।

जरदकुमार और द्वैपायन का वन-गमन

एकबार श्रीकृष्ण ने भ. नेमिनाथजी से पूछा;--"भगवन् ! देवपुरी के समान इस द्वारिका का, यादव कुल का और मेरा विनाश किस प्रकार होगा ? मेरी आयु, विना किसी बाह्य निमित्त के पूरी होगी, या किसी के निमित्त से ?"

भगवान् ने कहा;--

"शौर्यपुर के वाहर एक आश्रम में 'परासर' नाम के एक तपस्वी रहते हैं। उनके 'द्वैपायन' नामका पुत्र है। वह ब्रह्मचारी है और इन्द्रिय-विषयों का दमन करने वाला है। वह यादवों के स्नेह के कारण द्वारिका के समीप ही रहता है। किसी समय शाम्ब आदि यादवकुमार, मदिरा के मद में अन्ध बन कर द्वैपायनऋषि को निर्दयता से मारेंगे। क्रोध से जाज्वल्यमान बना हुआ द्वैपायन, यादवों सहित द्वारिका को जला कर भस्म करने का संकल्प करेगा और आयु पूर्ण कर के देव होगा। वह देव, द्वारिका को जला कर भस्म कर देगा। और तुम अपने भाई 'जराकुमार' के वाण से आयु पूर्ण करोगे।"

उस सभा में अनेक यादव और जराकुमार भी उपस्थित थे। सव की कुदृष्टि जराकुमार पर पड़ी। जराकुमार भी अपने-आप को कुल-घातक और कुलांगार अनुभव करने लगा। उसने सोचा--"मैं यहाँ से निकल कर वन में वहुत दूर चला जाऊँ, जिससे यह अनिष्ट टल जाय और मैं वन्धु-घात के महापाप से वच जाऊँ।" उसने प्रभु को नमस्कार किया और धनुष-वाण ले कर वन में चला गया। द्वैपायनऋषि ने लोगों के मुँह से, भगवान् द्वारा वताये हुए भविष्य की वात जानी, तो वह भी चिन्ता में पड़ गया और अपने को द्वारिका-विनाश के पाप से वचाने के लिए आश्रम छोड़ कर दूर वन में चला गया।

श्रीकृष्ण ने नगर में ढिंढोरा पिटवा कर मदिरापान का सर्वथा निषेध करने की आज्ञा प्रसारित कर दी। यादवों और नागरिकों के पास जितनी मदिरा थी, वह सव ले जा कर कदम्व वन की कादम्वरी नामक पर्वत-गुफा के निकट वने हुए कुण्डों में डाल दी।

वलदेवजी का सारथी सिद्धार्थ, यादवों और द्वारिका का दुःखद भविष्य सुन कर संसार से विरक्त हो गया। उसने वलदेवजी से, दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। वलदेवजी ने कहा;--

"हे पवित्रात्मा ! हे वन्धु ! मेरे हृदय का मोह तुझे छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु मैं अपने मोह को तुम्हारे आत्मोत्थान में वाधक वनाना नहीं चाहता। यदि तुम एक वात का वचन दो, तो मैं आज्ञा दे सकता हूं। तुम संयम और तप की आराधना कर के मुक्ति

प्राप्त कर लो, तब तो ठीक है। परन्तु यदि देवगति प्राप्त करो, तो मुझे प्रतिबोध दे कर सन्मार्ग पर लगाने के लिये तुम्हें आना पड़ेगा। यदि- यह वचन दो, तो मेरी आज्ञा है।"

सिद्धार्थ ने वचन दिया और दीक्षित हो गया। फिर छह महीने तक घोर तप और शुद्ध संयम का पालन कर के आयु पूर्ण कर देव हुआ।

कुमारों का उपद्रव और ऋषि का निदान

शिलाकुण्डों में डाली हुई मदिरा, वहाँ के सुगन्धित पुष्पों तथा प्राकृतिक अनुकूलता पा कर विशेष सुगन्धित एवं मधुर बन गई। एक बार गरमी के दिनों में शाम्बकुमार का कोई सेवक उधर से निकला। उसे प्यास लग रही थी। वह उस मदिरा-कुण्ड के समीप आया और मद्यपान करने लगा। सुगन्धित और अत्यन्त मधुर स्वाद से आकर्षित हो कर उसने आकण्ठ पी और पास की चपक भर कर ले आया। वह मदिरा उसने शाम्बकुमार को पिलाई। कुमार उसके स्वाद पर मोहित हो गया। उसने सेवक से पूछा--"तू यह उत्तम मदिरा कहाँ से लाया ?" सेवक ने कादम्बरी गुफा के कुण्ड की बात कही। दूसरे दिन शाम्बकुमार, अपने बहुत-से बन्धु-बान्धवों को ले कर कादम्बरी गुफा के निकट आये और सब ने जी भर कर मदिरा पी। मद में मत्त बने हुए यादव-कुमार खेलते-कूदते और विविध प्रकार की क्रीड़ा करते हुए उस स्थान के समीप हो कर निकले, जहाँ द्वैपायन ऋषि ध्यान कर रहे थे। द्वैपायन को देखते ही राजकुमारों के हृदय में रोष उत्पन्न हुआ। शाम्ब ने कहा "यही दुष्ट देवपुरी के समान हमारी द्वारिका नगरी को नष्ट करने वाला है। इसे हम समाप्त ही कर दें। यह जीवित नहीं रहेगा, तो जलावेगा कैसे ?"

शाम्बकुमार के वचन सुनते ही सभी कुमार द्वैपायन को पीटने लगे। कोई लात-घूँसे मारने लगा, तो कोई धोल-धप्पा और कोई पत्थर मारने लगा। द्वैपायन के साहस की सीमा समाप्त हो गई। उसे गम्भीर चोटें लगी थी। उसका जीवन टिकना असम्भव हो गया था। भवितव्यता भी वैसी ही थी। घायल बने हुए द्वैपायन ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर निदान किया--"मेरी साधना के बल से मैं निश्चय करता हूँ कि इन दुष्टों सहित सारी द्वारिका को जला कर राख का ढेर करने वाला बनूं।"

कुमार-गोष्ठी, ऋषि को अधमरा कर के चली गई। श्रीकृष्ण को कुमारों के कुकृत्य की जानकारी हुई, तो वे अत्यन्त चिन्तित हुए और बलदेवजी के साथ द्वैपायन के पास आ कर विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना करने लगे। द्वैपायन ने कहा;--

"राजेन्द्र ! मेरा निश्चय अटल है। किन्तु मैं इतना संशोधन करता हूँ कि मेरे कोप से तुम दोनों भ्राता जीवित बच सकोगे। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकूँगा।"

भवितव्यता को अमिट जान कर श्रीकृष्ण और बलदेवजी स्वस्थान लौटे। दूसरे दिन श्रीकृष्ण ने नगर में ढिंढोरा पिटवा कर घोषणा करवाई कि—

"द्वारिका का विनाश अवश्य होगा। इसलिये सभी नागरिकजन धर्म-साधना में तत्पर बने।"

कुछ काल पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमिजी महाराज रैवताचल के उद्यान में पधारे। भगवान् के धर्मोपदेश से अनेक राजकुमार और रानियाँ आदि ने संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की। श्रीकृष्ण ने पूछा—"भगवन् ! द्वारिका का विनाश कब होगा ?" भगवान् ने कहा—"आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन का जीव द्वारिका का विनाश करेगा।"

द्वारिका, उसकी समृद्धि और अपनी प्रभुता का विनाश जान कर श्रीकृष्ण अत्यन्त चिंतित एवं उदास हो गए, तब प्रभु ने उनके तीसरे भव में, आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होने का भविष्य सुना कर उन्हें आश्वस्त किया, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंहनाद किया*। भगवान् ने श्री बलदेवजी के विषय में कहा—"ये संयम की साधना कर के ब्रह्म-देवलोक में ऋद्धिशाली देव होंगे और वहाँ से च्यव कर उस समय मनुष्य-भव प्राप्त करेंगे—जब तुम भी मनुष्य होओगे और तुम्हारे तीर्थ में ही ये संयम की साधना कर के मुक्ति प्राप्त करेंगे।

द्वारिका का विनाश

कुमारों द्वारा पड़ी हुई मार की असह्य पीड़ा से तड़पता, चिल्लाता और उग्रतम वैर भावयुक्त मर कर द्वैपायन भवनपति की अग्निकुमार देव-निकाय में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने के बाद उसने उस पूर्वबद्ध वैर का स्मरण किया और तत्काल द्वारिका पर मँडराने लगा। उसने देखा कि द्वारिका नगरी धर्म-भावना में रंगी हुई है और साधना-रत है। उपवास बेले-तेले आदि तपस्या हो रही है, धर्मस्थान सामायिक-पौषधादि साधना से उभर रहे हैं। आयम्बिल तप तो व्यापक रूप से हो रहे हैं। सारी द्वारिका धर्मपुरी बनी हुई है। उसने सोचा;—जब तक यहाँ धर्म की ज्योति जलती रहेगी, तब तक मेरा प्रकोप

* पृ. ६२६ पर इसका विशेष उल्लेख है।

सफल नहीं हो सकेगा। मेरी शक्ति वहीं काम देती है, जहाँ धर्म-बल घट कर पाप-बल बढ़ जाता है। देखें कहाँ तक बचे रहेंगे मुझसे--मेरे शत्रु। कभी-न-कभी तो वह दिन आएगा ही सही। इस द्वारिका का विनाश मैं नहीं कर दूं, तब तक मेरे हृदय में शांति नहीं हो सकती। मेरे हृदय में धधकती हुई प्रतिशोध की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। मैं अपना वैर ले कर ही रहूँगा।"

धर्म के प्रभाव से विपत्ति टलती रही। इस प्रकार ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए। जब अशुभ कर्मों का उदय होता है, तो मनुष्यों की मनोवृत्ति पलट जाती है और वैसे निमित्त भी मिल जाते हैं। जनता के मन में शिथिलता आई और तर्क उत्पन्न हुआ--"अब द्वैपायन शक्तिशाली देव नहीं रहा। हमारी धर्म-साधना ने उसकी आसुरी शक्ति नष्ट कर दी। इन ग्यारह वर्षों की साधना से वह हताश हो कर चला गया है। अब भय एवं आशंका की कोई बात नहीं रही। अब हम निर्भय हो कर पूर्ववत् सुखोपभोग कर सकते हैं।"

इस प्रकार की भावना ने धर्म-साधना छुड़वा दी और जनता भोगविलास में गृद्ध हो गई। मद्य-पान, अभक्ष्य-भक्षण और स्वच्छन्द भोगविलास से द्वारिका पर छाई हुई धर्म-रक्षण की ढाल हट गई और द्वारिका अरक्षित हो गई। द्वैपायन ऐसे अवसर की ताक में ही था। उसने यह भी नहीं सोचा कि मेरे अपराधी एवं शत्रु तो कुछ राजकुमार ही थे, सारी द्वारिका नहीं, और उन राजकुमारों में से भी अनेक त्यागी बन कर चले गये हैं। उनका बदला मैं द्वारिका के नागरिकों से कैसे लूँ? उसके हृदय में तो द्वारिका का विनाश करने की धुन--एक लगन लगी हुई थी। उसने अपनी पूरी शक्ति प्रतिशोध लेने में लगा दी।

अचानक ही द्वारिका पर विविध प्रकार के उत्पात होने लगे। आकाश से उल्का-पात (अंगारों का गिरना) होने लगा, पृथ्वी कम्पायमान हुई। ग्रहों में से धूमकेतू से भी बढ़ कर धूम्र निकल कर व्याप्त होने लगा, अग्नि-वर्षा होने लगी, सूर्य-मण्डल में छिद्र दिखाई देने लगा, सूर्य-चन्द्र के अकस्मात ग्रहण होने लगे। भवनों में रही हुई लेप्यमय पुतलियें अट्टहास करने लगी, देवों के चित्र भृकुटी चढ़ा कर हँसने लगे और नगरी में हिंसक पशु विचरने लगे। इस समय द्वैपायन देव अनेक शाकिनी भूत और वेताल आदि के साथ नगरी में घूमता हुआ लोगों को काल के समान दिखाई देने लगा। भीत-चकित लोगों के सामने अनेक प्रकार के अनिष्ट-सूचक चिन्ह एवं अपशकुन प्रकट होने लगे। जब पुण्य क्षिण होते हैं और अनिष्ट की लहर चलती है, तो सभी उत्तम वस्तुएँ नष्ट हो जाती है, अथवा अन्यत्र चली जाती है। हरी और हलधर के चक्र, हल आदि शस्त्र-रत्न भी नष्ट हो गए।

देव-निर्मित्त द्वारिका देव-प्रकोप से जल कर नष्ट होने लगी। उसके रत्नों के कंगूरे और स्वर्ण के गवाक्षादि राख के ढेर होने लगे। मनुष्यों में हा-हाकार मच गया। सभी जल कर मरने लगे। सारी नगरी जीवित मनुष्यों और पशुओं की श्मशान भूमि बन गई। चारों ओर अग्नि की आकाश छुने वाली प्रचण्ड ज्वालाएँ ही दिखाई देने लगी। अपने प्राण बचाने के लिए यदि कोई भागने का प्रयत्न करता, तो वह क्रूर देव उसे वहीं स्तंभित कर देता, इतना ही नहीं बाहर रहे हुए को भीतर पहुँचा कर नष्ट करता। देव ने महा भयंकर संवर्तक वायु की विकुवर्णा की और घासफूस और काष्ठ को उड़ा कर आग की लपटों में गिराने लगा और अग्नि को अधिकाधिक उग्र करने लगा।

श्रीकृष्ण और बलदेवजी इस भयंकर विनाश-लीला को देख रहे थे। पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की करुण चित्कार एवं हृदयद्रावक पुकार, उनका हृदय मथित कर रही थी, परन्तु वे निरुपाय थे। उन्होंने उधर से ध्यान हटा कर माता-पिता को बचाने का निश्चय किया। एक रथ में वसुदेवजी, माता देवकी और रोहिणी को बिठा कर रथ को चलाने लगे, किन्तु घोड़े पाँव भी नहीं उठा सके। क्रुद्ध देव ने उन्हें स्तंभित कर दिया था। श्रीकृष्ण ने घोड़े को खोल दिया और दोनों बन्धु रथ खींच कर चलने लगे। रथ को एक विशाल द्वार के निकट लाये कि द्वार अपने-आप बन्द हो गया। बलदेवजी ने द्वार के लात मारी, तो वह टूट कर गिर गया। दोनों भाई रथ खींच कर आगे बढ़ने लगे, तो द्वैपायन देव बोला;--

"महानुभाव! मैने आप को कहा था कि आप दोनों बन्धुओं के सिवाय और कोई भी द्वारिका से जीवित नहीं निकल सकेगा। फिर आप व्यर्थ ही मोह में फँस कर इन्हें निकालने की चेष्टा कर रहे हैं। आपको सोचना चाहिए कि मैंने अपने जीवनभर की तपस्या दाँव पर लगा दी थी। अब मैं अपने निदान को व्यर्थ नहीं जाने दूँगा।"

द्वैपायन की बात सुन कर श्रीवसुदेवजी और दोनों रानियाँ बोली--"पुत्रों! अब तुम हमें यहीं छोड़ दो और शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ। तुम जीते रहोगे, तो सारे यादव जीवित समझेंगे। जहाँ तुम होगे, वहीं द्वारिका होगी। हमारा मोह छोड़ दो। हमने भूल की जो उस समय भ. नेमीनाथजी के पास दीक्षित नहीं हुए। धन्य है वे भव्यात्माएँ, जिन्होंने प्रभु के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर संसार की माया-जाल से मुक्त हुए। अब हम भी अठारह पाप का त्याग करते हैं और प्रभु का शरण ग्रहण करते हैं। "**अरिहंता सरणं पवज्जामि सिद्धारसणं पवज्जामि**.........वे स्मरण करने लगे और उन पर द्वार गिर पड़ा। वे वहीं काल कर के देवगति में गये। हरि-हलधर नगरी के बाहर निकल कर, एक जीर्ण उद्यान में खड़े हो, द्वारिका का विनाश देखने लगे

हरि-हलधर पाण्डव-मथुरा की ओर

अमरापुरी के समान द्वारिका नगरी, उसका वैभव और समस्त स्वजन-परिजन का सम्पूर्ण विनाश देख कर श्रीकृष्ण विचलित हो गए। उनसे यह सर्वस्व नाश देखा नहीं गया। भवितव्यता के आगे वे विवश रहे। उन्होंने बलदेवजी से कहा;—

"बन्धुवर! अब क्या करें? किधर चलें? इस अशुभ घड़ी में अपना कौन है? जो आज तक हमारे सेवक रहे, वे इस अवस्था में हमें आश्रय नहीं दे सकेंगे। उनमें शत्रुता का उदय होना स्वाभाविक है। फिर अपन कहाँ जावें?"

"बन्धु! इस समय अपने आत्मीय हैं, तो केवल पाण्डव ही। हमें उन्हीं के पास चलना चाहिये।"

"नहीं, आर्य! मैंने उन्हें देश-निकाला दे कर दूर कर दिया था। भला, वे हमारे आश्रयदाता कैसे हो सकते हैं? और अपन उनके पास कैसे जा सकते हैं?"

"उन पर हमारे बहुत उपकार हुए हैं और वे सत्पुरुष हैं। सत्पुरुष तो अपकारी पर भी उपकार करते हैं। वे अपने पर हुए अपकार को नहीं देखते। हमारे द्वारा अनेक बार उपकृत हुए पाण्डव हमारा आदर-सत्कार ही करेंगे। हमें उन्हीं के पास पहुँचना चाहिये।"

दोनों बन्धु पाण्डव-मथुरा के लिए नैऋत्य दिशा में चलने लगे।

द्वारिका-दाह के समय बलदेवजी के पुत्र कुब्जवारक ने भगवान् का स्मरण कर, प्रव्रजित होने की उत्कष्ट भावना की। वह चरम-शरीरी था। निकट रहे जृंभक देव ने उसे उठा कर भगवान् नेमीनाथ के समीप रख दिया। उस समय भगवान्, पाण्डवों के राज्य में विचर रहे थे। उसने भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण की। द्वारिका में श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी थीं। उन्होंने अनशन कर के भगवान् का स्मरण करती हुई दिवंगत हुई। छह महीने तक द्वारिका जलती रही।

अन्तिम युद्ध में भी विजय

कृष्ण-बलदेव चलते-चलते-हस्तिकल्प नगर के निकट आये। कृष्ण को जोर से भूख लगी थी। उन्होंने ज्येष्ठ-बन्धु बलदेव से कहा, तो बलदेवजी बोले—"तुम इस वृक्ष के नीचे बैठो। मैं नगर में जा कर भोजन लाता हूँ। सावधान रहना। यदि नगर में मुझ पर कुछ संकट आया, तो मैं सिंहनाद करूँगा। उसे सुन कर तुम मेरी सहायतार्थ चले आना।" बलदेवजी नगर में पहुँचे। उन्हें देख कर लोग आश्चर्य करने लगे कि—"अहो! यह

अनुपम देवपुरुष कौन है ?" किसी ने उन्हें पहिचान लिया और बोला—"अरे ! ये तो बलदेवजी हैं। द्वारिका-दाह से निकल कर इधर आये हैं।" यह बात राजा तक गई। युद्ध के विनाश से बचा हुआ धृतराष्ट्र का एकमात्र पुत्र अच्छदंत वहाँ का राजा था। वह कृष्ण-बलदेव पर उग्र वैर रखता था। वह सेना ले कर बलदेवजी को मारने निकला।

बलदेवजी ने अपनी अंगुली में से बहुमूल्य अंगुठी निकाल कर हलवाई को दी और विविध प्रकार का भोजन लिया। भोजन ले कर वे नगर के बाहर जा रहे थे कि सैनिकों ने नगर के द्वार बन्द कर दिये और उन पर धावा कर दिया। बलदेवजी ने भोजन सामग्री एक ओर रख दी और हाथी बाँधने का थंभा उखाड़ कर और सिंहनाद करते हुए शत्रु-सेना का संहार करने लगे। सिंहनाद सुन कर कृष्ण भी तत्काल दौड़े आए और पाद-प्रहार से नगर का बन्द द्वार तोड़ कर नगर में घुसे और द्वार की अर्गला उठा कर शत्रुओं का संहार करने लगे। थोड़ी देर में अच्छदंत राजा, हार कर बन्दी बन गया। श्रीकृष्ण ने कहा—"मूर्ख ! वैभव नष्ट हो गया, तो क्या हमारा बल भी मारा गया ? क्या समझ कर तूने धृष्टता की ? हम इस बार तुझे छोड़ते हैं। जा और न्याय-नीति से अपना राज्य चला।"

दोनों बन्धु नगर के बाहर निकले और भोजन करके आगे चलने लगे।

भाई के बाण से श्रीकृष्ण का अवसान

हस्तिकल्प से चलते हुए दोनों बन्धु कौशांबी वन में आये। शोक, थाक, श्रम और विपत्ति के कारण क्लांत बने हुए श्रीकृष्ण को तीव्र प्यास लगी। उन्होंने बलदेवजी से कहा—"मुझे प्यास लगी है और असह्य हो रही है। जी घबरा रहा है, तालु सूख रहा है और आगे चलने में असमर्थ हो रहा हूँ।"

"तुम इस वृक्ष की छाया में बैठो। मैं पानी लेने जाता हूँ, शीघ्र ही लौटूंगा"—कह कर श्रीबलदेवजी चल दिये। उधर श्रीकृष्ण वृक्ष तले लेट गए और अपने एक खड़े पाँव के घुटने पर दूसरा पाँव रख दिया। उन्होंने पिताम्बर ओढ़ा हुआ था। भवितव्यता वश जराकुमार, मृगया के उद्देश्य से उसी वन में भटक रहे थे। उन्होंने दूर से पिताम्बर ओढ़े श्रीकृष्ण को देखा, तो मृग होने का भ्रम हो गया। ऊपर उठे हुए पांव को उन्होंने मृग का मुंह समझा और पिताम्बर के रंग ने मृग होने का भ्रम उत्पन्न किया। उसने लक्ष्य बांध कर बाण ठोक-मारा। वह बाण श्रीकृष्ण के पांव में घुस गया। बाण लगते ही वे उठ गए

और गरजे; —"यह कौन दुष्ट है, जिसने मुझ सोये हुए पर प्रहार किया ? ऐ नीतिहीन कायर ! जरा सामने तो आ । मैं भी देखूं कि तू कौन है और किस वैर का वदला लिया है ? मैंने तो आज तक किसी निरस्त्र या असावधान पर प्रहार नहीं किया था । बोल तू कौन है ?"

मृगया के लिए झाड़ी में छुपा जराकुमार चौंका । वह बारह वर्ष से वन में भटक रहा था । उसके बाल बढ़ कर जटाजूट हो गए थे । दाढ़ी बढ़ी हुई थी । वस्त्र के स्थान पर व्याघ्रचर्म पहिना हुआ था । वह धनुष-बाण लिये हुए भटकता रहता था । वह वन के फल-मूल और पशुओं का मांस भक्षण कर के जीवन बिता रहा था । उसने श्रीकृष्ण की बात सुन कर कहा; —

"मैं हरिवंश रूपी समुद्र में, चन्द्रमा के समान प्रकाशित, दसवें दशार्ह श्रीवसुदेवजी का पुत्र और रानी श्री जरादेवी का आत्मज जराकुमार हूँ । मैं श्रीकृष्ण-बलदेव का बन्धु हूँ । भगवान् नेमीनाथजी की भविष्यवाणी से मेरे द्वारा बन्धु-वध होने की सम्भावना जान कर, मैं उसी दिन से बनवासी हुआ हूँ । आप कौन हैं ?"

"अरे भाई ! तू मेरे पास आ । शीघ्र आ । मैं तेरा अनुज कृष्ण हूँ, जिसके हित के लिये तू वनवासी हुआ है । हे बन्धु ! तेरा बारह वर्ष का बनवास व्यर्थ गया । आ, आ, मेरे पास आ"— श्रीकृष्ण बोले ।

भ्राता के वचन सुन कर जराकुमार उनके निकट आया और अपने भाई कृष्ण को देख कर मूच्छित हो गया । मूर्च्छा हटने पर विलाप करता हुआ बोला; —

"अरे भाई ! तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ? तुम एकाकी क्यों हो ? क्या द्वारिका जल गई ? यादवकुल का नाश हो गया ? तुम्हारी यह दशा देख कर लगता है कि भगवान् नेमीनाथजी की भविष्यवाणी पूर्ण सफल हो गई है ।"

कृष्ण ने द्वारिका-दहन आदि सभी वृत्तांत सुनाया, तो जराकुमार रोता हुआ बोला; —

"भाई ! तुम्हारी रक्षा के लिये ही मैंने बनवास लिया था, किन्तु मुझ बन्धु-घातक से तुम्हारी रक्षा नहीं हो सकी । मैं तुम्हारा हत्यारा बना । हे पृथ्वी ! तू मुझे अपने में समा ले । भ्रातृ-हत्या कर के अब मैं संसार में जीवित रहना नहीं चाहता ।"

कृष्ण ने कहा—"बन्धु ! शोक एवं पश्चात्ताप क्यों करते हो ? क्या भवितव्यता का उल्लंघन किसी से हो सकता है ? तुम्हें किसी भी प्रकार जीवित रहना है । यादव-कुल में एक तुम ही जीवित रहे हो, इसलिये वनवास त्याग कर गृहस्थ बनो । यह मेरी कौस्तुभ-

मणि ले जाओ और पाण्डवों को दे कर सारा वृत्तांत सुना देना। वे तुम्हारी सहायता करेंगे। अब तुम शीघ्र ही उल्टे पांव लौट जाओ, बलदाऊ जल ले कर आने ही वाले हैं। यदि उन्होंने तुम्हें देख लिया, तो जीवित नहीं छोड़ेंगे। जाओ हटो यहां से। मेरी ओर से सभी पाण्डवों और परिवार से क्षमा याचना करना।"

कृष्ण के अत्याग्रह ने जराकुमार को विवश कर दिया। वह उनके चरणों में से बाण खींच कर और कौस्तुभ-रत्न ले कर चल दिया।

जराकुमार के जाने के बाद कृष्ण ने अरिहंत, सिद्ध, भगवान् नेमीनाथ आदि को नमस्कार कर भूमि पर सो गये और उन त्यागियों का स्मरण करने लगे, जिन्होंने राजसी भोग छोड़ कर प्रव्रज्या स्वीकार की। इस प्रकार धर्मभावना करते शरीर में तीव्रतम वेदना उठी और भावना में परिवर्तन आया। दुष्ट द्वैपायन पर उनके हृदय में रौद्र परिणाम आया—"यदि वह दुष्ट मेरे सामने आ जाय, तो मैं अभी भी उसको उसकी करणी का फल चखा दूं। मेरे कोप से उसे कोई नहीं बचा सकता। मैंने जीवनभर किसी से हार नहीं खाई। वह नीच मेरी द्वारिका और सारे नगरवासियों को, मेरे देखते नष्ट कर दे। ओ अधम! आ, मेरे सामने आ.......आदि। रौद्रध्यान में देह त्याग कर वालुकाप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न हुए।

श्रीकृष्ण ने कुमारपने १६ वर्ष, मांडलिक राजापने ५६ वर्ष, त्रिखण्ड के स्वामीपने ९२८ वर्ष, यों कुल एक हजार वर्ष का आयु भोगा।

बलदेवजी का भ्रातृ-मोह

श्री बलदेवजी पानी लेने गये थे। बड़ी कठिनाई से उन्हें पानी मिला। उनके मन में उदासी छाई हुई थी। वे कमल के पत्र-पुट में पानी ले कर लौटने लगे, तो उन्हें अपशकुन होने लगे। वे शंका-कुशंकायुक्त डगमगाते हुए पानी ले कर भाई के पास पहुँचे। उन्होंने देखा—कृष्ण सो रहे हैं। कुछ देर वे उनके जागने की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उनका धीरज छूट गया। उन्होंने पुकारा--"बन्धु! जागो। मैं पानी ले आया हूँ।" दो-तीन बार पुकारने पर भी जब कृष्ण नहीं बोले, तो उन्होंने उनका ओढ़ा हुआ पिताम्बर खींचा। जब उन्होंने भाई को संज्ञाशून्य और घायल देखा, तो हृदय में धसका लगा। वे मूर्च्छित हो कर, कटी हुई लता के समान, भूमि पर गिर पड़े। मूर्च्छा दूर होने पर वे दहाड़े—"कौन है वह कापुरुष! जिसने सोये हुए मेरे वीर-बन्धु को बाण मार कर घायल किया। वह कोई नीतिमान् वीर-पुरुष नहीं हो सकता। वीर पुरुष असावधान,

सुप्त, बालक और स्त्री पर प्रहार नहीं करता। वह पामर लुक-छिप कर वार करने वाला, नीतिविहीन, दुष्ट, अब कहाँ जा कर लुप्त हो गया है। मेरे सामने आवे, तो उसे इसी समय यमधाम पहुँचा दूँ।"

बलदेवजी की सिंह-गर्जना सुन कर वन के सिंह और व्याघ्र जैसे क्रूर एवं हिंस्र-पशु भी भयभीत हो कर भाग गये। सामान्य पशु-पक्षी दहल उठे और पर्वत भी कंपायमान हो गए, परन्तु घातक का पता नहीं लग सका। वे वन में शत्रु की खोज करते थक गये और अन्त में भाई के शव के निकट आ कर उन्हें आलिंगन-बद्ध कर विलाप करने लगे;—

"हे भ्राता! तुम बोलते क्यों नहीं? बताओ, वह कौन दुष्ट है जिसने तुम्हें बाण मार कर घायल किया? मैं उसे जीवित नहीं रहने दूँगा।"

"हे बन्धु! क्या तुम मुझ से रुष्ट हो गये हो? हाँ, मुझे पानी लाने में विलम्ब तो हुआ, परन्तु मैंने जान-बूझ कर विलम्ब नहीं किया। तुम रुष्ट मत होओ। उठो और प्रसन्न हो जाओ।"

--"हे वीर! मैंने तुम्हें बालकपन में अपनी गोदी में उठा कर खिलाया। तुम छोटे होते हुए भी गुणों में मुझसे बहुत बड़े हो। अब रोष त्याग कर प्रसन्न हो जाओ।"

"हे विश्वोत्तम पुरुष-श्रेष्ठ! तुम तो उत्तम पुरुष हो। तुम मुझे कहते रहते थे कि--"दाऊ! मैं आपके बिना रह नहीं सकता, न आपसे कभी रुष्ट हो सकता हूँ और न कभी आपके वचन का उल्लंघन करूँगा, फिर आज मुझसे अबोला क्यों लिया? रूठ कर क्यों सो रहे हो? कहाँ गई तुम्हारी वह प्रीति?"

"हे पुरुषोत्तम? तुमने नीति का उल्लंघन कभी नहीं किया, तो आज क्यों कर रहे हो? यह सूर्यास्त का समय महापुरुषों के सोने का नहीं है। उठो, अब विलम्ब मत करो।"

इस प्रकार प्रलाप करते बलदेवजी ने सारी रात व्यतीत कर दी। प्रातःकाल होने पर भी जब कृष्ण नहीं उठे, तो बलदेवजी ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठा कर कन्धे पर लाद लिया और वन में भटकने लगे। सुगन्धित पुष्प देख कर, उन पुष्पों से वे भाई का मस्तक और वक्षस्थल आदि सजाते और फिर उठा कर चल देते। पर्वत, नदी, तलहटी और उबड़-खाबड़ भूमि पर, भाई को स्नेहपूर्वक कन्धे पर लाद कर वे भटकने लगे। इस प्रकार भटकते हुए कितना ही काल व्यतीत हो गया ‡।

‡ त्रि. श. पु. च. में छह मास व्यतीत होना लिखा है।

देव द्वारा मोह-भंग

वह सिद्धार्थ बन्धु, जो बलदेवजी का सारथि था और प्रव्रजित हो कर संयम साधना कर के देवगति पाई थी, उसे अपने वचन का स्मरण हुआ †। उसने अवधिज्ञान से बलदेवजी की यह दशा देखी, तो स्वर्ग से चल कर आया। उसने एक पत्थर का रथ बनाया और बलदेवजी के देखते पर्वत पर से रथ को उतारा। वह रथ विषम पर्वत पर से उतर कर समतल भूमि पर आते ही टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अब वह कृषक रूपी देव, रथ को सांधने का प्रयत्न करने लगा। बलदेवजी ने निकट आ कर कहा--

"मूर्ख ! विषम-पथ में नहीं टूट कर समभूमि पर टूटा हुआ तेरा पत्थर का रथ भी अब जुड़ सकता है क्या ? व्यर्थ का प्रयास क्यों कर रहा है ?"

"महानुभाव ! मैं मूर्ख कैसे हुआ ? यदि सैकड़ो युद्धों में अप्रतिहत रहे आपके बन्धु, बिना युद्ध के ही गत-प्राण हो सकते हैं और वे पुनः जीवित भी हो सकते हैं, तो मेरा रथ यथापूर्व क्यों नहीं हो सकता"--देव ने कहा।

"तू महामूर्ख है। कौन कहता है कि मेरा भाई मर गया ? ये तो प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हैं"--रोषपूर्वक कह कर बलदेवजी आगे बढ़ गए।

देव आगे पहुँचा और माली का रूप बना कर, पत्थर पर कमल का पौधा लगाने का प्रयत्न करने लगा। बलदेवजी ने देखा और बोले--"तुम्हारी समझ में इतना भी नहीं आता कि पत्थर पर भी कहीं कमल लगेगा ?"

"यदि मृत कृष्ण जीवित हो सकते हैं, तो पत्थर पर भी कमल खिल सकते हैं" —देव ने कहा।

बलदेवजी ने आँखें चढ़ा कर कहा--"तुम झूठे हो।" वे आगे बढ़ गए। आगे चल कर देव एक वृक्ष के जले हुए ठूंठ को पानी से सिंचने लगा।

"ऐ गँवार ! कहीं शुष्क ठूंठ भी सिंचने से हरा-भरा हो सकता है"--बलदेवजी ने टोका।

--"आपके मृत-बन्धु जीवित हो सकते हैं, तो यह जला हुआ ठूंठ भी हरा हो सकता है।"

रोषपूर्वक दृष्टि से उसे देख कर बलदेवजी आगे बढ़े। देव, ग्वाले के रूप में आगे बढ़ कर एक मरी हुई गाय के मुँह में हरी घास भरने लगा और पानी डालने लगा। यह देख कर बलदेवजी बोले;—

"अरे ग्वाले ! ढोर चराते-चराते तेरी बुद्धि भी ढोर जैसी हो गई है ? अरे मरी हुई गाय भी कहीं घास खाती है, पानी पीती है ?"

---

† पृष्ठ ६४७।

--"महाराज ! यदि आपके मरे हुए बन्धु पुनः जीवित हो सकते हैं, तो मेरी गाय घास क्यों नहीं खा सकती है ?"

देव ने इस प्रकार के और भी प्रयत्न किये, तब बलदेवजी के मन में विचार हुआ -- "क्या ये सब लोग मूर्ख हैं, या मैं स्वयं भ्रम में हूँ ? क्या सचमुच कृष्ण मुझे छोड़ कर चले गए और यह उनका निर्जीव शरीर ही है ?"

अवधिज्ञान से बलभद्रजी को चिन्तन करते देख कर देव प्रसन्न हुआ । उपयुक्त अवसर आ गया था । वह अपने देव रूप से प्रकट हो कर बोला;--

"महाराज ! मैं आपका बन्धु एवं सारथि सिद्धार्थ हूँ । आपने मुझ-से वचन लेने के बाद दीक्षा की अनुज्ञा दी थी । मैं भगवान् अरिष्टनेमी के पास संयम पाल कर देव हुआ और द्वारिका-दाह तथा आपकी यह दशा जान कर यहाँ आया हूँ । आप मोह त्याग कर विचार कीजिये । भगवान् नेमीनाथजी ने क्या कहा था ? द्वारिका-दाह और जराकुमार के निमित्त से कृष्ण के देहावसान की भविष्य-वाणी भूल गये आप ? कृष्ण ने जराकुमार को अपना कौस्तुभमणि दे कर, पाण्डवों के पास भेजा और बाद में देह त्याग दिया । अब आप भ्रम छोड़ कर सावधान बनें ।"

"बन्धु सिद्धार्थ ! तुम मेरे हितैषी हो । तुमने मुझे मोह-नींद से जगाया । कहो, अब मुझे क्या करना चाहिए ?"

"महाराज ! बन्धु के शव का संस्कार कर के भगवान् अरिष्टनेमीजी के समीप निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार कर, जन्म-मरण की जड़ काटने का अन्तिम पुरुषार्थ कीजिये । एक-मात्र यही आपके लिये करणीय है ।"

बलदेवजी ने समुद्र-सिन्धु संगम के स्थान पर विरक्त भाव से बन्धु के शव का अग्नि-संस्कार किया और मोक्ष-साधना की भावना करने लगे । बलदेवजी की भावना जान कर भगवान् अरिष्टनेमीजी ने एक चारणमुनि को बलदेवजी के निकट भेजा । बलदेवजी ने मुनिराज से प्रव्रज्या स्वीकार की । कुछ काल गुरु के साथ रह कर बाद में एकाकी साधना करने लगे । सिद्धार्थ देव उनका रक्षक बन कर रहा ।

बलदेवजी सुथार और मृग का स्वर्गवास

तपस्वी मुनिराज श्रीबलदेवजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर में गये । वे पनघट की ओर हो कर जा रहे थे । पनिहारियों में एक स्त्री अपने बालक को ले कर आई थी ।

उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उनके अतिशय रूप पर मोहित हो कर वह एकटक उन्हीं को देखती रही और उसके हाथ, काम करते रहे। उसे यह भी भान नहीं रहा कि वह घड़े को छोड़ कर, अपने बालक के गले में रस्सी बांध कर, कूएँ में उतार रही है। बच्चे के चिल्लाने और निकट खड़ी दूसरी स्त्री के कहने पर वह संभली। मुनिराज ने जब यह देखा, तो सोचा कि तपस्या करते और बिना शरीर-परिस्कार करने पर भी मेरा रूप दूसरों को मोहित कर के अनर्थ करवा रहा है, तो मुझे अब नगर में आना ही नहीं चाहिये और वन में ही रह कर, काष्ठादि के लिये वन में आने वाले वनोपजीवी लोगों से पारणे के दिन निर्दोष भिक्षा लेनी चाहिये। वे लौट कर तुंगिकगिरी पर आये और संयम-तप की आराधना करने लगे। वनजीवी लोगों ने एक तेजस्वी मुनिराज को ध्यान-मग्न देखा, तो चकित रह गए। उन्होंने नगर में जा कर बात की और यह बात राजा तक पहुँची। राजा ने पता लगाया। उसे सन्देह हुआ कि मेरा राज्य लेने के लिये ही यह कठोर साधना और मन्त्र सिद्ध कर रहा है। इसे तत्काल मार डालना चहिये, जिससे मेरा राज्य सुरक्षित रहे। राजा सेना ले कर मुनिराज को मारने के लिये पर्वत पर आया। सिद्धार्थ देव, मुनिराज का रक्षण कर रहा था। उसने राजा को सेना सहित आते देख कर, वैक्रिय-शक्ति से विकराल एवं भयंकर रूप वाले अनेक सिंह प्रकट किये और उनसे सेना पर आक्रमण करवाया। सेना भाग खड़ी हुई। उसके शस्त्र किसी काम में नहीं आये। अन्त में राजा ने मुनि को वन्दना की और लौट आया। मुनिराज शान्तिपूर्वक आराधना करने लगे। उनके प्रभाव से वन के सिंह-व्याघ्रादि प्राणी भी आकर्षित हुए और शान्ति से रहने लगे। कुछ पशुओं पर तो इतना प्रभाव हुआ कि वे भी धर्मभावना से युक्त हो कर शान्त जीवन व्यतीत करने लगे। कोई-कोई तो उपवासादि भी करने लगे और मुनिराज के समीप ही रहने लगे। इनमें एक मृग ऐसा था कि जिसे क्षयोपशम बढ़ने पर जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। वह संवेगयुक्त मुनिराज के निकट रह कर अपने योग्य साधना करने लगा। वह वन में काष्ठादि के लिये आये हुए लोगों में फिरता और जहाँ आहार-पानी का योग होता, वहाँ तपस्वी सन्त के आगे-आगे चलता हुआ ले जाता। इस प्रकार वह मुनिराज-श्री के आहार प्राप्ति में सहायक बनता।

एकबार कुछ सुथार, रथ बनाने के लिये लकड़ी लेने वन में गये। लकड़ी काटते-काटते मध्यान्ह का समय हो गया, तब सभी ने भोजन करने का विचार किया। उधर मृग उन्हें देख कर तपस्वी महात्मा के पास आया और झुक-झुक कर प्रणाम करने लगा। महर्षि उसका आशय समझ गये और उसके पीछे चलने लगे। सुथारों के अग्रगण्य ने, मृग के पीछे एक महात्मा को अपनी ओर आते हुए देखा, तो हर्षित हो उठा और सोचने लगा

कि "इस अरण्य में कल्पवृक्ष के समान ये महामुनि तो भाग्य से ही पधारे हैं। अहो! मैं कितना भाग्यशाली हूँ। ये तपस्वी सन्त मेरे आहार में से कुछ ले लें, तो मैं पवित्र हो जाऊँ।" वह भक्तिपूर्वक महात्मा के सम्मुख आया और वन्दना कर के आहार दान करने लगा। उसकी भावना बड़ी उत्तम थी। उस समय वह मृग भी निकट खड़ा विचारने लगा—"धन्य है ये तपस्वी महात्मा! इनकी संगत से मेरा भी उद्धार हो गया। इन महात्मा के प्रभाव से ही मेरे हृदय में धर्म का उदय हुआ। धन्य है इस दाता को जिसका आहार, तपस्वी महात्मा के मासखमण के पारणे के काम में आया। हा, मैं कितना दुर्भागी हूँ कि पशुपन के कारण महात्मा को आहार देने की भी योग्यता मुझ में नहीं है।" महात्मा तो धर्मभावनायुक्त थे ही। उसी समय अधकटी हुई वृक्ष की डाली, वायु के वेग से टूट कर गिरी। तपस्वीराज श्रीबलदेवजी, वह सुथार और मृग, ये तीनों उसके नीचे दब कर आयु पूर्ण कर गये और तीनों ही 'ब्रह्म' नामक पाँचवें देवलोक के पद्मोत्तर विमान में देवपने उत्पन्न हुए। महात्मा बलदेवजी एक सौ वर्ष संयम पाल कर स्वर्गगामी हुए।

स्वर्गस्थ होने के पश्चात् बलदेवजी ने अवधिज्ञान से अपने भ्राता को वालुकाप्रभा में देखा, तो वे स्नेहवश वहाँ पहुँचे और उनसे मिले। वे उन्हें अपने स्थान ले जाना चाहते थे, परन्तु यह अशक्य बात थी। वे लौट गए।

पाण्डवों की मुक्ति

श्रीकृष्ण के पास से चल कर जराकुमार पाण्डवों के पास आये और उन्हें कौस्तुभ-मणि दे कर द्वारिका-दाह से ले कर समस्त कथा सुनाई। सुन कर पाँचों भाई और द्रौपदी आदि शोक-मग्न हो गए। वे सहोदर-बन्धु के समान हार्दिक एवं राजकीय शोक मनाते रहे। कुछ दिन बाद महात्मा धर्मघोष अनगार अपने शिष्यवृंद के साथ वहाँ पधारे। उनके धर्मोपदेश से युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डव विरक्त हुए। उन्होंने महारानी द्रौपदी से पूछ कर अपने पुत्र एवं द्रौपदी के आत्मज पाण्डुसेन कुमार का राज्याभिषेक* कर के आचार्य श्रीधर्मघोषजी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और द्रौपदी भी महासती श्री सुव्रताजी के पास दीक्षित हो गई। सती द्रौपदीजी ने ग्यारह अंगों का अभ्यास किया और विविध प्रकार का तप करती हुई बहुत वर्षों तक आराधना की। फिर अन्तिम आराधना स्वरूप

---

* ग्रंथकार ने जराकुमार को राज देना लिखा है और पूज्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने भी अपने 'जैनधर्म के मौलिक इतिहास' पृ. २३८ में ऐसा ही लिखा है। परन्तु ज्ञाता सूत्र अ. १६ में अपने पुत्र पाण्डुसेन को राज्य देना लिखा है।

एक मास के तप सहित संलेखना पूर्वक काल कर के ब्रह्मलोक में देवपने उत्पन्न हुई। वहाँ का दस सागर का आयु पूर्ण कर के वह द्रुपद देव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव प्राप्त करेगा और संयम पाल कर सिद्ध होगा।

दीक्षित होने के बाद पाँचों पाण्डव मुनियों ने संयम-साधना के साथ चौदह पूर्व का अध्ययन किया और विविध प्रकार का तप करने लगे। एकबार पाण्डव-मुनियों ने सुना कि भगवान् अरिष्टनेमीजी सौराष्ट्र जनपद में विचर रहे हैं, तो उन्होंने आपस में विचार-विमर्श किया और गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर भगवान् की वन्दना करने के लिये सौराष्ट्र की ओर विहार कर दिया और मासखमण तप करते हुए विचरने लगे। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे हस्तीकल्प नगर के बाहर सहस्राम्र वन उद्यान में (जहाँ से उज्जयंतगिरि बारह योजन दूर था) आ कर ठहरे। उनके मासखमण के पारणे का दिन था, इसलिये तपस्वी महामुनि युधिष्ठिरजी की आज्ञा ले कर चारों महात्मा, पारणे के लिये आहार लेने को नगर में आये और आहार-पानी लिया। इसके बाद उन्होंने लोगों से सुना कि—"भगवान् अरिष्टनेमीजी, उज्जयंतगिरि पर पांच सौ छत्तीस† मुनियों के साथ सिद्धगति को प्राप्त हुए।" वे चारों मुनि, महात्मा युधिष्ठिरजी के पास आये और भगवान् अरिष्टनेमीजी के सिद्ध होने की बात कही, तब पाँचों मुनियों ने परस्पर विचार किया—"अब हमें यह लाया हुआ आहार एकान्त निर्दोष स्थान में परठ देना चाहिये और शत्रुंजय पर्वत पर जा कर अन्तिम संथारा-संलेखना करनी चाहिए। उन्होंने आहार परठ दिया और शत्रुंजय पर्वत पर चढ़ कर संथारा कर लिया। दो महीने का अनशन और बहुत वर्षों तक संयम पाल कर पाँचों मुनिराज मुक्त हो गए।

भगवान् अरिष्टनेमीजी तीन सौ वर्ष कुमारवास में रहे और सात सौ वर्ष संयम पाल कर सिद्ध हुए। भगवान् के वरदत्त आदि १८ गणधर हुए। १८००० साधु, ४०००० साध्वियें, ४०० चौदह पूर्वधर, १५०० अवधिज्ञानी, १५०० वैक्रिय-लब्धिधारी, १५०० केवलज्ञानी, १००० मनःपर्ययज्ञानी, ८०० वाद-लब्धिधारक, १६९००० श्रावक तथा ३३६००० श्राविकाएँ हुईं।

॥ भ० अरिष्टनेमीजी का चरित्र पूर्ण हुआ ॥

---

† जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ. २३८ में ५३५ मुनियों के साथ मुक्त होना लिखा है, परन्तु ज्ञाता सूत्र में और त्रि. श. च. में ५३६ का उल्लेख है।

परिशिष्ट

(भगवान् अरिष्टनेमीजी की धर्म-देशना पृ. ५९७ में ही होनी थी, किन्तु भूल से वहाँ नहीं दी जा सकी। अब यहाँ दी जा रही है)

धर्म देशना

लक्ष्मी बिजली के चमत्कार के समान चंचल है। प्राप्त संयोगों का स्वप्न में प्राप्त द्रव्यवत् वियोग होना ही है। यौवन भी मेघ-घटा की छाया के समान नष्ट होने वाला है और शरीर जल के बुदबुदे जैसा है। इस प्रकार इस असार संसार में कुछ भी सार नहीं है। यदि सार है, तो मात्र ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पालन में ही है। तत्त्व पर श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्व का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और सावद्य-योग की विरति रूप मुक्ति का कारण सम्यग् चारित्र कहलाता है। सम्पूर्ण चारित्र मुनियों को होता है और गृहस्थों को देश-चारित्र होता है। श्रावक, जीवन-पर्यन्त देश-चारित्र पालने में तत्पर, सभी सुसाधुओं का उपासक और संसार के स्वरूप का जाननेवाला होता है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि अभक्ष्य-भक्षण का सर्व प्रथम त्याग करे। अभक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार है—

१ मदिरा २ मांस ३ मक्खन ४ मधु ५ पाँच प्रकार के उदुम्बर (बड़, पीपल, गुलर, प्लक्ष = पीपल की जाति का वृक्ष और काकोदुम्बर) १० अनन्तकाय (कन्दमूल) ११ अज्ञातफल १२ रात्रि-भोजन आदि त्याग तो करना ही चाहिए।

१ जिस प्रकार पुरुष चतुर होते हुए भी दुर्भाग्य के उदय से लक्ष्मी से वंचित रहता है उसी प्रकार जो मदिरापान करता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिसका चित्त मदिरापान से विकृत और परवश हो गया है, ऐसा पापी पुरुष, माता को पत्नी और पत्नी को माता मान लेता है। उसका चित्त चलित हो जाने से अपने पराये का विवेक नहीं रहता। वह दरिद्र होते हुए भी सम्पन्न होने का अभिमान करने लगता है, सेवक होता हुआ भी स्वामीपन का डौल करता है और स्वामी को किंकर के समान मानता है। मद्यप मनुष्य मुर्दे के समान बाजार में गिर जाता है। उसके मुँह में कुत्ते मूतते हैं। मद्यपान के रस में गृद्ध हुआ मनुष्य नग्न हो जाता है और निर्लज्ज हो कर अपना गुप्त अभिप्राय प्रकट करता है। जिस प्रकार उत्तम प्रकार का चित्र, काजल लगा देने से बिगड़ कर नष्ट हो

जाता है, उसी प्रकार मदिरापान से मनुष्य के शरीर की कान्ति, कीर्ति, मति और लक्ष्मी चले जाते हैं। शराबी मनुष्य इस प्रकार नाचता है, जैसे भूत लगा हुआ मनुष्य नाचता है। कभी वह शोकाकुल हो कर रोता है, कभी पृथ्वी पर इस प्रकार लोटता है, जैसे—दाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति लोटता हो। मदिरा, शरीर पर विष का सा प्रभाव डाल कर गला देती है। इन्द्रियों को कमजोर करती है और मूर्च्छा उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी से घास के भारी गंज जल कर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार मद्यपान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया और क्षमादि सद्गुण विलीन हो जाते हैं।

मदिरा के रस में बहुत से जीव उत्पन्न होते हैं। इसलिए हिंसा के पाप से डरने वाले पुरुषों को मदिरापान नहीं करना चाहिए। मद्यप, सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, लिये हुए को नहीं लिया और नहीं लिए हुए को लिया, किये हुए को नहीं किया और नहीं किये काम को किया हुआ कहता है और राज्य आदि की झूठी निन्दा कर के बकता रहता है। मूढ़मति वाला मद्यप वध, बन्धन आदि का भय छोड़ कर घर, बाहर या रास्ते में जहाँ कहीं पराया धन देखता है, वहाँ लेने को तत्पर हो जाता है। मद्यपान से उन्मत्त हुआ मनुष्य, बालिका, युवती, वृद्धा, ब्राह्मणी अथवा चाण्डाली ऐसी किसी भी जाति की परस्त्री के साथ भोग करने को तत्पर हो जाता है। वह रोता, गाता, दौड़ता लोटता, क्रुद्ध होता, तुष्ट होता, हँसता, स्तब्ध रहता, झुकता, खड़ा रहता, यों अनेक प्रकार की क्रियाएँ, नट की तरह करता हुआ भटकता रहता है।

जिस प्रकार प्राणियों के जीवन का सदैव भक्षण करता हुआ भी यमराज तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार बारम्बार नशा करते हुए भी मद्यप तृप्त नहीं होता। मद्य, सभी दोषों का और सभी प्रकार की आपत्तियों का कारण है। इसलिए मद्यपान का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।

२ जो मनुष्य, प्राणियों के प्राणों का हरण कर के मांसभक्षण की इच्छा करता है, वह धर्मरूपी वृक्ष के दयारूपी मूल का उन्मूलन करता है। जो मनुष्य सदैव मांस का भक्षण करता हुआ भी दयावान् कहलाना चाहता है, वह प्रज्वलित आग में उत्तम बेली का आरोपण करना चाहता है। जो मनुष्य मांस-लोलुप है, उसकी बुद्धि, क्रूर डाकिनी के समान प्रत्येक प्राणी का वध करने में प्रवृत्त रहती है। जो मनुष्य उत्तम भोजन को छोड़ कर मांस-भक्षण करता है, वह अमृत रस को छोड़ कर हलाहल विष-पान करता है।

जो मनुष्य, नरक रूपी अग्नि के लिए ईंधन समान अपने मांस का दूसरे प्राणी के मांस से पोषण करना चाहता है, उसके जैसा निर्दय और कौन होगा ?

शुक्र और रक्त से उत्पन्न हुए और विष्टा से वृद्धि पाये हुए तथा रक्त से जमे हुए और नरक के फलस्वरूप ऐसे मांस का कौन बुद्धिमान मनुष्य भक्षण करेगा ?

३ जिसमें अन्तर्मुहूर्त के बाद ही + अनेक अतिसूक्ष्म जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे मक्खन को खाने का त्याग करना ही विवेकवान् पुरुष का कर्त्तव्य है। एक जीव की हिंसा में भी बहुत पाप रहा हुआ है, तब अनेक जन्तुओं की हिंसा वाले मक्खन का भक्षण तो कदापि नहीं करना चाहिए।

४ मधु—शहद अनेक जन्तुओं के समूह की हिंसा से उत्पन्न होता है और जो मुँह की लार (थूक) के समान घृणा करने योग्य है। ऐसे घृणित शहद को तो मुँह में रखा ही कैसे जा सकता है ? एक एक पुष्प से रस लेकर मक्खियों के द्वारा वमन किये हुए मधु को खाना धार्मिक पुरुष तो कभी पसन्द नहीं करते।

५ बड़ ६ पीपल ७ गुलर ८ पिलखा ९ कठुंबर के फल में बहुत से त्रस जीव होते हैं, इसलिए इनके फलों को कभी नहीं खाना चाहिए। यदि भोजन के नहीं मिलने से दुर्बलता आगई हो और क्षुधा से व्याकुलता हो रही हो, तो भी पुण्यात्मा प्राणी ऐसे फल नहीं खाते।

१० अनन्तकाय—सभी जाति के कन्द, सभी प्रकार की कुँपलें = अंकुरे (किशलय = वनस्पति की उत्पत्ति के बाद की वह अवस्था जिसमें वह कोमल रहे) सभी प्रकार के थोर (?) 'लवण' नामक वृक्ष की छाल, कुमारी (ग्वारपाठा ?) गिरिकर्णिका, शतावरी, विरूढ़, गडुची, कोमल इमली, पल्यंक, अमृतवेल, सूकर जाति के वाल (?) और आलु, रतालु, पिण्डालु आदि अनेक प्रकार की अनन्तकाय वाली वनस्पति (जिसमें सूई के अग्रभाग पर आवे, उतने अंश में भी अनन्त जीव होते हैं) जिसके ज्ञान से मिथ्यादृष्टि वंचित रहते हैं, इनका खाना त्याग देना चाहिए।

११ अज्ञात फल—शास्त्र में निषेध किये हुए फल अथवा विष-फल का भक्षण नहीं हो जाय, इस हेतु से समझदार मनुष्यों और अन्य किन्हीं जानकारों के जानने में जो फल नहीं आये हों, उन अनजान फलों का खाना भी त्याग देना चाहिये।

१२ रात्रि-भोजन—रात के समय भोजन कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि रात को घोर अन्धकार होने के कारण भोजन में पड़ते हुए जीव दिखाई नहीं देते और खाने में आ जाते हैं तथा रात के समय प्रेत-पिशाच आदि क्षुद्र देव, यथेच्छ फिरते रहते हैं, और उनके द्वारा भोजन उच्छिष्ट हो जाता है।

यदि भोजन में कीड़ी खाने में आ जाय तो बुद्धि का नाश होता है, जूं (यूका)

+ छाछ में से बाहर निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त में।

खाने में आ जाय तो जलोदर का रोग हो जाता है। मक्खी खा जाने से वमन होता है, मकड़ी खाने में आ जाय तो कोढ़ रोग हो जाता है। कांटा या लकड़ी की फांस आ जाय तो गले में छेद कर देती है। यदि भोजन में बिच्छू आ जाय तो तालु को बिंध देता है और केश खाने में आ जाय तो गले में अटक कर स्वर-भंग कर देता है, इत्यादि अनेक दोष रात्रि-भोजन में है। रात के समय सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देते, इसलिए प्रासुक (निर्जीव) पदार्थ भी नही खाना चाहिए, क्योंकि उस समय अवश्य ही अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है। जिसमें जीवों का समूह उत्पन्न हो, उस भोजन को रात के समय खाने वाला मूढ़ मनुष्य, राक्षस से भी अधिक दुष्ट माना जाता है। जो मनुष्य दिन-रात खाता ही रहता है, वह विना सींग-पूंछ का पशु है।

रात्रि-भोजन के दोषों को जानने वाले मनुष्य को चाहिए कि दिन के प्रारम्भ और अन्त की दो-दो घड़ी छोड़ कर मध्य में भोजन करे। रात्रि-भोजन का त्याग किये विना यदि कोई मनुष्य केवल दिन को ही खाता है, तो भी उसे रात्रि-भोजन त्याग का वास्तविक फल नहीं मिलता। जिस प्रकार उधार दिये हुए रुपयों का व्याज तभी मिलता है, जब कि व्याज का इकरार किया हो, उसी प्रकार त्याग करने पर ही रात्रि-भोजन विरति का वास्तविक लाभ मिलता है। जो मूर्ख मनुष्य दिन को भोजन नहीं कर के रात को खाते हैं, वे रत्न का त्याग कर के कांच ग्रहण करते हैं। रात्रि-भोजन करने से मनुष्य, पर-भव में उल्लु, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, सांभर, मृग, भँडशूर, सर्प, बिच्छु और गोधा अथवा छिपकलीपने बनता है। जो धर्मात्मा मनुष्य सदा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कर देते हैं, वे अपने आयुष्य का आधा भाग उपवास रूप तप में बिताते हैं। रात्रि-भोजन के त्याग में जो गुण रहे हैं, वे सद्गति ही उत्पन्न करते हैं। ऐसे गुणों की गणना करने की शक्ति किस में है।

इसके सिवाय चलित-रस वाली मिठाई, बहुत दिनों का आचार—जिसमें फुलन आदि से जीवों की उत्पत्ति हो जाय, पानी का बरफ, आकाश से गिरा हुआ हीम (बरफ) आदि भी अभक्ष्य हैं। इनका त्याग करना चाहिये। अभक्ष्य वस्तु के त्याग से आत्मा भारी कर्म-बन्धन से बच जाती है।

श्रावक का खान-पान अमर्यादित नहीं हो। रसनेन्द्रिय को त्यागपूर्वक वश में रखने से आत्मा का हित होता है।

॥ तीर्थंकर चरित्र भाग २ समाप्त ॥

संघ के प्रकाशन

	मूल्य
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	६-००
२ भगवती सूत्र भाग १	अप्राप्य
३ भगवती सूत्र भाग २	"
४ भगवती सूत्र भाग ३	"
५ भगवती सूत्र भाग ४	५-००
६ भगवती सूत्र भाग ५	५-००
७ भगवती सूत्र भाग ६	५-००
८ भगवती सूत्र भाग ७	७-००
९ उत्तराध्ययन सूत्र	५-००
१० उववाइ सुत्त	२-००
११ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य
१२ दशवैकालिक सूत्र	१-५०
१३ सिद्धस्तुति	०-७५
१४ स्त्री प्रधान धर्म	अप्राप्य
१५ सुखविपाक सूत्र	०-२०
१६ कर्म-प्रकृति	०-१६
१७ सामायिक सूत्र	०-१३
१८ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य
१९ विनयचंद चौविसी	०-४०
२० जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	अप्राप्य
२१ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	"
२२ नन्दी सूत्र	अप्राप्य
२३ आलोचना पंचक	०-२०
२४ संसार-तरणिका	अप्राप्य
२५ सम्यक्त्व-विमर्श (हिन्दी)	"
२६ जीव-धड़ा	०-२०

	मूल्य
२७ पच्चीस बोल	०-३०
२८ अन्तगड सूत्र	१-७५
२९ महादण्डक	०-४०
३० तेतीस बोल	०-२०
३१ एक सौ दो बोल का बासठिया	अप्राप्य
३२ गुणस्थान स्वरूप	०-२५
३३ गति-आगति	०-१०
३४ प्रश्नव्याकरण सूत्र	७-००
३५ नव तत्त्व	१-००
३६ समर्थ समाधान भाग १	अप्राप्य
३७ समर्थ समाधान भाग २	३-००
३८ रजनीश दर्शन	अप्राप्य
३९ शिविर व्याख्यान	१-३०
४० मंगल-प्रभातिका	अप्राप्य
४१ समकित के ६७ बोल	०-२०
४२ समिति-गुप्ति	०-२०
४३ स्तवन-तरंगिणी	०-५०
४४ प्रतिक्रमण सूत्र	०-३०
४५ तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	१-५०
४६ સમ્યક્ત્વવિમર્શ ગુજરાતી	१-५०
४७ भवनाशिनी भावना	०-३०
४८ तीर्थंकर-चरित्र भाग १	५-००
४९ तीर्थंकरों का लेखा	०-१५
५० सार्थ सामायिक सूत्र	अप्राप्य
५१ लघुदण्डक	०-४०